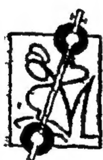


शताब्दी
जयन्ती
महोत्सव

वसंत पंचमी
23 जनवरी 2007 से
11 फरवरी 2008

श्री जुबिली नागरी भण्डार, बीकानेर





वाणी प्रकाशन

नई दिल्ली-110002

१

नागार्जुन
चुनी हुई रचनाएँ

संचयन, सम्पादक एवं संयोजन

शोभाकान्त मिश्र

वाणी प्रकाशन
४६९७/५, २१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-२
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण (वाणी) : १९८५
आवरण : गोविन्द प्रसाद

मूल्य १२५.०० रुपए
सम्पूर्ण सेट ३७५.०० रुपए

शान प्रिंटर्स
रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२
द्वारा मुद्रित

NAGARJUN : CHUNI HUYE
RACHNAYEN-1
(Selected works of Nagarjuna)

जिनकी उम्र छै महीनोंसे
ज़्यादाकी नहीं हुई, मुझे
उन नव-जातकोंकी बोलियोंके
व्याकरण सीखने थे...
मेरी पुतलियां चमकने लगीं,
तूने कहा — "मैं सिखला
दूंगी वो सब..."
कणिका डियर, तू हमारे
परिवारकी कनिष्ठ मेम्बर है।
अब छठा महीना पूरे करेगी...
[redacted] किलकारियोंका
'शार्ट कोर्स' तू रोज़ ही
मेरे सामने खोलती है...
आगेकी कई सदियोंका
आभास पा रहा हूं इनमें...

कणिका, माई डियर !

कहाँ पैदा हुई थी तेरी मम्मी !
कहाँ पैदा हुए थे तेरे पापा !
और, कहाँ आकर तू पैदा हुई ?
सोचता हूँ, भविष्य का मानव
'इन्टर कान्टिनेन्टल' होगा ... भविष्य की
मानवी 'युनिवर्सल' होगी ... और,
तब, आज के साहित्य की
प्रासंगिकता टिक पाएगी क्या ?

तू लेकिन अपनी किलकारियों में
ही हमारी इन शंकाओं का
समाधान कर रही है !
कणिका, माई डियर ...

— नागार्जुन
जुलाई '85.

हिन्दी में आए दिन अखण्ड और समग्र ग्रन्थावली का चलन व्यापक रूप से देखा जा रहा है। हमने अभी अपने को उस परिपाटी से अलग रखा है। आसानी से आठ जिल्दों की ग्रन्थावली का संयोजन किया जा सकता था। परन्तु स्वयं नागार्जुन जी को वैसा कोई प्रस्ताव बिल्कुल मान्य नहीं होगा—हमें इस तथ्य का पता था। बड़ी मुश्किल से, तीन जिल्दों वाले प्रस्तुत संयोजन के लिए हम उनकी स्वीकृति हासिल कर सके हैं।

नागार्जुन के कुल तेरह उपन्यास हैं। ग्यारह हिन्दी में और दो मैथिली में। औपन्यासिक कृति के रूप में मैथिली उपन्यास 'पारो' पहली रचना है, जो १९४६ में प्रकाशित हुआ था।

'रतिनाथ की चाची' पहला हिन्दी उपन्यास है जो १९४८ में हिन्दी पाठकों के सामने आता है। कई वर्षों के बाद इसका एक संस्करण दिल्ली में भी दिखाई पड़ा।

'बलचनमा' पुस्तक रूप में प्रकाशित तो हुआ था १९५२ में, लेकिन 'उदयन' (१९४८ में पटना की एक अल्पजीवी पत्रिका) में इसके कतिपय अंश देखने को मिले हैं। इससे लगता है कि १९४७-४८ में बलचनमा का ढाँचा गढ़ लिया गया होगा।

'वरुण के बेटे' १९५४ में लिखा गया। 'संकेत' (इलाहाबाद) वृहत साहित्यिक संकलन में १९५५ में पहली बार 'वरुण के बेटे' का मुद्रित रूप दिखाई पड़ता है। 'वरुण के बेटे' का पुस्तकाकार रूप १९५६ में सामने आया है।

'कुम्भीपाक' का पुस्तकाकार रूप १९६० में देखने को मिला।

ये चारों उपन्यास हिन्दी में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

—शोभाकान्त

भूमिका

आजादी के बाद हिन्दी साहित्य में एक जमाना ऐसा गुजरा है जब प्रगतिशील रचनाकारों का नाम लेना समकालीन फैशन के विरुद्ध मान लिया गया था। प्रयोग और नवीनता के नाम पर नए-नए नारे हवा में थे, अजीबोगरीब आन्दोलनों की बहार थी, आक्रोश और विद्रोह की आश्चर्यजनक मुद्राएँ थीं। ऐसे में प्रगतिशील रचनाकारों को विचार के केन्द्र में लाना कोई मामूली जोखिम नहीं था। नए आन्दोलनों में शामिल साहित्य समीक्षकों की बात तो जाने दीजिए, कल के प्रगतिशील समीक्षक भी वैसा करके अपनी साहित्यिक प्रतिष्ठा दाँव पर लगाने के लिए तैयार नहीं थे। क्योंकि प्रगतिशील रचना की मान्य प्रवृत्तियाँ नागार्जुन की रचनाओं में सबसे मुखर थीं, इसलिए इस माहौल की मार भी सबसे ज्यादा उन्हीं को झेलनी पड़ी। जहाँ तक रचनात्मकता का सवाल है और उसमें भी उनके उपन्यासों पर ही बातें करें तो यह संयोग ही है कि उनका रचनाकाल आजादी के बाद के यही २०-२५ वर्ष रहे हैं। इन वर्षों में उन्होंने लगभग एक दर्जन उपन्यास हिन्दी को दिए जो रचनाकर्म के किसी भी पैमाने से एक उल्लेखनीय योगदान है। लेकिन फिर भी न तो उनके उपन्यासों ने हिन्दी आलोचकों और पाठकों में वैसी रुचि ही जगाई और न उन पर इस बीच कोई महत्त्वपूर्ण बातचीत ही हुई तो उसके कारणों को आज समझना मुश्किल नहीं है।

इधर साहित्य और जीवन के सम्बन्धो की नए सिरे से हुई इस पड़ताल में जो प्रश्न सबसे प्रमुख बनकर सामने आए उनके जवाब खोजने के क्रम में नागार्जुन का साहित्य एक अद्भुत उदाहरण बन गया। साहित्य और जीवन के रिश्तों से लगाकर सम्प्रेषणीयता के सवालों का वैसा सटीक जवाब अन्यत्र दुर्लभ था। और इस तरह नागार्जुन नए रचनाकारों के लिए हमारे युग के सबसे बड़े लेखक और उनका साहित्य नई रचनाशीलता का प्रेरणास्रोत बन गया।

इस बदले माहौल में उनके प्रति पैदा हुआ भावोद्रेक देखते ही बनता है। कोई उन्हें हिन्दी साहित्य का दूसरा कबीर कह रहा है तो कोई कबीर की परम्परा में सबसे बड़ा क्रान्तिकारी लेखक। किसी के लिए वे प्रेमचन्द की परम्परा का विकास करने वाले अन्यतम लेखक हैं तो अन्य उन्हें किसान-मजदूर का अनन्य पक्षधर मान रहे हैं। जनता का जीवन जनता की भाषा में कैसे बयान किया जाए इसमें तो

उनका कोई सानी नहीं। कुल मिलाकर भूतो न भविष्यतो की यह भावना आज हावी है। कहना न होगा कि किसी रचनाकार के वस्तुगत मूल्यांकन में ये दोनों ही मन:स्थितियाँ वाधक हैं। एक में जहाँ विना जाँच के किसी रचनाकार को पहले ही अपराधी मान कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है वहाँ दूसरी में उसकी मूर्ति वनाकर पूजाभाव से आरती उतारी जाती है। रचनाकार व्यक्ति के पक्ष से हो सकता है पहली से वाद की मन:स्थिति कुछ हितकारी हो लेकिन रचना के लिए तो दोनों समान रूप से घातक हैं। इसी के चलते आज नागार्जुन के साहित्य पर हो रही चर्चा विचित्र और हास्यास्पद अन्तर्विरोधों में फँसी नजर आती है। जैसे गैर-वामपन्थी समीक्षक उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरणों से उन्हें दलगत राजनीति के विरुद्ध साहित्य की स्वायत्त सत्ता के पैरोकार सिद्ध कर सकता है वैसे ही वामपन्थी राजनीति के विभिन्न खेमों से जुड़े लोगों में इस वात को लेकर होड़ मची है कि कुछ रचनाओं को सामने रखकर यह सिद्ध कर दें कि वे हमारे दल की रणनीति और कार्यनीति के ही समर्थक हैं। इससे भी विचित्र नजारा तो तव उपस्थित होता है जव किसी खेमे के सभा सम्मेलन में उनका जाना मात्र उनमें आए राजनीतिक परिवर्तन का लक्षण मान लिया जाता है और उसके वाद उनके रचनाकर्म के प्रति उनका पूरा रवया ही सदय हो उठता है। ऐसे सुधी जनों की भी कमी नहीं है जो सन्तुलित वस्तुगत मूल्यांकन के नाम पर एक ओर उनके वैचारिक स्खलन की आलोचना करते हैं और फिर साथ ही उनके साहित्य को महान सिद्ध करने के श्रमसाध्य रचनाकर्म में जुट जाते हैं।

नागार्जुन के साहित्य के प्रति मूल्यांकन का यह रणनीतिगत रवैया समाप्त होना चाहिए।

कथा साहित्य की जो समीक्षा हिन्दी में अभी तक हुई है उसे देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि हमारे यहाँ अभी कथा-साहित्य की समीक्षा का कोई सन्तोषजनक आधार विकसित नहीं हो पाया है। यही कारण है कि कथा साहित्य की स्वतन्त्र और समृद्ध परम्परा होने के वाद भी उसकी समीक्षा काफी निचले स्तर की ही रही। शायद इसीलिए नागार्जुन के महत्त्वों में उनका उपन्यास-साहित्य वैसा महत्त्व नहीं पा सका। खानापूरी के रूप में उन पर जो चर्चा हुई है उसमें उपन्यास समीक्षा की वँधी-वँधाई लीक पर से ही सवाल उठाए गए हैं।

नागार्जुन ने अपने साहित्य में तमाम मिथों और रहस्यों को भेदकर समस्या को सीधे और सच्चे रूप में रखने की कोशिश की है। साहित्य को जो लोग कृत्रिम और जटिल सवालों की तुंग प्रतिमाएँ खड़ी करने का माध्यम मानकर चलते हैं उन्हें नागार्जुन के उपन्यासों से निराशा ही हाथ लगती है। यह भी कैसे उपन्यास जिनमें मानव मन की गुह्यतम गुत्थियों को दार्शनिक ऊँचाइयों तक नहीं उठाया गया? ये भी क्या चरित्र जिनमें शेखर जैसी भव्यता और विद्रोहीपन न हो? ऐसा भी क्या घटना-विन्यास जिसमें चक्करदार और सर्पिल ताना-वाना न हो? नागार्जुन के उपन्यासों में यह सव नहीं है और इस सवके लिए वे कभी चिन्तित भी

नहीं रहे।

कहते हैं उपन्यास विधा आधुनिक युग में महाकाव्य के पर्याय के रूप में विकसित हुई। हमारे जमाने की महानतम प्रतिभाओं का सहारा उसे मिला। विश्व स्तर पर उपन्यास की समृद्ध परम्परा की वात तो जाने दीजिए स्वयं हिन्दी में प्रेमचन्द जैसे व्यक्तित्व ने उसे चरम ऊँचाइयों तक पहुँचाया। नागार्जुन ने इस विधा पर हाथ आजमाने से पहले इस सबको जरूर जाँचा-परखा होगा। लेकिन उनकी चिन्ता महाकाव्य को भरने की उतनी नहीं जितनी अपनी वात को कविता से इतर विधा में ढालकर कहने की रही। महाकाव्य या उपन्यास साहित्य के उत्तराधिकार को निवाहना उनके लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना यह कि इस विधा को समकालीन रुचियों और दवावों की रोशनी में एक नए रूप में ढाला जाए। इसीलिए उन्होंने उसके क़लेवर को सिकोड़ा और गागर-में-सागर भरने का प्रयत्न किया। किसके पास इतना समय है कि वह दृश्यों के विस्तारित वर्णनों में घूमता रहे, चरित्रों के परत-दर-परत रहस्यों के उद्‌घाटन की धैर्य से प्रतीक्षा करे। इसलिए उनके उपन्यासों में जहाँ 'टू द पाइंटिडनेस' है वहीं वे लम्बे-लम्बे 'गैप्स' भी छोड़ देते हैं कि पाठक अपने मन से उन्हें भर लेंगे। इस तरह उन्होंने उपन्यासों को एक निजी कलेवर प्रदान किया है।

जैसा कि पहले उल्लेख कर आए हैं नागार्जुन के अधिकांश उपन्यास उस काल में ही छपकर सामने आए जव साहित्यिक हलकों में प्रयोगवाद और नई कविता का जोर वढ़ रहा था। नई कहानी के नाम से शुरू हुए आन्दोलन में भी मध्यवर्गीय मानसिकता वाले रचनाकार नए गुल खिलाने के चक्कर में थे। इन नए आन्दोलनों के वीच रचनाकारों का एक वड़ा तवका ऐसा भी था जो शीतयुद्ध की राजनीति से प्रेरित था और साहित्य के वुनियादी सवालों से ध्यान हटाने के लिए अनेकानेक नए नारे दे रहा था। कथा साहित्य में भी प्रेमचन्द के वाद ऐसे कई मशहूर नाम उभरे जो उसकी परिधि को व्यक्तिवाद की सीमाओं में कैद कर रहे थे। ऐसे में नागार्जुन ने अपने उपन्यासों को शोषित-पीड़ित वर्गों की धुरी पर टिकाने का साहस दिखाया। और इसीलिए इस वीच चले तमाम साहित्यान्दोलनों से अलग-थलग रहते हुए उन्होंने यह अलख जगाए रखी।

यह अलख जगाए रखने वाले वे अकेले ही क्यों थे ? और भी तो कई प्रगतिशील उपन्यासकार इस दौर में सक्रिय थे। इस वात को प्रगतिशील आन्दोलन से जोड़कर समझने से पूरी वात स्पष्ट नहीं हो सकती। इसके लिए शायद नागार्जुन के व्यक्तिगत जीवन प्रसंगों में जाने की जरूरत होगी। वे जिस परिवार में पले-वढ़े, जिस तरह का घरेलू वातावरण उन्हें अवदान में मिला, जिन विकट सांसारिक परिस्थितियों का उन्हें सामना करना पड़ा उनमें यह सव निश्चित था कि समाज के किन लोगों और वर्गों के वीच उनकी परिचिति और गति है। उस अंचल की, उसके सदियों से सुख-दुख भोगते आए शोषित-पीड़ित लोगों की, उनके रीति-रिवाजों, क्रिया-कलापों, रहन-सहन की जो गहरी जानकारी उन्हें इस सहभागिता

से उपलब्ध हुई वह किसी भी रचनाकार के लिए एक बेजोड़ थाती है। जीवन की यही मजबूरियाँ रचनाकार नागार्जुन के लिए वरदान सिद्ध हुईं। उनके घुमन्तु स्वभाव ने जीवन अनुभवों की इस बड़ी पूंजी में बेहद इजाफा किया। अँग्रेजी साम्राज्य और सामन्तशाही के जुए से मुक्त होने के लिए उठती किसान जनता के संघर्षों और उसी के समानान्तर विकसित हुए प्रगतिशील आन्दोलन में भागीदारी से प्राप्त नई समझदारी ने धार पर सान चढ़ाने का काम किया। यही कारण है कि नागार्जुन को यथार्थ की खोज में वैसे नहीं भटकना पड़ा जैसे उस जमाने के कई अन्य प्रगतिशील कथाकारों को। और क्योंकि आजादी के बाद के इस पूरे काल में हमारे समाज का मुख्य अन्तर्विरोध सामन्तशाही और किसानों के बीच रहा और आज भी है इसलिए लाख कोशिशों के बावजूद उनके उपन्यासों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उन्होंने प्रेमचन्द के जमाने से चली आ रही समस्याओं को उसी शिद्दत से उठाया और ग्रामीण समाज में उनके बाद आए परिवर्तनों को अपने उपन्यासों में रेखांकित किया। किसान की पूरी पीड़ा प्रेमचन्द ने भी उभारी, उनकी हताशा और अन्दर-अन्दर सुलगती आग उनके यहाँ भी है, रूढ़ियों की जकड़ और उनसे टकराहट वहाँ सहज ही देखी जा सकती है। नागार्जुन के उपन्यासों में यह सब तो है ही, उसके आगे की हकीकत भी है। यहाँ घुट-घुटकर मरना ही नहीं मर-मर कर जीने का संकल्प भी है, जमीन से बेदखल होता किसान ही नहीं खोई जमीन को फिर से दखल करने के इरादे भी हैं, अलग-अलग सुलगती आत्माएँ ही नहीं संगठित होकर लड़ने का आह्वान भी है, रूढ़ियों की जकड़न से मुक्त होने की छटपटाहट ही नहीं उन्हें एकबारगी तोड़कर बाहर आ गई नई पीढ़ी भी है।

और इसी अर्थ में नागार्जुन प्रेमचन्द के बाद के किसान जीवन की गाथा के गायक हैं। जिन लोगों ने आजादी के बाद तेजी से उभरे मध्यवर्ग की आत्मलीन आकांक्षाओं से अपने उपन्यासों के भविष्य को बांध दिया, नागार्जुन के उपन्यास उनसे मूलतः भिन्न हैं। उनके उपन्यासों में भी मध्यवर्गीय पात्र हैं लेकिन वहाँ उनकी भूमिका दूसरी है। उन्होंने मध्यवर्गीय पात्रों को इसलिए नहीं चुना कि उनके माध्यम से आत्मप्रेम, आत्मदया, आत्मगौरव, अहंकार की गुत्थियों का सृजन करें बल्कि उनके यहाँ ऐसे पात्र प्रायः नई शिक्षा, नए ज्ञान, नई रोशनी और नए रास्ते से लैस हैं। उनकी गति अपनी ही जिन्दगियों में घूमती कोल्हू के बैल की गति नहीं बल्कि उनकी नियति समाज से जुड़कर बनी है। वह चाहे बलचनमा के राधा बाबू हों या वरुण के बेटे के मोहन माझी या उग्रतारा का कामेश्वर या फिर कुम्भीपाक का महिम ही—नागार्जुन ने पूरी सहानुभूति से इन पात्रों को रचा है। लेकिन कितना भिन्न है इनका चरित्र उन तथाकथित मध्यवर्गीय पात्रों से जिनकी सृष्टि प्रयोगवाद और नई कहानी के दिग्गजों ने की। कई शेखरों का विद्रोह भी इन पात्रों की जीवट की बराबरी नहीं कर सकता। यह इसलिए कि नागार्जुन ने आजाद भारत में मध्यवर्ग को उसकी सही भूमिका में देखा और दिखाया। आज

विद्रोही शेखर के युवा उत्तराधिकारी जहाँ समाज-विरोधी तत्त्वों के रूप में नागपुर के काण्डों में शामिल नजर आएँगे वहीं नागार्जुन के पात्रों के वंशज आज भी किसान सभाओं, मजदूर संगठनों, युवा मोर्चों में डटे मिल जाएँगे।

मुझे नहीं मालूम कि उपन्यास के सन्दर्भ में आंचलिकता के सवाल का अध्यापकीय कुंजियों और परीक्षा में पूछे जानेवाले प्रश्नपत्रों के अलावा कहीं कोई अर्थ भी होता है। लेकिन लोग हैं कि इससे जूझकर ही सारी सार्थकता सिद्ध करना चाहते हैं। यदि इसका मतलब किसी अंचल विशेष से जुड़ाव ही होता है तो मैं कहूँगा कि हिन्दी का कोई भी अच्छा उपन्यास वैसा होगा। यदि उपन्यास की रचना का आधार जीवन यथार्थ न होकर विचारजगत या मनोजगत है तो वैसी स्थिति में सम्भव है उसका देशकाल से कोई सम्बन्ध न हो। ऐसी रचनाएँ 'शाश्वत' होती हैं। ऐसी शाश्वतता इस मृत्युलोक का धर्म नहीं वह अलौकिक है। कोई अनुभव हवा में नहीं होता और कोई रचना देशकालातीत नहीं होती। जितनी ही वह ठोस और आत्मीय सन्दर्भों से जुड़ी होगी उसके कालजयी होने की सम्भावनाएँ उतनी ही अधिक होंगी। रचनाकार के पास सतह के पार देखने वाली नजर है तो वह खण्ड में ब्रह्माण्ड का दर्शन कर सकता है। यह अकारण ही नहीं है कि देश की विभिन्न भाषाओं में एक-दूसरे से बहुत हद तक बेखबर रचनाकार अपने-अपने अंचलों की जनता के जीवन की उपन्यास में पुनर्रचना करते हुए भी सम्पूर्ण देश की जनता की नियति को तराश रहे हैं। आँखन देखी यह सच्चाई हमेशा कागद के लेखे से बड़ी है। इस रूप में अंचल विशेष पर केन्द्रित होते हुए भी नागार्जुन के उपन्यास किसी संकीर्ण अर्थ में आंचलिक नहीं, वे इस सम्पूर्ण देश की जनता की सच्चाई को ठोस रूप में सामने लाते हैं।

हमारी जड़ीभूत रुचियों को अक्सर खटकती है यह बात कि नागार्जुन के कई उपन्यास चरित्रों को केन्द्र में रखकर चलने के बावजूद उन्हें 'हीरो' की ऊँचाइयों तक नहीं उठा पाते। मसलन बलचनमा या रतिनाथ की चाची शीर्षक से लगता है कि इनके केन्द्र में ये चरित्र हैं लेकिन पूरे कथा विन्यास में ये चरित्र इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उनकी कोई विशाल मूर्ति खड़ी नहीं हो पाती। दरअसल हम गाँवों को भी फिल्मी रूप में देखने के आदी हो गए हैं। वैसी तड़क-भड़क के बिना हमारी सम्वेदना गुदगुदाती नहीं। अनजाने ही हम शेखर के प्रतिमानों से इन चरित्रों को तौल रहे होते हैं। नागार्जुन अपने पात्रों के इर्द-गिर्द ऐसा कोई इन्द्रजाल रचने के कतई कायल नहीं। जीवन में जब ऐसे हीरो नहीं मिलते तो उपन्यास में वे क्यों आएँ? उनके ये पात्र यथार्थ हैं, जीवित हैं, साधारण होकर ही असाधारण हैं। उन्हें लेकर वे बिल्कुल मोहाच्छन्न नहीं। इसी के चलते आज वे यह कहने का साहस रखते हैं कि हो सकता है बलचनमा आज किसी गाँव का सरपंच बना बैठा हो, रतिनाथ बड़ा बाबू हो। अपने चरित्रों के प्रति ऐसी आत्मीयता और ऐसी निस्संगता, उनकी नियति की ऐसी चिन्ता और साथ ही ऐसा निर्मोह आश्चर्यजनक संयम का परिणाम है।

लेकिन यह बात फिर भी कही जा सकती है कि नारी पात्रों की सृष्टि और विकास को लेकर नागार्जुन अतिरिक्त सजग हैं। स्पष्ट कहूँ कि उनके प्रति उनके मन में खास मोह है, अब इसके कारण जो हों। उनसे ज्यादा कौन इस बात को देख पाया होगा कि भारतीय समाज में नारी दोहरे शोषण की शिकार है। एक तो उन्होंने कुटिल नारियों की सृष्टि की ही नहीं और अगर करनी भी पड़ी तो उनके विकास में जबरदस्त उलट-फेर उन्होंने कर दिखाया है। मसलन कुम्भीपाक में लड़कियों के व्यापार में शामिल जिस बुआ के चरित्र को उन्होंने उठाया अन्त तक जाते-जाते वही बुआ एक परिवर्तित नारी के रूप में सामने आती है जो स्त्रियों की दुर्दशा के प्रति पूर्ण सजग ही नहीं उनकी बेहतरी के लिए अपना जीवन अर्पित करना चाहती है। यह नारी रतिनाथ की चाची हो या उसकी माँ, वरुण के बेटे की मधुरी हो या उसकी माँ, कुम्भीपाक की उम्मी की माँ हो या निर्मला और रंजना—सभी मानवीय गुणों से भरपूर हैं। ऐसा नहीं है कि नागार्जुन अफराए वर्गों की इतराती-इठलाती स्त्रियों से परिचित नहीं या उन पर फब्तियाँ नहीं कसते। लेकिन विशाल जनता के जिस जीवन को उन्होंने अपनी रचना केन्द्र में रखा है वहाँ उनका साक्षात्कार ऐसी ही स्त्रियों से हुआ है जो अपनी प्रकृति से ही मनुष्यता के सर्वोच्च गुणों से विभूषित हैं और दिलेर धनिया की परम्परा को आगे बढ़ा रही हैं। उनके अधिकांश उपन्यासों में नारी के इसी रूप से हमारा साक्षात्कार होता है।

फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि नागार्जुन अपने इन उपन्यासों में प्रेम और रोमांस की कोई बेल नहीं बढ़ाते। थोड़ी बहुत चर्चा चली अवश्य है कहीं-कहीं। जैसे रतिनाथ की चाची में रत्ती और बागो का प्रेम और वरुण के बेटे में मंगल और मधुरी का प्रेम। पर इतना ही कि कहीं आते-जाते आँख लड़ गई, एकान्त में पेड़ तले कुछ मान-मनुहार हो गई। इससे ज्यादा कुछ नहीं। गाँव से परिचित कोई भी व्यक्ति इस बात को जानता है कि एक ही गाँव के लड़के-लड़की का प्रेम किस सीमा तक जा सकता है। यहाँ शहरी मध्यवर्ग के प्रेम और रोमांस की अनन्त सम्भावनाएँ नहीं। यहाँ प्रेम के दूसरे परम्परित रूप ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वह प्रेम जो माँ और बच्चों में होता है, पति और पत्नी में होता है, भाई और बहिन में होता है। नागार्जुन ने इन सम्बन्धों को जतन से रचा है। ऐसे प्रसंगों की सृष्टि नागार्जुन पूरी मार्मिकता से करते हैं। उन्होंने प्रेम की मर्यादाओं को निभाते हुए उसे 'इंडलजेंस' में नहीं बदलने दिया है।

मतलब यह कि एक साधारण पाठक या महान प्रतिमानों में पगा आलोचक उपन्यास से जो चाहता है वह इन उपन्यासों में नहीं मिलेगा। फिर भी खूब अच्छी तरह जानते हैं नागार्जुन कि कहाँ किस बात को किस तरह रखना है और कितना तूल देना है। जैसे उनके हर उपन्यास की कहानी बहुत ही साधारण तरीके से शुरू हो जाती है। बलचनमा आया और अपनी कहानी कहनी शुरू कर दी। न कोई ताम-झाम, न नौटंकी, न दिल हिला देने वाला ट्रेलर। लेकिन यह सहजता बड़े जतन से पैदा की गई है। बाप मरा दो आम तोड़ लाने की सजा के जुर्म में। जिसने

मारा उसी से ले-देकर फिर किरिया-करम हुआ और फिर उन्हीं ने बलचनमा को भैंस चराने का काम देकर धन्य किया। सहजता की आड़ में नागार्जुन कैसी चोट कर रहे हैं इसे जानने के लिए अर्थ की मार को पकड़ना होगा। जीवन के किन पक्षों को कितना गहरा रंग देना है इसे जानने के लिए बलचनमा में धान की रोपाई का वर्णन देखिए, कुम्भीपाक में महाजाल से मछली पकड़ने का सामूहिक कर्म देखिए, भोला द्वारा मगरमच्छ का मारना देखिए, काका द्वारा भैंसों की देख-भाल का विज्ञान सुनिए। ऐसे कितने ही प्रसंग हैं इन उपन्यासों में जिनका वर्णन इतनी खूबसूरती से नागार्जुन करते हैं कि वह जीवन अपनी सम्पूर्ण जीवन्तता में आँखों के सामने आ जाता है। इन्हीं के माध्यम से सामने आता है इस जीवन का वास्तविक सौन्दर्य, उसमें संघर्षरत लोगों की शौर्य गाथाएँ। इस जीवन से यह गहरा परिचय इन वर्णनों में ही नहीं परस्पर सम्बन्धों के उन मार्मिक पक्षों में भी सामने आता है जो उपन्यासों में कदम-कदम पर मिलते हैं।

इन प्रसंगों पर नागार्जुन की नजर ठहर-ठहर जाती है।

रचना में रचनाकार की राजनीति और विचारधारा की चर्चा इधर काफी जोरों पर है। उसके कुछ विधि-विधान भी सुझाए जा रहे हैं कि वह इतनी होनी चाहिए, इस तरह होनी चाहिए। नागार्जुन ऐसे किसी विधि-निषेध में विश्वास नहीं करते। उनकी अपनी राजनीतिक समझ है तो उनके पात्रों की भी एक राजनीतिक समझ उपन्यास में विकसित होती है। उनकी संघर्ष और भविष्य में आस्था है तो वैसे आस्थावान चरित्रों का विकास वे अपने उपन्यासों में भी करते हैं। जीवन और समाज को लेकर उनका अपना एक सपना है तो ऐसे पात्र भी हैं जो उस सपने को साकार करते हैं। यह सब कुछ उसी जिन्दगी का हिस्सा है जो नागार्जुन के उपन्यासों के केन्द्र में है। इसे डंके की चोट उपन्यास में कर दिखाने में उन्हें कुछ नागवार नहीं लगता। अब इसके लिए क्या वे भद्रजनों और सुरुचिसम्पन्न महाशयों के पास जाएँ यह पूछने कि "अजी अगर थोड़ा-सा यह बघार लगा दूँ तो बहुत बुरा तो न लगेगा आपको, जी।" ऐसी सौन्दर्याभिरुचियों की उन्होंने कभी कोई परवाह नहीं की। बल्कि इसके उलट वे तो इस पर निर्मम आघात करना चाहते हैं। अपनी एक कविता में उन्होंने कहा भी है "प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है अपने कवि का।" इसलिए इन सबको लेकर उनके मन में कोई दुविधा कभी नहीं रही।

नागार्जुन की रचना के अधैर्य को लेकर, भाषा में आंचलिक शब्दों की बहुतायत को लेकर, कथा में छूटे लम्बे गॅप्स को लेकर काफी चर्चा सुधी जनों के बीच हुई है। इनके बारे में आदर्श नियमों की सृष्टि करना विद्वानों का कार्य है। इनसे रचना सम्भव नहीं। और हाँ, आज तक किसी बड़े रचनाकार ने ऐसी आदर्श परिनिष्ठित भाषा नहीं लिखी, जिसे आदर्श माना जा सके। ऐसी भाषा जीवन्त नहीं जड़ होगी, जिसका निर्माण जीवन से नहीं प्रयोगशाला में ही सम्भव है। नागार्जुन ने अपनी भाषा पाठ्य-पुस्तकों से नहीं जनता के विश्वविद्यालयों से सीखी है।

—कर्णसिंह चौहान

क्रम

रतिनाथ की चाची

एक

चैत का महीना था और शाम का वक्त। बीच आँगन में टोला-पड़ोस की औरतें जमा थीं। सभी किसी-न-किसी बातचीत में मशगूल थीं। दो-एक की गोद में बच्चा भी था। दो-एक जनेऊ का धागा तैयार करने के लिए तकली लिए आई थीं। उनकी तकलियाँ किर्र-किर्र करके काँसे के कटोरों में नाच रही थीं और पूनी से खिचकर सर्र-सर्र निकलता जा रहा था सूत।

एक ही थी जो बेकार और चुप बैठी थी। चेहरे पर विषाद की काली छाया मंडरा रही थी। वह न तकली ही कात रही थी, न गोद में उसके कोई बच्चा ही था। बाकी औरतें रह-रहकर उसकी ओर अजीब निगाहों से देख रही थीं।

इस बीच थोड़ी देर बाद दम्मो फूफी आ पहुँची। अदालत में मुजरिम हाजिर हो, वकील-मुख्तार, गवाह सभी मौजूद हों, फिर भी अगर जज ने किसी कारण से देर कर दी तो क्या होता है? दम्मो फूफी के बिना यही हाल था इस महिला-परिषद् का।

फूफी को आग्रहपूर्वक आसन पर बैठाया गया। गोरा और छरहरा बदन, गोल-मटोल चेहरा। नन्हे-नन्हे से पतले होंठ। गंगा-जमनी बाल। कानों में सोने के छोटे-छोटे मगर लटक रहे थे। शांतीपुरी धोती पहने हुए थीं। गले में बारीक रुद्राक्षों की माला शिवभक्ति की सबूत थी या शोक की, कहा नहीं जा सकता। अंटी में से चाँदी की सुन्दर डिबिया निकालती हुई वे बोलीं—आज गर्मी मालूम देती है, कहीं तूफान आया तो आम की फसल चौपट हो जायेगी। नस निकाल-कर चुटकी से नाक के पूड़ों में उसे भरते हुए फूफी ने फिर कहा—गुज्जी बिटिया, हमारे यहाँ से ज़रा पंखा तो लेती आ।

गुंजेसरी ने पंखा ला दिया।

इतने में रूपरानी का बच्चा रो पड़ा, न जाने किधर से सबकी नजर बचा-कर एक लाल चींटा आया और बच्चे को काट लिया। बाएँ पैर का अँगूठा धरती

से छू रहा था। बच्चे की चीख बढ़ती ही गई। दम्मो फूफी ने कहा—जाओ रूपरानी, लोहा छुआ दो। जलन जाती रहेगी।

अपने बच्चे को लेकर रूपरानी जब चली गई तो फूफी ने एक बार और सुंघनी सुड़की।

सभी की दृष्टि, सभी का ध्यान फूफी पर केन्द्रित था। एक ही थी जो विषाद और जड़ता की प्रतिमा बनी बैठी थी। अब दम्मो फूफी ने अच्छी तरह आँख फाड़कर उस पाषाणी की ओर देखा। उसके बाद सभी को अपनी निगाह के दायरे में समेटती हुई बोलीं—उमानाथ की माँ, कब तक चुप रहोगी? कुछ-न-कुछ तो इसे कहना ही पड़ेगा। समूचे गाँव में इसी बात की चर्चा है। आखिर जो होना था, वह होकर ही रहा। विधना के विधान को भला हम-तुम टाल सकते हैं? यह बेचारी—

इतना कहकर अपने सुन्दर और कोमल हाथ से फूफी ने उस विषादमयी प्रतिमा की ओर संकेत किया। सुननेवाली औरतों ने साँस खींचकर अपने कानों को मानो और भी साफ कर लिया। फूफी बोलती गयीं—वैद्यनाथ के मरने के बाद कितनी कठिनाई से उमानाथ को पाल-पोसकर इतना बड़ा कर पायी है, यह तुममें से बहुतों को मालूम नहीं होगा। भगवान करें, उमानाथ अपने बाप का नाम रखे।

सहानुभूति के ये शब्द सुनकर उमानाथ की माँ की आँखें छलछला आईं और ऐसा लगा कि पाषाणी प्रतिमा में फिर से प्राणों की प्रतिष्ठा हो गई है। उसने कृतज्ञ आँखों से दमयन्ती (दम्मो फूफी) को देखा और सिर नीचा कर लिया। शिकार को गिरफ्त में करके बाघिन को जितना संतोष होता है, इस समय फूफी के भी संतोष की वही मात्रा थी। बेचारी उमानाथ की माँ को क्या पता कि इस सहानुभूति के पीछे एक डायन का निठुर अट्टहास छिपा पड़ा है! बेचारी को जयनाथ याद आया, जो आज चार महीनों से लापता है।

फूफी ने सुंघनी सुड़कते हुए कहा—कोई चिन्ता नहीं, सारा इन्तजाम हमने कर लिया है। परसों इस समय तक यह बोझ तुम्हारे सिर से उतर जाएगा। उमानाथ की माँ, रत्ती भर भी फिकर मत करो।

कृतज्ञता के मारे उमानाथ की माँ का जी करता था कि दमयन्ती के पैरों पर अपना सिर रख दे और सुबुक-सुबुककर कुछ देर रो ले। यह चतुर बुढ़िया उस बेचारी को ममता का अवतार प्रतीत हो रही थी। वह विधवा है, अकिंचन है। उसे गर्भ रह गया है। कहीं वह मुँह दिखाने के काबिल नहीं रही। पेड़-पौध, पशु-पक्षी सभी गुप-चुप उमानाथ की माँ के इस महान् कलंक का मानो कीर्तन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि दम्मो फूफी जैसी संभ्रांत वृद्धा उसे सान्त्वना देने आई हैं तो इससे बढ़कर व्यावहारिक मानवता भला और क्या होगी? मगर वहाँ तो बीसियों बैठी थीं, दम्मो फूफी अकेले रहतीं तब न! उमानाथ की माँ को साहस नहीं हुआ कि फूफी के पैरों पड़ जाए। लज्जा भी निगोड़ी कैसी होती है कि उसका

आँचल घोर से घोर पापी के लिए सुलभ है !

स्वर को अधिक से अधिक कोमल करके फूफी ने कहा—अच्छा, कौन था वह कलमुँहा उमानाथ की माँ, जिसने तुम्हें आग में यों झोंक दिया ?

इस असम्भावित प्रश्न से वेचारी के रोम-रोम काँप उठे, समूचे शरीर का लहू पानी-पानी हो गया। विकराल मुँह वाली राक्षसी याद आई, जिसकी कहानियाँ वह वचपन में अपने नाना से सुना करती थी। दमयन्ती का वह सौम्य रूप उमानाथ की माँ के लिए अव मिटता जा रहा था। उसकी जगह कहानी की विकरालवदना वही राक्षसी नजर आने लगी। अभागिनी का हृदय केले के पत्ते की तरह काँपने लगा।

तो क्या, जयनाथ का नाम वह वता देगी ? नहीं, कभी नहीं। उसने कहा—पता नहीं, मैं कैसे वताऊँ ?

हूँ !—दमयन्ती ने गौर से उमानाथ की माँ की ओर देखा और पंखे की वेंट से पीठ खुजलाते हुए मुस्कुराना शुरू किया। फूफी की इस लम्वी मुस्कान का और स्त्रियों ने हँसकर समर्थन किया। परन्तु इस मुस्कान और इस हँसी के पीछे उमानाथ की माँ को उछलता-कूदता काला पहाड़ स्पष्ट दिखाई पड़ा जो कि आहिस्ते-आहिस्ते उसी की ओर वढ़ा आ रहा था। ये लोग मानेंगे नहीं, कुछ-न-कुछ कहना ही पड़ेगा। क्या कहा जाय, क्या नहीं—वह वेचारी देर तक इसी गुन-धुन में पड़ी रही।

फूफी ने वदले हुए स्वर में पूछा—तो तुम इस वारे में कुछ नहीं जानतीं ?

उमानाथ की माँ नाखून से नाखून खोंट रही थी। आँगन के एक कोने में रतिनाथ वैठा था। महज ग्यारह वर्ष की उम्र होने के कारण ही वह स्त्रियों के इस गुप्त अधिवेशन में शामिल हो सका था। इस सवाल से उस लड़के का दिल धड़क रहा था कि कहीं उसी के वाप का नाम न चाची के मुँह से निकल आवे ! चार मास से रत्ती का वाप—जयनाथ लापता है।

इस मातृहीन वालक का अपनी चाची के प्रति वहुत ही गहरा स्नेह था। चाची भी रत्ती को खूव मानती थी। पिछले चार मास में यह स्नेह और भी गाढ़ा हो उठा था। चारों ओर से लांछित, चारों ओर से तिरस्कृत होकर उमानाथ की माँ जव भूखे पेट ही सो जाना चाहती तो रतिनाथ सत्याग्रह कर देता—"ऐसी क्या वात है चाची कि तुमने खाना-पीना छोड़ रखा है ? अच्छा, नहीं खाना है न खाओ, मगर कल मैं भी नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा।" इतना कहकर वह चाची की पीठ से सटकर वैठ जाता और उसके रूखे वालों में अपनी नन्हीं-नन्हीं उँगलियाँ उलझाने लगता। चाची की देह सिहर उठती। वह उठ वैठती और दो-चार कौर भात खा लेती। एक दिन पड़ोस की एक लड़की ने रतिनाथ से कहा था—तेरी चाची को, रत्ती, वच्चा होने वाला है। उसने कसकर छोकरी को एक तमाचा लगा दिया···वेचारे को कुछ पता नहीं कि आखिर वात क्या है। एक दिन दूर की किसी भाभी ने खुलासा कहा—लाला, तुम्हारी चाची

की अगर दूसरी शादी हो गई होती तो ठीक था। इस पर रतिनाथ ने उस भाभी को फटकारते हुए बतलाया था कि पंडित की लड़की होकर तुम ऐसी बातें करती हो। दूसरी-तीसरी शादी क्या कभी किसी विधवा या सधवा ब्राह्मणी ने की है?

अच्छा भई—फूफी ने उठते हुए कहा—अँधेरा हो गया, मुझे तो शिवजी के दर्शन करने नित्य इस समय भी मन्दिर जाना होता है। तुम्हारी मर्जी! लेकिन पाँच साल की बच्ची भी इतना बता देती है कि आँखमिचौनी के वक्त उसकी पीठ थपथपाने वाला आखिर कौन रहा होगा, और एक हो तुम! ओह, कितनी भोली···अबके फूफी खिलखिलाकर हँस पड़ीं, औरों ने भी साथ दिया। यह उन्मुक्त हास उमानाथ की माँ को असह्य हो उठा। मन में आया कि वह भी कस-कर चिकोटियाँ काटे। दमयन्ती के बालवैधव्य की रँगीलियों का उसे सारा हाल मालूम था। मगर नहीं, रत्ती की चाची ने अपने को सम्भाला और उठकर कहा—मैं और कुछ नहीं जानती। वह भादों का महीना था। अमावस की रात थी। एक घनी और अँधेरी छाया मेरे बिस्तरे की तरफ बढ़ आई। उसके बाद क्या हुआ, इस बात का होश अपने को नहीं रहा···

फूफी ने इस पर कुछ नहीं कहा। परन्तु, रामपुरवाली चाची ने आँगन से निकलते समय हल्की आवाज में कहा था—होश कैसे होता? मौज मारने की घड़ियों में किसी को भला कैसे होश रहेगा? बला से, अब पेट कोहड़ा हो गया है तो होने दो!

दो

उस रात चूल्हा नहीं जला।

चाची जाकर बिस्तरे पर लेट गई। बिस्तरा क्या था, खजूर के पत्तों की चटाई थी। बीच घर में वही बिछाकर लेट गई, न तकिया लिया न सुजनी। दाईं बाँह पर सिर रखकर वह पड़ी रही और आँखों की रोशनी को घने अन्ध-कार में भटकने के लिए छोड़ दिया, जैसे थका और भूखा चरवाहा लापरवाह होकर अपनी गायों को जंगल में छोड़ देता है। वे लौट भी आना चाहती हैं तो मार डंडा से, मार डंडा से वह उन्हें फिर-फिर जंगल की ओर खदेड़ देता है। बस्ती नजदीक नहीं होने से किसी पेड़ के नीचे वह भी बाँह का तकिया बनाकर करवट लेट जाता है···

रतिनाथ भी जाकर संदूक पर सो रहा। विपत्ति के अथाह समुद्र में गोते खा रही इस चाची के लिए बेचारे ने उस रात कितने आँसू बहाए, यह रहस्य भग-वान ही जानते हैं। दिन का भात हाँडी में था, पत्थर के बड़े कटोरे में दाल थी।

एक दूसरी पथरौटी में ज़रा-सा वैंगन का चोखा रखा हुआ था। पर किसी ने हाथ तक नहीं लगाया। रत्ती भूखा जरूर था, लेकिन उसकी भूख-प्यास हवा हो गई, जबकि टोल-पड़ोस की महिलाओं का दल मुस्कराता और आँखें मटकाता हुआ शाम को रत्ती के आँगन से चला गया। चाची बुत बनी वहीं खड़ी रही, उसकी आँखों से आँसू के चार बड़े-बड़े बूंद ढुलक पड़े थे। समाज व्यक्ति के प्रति इतना निठुर, इतना नृशंस हो सकता है, उस अबोध बालक को अपनी छोटी-सी आयु में आज यह सत्य पहली बार भासित हुआ था।

परन्तु दो पहर रात को किसी ने रत्ती के मुँह में दस-पाँच कौर अवश्य डाल दिए थे। और कौन होगा ! चाची ही होगी।

हाँ, चाची ही थी। उसी ने नींद में विभोर रतिनाथ को उठाकर दाल-भात और वैंगन का चोखा खिला दिया। रत्ती बराबर आँखें मूंदे ही रहा। खिला-पिलाकर कुल्ली कराकर चाची ने उसे अपने पास सुला लिया। खुद उसने कुछ नहीं खाया। बचा भात बाहर डाल दिया था।

उस रात चाची को नींद नहीं आई। जिसके माथे पर विपत्ति का इतना बड़ा पहाड़ हो, वह भला कैसे सोए? भादो, आसिन, कार्तिक, अगहन, पूस, माघ, फागुन और यह चैत—आठवाँ महीना चल रहा था। पेट में बच्चा ऊधम मचाने लगा था। चाची को ख्याल आया जयनाथ का चेहरा और फिर उसने सोये हुए रत्ती का मुँह चूम लिया। उमानाथ की माँ जानती थी कि जयनाथ देवघर में था और आजकल काशी में है। बेचारी ने कई बार चिट्ठी लिखवानी चाही, मगर किससे लिखवाती? जयनाथ वादा कर गये थे कि दस दिन में ही मैं बाबा (वैद्य-नाथ) को जल ढालकर आ रहा हूँ। पूस चढ़ते गए और यह चैत भी बारह दिन बीत गया। चाची को सारी पुरुषजाति से घृणा हो गई…इस मुसीबत का सामना जिसे करना चाहिए, वह कहीं यों बाबा वैद्यनाथ और काशी विश्वनाथ के इर्द-गिर्द गाल बजाता फिरे? छिः! ऐसा था तो मुझे भी साथ ले लिया होता। हे भगवान ! पानी में डूब मरने के अतिरिक्त क्या कोई और उपाय नहीं है? सुनती हूँ, लहेरिया सराय के सरकारी अस्पताल की डाक्टरनी गर्भ गिराने में बहुत कुशल हैं…मगर वहाँ तक मैं पहुँचूंगी कैसे?

मुसीबत की उस घड़ी में एकाएक चाची को अपनी माँ याद आई। उसने तय किया कि आज तो नहीं, कल रातोरात वह तरकुलवा चली जाएगी। वहाँ गाँव में ही, कई चमाइनें हैं। डाँट-फटकार, गंजन-फजीहत के बावजूद भी माँ आखिर माँ ही होगी। लड़की का कवच बनकर तमाम मुसीबतों को वह अपने ऊपर ले लेगी, इसमें भी क्या कुछ शक है?

इस निश्चय से चाची को राहत मिली और रात्रिशेष में बेचारी की बोझिल पलकें ज़रा झपक गईं।

रतिनाथ की आँख सवेरे ही खुली। चाची को दूसरे दिन की भाँति आज उसने नहीं जगाया। आँख मलते-मलते वह चाची के घर के पिछवाड़े गया।

पेशाव करते वक्त उसकी निगाह घिवही पर पड़ी। आम के इस वड़े पेड़ को वह वहुत प्यार करता था। इसके आम गोल-गोल होते थे। पकने पर मुँह पीला और वदन लाल हो जाता था। स्वाद घी जैसा। रस गाढ़ा और गुठली छोटी होती थी। इस आम का यह नाम दीदी का रखा हुआ था। पेड़ फलता भी खूब था। वीस-वीस, पच्चीस-पच्चीस हजार तो सिर्फ पकने पर निकलते। आंधी और तूफान में हजारों कच्ची अंवियाँ गिरतीं सो अलग। वह भी वेकार नहीं जातीं, अचार और सूखी खटाई लोग साल-भर खाते। पकने पर घिवही का पेड़ कल्पवृक्ष-सा मनोहर लगता। गाँव में ऐसा कौन होगा, जिसने घिवही के दस-पाँच आम न खाए हों। उनका अमावट ये लोग साल-दो साल तक खाते। इस वार भी घिवही में फल खूब आए थे। रतिनाथ ने देखा, पचासों टिकोरे गिरे पड़े हैं। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा, चटनी के लिए यह काफी है।

वह टिकोरे इकट्ठे करने लगा। चुनने को कुछ रह गए थे कि चाची ने आवाज दी— रत्ती, ओ रत्ती! कहाँ गया?

यह रहा चाची, टिकोरे चुन रहा हूँ—रतिनाथ ने जोर से जवाव दिया। तव तक चाची भी वहाँ पहुँच गई। नजदीक आकर रत्ती की ठुड्डी पर हाथ फेरती हुई वोली—तुझे क्या है पागल? तू क्यों इतना दुवला हो गया है?

लड़के ने नजर नीची कर ली। जरा देर वाद कहा—चाची, आज मैं पाठशाला अवश्य जाऊँगा। रसोई तो भला तुम जल्दी कर लो, चटनी मैं खुद ही कर लूँगा।

चुने हुए टिकोरे लेकर चाची आँगन में चली आई। चौका-वर्तन करने के वाद उसने चूल्हा जलाया। खानदानी खवास की वुढ़िया औरत आज पानी भरने नहीं आई, घड़े रीते पड़े थे। रतिनाथ ने छोटी वाल्टी में पोखर का पानी ला-लाकर उन्हें भर दिया। चाची समझ गई कि दमयन्ती का अनुशासन उसके खिलाफ शुरू हो गया आज से। अव इस आँगन में न धोविन आएगी, न नाइन, न डोमिन, न चमाइन। ब्राह्मणी की तो भला वात ही कौन कहे। पुरानी दियासलाई में अभी चार-छः तीलियाँ थीं, एक तीली घिसकर चाची ने चूल्हा जला लिया था। नहीं तो गाँव-गंवई में आग एक घर से माँगकर दूसरा घरवाला ले जाता है, दूसरे से तीसरा। यों दियासलाई का काम ही नहीं पड़ता। फिर भी लोग सलाई की दस-पाँच तीलियाँ वचाकर रखते अवश्य हैं। यह नहीं कि रतिनाथ किसी के यहाँ से आग ला नहीं सकता था। ला सकता था, अगर किसी ने चाची के सम्बन्ध में कुछ अनाप-शनाप उसे सुना दिया तो लड़के के दिल को कितनी चोट लगेगी! यही सव सोचकर चाची ने रत्ती को कहीं आग लाने नहीं जाने दिया।

रत्ती को चाची का यह रुख पसन्द नहीं आया। वह सोचता, जो एक सुनाएगा हम उसे दस सुना देंगे। जो आग नहीं देगी उसके चूल्हे पर पेशाव कर दूँगा।

खैर, थोड़ा पानी से भी काम चल गया। चाची ने सिर्फ चार-छः लोटा पानी नहाने में खर्च किया, बाकी रसोई में। पीने के लिए एक बाल्टी रत्ती कुएँ से स्वयं ले आया भरकर। भात तैयार हो गया। तब जाकर पोखर में नहा आया।

सौ साल पहले पंडित नीलमणि ने यह पोखर खुदवाया था। वह रत्ती के दादा के दादा थे। अपने दालान के बिल्कुल करीब एक छोटा-सा पोखर खुदवा गए। इस पोखर के तीन भिंडों पर अब उपाध्याय घराने की बढ़ती आबादी छा गई थी। केवल पूरब वाला भिंडा बच रहा था। पास-पड़ोस के मर्द आकर उसी ओर के घाट पर नहाते।

आज शालिग्राम की पूजा में रतिनाथ का मन लगा नहीं। सराइयाँ तीन थीं, देवता दो ही थे—शालिग्राम और नर्मदेश्वर। तांबे की सराई शालिग्राम के लिए, पीतल वाली नर्मदेश्वर के लिए। तीसरी भी पीतल की ही थी। वह पंच देवता के उद्देश्य से थी। चन्दन रगड़कर उसने अच्छत भिगोये। "ॐ सहस्रशीर्षा···" आदि मन्त्र पढ़कर शंख से शालिग्राम पर जल ढारा, फिर नर्मदेश्वर पर। फिर अनमने भाव से चन्दन, अच्छत, फूल वगैरह चढ़ाकर रत्ती ने पूजा खतम की। उधर थाली में भात-दाल परोसा जा चुका था।

थोड़ा-सा उसने खाया होगा कि तब तक चाची ने चटनी भी पीस ली। भुना हुआ जीरा भी दिया था उसमें। रतिनाथ ने चटनी का स्वाद ले-लेकर खूब खाया। खाते-खाते उसे चाची ने कहा—बेटा, पाँच-छः रोज तुझे अकेला ही रहना पड़ेगा।

और तुम कहाँ रहोगी ?—उठते हुए कौर को रोककर रतिनाथ ने आँखों से ही सवाल किया।

तरकुलवा जाऊँगी, किसी से कहना मत !—चाची बोली।

उसने फिर कहा—रात को पड़ोस के आँगन में सो जाना। चावल, दाल, लकड़ी, धनियाँ, हल्दी, नमक, तेल—सामान सब मौजूद है। खुद पकाकर खा लेना। पाँच ही छः रोज की बात है, उसके बाद तो मैं आ ही जाऊँगी।

रत्ती खाना खतम करते-करते बोला—मैं भी न साथ चलूँ ?

नहीं—चाची ने कहा—बात ऐसी आ पड़ी है कि अकेली ही जाऊँगी, यही अच्छा रहेगा।

रतिनाथ ने चुप रहकर चाची की बात का औचित्य मंजूर कर लिया। अब वह खाना खा चुका था। हाथ-मुँह धो आया। खाकर मुख-शुद्धि के तौर पर सुपारी का एक छोटा-सा टुकड़ा चबाना उसके अभ्यास में शामिल हो गया था। सुपारी का टुकड़ा थमाते हुए चाची ने आले की ओर इशारा किया और कहा—यहाँ आठ-दस सुपारी रख जाऊँगी, सरौता भी रहेगा।

तब तक दिन काफी उठ आया था। रत्ती पाठशाला जा चुका था। चाची अपनी चिन्ता की धारा को समकूल रखने के लिए तकली लेकर बैठी। खाना वह देर से खाएगी।

बीच घर में बैठकर वह तकली कातने लगी किर्र-किर्र-किर्र। मिथिला की कुलीन ब्राह्मणियों के जीवन में इस तकली का बहुत बड़ा स्थान रहा है। कुटीर-शिल्प का यह मधुर प्रतीक अब तो उठता ही जा रहा है, फिर भी जनेऊ के लिए तकली से निकले इन बारीक सूतों की आवश्यकता अनिवार्य समझी जाती है। फुर्सत का वक्त स्त्रियाँ तकली के सहारे बहुत आसानी से काट लेती हैं। आठ-दस वर्ष की उम्र से लेकर जीवन-पर्यन्त तकली का और उनका साथ रहता है। कहते हैं ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से पहले घर-घर तकली चलती थी। तकली के ये सुन्दर और महीन सूत मलमल बुनने के काम आते। परन्तु अब तो यह वस्तु ब्राह्मणों के ही घरों में रह गई है और इन सूक्ष्म और मनोहर सूतों का का उपयोग सिर्फ जनेऊ तक सीमित रह गया है। हाँ, तो तकली की मृदु मधुर ध्वनि में एकरस होकर चाची सोचने लगी—इस समय अगर जयनाथ होते··· अगर जयनाथ होते तो उन्हें कुछ न कुछ प्रतिकार अवश्य करना पड़ता। यह गरीबी और इतनी असहाय अवस्था। विपदाओं का यह महाजाल। कौन मुझे उबारेगा? कुछ भी हो, मर्द फिर मर्द ही है।

चाची को एक-एक कर पुरानी बातें याद आने लगीं—सुखी माँ-बाप, भरा-पूरा बचपन। कुलीन परन्तु दरिद्र से विवाह। रोगी पति। घुन लगा हुआ दाम्पत्य। लड़का उमानाथ, लड़की प्रतिभामा। वैधव्य। सुदूर दक्षिण (भागल-पुर) में लड़की का बेचा जाना। ऋण से छुटकारा···ओह! उमानाथ जब सुनेगा कि उसकी विधवा माँ गर्भवती हो गई है तो···

उमानाथ की उम्र पन्द्रह साल की थी। वह जिद्दी, गुस्सैल और पढ़ने में मन्द था। प्रतिभामा सत्रह साल की थी, उसे ससुराल गए तीन-चार साल होने को आ रहे थे। कुलीनता की दृष्टि से बहुत ही नीच, मूर्ख और चालीस साल के एक अधेड़ ब्राह्मण ने सात सौ नकद गिनकर उससे शादी की। वह छः महीने के बाद ही गौना करा ले गया और तब से प्रतिभामा फिर शुभंकरपुर की इस धरती पर पैर नहीं रख पाई।

इतने में किसी के पैर की आहट पाकर चाची का ध्यान भंग हुआ। उसकी बोटी-बोटी काँपने लगी—हे भगवान्! यह कौन आ रहा है···कल किसी ने कहा था कि थाने में भी इस बात की खबर हो गई है।

उसका दिल धड़कने लगा। मुसीबत के इन दिनों में किधर से भी वज्रपात हो सकता है। कैसी भी अनहोनी हो सकती है। चाची को टोला-पड़ोस की एक-एक औरत दमयंती मालूम दे रही थी। हवा से उड़ा हुआ एक-एक तिनका खतरे से भरा नजर आ रहा था।

आहट बिल्कुल करीब आ गई। चाची ने अपने को और कड़ा कर लिया—कोई भी हो, घबड़ाना नहीं चाहिए। बदनामी तो फैल ही गई। अब और इससे अधिक क्या होगा? दारोगा फाँसी तो देगा नहीं, हाँ पहरा जरूर बैठा दे सकता है। सरकार के कानून में गर्भ गिराना नाजायज है; तो क्या सोचकर अंग्रेज

बहादुर ने यह कानून बनाया होगा, कि कोई भी विधवा भ्रूणहत्या नहीं कर सकती ···चाची अब भी उसी रफ्तार से तकली कात रही थी। पूनी पर पूनी खतम होती गईं, मगर सोचने का धागा अपने छोर पर नहीं पहुँचा।

चाची के सामने जयनाथ खड़े थे। दाढ़ी बढ़ी हुई, चेहरा खिला हुआ। चाची की उँगली रुक गई, तकली का तकुआ ठिठक गया। कता हुआ सूत तकली में जल्दी-जल्दी लपेटकर उसने पूनियाँ और तकली डाली में रख ली।

जयनाथ ने कहा—रहने दो उमानाथ की माँ! तुम क्यों उठती हो? पैर धोने के लिए लोटा-भर पानी घड़े से क्या खुद नहीं ले सकता मैं?

पर चाची तब तक पानी ला चुकी थी। वह अपने हाथों से ही जयनाथ के पैर धोने लगी, परन्तु जयनाथ नहीं माना। खुद पैर धोने लगा।

दातून भी नहीं की होगी,—चाची ने कहा—ठहरो ला देती हूँ। दक्खिन तरफ जो घर था, उसमें से वह साहड़ की दातून ले आई और जयनाथ को थमा दी। बोली—कल सुबह यह दातून रत्ती कहीं से लाया था। देखो न, अभी तक हरी है···कपार पर आई एक रूखी लट को बायें हाथ से ठीक करती हुई चाची फिर बोली—चार अच्छर लिखना तुम्हारे लिए पहाड़ हो गया! कोई खत नहीं, खबर नहीं! बड़े अजीब आदमी हो!

जयनाथ ने कोई सफाई नहीं दी, मुस्करा भर दिया। गठरी में से उसने अपनी धोती निकाल ली और दातून करते-करते स्नान करने चला गया।

तीन

एक छोटा-सा स्टेशन। राजनगर। 11 बजे रात के ट्रेन से चाची और जयनाथ उतरे। स्टेशन से बाहर आकर उन्होंने कोई बैलगाड़ी किराए पर कर लेनी चाही। पाँच कोस पैदल चलना चाची के बूते से बाहर था।

शुभंकरपुर से तारसराय स्टेशन महज कोस-भर पड़ता है। उतने में ही चाची को चार जगह बैठना पड़ा था। और यह पाँच कोस का लम्बा रास्ता बेचारी कैसे तय करेगी!

जयनाथ ने तय कर लिया था कि पाँच रुपया भी लेगा तो क्या, बैलगाड़ी बिना किये तरकुलवा नहीं जाएँगे। स्टेशन से बाहर, सड़क की ओर दस-बारह गाड़ियाँ थीं जरूर, लेकिन उनमें से एक भी तरकुलवा की नहीं थी। आसपास की थीं, पर उनके आरोही सुबह की ट्रेन से आने वाले थे।

चाची का मन था कि किसी तरह किरण फूटने से पहले मैके पहुँच जाती। जयनाथ का भी यही विचार था, और ठीक ही था। चाची जिस काम के लिए

अपनी माँ के यहाँ जा रही थी, उसमें सराहना, खुशी और स्वागत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उसके मुँह पर तो कालिख पुती हुई थी। माँ न जीती होती तो तरकुलवा जाने की अपेक्षा वह यहीं कमला की धार में डूब मरना अधिक पसन्द करती। उसे अपनी माँ के सरल, शीतल, दयालु स्वभाव पर बहुत भरोसा था, इसीलिए तो जा रही थी।

जयनाथ ने अपनी भाभी को वहीं सड़क पर एक ओर बैठा दिया और खुद निकले सवारी की तलाश में। उन्हें मालूम था कि दस-बारह इक्के भी राजनगर के स्टेशन पर मौजूद रहते हैं। लेकिन, आज उनका भी पता नहीं था। कमला का पुल पारकर जब वे आगे बढ़े तो पाकड़ के नीचे एक इक्का दिखाई पड़ा। मचान पर जो आदमी सो रहा था, वह जयनाथ के पैर की आहट पाकर जग गया है, उसने यह बात अपनी खाँसी से जाहिर कर दी। पूछने पर मालूम हुआ कि वह तरकुलवा पहुँचा देने को तैयार है, मगर छः रुपया से धेला भी कम न लेगा।

आखिर साढ़े पाँच पर सौदा पट गया। इक्के वाले ने कहा, आप स्टेशन चलिए। मैं घोड़ी को जोतकर अभी लाया।

उन लोगों के पास सामान के नाम पर कुछ नहीं था। था क्या, सिर्फ आठ महीने का गर्भ। सही सलामत तरकुलवा तक पहुँचने की ही उन्हें चिन्ता थी। इक्का आया तो उस पर इक्केवान से कहकर ओहार (परदा) डलवा दिया गया। इस काम के लिए जयनाथ ने अपनी ही धोती निकालकर दी थी।

चाची सवार हुई और जयनाथ चले पैदल। बाजार के बाद सड़क पर रोड़ियाँ नहीं थीं। बिल्कुल कच्ची और देहाती सड़क हो और उस पर धूल और बालू न रहे तो इक्का मजे में चल निकलता है।

ज़रा-सी रात बाकी थी कि वे तरकुलवा पहुँच गए। जयनाथ को चुम्मन झा (चाची के पिता) का घर मालूम था। इक्के को लिवाए सीधे वहीं पहुँचे।

इक्के से उतरकर चाची अपने बाप के आँगन में आ गई। उधर जयनाथ ने इक्के वाले को किराया देकर फौरन रवाना किया। इसके बाद वे खुद भी अन्दर गए।

स्त्रियाँ अपने दामाद से हल्का-सा परदा करती हैं और जयनाथ ठहरे यहाँ दामाद के छोटे भाई साहब। खैर। अन्दर जाकर जयनाथ ने देखा कि पच्छिम वाले घर के ओसारे में माँ-बेटी दोनों एक-दूसरे से गले लगकर सिसक-सिसककर रो रही हैं।

जयनाथ के अन्दर आ जाने पर रोने की इस धीमी आवाज में और भी अधिक धीमापन आ गया।

पैर छूकर प्रणाम करने पर वृद्धा ने आशीर्वाद दिया।

जयनाथ ने सोचा—खुल करके सारी बातें भाभी ने अपनी माँ से न कही होंगी, और बिना कहे बनेगा नहीं। यह कठिन कर्त्तव्य मुझे ही करना पड़ेगा।

वृद्धा को अलग ले जाकर जयनाथ ने शान्ति और संकोच के साथ सारी बात

समझा दी और कहा—यहाँ मेरे रहने की कोई जरूरत नहीं। स्नान और भोजन के उपरान्त मैं चला जाऊँ, यही अच्छा है। और—जयनाथ ने अपने बटुवे में से दस रुपये के नोट निकाले और यह रकम वृद्धा के हाथ में थमाते हुए बोले—इसकी चिन्ता नहीं कीजिए। बाबा विश्वनाथ की कृपा से अभी इतना और निकाल सकता हूँ।

वृद्धा ने आग्रहपूर्वक रुपये लेने से इन्कार कर दिया। बोली—गौरी (चाची) का कर्म ही फूट गया है तो इसमें किसी को क्यों दोष दूँ! रही खर्चे की बात, सो कमला मैया की कृपा से सब ठीक हो जाएगा। आप ज़रा भी चिन्ता न करें। हाँ, किसी के साथ रतिनाथ को यहाँ भेज दें तो अच्छा होगा। मैं उसका मुँह देखना चाहती हूँ।

स्नान और भोजन के बाद जयनाथ तरकुलवा से चल पड़े। चैत की दुपहर। धूप कड़ी अवश्य थी, परन्तु वहाँ रहना जयनाथ ने बेकार समझा। इसके अलावा उन्हें इस बात की भी चिन्ता थी कि रत्ती घर पर अकेले कैसे रहेगा।

उन दिनों रेलवे-लाइन इस ओर जयनगर तक ही थी। उसके आगे नेपाल का इलाका पड़ता है और अब तो नेपाल सरकार ने जयनगर से जनकपुर तक अपनी रेल खोल ली है। उस दिन जयनाथ को शाम की ट्रेन मिल गई, पाँच मिनट की देर हुई होती तो गाड़ी खुल जाती।

राजनगर से मधुबनी, पंडौल, सकरी और तारसराय—चारों स्टेशन वह खड़े ही आए। नेपाली औरत-मर्द सिमरिया घाट जा रहे थे, गंगा नहाने। गाड़ी का वह डिब्बा उन्हीं से ठसाठस भरा हुआ था।

पहर रात बीतते-न-बीतते जयनाथ अपने घर पहुँचे। रतिनाथ अपने साथी नरेश के साथ उसीके घर में सो रहा था। जयनाथ ने उसे उठाया नहीं। सामान मौजूद था, खिचड़ी पका ली और खाकर सो गए।

सुबह उठते ही वह कुटी पर चले गए। यह कुटी गाँव से बाहर पूरब ओर बलुआहा पोखरे के भिड पर थी। वहाँ पन्द्रह साल से एक महात्मा रहते थे, जिनका असल नाम कोई नहीं जानता था। सभी उन्हें तारा बाबा कहा करते क्योंकि रोज सुबह-शाम आप "माई तारा, माई तारा" बीस-पच्चीस बार इतने जोर से चिल्लाते कि आस-पास के चारों-पाँचों गाँव उस सिंहनाद से परिव्याप्त हो जाते। उनकी धोती लाल-सुर्ख रहती थी। गले में हाथीदाँत के खरादे हुए दानों की माला थी। दाईं बाँह पर दो बड़े-बड़े रुद्राक्ष और एक बड़ा-सा मूँगा पहनते थे। दाढ़ी-मूँछ, बाल और नाखून कभी कटाते नहीं थे।

जयनाथ को तारा बाबा के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे नित्य एक बार बाबा का दर्शन कर आते। मन की आकुलता ही सुबह-सुबह आज इस ब्राह्मण को वहाँ ले गई।

बिना किसी संकोच के जयनाथ ने तारा बाबा को उमानाथ की माँ के सम्बन्ध में आज सब कुछ बता दिया। सुनकर बाबा की आँखें चमकीं। वे बोल उठे—

नाहक ही उस बेचारी को तुम तरकुलवा में छोड़ आए हो ! मुझसे क्यों नहीं कहा ? सब ठीक हो जाता। खैर। फिर भी मैं एक यंत्र बनाकर दूंगा, भिजवा देना।

अपने पिता के बारे में रतिनाथ को सोकर उठते ही मालूम हो गया कि लौट आए हैं। वह जल्दी से निवटकर रसोई करने लगा। चाची सब चीजें रख तो गई थीं। जब भात भी हो गया, दाल भी हो गई, बैंगन और सहजन की तरकारी चढ़ी थी तब आए जयनाथ। ये उधर से नहाते ही आए थे।

पूजा भगवान की जयनाथ आज स्वयं करने बैठे। वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी एक कुलीन ब्राह्मण के साधारण दैनिक जीवन में जितनी उपासना और कर्मकांड की आवश्यकता होती है, उतना तो जानते ही थे। प्रातःस्मरण, संध्या-तर्पण, पंचदेवता पूजन (शिव, विष्णु और दुर्गा का विशेष रूप से) चंडी (सप्तशती) पाठ···इतना विना किए उन्हें चैन नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त, विद्यापति की महेशवानी भी जयनाथ बड़ी तन्मयता से गाया करते। सिद्धान्त-कौमुदी और तर्कसंग्रह वे पूरी-पूरी नहीं पढ़ पाए। अपनी अल्पज्ञता पर उन्हें जीवन-भर पश्चात्ताप होता रहा।

करीब आधा घंटा पूजा में जयनाथ लगाते थे। यह गोल-मटोल मनोहर शालिग्राम नकली नहीं था जिसे बनारस या जयपुर के कारीगर काले पत्थर से तराशकर बनाते हैं। यह भगवान् पांच पुश्त से इस कुल में श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने हुए थे। पलिवाड़ महावंश की यह शाखा 'झा' उपाधि वाली थी। जयनाथ के वृद्ध प्रपितामह नीलमाधव उपाध्याय बहुत बड़े नैयायिक थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर मुर्शिदाबाद के नवाब ने पूर्णियाँ जिले में सौ बीघा जमीन लाखिराज ब्रह्मोत्तर के तौर पर उन्हें दी थी। जयनाथ के पितामह-भ्राता जगदानन्द झा अच्छे ज्योतिषी थे, उनके दो भाई और थे। गृहकलह हुआ तो यह ब्रह्मोत्तर उन लोगों ने बेच डाला। उन्हीं नैयायिक नीलमाधव उपाध्याय को मुक्तिनाथ का दर्शन करके लौटने वाले एक महात्मा ने यह शालिग्राम दिया था ! नारायणी नदी (गंडक) का जहाँ उद्गम-स्थान है, वहीं यह दिव्य प्रस्तर उस महात्मा को मिला था। बेतिया के तत्कालीन महाराज के यहाँ एक बार नैयायिक जी गए थे, महात्मा ने उन्हें यह शालिग्राम दे दिया। महाराज ने इनकी महिमा सुनकर सोने का छोटा-सा सिंहासन बनवा दिया था। आज से चालीस साल पहले नैयायिक जी के प्रपौत्र इन्द्रमणि झा ने गया से लौटते समय पटना में भगवान का वह सिंहासन बेच डाला। इन्द्रमणि की पुत्र का मुंह देखने की लालसा कभी पूरी न हुई। हाँ, लड़कियाँ चार अवश्य हुईं। उन्हें अपने से भी उच्च कुल में कन्याएँ दान करने की सनक थी। और, मिथिला का ब्राह्मण जो जितना ही कुलीन होता है, उसकी दरिद्रता भी उतनी ही बड़ी हुआ करती है। इन्द्रमणि को भी अपनी तीन कन्याओं का भरण-पोषण आजन्म करना पड़ा, क्योंकि चार में से तीन दामाद परम अभिजात और महादरिद्र थे। मरते वक्त, जो कुछ था, लड़कियों के नाम

चढ़ा गए। इन्द्रमणि जब मृत्युशय्या पर थे तभी जयनाथ ने यह भगवान (शालिग्राम) उनसे माँग लिया था। आज पन्द्रह साल से जयनाथ उनकी पूजा करते आ रहे हैं।

पूजा समाप्त करके वे खाने गए।

अपने पुत्र की सहनशीलता और कार्यक्षमता देखकर प्रसन्न होने का अवसर आज जयनाथ को पहली ही बार मिला हो, ऐसी बात नहीं है। अब तो रतिनाथ ग्यारह साल का हो गया है। पाठशाला में सबसे अधिक तीव्र बुद्धि वाला समझा जाता है। बहुत कम बोलता है, फुर्ती गजब की है उसमें। गरीबी के मारे बाप उसे हिन्दी-अंग्रेजी स्कूल में नहीं रख सका। और रसोई-बसोई तो जब रत्ती सात साल का था तभी से करना जानता है। सातवें (गर्भ-स्थिति के अनुसार आठवें) साल की उम्र में उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) हुआ था। हाँ, मछली और मांस बनाना अभी उससे नहीं सपरता। पिता और पितियाइन (चाची) घरेलू कामों में रत्ती को कम उलझाते।

सो, खाना दो थालियों में परोस लिया गया और दोनों बाप-पूत खाने बैठ गये।

चार

माँ-बाप ने चाची का नाम रखा था गौरी।

वह बहुत सुन्दर थी। चेहरे में लम्बाई-गोलाई की अपेक्षा फैलाव ही अधिक था। आँखें बड़ी-बड़ी। नाक नुकीली। कपार छोटा। बाल खूब काले और एड़ी तक लम्बे। गोरी तो थी ही। गले की आवाज नरम और सुरीली थी। हाथ-पैर छोटे-छोटे, लाल और भरे हुए, मानो आम के पल्लव हों।

गौरी के इस सौन्दर्य का रहस्य उसके माँ-बाप की भरी-पूरी गृहस्थी तथा निर्विघ्न जीवन में निहित था। चुम्मन झा के पच्चीस बीघा जमीन थी, उपजाऊ। चार सौ मन धान साल-साल होता था। एक बड़ा-सा कलमबाग था जिसमें कलमी आम के पचासों पेड़ थे। मालदह, कृष्णभोग, बंबइया, फजली, शाहपसंद, राढ़ी, भदई, दुर्गीलाल का केरवा, सुकुल, सिपिया, जर्दा—सब थे। किसी साल नागा नहीं जाता, सब साल फलता वह कलमबाग। चुम्मन झा पाँच पेड़ छोड़कर बाकी खटिकों के हाथ बेच लिया करते। चार सौ, पाँच सौ और कभी छः सौ तक मिल जाता। इस तरह आम भी इनके लिए एक अच्छी फसल थी।

संतान कुल चार हुईं—दो लड़के और दो लड़कियाँ। एक लड़का और एक लड़की बची थी। लड़का जयकिशोर किसी जिला स्कूल में हेड पंडित था और बाल-बच्चे और पत्नी समेत बाहर ही रहा करता। उन दिनों शायद डाल्टनगंज

में था। गृहपति को मरे सात साल हो चुके थे। अब गृहस्थी का सारा भार वृद्धा के कंधे पर था। जयकिशोर का मामा कभी-कभी इसमें अपनी बहन की मदद करता और अक्सर उसका रहना तरकुलवा ही होता।

तीन साल पहले छोटे भतीजे का मुण्डन-छेदन हुआ था। पिछले दफे तभी गौरी यहाँ आई थी।

परिस्थिति की भयानकता का अन्दाज लगाकर गौरी की माँ गुमसुम थी। जयनाथ जब चले गए तब उससे नहीं रहा गया। गौरी की ठुड्डी छूकर कर्कश स्वर में उसने पूछा—यह क्या कर आई है तू?

साहस नहीं हुआ कि गौरी माँ की आँख से आँख मिलाती। माँ बोलती गई—इस खानदान में जो किसी ने नहीं किया, इस अभागिन ने वही कर डाला! हे दुर्गा! हे बाबा कपिलेश्वर! अब मैं इसका क्या इलाज करूँगी? कब तक इस बात को मैं छिपा सकूँगी?

नाखून से नाखून खोटती रही गौरी।

अभी तक किसी को मालूम नहीं हुआ था कि गौरी आई हुई है। लोगों ने जयनाथ को सिर्फ गाँव से जाते ही देखा। आये तब तो कुछ रात बाकी थी।

भैंस की बीमारी के बहाने गौरी की माँ ने बुधना चमार की औरत को बुलवा भेजा। यह चमाइन इन कामों में उस्ताद थी। गाय, भैंस, औरत, घोड़ी, बकरी वह सबके काम आती। आस-पास के दस-बारह गाँवों में उसकी शोहरत थी। गौरी की माँ के दो भैंसें थीं जरूर, मगर उन्हें कहाँ कभी-कुछ हुआ? फिर भी बुधना चमार की औरत फौरन आई।

गौरी की माँ ने सारी बात समझा-बुझाकर चमाइन के हाथ पर पाँच-पाँच रुपये के दो नोट धर दिए, लेकिन वह सिर हिलाने लगी—नहीं मलिकाइन, इतने में काम नहीं चलेगा। यह तो दवा का दाम भी नहीं होगा। मेरी मजदूरी आप क्या देंगी, बस इतना ही?

दो तो तुम्हारा बँधा हुआ है ही—गौरी की माँ ने कहा—और मैं तो इतना सा दे रही हूँ।

मुस्कराकर सिर हिलाते हुए चमाइन ने कहा—यही बबुई तुम्हारी और भी तो दो बार यहाँ से बच्चे पैदा कर गई है। तब कहाँ मैंने तुमसे कुछ कहा मलिकाइन? मगर आज तो मामला ही कुछ और है।

इतना कहकर वह गम्भीर हो गई। ज़रा देर बाद बोली—अगर थाने में किसी ने जाकर चुगली कर दी तो मुझे जेहल-दामुल होगा। तुम लोग तो धनवाली हो, हाकिम भी तुम्हारी तरफदारी कर लेगा। कितने जोखिम का काम है पेट गिराना! पता चल जाए तो सरकार मेरा सत्यानास कर देगी।

गौरी की माँ पाँच रुपये का एक नोट और निकाल लाई, फिर भी वह राजी नहीं हुई। उसने कहा—दस और देने होंगे। जब काम कर दूँगी तो अपनी खुशी से आप कुछ न कुछ और दे दीजिएगा।

चमाइन की बात पर गौरी की माँ ने गौर किया। वह काफी प्रतिभाशील स्त्री थी। समझ गई कि पचीस तो यह लेकर रहेगी। जरूरत ऐसी आ पड़ी है कि पचास पर भी अड़ जाए तो देना ही पड़ेगा। खैर, दस रुपये का एक नोट वह और निकाल लाई। देते हुए कहा—देखो, मेरी लडकी को इस मुसीवत से पार कर दो। पाँच-सात दिन के अन्दर ही यह मव हो जाना चाहिए और गुपचुप।

जीभ निकालकर चमाइन वोली—भला यह भी क्या कहने की वात है, मलि-काइन? आपकी बदनामी क्या हमारी वदनामी नहीं है? पर एक वात कहती हूँ, माफ करना, बड़ी जात वालों की तुम्हारी यह विरादरी वड़ी मलिच्छ, वड़ी निठुर होती है मलिकाइन! हमारी भी वहू-वेटियाँ राँड़ हो जाती हैं, पर हमारी विरा-दरी में किसी के पेट से आठ-आठ नौ-नौ महीने का वच्चा निकालकर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है। ओह, कैसा कलेजा होता है तुम लोगों का! मइया री मइया!

गौरी की माँ साँस खींचकर भी कुछ वोलीं नहीं। अपनी लड़की के वढ़े हुए पेट पर उनका ध्यान गया और ऐसा लगा कि उसके अन्दर एक सुन्दर और स्वस्थ शिशु पड़ा हुआ है। आँखें मुँदी हुईं, परन्तु पलकें लगातार फड़क रही हैं—ओ अभागे, तुम्हारा क्या कसूर? यही चमाइन तुम्हें गाँव के वाहर झुरमुट के अन्दर डाल आएगी! फिर कुत्ते और सियार नोच-नोचकर तुम्हें खाएँगे! जैसे और बच्चे अपनी माँ के पेट से समय पर वाहर आते हैं, तुम उस तरह समय पर गर्भ से बाहर नहीं निकल सकते। तुम्हारे जन्म से प्रसन्न हो सोहर गाए, ऐसी एक भी औरत नहीं होगी मेरा वस चलता तो—

अच्छा मलिकाइन, अभी मैं चली। कल शाम को आऊँगी।—इतना कहकर चमाइन आँगन से वाहर हो गई, लेकिन फिर लौट आई। कहा—ज़रा देख तो लूँ ववुई को।

माँ ने कहा—पूरब वाले घर में है, आओ।

गौरी को झपकी आ गई थी। आहट पाते ही उसने आँखें खोल दीं। चमाइन ने करीब जाकर देखा। बोली—आठवाँ महीना है। ववुई, नाहक तुमने वखत बर्बाद किया। पेट तीन-चार महीने तक कावू में रहता है। अव देखना, तन्दुरुस्ती पर कितना बुरा असर पड़ता है!

माँ को अंदेसा हुआ। उसने आँखें फाड़कर पूछा—क्यों री, गौरी की देह को फिर तैयार होने में बहुत दिन लग जाएँगे?

हाँ मलिकाइन!—चमाइन घर से वाहर निकलती हुई वोली—दुसंझी मालिश करवाती रहें तो पचीस दिन लगेंगे। हाँ, आज और कल ववुई को कुछ खाने नहीं देना।

आज अभी तो खा चुकी—माँ ने कहा—हाँ, रात और कल नहीं खाने दूँगी। तो तू कल रात आएगी न?

ज़रूर माईजी, आती तो मैं आज शाम को भी, मगर डीहटोल में सल्हेस

महाराज की पूजा है। भाव-भगत होगी। हमारे यहाँ के सभी जाएँगे देखने।

वुधन चमार की औरत चली गई। गौरी की माँ ने उँगली पर गिनकर हिसाव लगाया। वड़ी छुट्टियों में, खासकर गर्मियों में जयकिशोर गाँव अवश्य आया करते। इस वार भी आएँगे। माँ ने सोचकर देखा, आधा चैत वीत चुका है। अभी समूचा वैसाख पड़ा ही है। जेठ के दशहरा से पहले शायद ही कभी जयकिशोर का स्कूल वन्द हुआ हो। और, तव तक गौरी विल्कुल तन्दुरुस्त हो जाएगी। इस गणित से उस वृद्धा को कुछ आश्वासन मिला। जयकिशोर वावू वहुत ही अच्छी प्रकृति के आदमी हैं, फिर भी माँ को खटका था कि अपनी वहन के सम्वन्ध में यह कुकाँड जव किसी तरह उन्हें मालूम होगा तो कुछ कहेंगे अवश्य। इसके अतिरिक्त, उमानाथ भी किसी-किसी साल आम खाने आता है। अपनी माँ के वारे में जव वह सुनेगा तो आश्चर्य नहीं कि कुएँ में कूदकर जान दे दे या माँ को ही मार डाले। लड़की को छः मास-आठ मास अपने पास रखना माँ को और भी भारी लग रहा था। इन वातों को सोचते-सोचते वृद्धा का दिमाग जव पथरा गया तो एक वार फिर आप पूरववाले घर में घुसी और गुस्से में आकर गौरी की ठोड़ी में एक ठुनका लगा दिया। गौरी हाउ-हाउ करके रो पड़ी। आँखों से आँसू की धार जो वहने लगी तो उसने वन्द होने का नाम ही नहीं लिया था। माँ जी कड़ाकर कुछ देर अवाक् खड़ी रही, फिर धम्म से वहीं वैठ गई और लड़की को अपनी छाती से लगाकर आप भी रोने लगी।

दरिद्र कुल में लड़की व्याहने का ही यह दुष्परिणाम था। शुभंकरपुर के यह वैद्यनाथ झा कुलीनता की दृष्टि से ही जरा वड़े थे। गौरी के पिता चुम्मन झा को स्वयं भी पीछे जाकर यह विवाह-सम्वन्ध असंतोषप्रद लगने लगा। जमाई महाशय दमे के रोगी और प्रकृति से सुस्त थे। शादी के वाद तो पढ़ना जान-वूझकर ही छोड़ दिया था। ससुराल आते तो वीस-वीस दिन, पच्चीस-पच्चीस दिन तक पड़े रहते। शतरंज का इतना शौक था कि एक वैठक में दस-दस घंटे खेलते रहते। कमाकर शायद ही दो पैसे कभी झा जी ने अपनी स्त्री के हाथ पर रक्खे हों। जाते-जाते एक क्वाँरी लड़की और एक अवोध शिशु वेचारी के मत्थे ठोक गए। यह लोग औसत दर्जे के मध्यवित्त की लड़की को अपने यहाँ ले जाकर उसे नाना प्रकार के अभाव-अभियोगों की परिधि में डाल देते हैं। लड़की जिन्दगी-भर अपने माँ-वाप को उलाहना देती रहती है। वैद्यनाथ को विरासत में सात वीघा खेत मिले थे। तीन वीघा शुभंकरपुर में और चार वीघा कोसी के किनारे (उत्तर भागलपुर में)। वस्ती का नाम था रामगंज। वहाँ वैद्यनाथ का ननिहाल था। नाना के लड़का नहीं हुआ था। मात्र लड़की थी, तीन दौहित्र थे—कमलनाथ, वैद्यनाथ और जयनाथ। इन्हीं तीनों के नाम पर वह अपनी जायदाद चढ़ा गए। शुभंकरपुर के खेत तो वैद्यनाथ वेंच-वाँचकर खा ही गए थे, डेढ़-दो वीघे रामगंज में भी रेहन रख दिए थे।

वहनोई की मृत्यु के वाद जयकिशोर ने चाहा कि गौरी हमेशा के लिए तर-

कुलवा ही रह जाए, मगर गौरी को यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। यह दूसरी बात है कि इस समय वेचारी एक विचित्र परिस्थिति में पड़ गई है, मगर यों गौरी की प्रकृति में स्वाभिमान की मात्रा कूट-कूटकर भरी हुई है। इसी कारण पितृगृह की अपेक्षा पतिगृह में रहना उसने पसन्द किया। एक वार आग्रह करने पर अपनी माँ से गौरी ने कहा था—वावू (पिता) ने कुश-तिल-जल लेकर मुझे दान कर दिया, फिर मेरा इस घर में रहना अनुचित नहीं होगा, माँ ? विवाहिता के लिए पितृकुल का अमृत भी पतिकुल के माँड़ या पीने के साधारण जल की तुलना में तुच्छ है। माँ, तभी तो तुमने अपनी नानी के धन पर लात मार दी थी। है न माँ ?···ये सव वातें एक-एक करके माँ को याद आती रहीं और उसकी आँखों से जल-प्रवाह जारी रहा।

न जाने कितनी देर तक माँ-वेटी रोती रहीं ? शोक और पश्चात्ताप के इस समुद्र से उनका उद्धार तव हुआ जव कि चरकर वापस आई हुई भुल्ली भैंस चरवाहे की लापरवाही से आँगन के अन्दर घुस आई। उसके खुरों की खट्ट-खट्ट, खट्ट-खट्ट ने माँ का भी और वेटी का भी स्थान एवं समय की ओर ध्यान खींचा। अपने को छुड़ाकर माँ घर से वाहर निकली तो देखा अमावस की सन्ध्या अपने साज-सरंजाम लेकर आसमान से धरती पर उतर चुकी है। ऊपर देखने पर एक तारा नजर आया। गौरी की माँ ने चारों ओर घूम-फिरकर आसमान में दूर-दूर तक आँखें दौड़ाईं परन्तु दूसरा तारा न दिखाई पड़ा। तव हाथ जोड़कर उसने पहले तारे को प्रणाम किया और साथ ही यह श्लोक पढ़ा :—

एकातारा मया दृष्टा द्वितीया नैव दृश्यते।
तद्दोष परिहाराय नारदाय नमोऽस्तुते॥

नौकरानी ने आकर कहा—रसोई में देर न हो जाएगी ? मलिकाइन ! क्या वात है ? आज तवियत कुछ ढ़ीली दीखती है।

गौरी की माँ ने कहा—नहीं, कुछ नहीं, सुक्खो ! यों ही ज़रा सो गई थी। पानी भर चुकी घड़ों में ?

हाँ, मलिकाइन ! अव जाती हूँ।—उसने कहा। नजदीक आकर गौरी की माँ वोलीं—अपनी सास को ज़रा भेज देना। जरूरी काम है।

"अच्छा।"—सुक्खो चली गई। थाली में दिन का जूठा भात, दाल और कई किस्म की भाजियाँ लिए थी। मेहमान की थाली में दुगुना भात परोसना कोई नई वात तो है नहीं—जयनाथ सवेरे ही खाकर चले गए थे। और, तव से अव तक करीव आठ-नौ घण्टे खाने की यह सामग्री खुली पड़ी थी। सैकड़ों मक्खियाँ इससे परितृप्त हुई होंगी। जौ-मकई-मड़ुआ की रोटी खाकर तंग आए हुए सुक्खो के वच्चे देखते ही इस पर टूट पड़ेंगे, चाट-पोंछकर थाली साफ कर देंगे। सुक्खो, उसकी सास, उसका घरवाला, सव ललचाई निगाहों से उस दृश्य को देख भर सकेंगे !

गौरी की माँ का खाना वनाने में मन नहीं लग रहा था, लेकिन कल मंगल

है। मंगल को उपवास रखती है। अभी कुछ पेट में डाल लेगी तो अच्छा रहेगा।

चटपट उसने आग जलाई। पानी खौल जाने पर चावल उसमें छोड़ दिए। उसी में चार-छह आलू चोखे के लिए डाल दिए। सुजनी डालकर बीच आँगन में लेट रही। लेटे-लेटे सोचने लगी—इस तरह गौरी को मैं छिपाकर कब तक रख सकूँगी? इसी तरकुलवा में यह घटना क्या पहले कभी नहीं हुई है? अवश्य हुई है, तब? चतुरा चौधरी की लड़की, मक्खन पाठक की पतोहू, पण्डितजी की बहन···गौरी की माँ के सामने का समूचा आसमान तारों से झलमल-झलमल कर रहा था। नक्षत्रखचित यह रजनी उसको वैसी ही लग रही थी जैसी चाँदी के दस-पाँच गहनों से भूषित कोई साँवली औरत।···वह थोड़ी देर तक आँखें मूँदे रही, फिर मानो किसी निश्चय पर पहुँच गई हो, उसकी आँखें चमक उठीं। अन्दर के संकल्प को वाणी का परिधान देने के लिए उसके होंठ फड़कने लगे। वह अपने आप ही बुदबुदाने लगी—कोई क्या कर लेगा हमारा? बिटिया को मैं प्याज की तरह जमीन के अन्दर दबाकर नहीं रख सकती, इसके चलते जो कुछ हो। जिस समाज में हजारों की तादाद में जवान विधवाएँ रहेंगी, वहाँ यही सब तो होगा! मक्खन पाठक की पतोहू उढ़रकर पंजाब चली गई है, एक सिक्ख के साथ रहती है। मैं अपनी लड़की को झाड़ू से झाड़-पीटकर घर-निकाला और देश-निकाला दे दूँ सो मुझसे नहीं होगा। मेरे जीते जी गौरी मुसलमान या सिक्ख के घर जाने को मजबूर नहीं की जा सकती···

भात तैयार हो चुका था। छिलके छीलकर गौरी की माँ ने चोखा बनाया। नमक, हरी मिर्च और सरसों का तेल डाला। थाली में भात परोसा। चमाइन मना कर गई थी, मगर माँ का दिल ठहरा, वह कहाँ माने! थोड़ा-सा भात एक छोटी थाली में भी परोसा। काँसे की चमचमाती यह छोटी-सी थाली माँ का ध्यान अतीत की ओर खींच ले गई। जयकिशोर भी इसी थाली में खाकर बड़ा हुआ था और गौरी भी इसी में खाकर बड़ी हुई थी। प्रतिभामा और उमानाथ ने भी कई बार इस थाली में खाया होगा। जयकिशोर बाबू के तीनों बच्चे इसमें खा चुके हैं। ममता के मारे माँ का हृदय छलकने लगा। वह पछताने लगी कि नाहक ही दिन में गौरी को एक ठुनका मार दिया! माँ हूँ, तभी तो आई है। नहीं तो मुजफ्फरपुर, पटना न भाग जाती? कहते हैं, अरिया समाज (आर्य समाज) के तरफ से बड़ा ही अच्छा इन्तिजाम है। विधवा हो चाहे कोई हो, वहाँ गरभ किसी का नहीं गिराया जाता। ठीक समय पर बच्चा पैदा होता है। माँ चाहती है तो बच्चे को रखती है, नहीं तो अरिया समाज ही बच्चा को रख लेता है। अच्छा न है! आखिर अच्छे लोग नहीं हैं तो दुनिया कैसे चलती है!

सब ठीक-ठाक करके वह उठी और गौरी को ले आई खिलाने। वह आ नहीं रही थी, परन्तु माँ ने कहा—तो मैं भी नहीं खाऊँगी, जा।

दोनों खाने बैठीं। दही का बर्तन नजदीक ही रख लिया।

पांच

रतिनाथ को अपनी माँ याद नहीं है। थोड़ा-सा आभास मात्र है। वह गौर-श्याम थी। उसे दमा का रोग था। ज्यादातर वह लेटी ही रहती थी। बस यही रति को याद है। माँ का चेहरा कैसा था? कपार छोटा, आँखें न छोटी न बड़ी। नाक नुकीली नहीं थी। माँ का प्रसंग छिड़ते ही एक भयानक दृश्य उस लड़के की आँखों के आगे नाच जाता था। वह नहीं चाहता था कि इस तरह का अप्रिय और भयानक दृश्य उसे याद आए। किन्तु सिर्फ आँखें मूंद लेने से ही कोई बात मन में न आए, ऐसा तो कहीं हुआ नहीं।

क्या थी वह बात? यही कि रतिनाथ की बीमार माँ बिस्तरे पर उतान लेटी पड़ी है और जयनाथ रुद्र रूप धरकर बेचारी की छाती पर बैठा है। हाथ में कुल्हाड़ी है और वह अपनी स्त्री की गर्दन रेतता जा रहा है। वह घिघिया रही है, लेकिन कोई भी इस नरमेध में हस्तक्षेप करने वाला वहाँ मौजूद नहीं है···माँ घिघियाती है, साढ़े तीन साल के अबोध रत्ती ने यह दृश्य देखकर दम साध लिया है। घर के कोने में बैठा हुआ वह कनखी से रह-रहकर अपनी माँ और बाप को देख लेता है···

माँ की स्मृति के साथ यह भयानक चित्र रत्ति के आँखों के आगे आ जाता है। पिता के रुद्र स्वभाव के प्रति इस बालक के हृदय में प्रतिहिंसा की आग कभी-कभी सुलग उठती है। तनी भौंहों और चढ़ी आँखों से वह बाप की ओर घूरता है। जिसको चाची से सदैव घुल-घुलकर बातें करते पाया है, उसी का अपनी माँ के प्रति वह नृशंस और रुक्ष व्यवहार रतिनाथ की समझ से परे की बात थी। वह चार साल का था, तभी माँ मरी थी। माँ के बाद चाची ने ही उसकी देखभाल की है। अकारण क्रोधी स्वभाव के इस पिता से चाची ही उसे बचाती आई है। इन बातों से रतिनाथ अपनी चाची के लिए जान तक देने के लिए हाजिर रहता। पिता के प्रति उसकी भक्ति या श्रद्धा बिल्कुल दिखावटी थी। हृदय से वह चाची को ही बाप और माँ सब समझता था।

आँगन में तीन घर थे। दच्छिन, पूरब और उत्तर तरफ। पच्छिम वाला डीह खाली था। मिट्टी की तीन भीत और बाँस के छप्पर, खर (खढ़) के छाए हुए। पूरब वाला घर चाची का था। दच्छिन और उत्तर वाले घर जयनाथ के थे। कमलनाथ को शुभंकरपुर से न कुछ लेना था, न देना। अपने हिस्से की जायदाद उन्होंने इन्हीं लोगों के सुपुर्द कर दी थी। इसी तरह जयनाथ और उमानाथ की रामगंज वाली जायदाद का उपभोग कमलनाथ करते थे। कमलनाथ पढ़े-लिखे नहीं थे, उनके तीन लड़के थे, तीनों मूर्ख। यह मूर्खता इन लोगों की चार-पाँच पुश्त की विरासत थी। मिथिला में कहावत है कि मूर्ख का लड़का मूर्ख हो सकता है, मगर पंडित का लड़का पंडित नहीं होगा। परन्तु पंडित का लड़का भी पंडित होता है जैसे कि

नीलमाधव उपाध्याय का पुत्र जयमाधव झा। नीलमाधव के तीन लड़के थे—जयमाधव, वेणीमाधव और श्रीमाधव। इनमें दो अपठित थे, उनके जिम्मे खेती-वाड़ी का काम था। जयमाधव के दो लड़के हुए, सोनमणि और राजमणि। सोनमणि ने व्याकरण का अध्ययन काशी में रहकर किया था। सोनमणि के एकमात्र लड़का हुआ इन्द्रमणि। वही मूर्ख भगवान का छत्र-सिंहासन वेचकर खा गया। कमलनाथ आदि श्रीमाधव के प्रपौत्र थे। वैद्यनाथ ने पढ़ना आरम्भ किया था, परन्तु व्याह के वाद उनकी पढ़ाई शीघ्रवोध और मुहूर्त चिन्तामणि तक ही सीमित रह गई।

आँगन में पच्छिम वाली निवास-भूमि खाली पड़ी थी। उस पर मौसम के मुताबिक भिंडी, वैंगन, मिर्चा वगैरह उपजाया जाता। इससे पूरब तालाब था, दच्छिन बाग और बाँस। बाग में चार ही छः आम के पेड़ थे। दो पेड़ कटहल के, एक वड़हल का, एक सहिजन का। अड़हुल, इन्द्रकमल, करवीर, कनैल, थलकमल, थल-कुमुदिनी, हरसिंगार, वेला—दो-दो, एक-एक झाड़ इन फूलों के थे। जम्वीरी नींवू का भी एक वड़ा-सा झाड़ था। तालाब में रोहू, व्वारी, भाकुर से लेकर सिंगी, माँगुर, इच्चा, पोठी, यानी वड़ी से वड़ी और छोटी से छोटी मछलियाँ थीं। तालाब में इन लोगों का अठारहवाँ हिस्सा पड़ता था। तीनों भाइयों के वीच नौ वीघा खेत था सो अलग। पुरखों की लगाई हुई अमराई थी, छठवाँ भाग उसमें भी होता था। दस कट्ठा जमीन ऐसी थी, जिसमें खढ़ होता था। घर छवाने के लिए खढ़-वढ़ इन्हें खरीदना नहीं पड़ता था। एक परिवार वहिया (खवास) का था, कुल्ली राउत का। कुल्ली राउत का परदादा ठीठर राउत था। उसने सात रुपये में अपने को रतिनाथ के परदादा के हाथ वेच दिया था।

गृहस्थी के उपयुक्त सव कुछ था, लेकिन करने वाला कोई नहीं था। जयनाथ का मन खेती-वाड़ी में लगता तो घर की यही हालत रहती? सारे खेत वटाई पर लगे हुए थे। पूरी उपज घर में नहीं आती थी। साल-साल कुछ खेत वेचना या रेहन रखना पड़ता था। उमानाथ की माँ भला कर ही क्या सकती थी? कोई टोकता तो जयनाथ कह उठते—का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते? यदि भगवान का नाम विश्वम्भर है तो फिर चिन्ता किस वात की? खेत जोता ही रह जाएगा यदि वारिश न हो। धन्य भगवान् कि धान उपजता है, कि हमारे-तुम्हारे मुँह में दोनों जून पाँच-पाँच कौर भात जाता है! धन्य भगवान्!

जयनाथ को इस वात का वड़ा अभिमान था कि वह ब्राह्मण हैं। पूजा-पाठ, गप-शप, सैर-सपाटा, वावा वैद्यनाथ, वावा विश्वनाथ, दुर्गा-तारा-काली—इनकी चर्चाओं के अतिरिक्त यदि और कोई वस्तु जयनाथ को प्रिय थी, तो वह थी विजया वनाम भङ्ग भवानी। वम्भोले की वूटी का समय पर सेवन हो, वे इसके पावन्द थे। जव आधा पहर दिन रहता, तो जयनाथ के नित्य कृत्य का यह महत्त्वपूर्ण अध्याय आरम्भ हो जाता। इस सिलसिले में वह मौलवियों का दृष्टान्त

वड़े ही उल्लासपूर्वक दिया करते—देखो, मौलवी लोग कहीं भी हों; गाड़ी पर, चाहे नाव में, जल में, चाहे थल में, परन्तु नमाज का समय जहाँ आया कि अँगोछा विछाकर चट से घुटने टेक देंगे ! आहा हा हा !! कितनी तत्परता है ! और, तव जोर-जोर से जयनाथ भंग रगड़ने लगते। उनका दीप्त चेहरा और भी दीप्त हो उठता। वीच-वीच में सोटे को रोककर कुंडी की ओर गौर से देख लेते और वोल उठते—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

औरत मर गई तो लोगों ने कहा था—दूसरी शादी कर लो जयनाथ, नहीं तो घर वर्वाद हो जाएगा। लड़का अभी वहुत छोटा है, उसकी देख-रेख के लिए भी तो कोई चाहिए।

नहीं-नहीं ! —जीभ निकालकर और दोनों हाथ दोनों कान पर रखकर जयनाथ तव वोले थे—हरे-हरे ! इतना हलका मुझे मत समझिए। जगदम्वा की कृपा होगी तो दस वर्ष में रत्ती ही इस योग्य हो जाएगा। मैं तो अव यही प्रयत्न करूँगा कि देवधर या विन्ध्याचल में कोई मारवाड़ी अपने राम के लिए छोटी-सी एक मड़ैया डलवा दे, वस।

सुनने वाले अवाक् रह गए थे।

कुछ साल जयनाथ रत्ती को इधर-उधर टाँगते फिरे। पीछे लड़के ने एक दिन झुँझलाकर कहा—इस तरह मैं पढ़ नहीं सकूँगा, भुट्टू और टुन्नो मेरे सहपाठी थे, अव वह मुझसे एक दर्जा आगे हैं।

उमानाथ की माँ ने भी समझाया। जयनाथ इस वात पर राजी हो गए कि लड़का गांव में ही रहे और संस्कृत पढ़े।

तभी से रत्ती अपनी चाची के पास रहता आया है।

उमानाथ वूढ़ानाथ पाठशाला (भागलपुर) में रहकर पढ़ रहा था। इससे पहले कुछ दिन वह अपने मामा के पास मोतिहारी में रहा। वुद्धि मन्द होने के कारण अपने पाठ उसे कभी याद नहीं हुए। हिसाव में जोड़ना जैसे-तैसे उसको आ गया, लेकिन गुणा और भाग दिमाग में घुसता ही नही था। घर से आया हुआ घी पिघलाते समय उमानाथ की असावधानी से कड़ाही ही उलट गई। सारा घी राख और चूल्हे की गरम मिट्टी पी गई। मामा ने भांजे को इस अपराध के लिए दो तमाचे लगाए तो भागकर वह भागलपुर चला गया, और अपने एक साथी के पास पाँच साल से वहीं है। प्रथमा में पिछले साल फेल हुआ था, इस साल पास हो जाने की सम्भावना है। गीता भाषाटीका वाँचकर सुनाने से एक मारवाड़ी सीधा-सामान देता है। रोज मालिश करवाकर पंडितजी कहीं से दो रुपया मासिक और दिलवा देते हैं।

वह घर वहुत कम आता है। एक वार रत्ती से भी उमानाथ ने कहा था भागलपुर चलने के लिए। परन्तु रत्ती ने जवाव दिया—मध्यमा तक तो गांव में भी पढ़ा जा सकता है, भैया, फिर कहीं क्यों ले जाओगे ?

रत्ती का कहना यथार्थ था। पंडितों के इस गांव में छोटी-वड़ी दो पाठशालाएँ

थीं। एक लोअर प्राइमरी स्कूल था। छोटी पाठशाला के अध्यापक का नाम था पंडित योगानन्द ठाकुर, व्याकरणाचार्य। प्राइमरी स्कूल के मास्टर थे जयवल्लभलाल दास। वे पुराने थे। हमेशा एक खजूर की छड़ी उनके पास पड़ी रहती थी। लड़कों को पीटते भी खूब थे और पढ़ाते भी खूब थे। वड़ी पाठशाला का नाम था 'श्री-तारिणी संस्कृत टोल' शुभंकरपुर। यह चटसाल वहुत पुरानी थी। विहार जब वंगाल सरकार की मातहत था, तव संस्कृत पाठशालाएँ टोल कहलाती थीं। वही पुराना नाम अव तक इस पाठशाला का चला आ रहा था। पंडित भी इसके वहुत ही वृद्ध थे, नाम था ववुअन मिश्र। व्याकरण और धर्मशास्त्र में आप वड़े ही निष्णात थे। दूर-दूर से लोग पतिया-प्रायश्चित लिखाने आते। आस-पास के इलाकों में धार्मिक वातों को लेकर जव वाद-विवाद उपस्थित होते तो फैसला आप पर ही निर्भर करता। मिश्र जी के पास वड़ी उम्र के छात्र ही पढ़ा करते।

जयनाथ की अव यही महत्त्वाकांक्षा थी कि लड़का पढ़-लिखकर अच्छा पंडित वने। रतिनाथ था भी पढ़ने में खूब तेज। अपने साथियों में हमेशा वह वीस ही रहा। उसका मन था हिन्दी-अंग्रेज़ी पढ़ने का, मगर जयनाथ मास्टर को फीस देने में वरावर आनाकानी करते। लोअर प्राइमरी का इम्तिहान देकर पिछले साल रत्ती आया तो अपर प्राइमरी की कितावें वाप से माँगीं। इधर-उधर टोह लेकर जयनाथ को जव पता चला कि चार-पाँच रुपये सिर्फ कितावों में ही लग जाएँगे तो तै किया—नहीं, कभी नहीं! यह नहीं हो सकता। प्रातःस्मरणीय नीलमाधव उपाध्याय का वंशधर म्लेच्छ भाषा पढ़ेगा? उस दिन धरती उलट जाएगी और आसमान से अंगारे वरसने लगेंगे! वकील-वालस्टर वनकर प्याज-लहसुन और अंडा नहीं खाना है रत्ती को, उसे तो अपने पूर्वजों की कीर्ति-रक्षा करनी है···वस, एक फटा-कटा अमरकोष कहीं से उठा लाए और वेटा के हाथ में उसे थमाते हुए कहा—क्या करना है अंग्रेजी पढ़कर, क्रिस्तान वनना है! लो यह अमरकोष; जिस दिन यह कंठस्थ हो जाएगा उस दिन तीनों लोक तुम्हारे लिए हस्तामलक हो जाएँगे। क्या समझते हो, मैंने ज्यादा पढ़ा है? नहीं-नहीं, वेटा, यही अमर-कोष, थोड़ी लघु सिद्धान्त (कौमुदी)! वस! फिर भी देखो, लोग मुझे पंडित-पछाड़ कहते हैं।

सिर से पैर तक रतिनाथ ने अपने पिता को देखा और फटा हुआ अमरकोष ले लिया। मन ही मन उसे वहुत अफसोस हुआ कि प्राइमरी स्कूल के पुराने साथियों से विछुड़ना पड़ेगा। जयनाथ वोले—दो पन्ने इसमें नहीं हैं, सो मैं पाठ-शाला जाकर किसी से लिखवा दूँगा। एक दुअन्नी लगेगी जिल्द में, कोई वाज़ार जाएगा तो वह इसे लेता जाएगा और वँधवा लाएगा। और हाँ, "विद्यारंभे गुरुः श्रेष्ठः" मतलव यह कि वृहस्पतिवार को विद्या का आरम्भ करना अच्छा है। आज कौन-सा दिन है?

शनीचर।—रत्ती वोला।

जयनाथ ने उँगली पर हिसाव लगाकर कहा—शनि एक, रवि दो, सोम

तीन, मंगल चार, बुध पाँच और वृहस्पति छः। आज से छठवें दिन हमारे साथ तुम चलना। योगानन्द ठाकुर की पाठशाला में जय गणेश-जय गणेश करके अमर-कोष आरम्भ कर देना।

सिर झुकाकर रतिनाथ ने पिता का आदेश मंजूर किया, परन्तु हृदय उसका रो रहा था।

रत्ती अपने बाप से बहुत डरता था। ज़रा-ज़रा-सी बात पर जयनाथ उसे पीटते थे। पिटाई में वह इस बात का ख्याल नहीं रखते कि दस-ग्यारह साल का बच्चा है, कोमल शरीर और लचीली हड्डियों में चोट ज्यादा लगती होगी। छड़ी, कलछी, चैला, लोढ़ी जो भी हाथ में पड़ जाता उसी से उसे पीटने लगते। कभी-कभी खम्भे में कसकर बाँध देते। एक दफा गर्दन पकड़कर ऊपर उठा लिया और धरती पर पटक दिया। ये घोर दंड उसे किन अपराधों के कारण सहने पड़ते? बहुत ही मामूली अपराध हुआ करते। खाते समय जमीन पर ज़रा-सा पानी गिर गया। थाली में थोड़ी दाल बाकी रह गई। पैसा या अधन्नी चुरा ली। तालाब में नहाने गये तो हाथ-पैर पटककर ज़रा तैर लेना चाहा। पेड़ पर चढ़कर अमरूद खाते समय नाखून-भर खरोंच लग गई। लुक-छिपकर कहीं तमाशा देखने निकल गए। इसी किस्म के अपराध हुआ करते थे। पिता के भय से रतिनाथ जी-भर कभी दौड़ नहीं लगा सकता था। खिलखिलाकर खूब हँसना उसके लिए स्वप्न की वस्तु थी। पेड़ पर चढ़ना कल्पना मात्र थी।

चाची उसे बहुत बचाती थी। इसी से उसका रोम-रोम चाची के प्रति कृतज्ञ था। किसी के मुँह से चाची की शिकायत सुनता तो गुस्से के मारे उसके छोटे-छोटे नथने फड़कने लगते।

और, अभी चाची नहीं थी। जयनाथ ने एक दिन कहा था—उमानाथ की माँ बीस-पचीस रोज में लौटेंगी। यह अर्सा रत्ती के लिए पहाड़ था। बहुत ही बच-बचकर उसे चलना था। रसोई तो, खैर जयनाथ खुद भी खुशी-खुशी कर लेते थे। घर के और कामों में भरसक रत्ती भी हाथ बँटाता। बचा हुआ समय वह पढ़ाई में लगाता। इन्द्रमणि के घर में रामायण का एक बड़ा-सा पोथा था—तुलसीदासी। रत्ती ने निश्चय किया कि पाँचों दिन वह रामायण बाँचने में लगा देगा। डरते हुए उसने बाप से अपनी यह इच्छा प्रकट की। वे राजी हो गए।

इन्द्रमणि स्वयं तो अब थे नहीं। तीनों लड़कियाँ बाप के वैभव की मालकिन थीं। चौथी लड़की, चूंकि बिकौआ की औरत नहीं थी, ससुराल में ही रहती थी, उसका पति धनी था। ससुर की जायदाद में हिस्सा बँटाने की उस भले आदमी की कभी इच्छा नहीं हुई। ये तीनों लड़कियाँ भी एक-दूसरे से अलग हो गई थीं। दस-दस बीघा खेत एक-एक के हिस्से पड़ा था। तीन में से एक निःसन्तान थी। एक के एक लड़का और दूसरे के दो लड़कियाँ थीं। तीनों नाम मात्र की सधवा थीं। पाँच दिन में रत्ती अयोध्या काण्ड के अन्त तक पहुँच गया।

वृहस्पति के दिन रतिनाथ ने पाठशाला में जाकर अमरकोष आरम्भ किया।

जयनाथ ने अपने बटुए से एडवर्ड छाप का एक रुपया निकाला और लड़के के हाथ पर धर दिया। कहा—गिरो पंडित जी के पैरों पर, प्रणाम करो।

रत्ती ने रुपया गुरुजी के पैर पर रख दिया, फिर प्रणाम किया। गद्‌गद होकर पंडितजी ने आशीर्वाद दिया—"आयुष्मान् भव ! विद्यावान् भव !"

छः

अगले दिन सुबह तरकुलवा के लोगों को मालूम हो ही गया कि गौरी आई है। कब आई, क्यों आई, कैसे आई—इस जिज्ञासा ने पुरुषों से अधिक स्त्रियों को ही चंचल बनाया। लोगों को इतना-भर पता लग सका कि कलेजे की बीमारी है, डाक्टर ने हिलना-डुलना तक मना कर रखा है।

लेकिन, इससे क्या ? लोग तो हिल-डुल सकते थे। उनका तो घर से निकलना वर्जित नहीं था।

आहिस्ता-आहिस्ता एक-एक दो-दो करके टोला-पड़ोस की औरतें जयकिशोर बाबू के आँगन में आने-जाने लगीं। गौरी की माँ ने अपने दिल को काफी मजबूत बना लिया था—कोई आए, कोई देखे। मेरी लड़की किसी का गला काटकर तो आई नहीं।

गौरी भाई के खाली पलंग पर लेटी पड़ी थी। दूर के रिश्ते की दो भाभियाँ बिल्कुल करीब आ गई, और गौर से घूरते हुए पूछा—लली, आखिर क्या हो गया है तुम्हें ? चेहरा पीला पड़ गया है, बदन पर खून का नाम नहीं है। नाखून सफेद पड़ गए हैं। यह क्या हो गया है तुम्हें ?

गौरी कुछ बोली नहीं। मन ही मन अपनी स्त्री-जाति पर उसे क्रोध हुआ—ओ अभागी औरतो ! मुझे क्या हो गया है, यह तुम भली-भाँति जानती हो। तुम्हें रत्ती-रत्ती पता है कि इस तरह का चेहरा एक स्त्री का कब होता है। इस तरह की झेंप, इस तरह का संकोच किसी विधवा की मुखाकृति पर कब छाया रहता है, यह भी तुम भली-भाँति जानती हो। फिर क्यों मेरा दिमाग चाटने आई हो ? तुम्हें जिसका खटका है, उसी दुर्भाग्य की मैं शिकार हूँ। मेरी नियति के साथ क्यों मखौल करने आई हो ?

उनमें से एक बिल्कुल पास आकर गौरी को देखने लगी। जरा देर बाद आहिस्ता से उसने अपना हाथ गौरी के सीने पर रख दिया। चट से गौरी ने उसका हाथ पकड़ लिया—नहीं, मुझे कुछ नहीं होता है, भाभी। छोड़ दो।

उसकी आँखों की कड़ाई से भाभी सकपका गई। दो कदम पीछे हटकर उसने कहा—नहीं लली, यों ही मैं देख रही थी। किसी ने कहा, तुम बीमार होकर यहाँ दवा कराने आई हो। सो मैं जरा देखने चली आई।

इतनी देर बाद अब दूसरी भाभी ने मुँह खोला—सुनती हूँ, कलेजे में दर्द होता है !

गौरी कुछ बोली नहीं। घूरकर रह गई।

जिस उल्लास से यह दोनों स्त्रियाँ गौरी के पास आई थीं, वह मर गया। पत्थर पर तीर मारकर उन्होंने अपने तरकस खाली कर दिए, तो चलीं गौरी की माँ से बातें करने। वह अजवायन सुखा रही थी। खुद छाँह में बैठी थी, और आध सेर के करीब अजवायन आँगन में पड़ी सूख रही थी। ये स्त्रियाँ जो रिश्ते में उसकी पतोहू होती थीं दिखावटी नम्रता से एक ओर खड़ी हो गईं, और इशारे से पूछा—चाची, इस अजवायन का क्या करोगी ?

गौरी की माँ को लगा कि समूचे गाँव ने मुझे चिढ़ाने के लिए इन्हीं दोनों छोकरियों को भेजा है। वह बाघिन की भूखी आँखों से उन्हें घूरने लगी कि इतने में उन्हीं में से एक बोली—बहिना, पटुआ का साग अजवायन से छौंकने पर बहुत ही स्वादिष्ट हो जाता है। इतनी मामूली-सी बात तुम नहीं जानतीं ?

अब गौरी की माँ से न रहा गया। उन्हें विश्वास हो गया कि जान-बूझकर ये मुझे बनाने आई हैं। मगर उसने अपने आवेग को दबाया, और बोली—बेटी, यह दवा में काम आती है। ज़रा रुककर उसने फिर कहा—कहाँ आई थीं, गौरी को देखने ?

आधे घूँघट के अन्दर से सिर हिलाकर दोनों ने जतलाया—'हाँ'। और आँगन से बाहर हो गईं। गौरी की माँ बड़बड़ाने लगी—लुच्ची कहीं की ! अजवायन का और क्या होता है, दवा बनती है, यह दवा जो कि ब्याने के बाद औरतें खाती हैं। जान-बूझकर मुझे चिढ़ाने आई थीं।

उसके बाद दिन-भर फिर कोई नहीं आया। शाम को सुक्खो की सास आई। उसने बतलाया कि कैसे गाँव-भर में गौरी की चर्चा हो रही है, और, कैसे इस घटना को लेकर औरतें छी-छी, थू-थू कर रही हैं, मर्दों का लोकमत क्या है, इस बारे में सुक्खो की सास ज़रा भी जानकारी नहीं रखती थी। सब कुछ सुन-समझकर गौरी की माँ बोली—'अब तो बात फैल गई, जानत सब कोई !'

थोड़ी देर चुप रहकर फिर छाती ठोकती हुई वह बोली—'देखें, कौन क्या बिगाड़ता है ? मैं रुई का फाहा नहीं हूँ कि लोग फूँक देंगे, और उड़ जाऊँगी। मर्द हो तो सामने आकर कोई कहे।'

सुक्खो की सास ने अपनी मलिकाइन को शान्त किया। जाते-जाते वह कहती गई—जब तक इस जर्जर देह में साँस बाकी रहेगी, गौरी की माँ, तब तक किसकी मजाल है जो तुम्हारी ओर उँगली उठाए।

पहर-भर रात बीती कि चमाइन आई।

गौरी की माँ को इस बात का खतरा था कि कहीं लड़की के प्राण न निकल जाएँ। परन्तु बुधुआ चमार की औरत इन कामों में बहुत होशियार थी। उसने कह दिया—नहीं मलिकाइन, खतरा किस बात का ? यह मेरे लिए कोई नई बात

तो है नहीं, ऐसा मौका तो आता ही रहता है।

चार मास का, छः मास का, आठ मास का, पेट चाहे कितना ही असाध हो; इन हाथों के लगते ही सब ठीक हो जाता है, कमला मैया की कुछ ऐसी मेहरवानी है···

माँ ने दक्खिन ओर मुँह करके दोनों हाथ उठा लिए और आर्त स्वर में गुनगुनाई—दोहाई वावा वैजनाथ की ! इस मुसीवत से राजी-खुशी मेरी लड़की निकल गई, तो गंगाजल भरकर मैं सुल्तानगंज से तुम्हारे धाम पहुँचूँगी।

इतना कहकर छलछलाई आँखों और भर्राई आवाज से नाम लेकर वावा वैजनाथ को उसने प्रणाम किया।

चमाइन अपने काम में लगी।

सात

तारा वावा की उम्र सत्तर साल से कम न होगी। उनके प्रति लोगों की वहुत ही गम्भीर श्रद्धा थी, वतला ही चुके हैं। शुभंकरपुर की मिट्टी से उन्हें एक प्रकार का मोह हो गया था। साल-डेढ़ साल वाद वह विन्ध्याचल या पशुपतिनाथ की यात्रा में निकला करते और डेढ़-दो महीने वाद वापस आ जाते। फिर वही गाँव, फिर वही कुटी।

गाँव से पूरव वलुआहा पोखर था। कहते हैं, खोदते समय उसमें से इतनी वालू निकली कि उसका नाम वलुआहा पड़ गया। यह पोखर शुभंकरपुर गाँव के मालिक राजावहादुर दुर्गानन्दन सिंह का था। आपके परदादा महाराजकुमार गणेशसिंह ने इसे खुदवाया था। वाइस वीघा ज़मीन पानी के अन्दर पड़ती थी। आठ वीघा जमीन भिड थी। आसपास पाँच कोस में ऐसा तालाव नहीं होने से वलुआहा पोखर इलाके-भर में मशहूर था। चौगाँवाँ के धनी मल्लाह इस पोखर की मछलियों का ठेका लिए हुए थे। उन्हें दो हजार रुपया जल-कर के तौर पर जमींदार को प्रतिवर्ष देना पड़ता था। मछलियाँ इतनी अधिक निकलती थीं कि कम से कम छः हजार रुपये विक्री से आ जाते थे। इसका मतलव यह नहीं कि तालाव की मछलियों का स्वाद गाँव के लोगों की लालसा तक सीमित था। प्रकट और अप्रकट रूप से गाँव के लोग काफी मछलियाँ पीटते थे। वड़ी और छोटी सभी किस्म की मछलियाँ। कहने को गाँव में और भी कई पोखर थे, मगर उनकी मछलियाँ लोगों की पारखी जीभ को रुचती नहीं थीं।

यह तो हुई मछली की वात। पानी का यह हाल था कि भारी से भारी अकाल में भी वलुआहा पोखर पास-पड़ोस के दस गाँवों की टेक रखता था। कभी उसका पानी खराव होता नहीं देखा गया। वरसात के दिनों में वह समुद्र जैसा

लगता था। शरद् ऋतु की चाँदनी में नील निर्मेघ आकाश, बिखरे नक्षत्रों की अपनी जमात के साथ बलुआहा पोखर के श्यामल वक्षस्थल पर जब प्रतिफलित हो उठता, तो भिंड पर बैठे हुए निपट निरक्षर दुसाध-मुसहर भी कवि की तरह उसाँसें भरा करते ! उन्हें जाने अपने जीवन की मधुमय घड़ियाँ एक-एक कर याद आतीं, या क्या !

हेमन्त की हल्की ठंड में सिल्लियों और वनमुर्गियों का झुण्ड बलुआहा के निर्मल जल में घने सेंवार पर इधर से उधर छप-छप करके दौड़ा करता। शिशिर की नीरव निस्तब्ध निशा में रह-रहकर एक-आध बड़ी मछली पानी पर उतराकर अपने 'पर' फड़फड़ाती तो ठिठुरती प्रकृति के वे एकान्त क्षण मुखरित हो उठते। वसन्त में ग्रामीण बालक-बालिकाएँ लाख मना करने पर भी अपना जल-विहार आरम्भ कर देते। बैशाख और जेठ के महीने में तो मानो वरुण देवता का खजाना धनी-गरीब, बूढ़े-बच्चे, औरत-मर्द सभी के लिए खुल जाता। इन्हीं दिनों मछुए महाजाल डालकर बलुआहा की तमाम बड़ी मछलियाँ निकाल लेते। बरसात के दिन भी भूलने के नहीं हैं। बाहर से जब पानी का रेला आता तो इस पोखर की बची-खुची मछलियाँ बाहरी दुनिया की सैर को निकल पड़तीं। उनका वह अभियान स्वाद-लोलुप ग्रामीणों के लिए महोत्सव का द्वार उन्मुक्त कर देता। मतलब यह कि चौमासे में भी काफी मछलियाँ मारी जाती थीं। आश्विन और कार्तिक की कड़वी दुपहरियों में काँटे डालकर मछलियाँ फँसाना देहाती जीवन का एक बड़ा रोमांस है।

भिंड पर चारों ओर बरगद, पीपल, पाकड़, मौलश्री, आम और जामुन के पेड़ थे। वे गर्मी, बरसात और जाड़े के दिन में चरवाहों और राहगीरों के माँ-बाप थे। अपनी शरण में आए हुए पशु-पक्षियों के लिए भी उनमें अपार ममता थी। कीड़े-मकोड़े तक उनकी स्नेह-सुधा से वंचित न थे।

इसी पोखरे पर तारा बाबा की कुटिया थी।

बाबा थे तो फक्कड़, मगर अपने जीवन का भेद उन्होंने किसी से कभी नहीं कहा। बड़ी मुश्किल से इन्द्रमणि ने यह पता लगाया था कि आप बड़े उच्च कुल के ब्राह्मण हैं और सौतेली माँ से अनबन हो जाने के कारण संसार के प्रति विरक्त हो गए हैं।

आश्विन के महीने में बड़ी धूम-धाम से बाबा दशभुजा दुर्गा की पूजा किया करते। शुभंकरपुर से उत्तर, नजदीक ही छोटा-सा एक गाँव पड़ता है, परसौनी। वहाँ के वंशी मण्डल प्रतिमाएँ बनाने में बहुत ही कुशल थे। यह गुण उनमें अपने पूर्वजों की परम्परा से आया था। आजकल तो लोगों में इन बातों की ओर से काफी उदासीनता दिखाई देती है, परन्तु सौ-पचास साल पहले का जमाना कुछ दूसरा ही था। उन दिनों गाँव-गाँव में प्रतिमाएँ बना करतीं। आश्विन में दुर्गा की। कार्तिक में काली, चित्रगुप्त और कार्तिकेय की। माघ में सरस्वती की, चैत में राम, लक्ष्मण, सीता तथा उनके स्वजन-परिजन, अनुचर-परिचर की—कुल

मिलाकर तेरह मूर्तियाँ। भादों में कृष्ण आदि की। इनके अलावा मिट्टी, रंग और कूची के इन उस्तादों की जरूरत और भी कामों में हुआ करती थी।

इसके लिए समूचा गाँव वावा की मदद करता। वह थे भी तो गाँव भर के गुरु, गाँव भर के शुभचिन्तक। कितने गरीबों की वावा ने चुपचाप सहायता की होगी। कितने रोते चेहरों के आँसू पोंछे होंगे। पीठ थपथपाकर कितने ही लड़खड़ाते पैरों को आगे वढ़ाया होगा। यह कोई वता नहीं सकता। उनके वारे में नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ जनता में प्रचलित हो चुकी थीं। कहते हैं, एक दफे रात को वावा की कुटिया में चोर घुसा। थोड़ी-वहुत काम की जो भी चीज मिली, उसे लेकर वाहर निकलने लगा तो निकल ही न सका। उनके पैरों में मानो किसी ने जाँत वाँध दिया। वावा वाहर चारपाई पर सोए पड़े थे। सुवह-सुवह उठे तो चोर को ज्यों का त्यों वैठा पाया। पूछने पर वह रो पड़ा। वावा ने उसे सान्त्वना दी और खिला-पिलाकर विदा किया। मरी गाय को वावा ने जिला दिया, इस वात को कहते-कहते लोग थकते नहीं। छट्ठू कुम्हार की एक पूँछ कटी काली गाय थी, मगर दूध वहुत देती थी। एक दिन चरकर आने के वाद वह चित-पट हो गई, जंगल की कोई जहरीली घास खाकर मर गई। छठुआ दौड़ा-दौड़ा गया और धम्म से वावा के पैरों पर गिर पड़ा। वावा एक जड़ी उखाड़ लाए और गाय के मुँह में डाल दी। थोड़ी देर पीठ पर हाथ फेरते रहे कि वह उठ खड़ी हुई।

वावा खाने-पीने या वरतने की चीज सँजोकर नहीं रखते। इसका फल यह होता है कि न देने वालों की कमी है और न ले जाने वालों की। परिवार में सिर्फ दो कुत्ते हैं। उन्हें वावा वहुत मानते हैं। यात्रा में निकलने पर खासकर उन्हीं कुत्तों के लिए एक सेवक को नियुक्त कर जाते हैं। सर्दी, जुकाम या फोड़ा-फुंसी हो जाने पर उसी तत्परता से इन कुत्तों की दवा-दारू होती है जिस तत्परता से राजावहादुर दुर्गानन्दनसिंह की एक मात्र कन्या की। शाम को वड़े प्रेम से वावा भाँग छानते हैं। उसमें भाँग की अपेक्षा ठंढई की ही मात्रा अधिक रहती है। जयनाथ जैसे भंग-भक्तों का मन वावा की ठंढई से नहीं भरता।

उस दिन वावा भाँग छान रहे थे कि ठीक उसी वक्त जयनाथ पहुँचे। पैर छूकर प्रणाम किया। वावा ने कहा—वच्चा, भोजपत्र तो है नहीं। यन्त्र कैसे वनेगा?

कुटिया के ओसारे पर खंभेली के सहारे वैठते हुए जयनाथ ने कहा—तो क्या होगा? वादामी रंग के कागज पर लिख देने से काम नहीं चलेगा?

दाँतों तले जीभ दवाकर वावा ने सिर हिलाया—नहीं रे, नहीं। भोजपत्र का माहात्म्य ही कुछ और होता है। यों तो पीपल के पत्ते पर भी वीज-मन्त्र लिख देने से काम चल सकता है, परन्तु यह तो खास मामला है न? भगवती त्रिपुरसुन्दरी का एक पंचाक्षर मन्त्र है, वह अवांछित गर्भ गिराने में अनुपम है। समझते हो न? इसीलिए कहा कि भोजपत्र ही चाहिए।

जयनाथ कुछ देर के लिए मौन रहे, फिर कहा—पण्डित कालीचरण पाठक साल-साल नेपाल जाते थे। वहाँ से वह ढेर का ढेर भोजपत्र लाते थे।

उनको मरे आठ-दस साल हो गए हैं। ठहरिए, मैं जरा उनके लड़के से पूछ लूँ।

इतना कहकर तुरन्त जयनाथ वहाँ से वस्ती की ओर चल पड़े।

कालीचरण का मकान वस्ती के पूर्वी छोर पर था। जयनाथ जब तक वहाँ पहुँचे तव तक पंडितजी का लड़का अपनी अमराई की ओर निकल चुका था। फिर भी आवाज देने पर पण्डितजी की पत्नी बाहर आई। रिश्ते की भाभी होने के कारण वह जयनाथ के सामने आती थी। परन्तु यह क्या, छूटते ही पण्डिताइन ने जो पूछा, उस प्रश्न का सम्बन्ध जयनाथ की कल्पना के भोजपत्र से तो था ही नहीं; उल्टे वह प्रश्न उमानाथ की माँ पर चोट करता था।

क्यों वावू—पंडिताइन ने पूछा—लक्ष्मण ने आसन्नप्रसवा सीता को ले जाकर कहाँ छोड़ दिया ?

कुछ हतप्रभ होकर जयनाथ ने कहा—छोड़ा तो आखिर जगल में ही।

और, आप लक्ष्मण लौट आए ?

जयनाथ ने चुप्पी साध ली।

पण्डिताइन वोली—धिक्कार है तुम्हें ! उमानाथ की माँ और तुम वर्षों से साथ रहते आए हो और आगे भी सारी जिन्दगी साथ कटेगी, यह मुझे विश्वास है। फिर तुम उस वेचारी को अकेली तोप के मुँह पर छोड़ आए हो !

जयनाथ ने झुंझलाकर कहा—तो, भौजी, मैं करता ही क्या ? तरकुलवा में वैठे-वैठे पहुनाई करना और लोगों के कटाक्ष सहना···भला, इससे क्या फायदा था ? उनकी माँ सब ठीक कर लेंगी।

ठीक तो कर ही लेंगी—पण्डिताइन का सुर मद्धिम पड़ गया। कुछ रुककर उसने फिर कहा—बुरा न मानना, जयनाथ वावू ! मैं दमयन्ती नहीं हूँ जो हाथ धोकर उमानाथ की माँ के पीछे पड़ जाऊँ। मेरे दिल में मुसीवत की मारी उस औरत के लिए वड़ा दर्द है।—तव दक्खिन की ओर मुँह करके पंडिताइन वोली—जाने गंगा माई, उमानाथ की माँ को मैं अपनी सगी वहन समझती हूँ। इस दुर्घटना के वाद भी उसके प्रति मेरा स्नेह ज्यों का त्यों है। परन्तु—

इतनी देर के वाद पण्डिताइन का ध्यान इस वात की ओर आया कि अरे ! जयनाथ को वैठने के लिए तो कहा ही नहीं। देखते ही लगी मैं उस पर तीर चलाने ! तव, ममता-भरी आवाज में उसने कहा—कव तक खड़े रहोगे ? जरा वैठ तो लो।

दरवाजे पर तख्तपोश पड़ा था। जयनाथ उस पर वैठने लगा तो पंडिताइन वोली—अजी ठहरो, दरी तो ले आने दो।

जयनाथ मना ही करते रहे, कि लपककर आँगन से वह दरी उठा लाई और तख्तपोश पर उसे विछा दिया।

ममता की इस प्रतीक को जयनाथ वहुत गम्भीरता से देख रहे थे।

हाथ पकड़कर पण्डिताइन ने वैठा दिया—ताकते क्यों हो ? वैठो न। कोई जल्दी थोड़े है।

जयनाथ ने कहा—जल्दी तो नहीं है, लेकिन जिस आँगन में भूकम्प हुआ हो उस आँगन के प्राणी चैन से तो कहीं बैठ नहीं सकते।

जयनाथ की आँखें डबडबा आईं। उसके दिल के चढ़े हुए तारों को पण्डिताइन ने जरा छू भर दिया था कि वे झनझना उठे। उस तीव्र झनकार की लहरी में जयनाथ का पूरा व्यक्तित्व तिनके की तरह कम्पित हो उठा। क्षण-भर के लिए उसकी आँखों के आगे उमानाथ की माँ का चमचमाता चेहरा नाचने लगा। उमानाथ की माँ! तुम इतनी सुन्दर क्यों हुईं? पूर्व जन्म के किस अभिशाप से वैधव्य का यह दुर्वह भार ढो रही हो? मेरी कृतघ्नता को, देवि, कभी क्षमा मत करना···जयनाथ की आँखें छलक पड़ीं।

पंडिताइन से नहीं रहा गया। अपनी सफेद धोती के आँचल की खूंट से जयनाथ के आँसू पोंछती हुई कहने लगी—ओह! नाहक ही इतना सब मैंने तुम्हें कहा। बच्चे तो तुम हो नहीं, रोते क्यों हो?

पंडिताइन की इस सान्त्वना का फल यह हुआ कि आँसू और भी तेजी से बह निकले। अब अपने ही अँगोछे से आँख पोंछकर और नाक साफ करके जयनाथ ने इशारा किया कि भौजी, बैठ जाओ तुम भी।

पंडिताइन आँगन की ओर चली और कहती गई—भाग मत जाना, मैं सुपारी लेकर आती हूँ।

बड़ी मुश्किल से जयनाथ ने अपने को प्रकृतिस्थ किया। तब तक सुपारी के दस-बारह खण्ड तश्तरी में सामने रख दिए गए थे। पंडिताइन ने कहा—हाँ, यह तो नहीं बताया कि मेरे लड़के की कौन-सी जरूरत थी जो पुकार रहे थे?

दो टुकड़े सुपारी मुँह में डालकर जयनाथ बोले—कालीचरन भैया नेपाल से भोजपत्र लाया करते थे। तारा बाबा को एक यन्त्र बनाना है, दो उँगली-भर भोजपत्र चाहिए। और कहाँ मिलेगा?

अपनी गोल-गोल आँखों को बड़ी करके पंडिताइन बोली—लाते तो थे··· ठहरो मैं देखती हूँ।

पंडिताइन भोजपत्र की खोज में अन्दर गई और जयनाथ सोचने लगे—आह! कितना अच्छा स्वभाव है इस स्त्री का! इसके पिता जिन्दगी-भर बनैली में राजपंडित रहे। सज्जनता की मूर्ति थे। जैसा बाप, वैसी बेटी। क्यों न हो, हीरे की खान से काँच थोड़े ही निकलता है···

पंडिताइन फौरन वापस आई। उसके हाथ में भोजपत्र था। जयनाथ को उसे देती हुई कहने लगी—पंडित रोज चंडी का पाठ करते थे। उसी पोथी के गत्ते में यह भोजपत्र पड़ा था। मुझे ख्याल आया और मैं निकाल ले आई।

भोजपत्र लेकर जयनाथ चले तो तश्तरी में बचे पड़े सुपारी के टुकड़े उठाकर पंडिताइन ने कहा—बाबू, यह रख लो बटुए में। खुद न खाना तो किसी को खिला देना।

वाह भौजी, तुमने भी खूब कहा, खुद न खाना···

आठ

पाठशाला में भी जल्दी ही रतिनाथ ने छोटे-बड़े विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। पंडितजी भी उस पर प्रसन्न रहते थे क्योंकि अपने पाठों को वह खूब मन लगाकर याद किया करता। इसके अलावा जब जिस काम में वे उस लड़के को लगाते तो उसमें वह ज़रा भी आनाकानी नहीं करता। हाँ, पंडितजी का धौला बैल बड़ा बदमाश था। एक दिन रत्ती से उन्होंने कहा—इसे ले जाकर तालाब से पानी तो पिला लाओ। रत्ती ने असमर्थता जाहिर की तो पंडितजी बोले, अरे, यह काम तो सात साल का हमारा मुन्नू कर लेता है।

इस पर रत्ती ने कहा—गुरुजी हमारे अपने यहाँ तो बैल-गाय हैं नहीं। फिर हम क्या जानें कि किस तरह पुचकारने से बैल सीधी राह पकड़कर पानी पी आता है।

यह पंडितजी बड़े ही चतुर थे। बारह रुपया महीना डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से भी लेते थे, और पाँच रुपया राजाबहादुर से भी। पतिया-प्रासचित से भी कुछ निकल आता था। पुरोहित के कामों में भी पंडितजी का दखल था। गरज यह कि कुल मिलाकर पंडित की आमदनी पचीस रुपए माहवार पड़ जाती थी। अपनी ही दालान में पाठशाला थी। सात-आठ बीघा खेत थे। दो चचेरे भाई थे। तीन लड़कियाँ, दो लड़के। तीन गाय-बैल एक हलवाहा, एक खेत-मजदूर। घर-गिरस्त का छकड़ा मजे में पंडितजी चला रहे थे। अध्यापन का कार्य उनके लिए उतने महत्त्व का नहीं था, जितने महत्त्व की खेती-बाड़ी और पुरोहिती। राजाबहादुर दुर्गानन्दन सिंह पंडितजी को खूब मानते थे। अन्दर हवेली में रोज चंडीपाठ करने का संकल्प पंडितजी के दादा ही कर गए थे। अभी तक उसे यह पंडितजी चलाए जा रहे हैं। इसीलिए बारह रुपया सालाना मिलता है। रक्षाबन्धन के दिन राजाबहादुर की कलाई में पंडितजी राखी बाँधते हैं। विजयादशमी के दिन राजाबहादुर के सिर पर जौ के मृदु मनोरम हरितगौर अंकुर डाल आते हैं। इसका भी एक-एक रुपया बँधा है। पर्व-त्योहार के दिन कभी पंडितजी अपने घर नहीं खाते, ऐसे अवसरों के लिए राजाबहादुर के यहाँ उनका नित नेवता रहता है। पेट भरकर खा भी आते हैं और अँगोछे में बांधकर ले भी आते हैं।

राजाबहादुर और उनके पूर्वजों का गुणगान पंडितजी के नित्यकृत्य का ही एक अंग है। अपने छोटे-बड़े छात्रों को पाठ के आदि, मध्य या अन्त में राजाबहादुर से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ अवश्य वे सुना जाते हैं, और है भी ठीक। वैद्यनाथधाम में उस साल नौ दिनों तक हरिवंश पुराण रानी ने यदि पंडितजी के मुँह से न सुना होता तो यह लड़की भी न हुई होती? पंडितजी कहा करते—यह मेरा ही दुर्भाग्य है कि राजाबहादुर के यहाँ लड़का नहीं हो रहा है···यह कहकर दाएँ हाथ की तीन बिचली अँगुलियों से वे अपना चन्दनचर्चित ललाट ठोंकने लगते।

शुभंकरपुर की उस छोटी-सी पाठशाला में नियमित रूप से पढ़ने वाले लड़कों की तादाद तेरह थी। उसमें से पाँच शब्द रूपावली, धातु रूपावली और अमरकोष पढ़ रहे थे। रत्ती पढ़ने में तेज तो था ही, महीना पूरा होते-होते अपने साथियों में प्रमुख हो गया। इस पाठशाला का वायुमंडल उसे और भी स्वतंत्र मालूम पड़ता था। प्राइमरी स्कूल में तीस-पैंतीस लड़के थे। खजूर की छड़ी लेकर बैठे हुए मुंशी जयवल्लभलाल की कड़ी मूँछों वाली वह सूरत रत्ती को वहुत भयावनी लगती थी। वहाँ अनुशासन काफी कड़ा था। घर में क्रोधी पिता के डर से जी भरकर वह कभी मुस्करा भी तो नहीं सका! इस पाठशाला का यह शिथिल अनुशासन रतिनाथ की चेतना के लिए कुछ स्फूर्तिप्रद सावित होने लगा। यहाँ पंडितजी लड़कों को परेशान नहीं करते थे। वहुत हुआ तो हलकी उँगलियों से कान उमेठ दिए; गधा, कुत्ता और पाजी कह दिया; वस। खजूर की उस छड़ी के आगे मीठी सज़ा का यह संसार रत्ती को रोचक लगा। इसका फल यह हुआ कि उसे मुक्त-प्रकृति के साथी मिले। उछल-कूद का मौका मिला।

अपने पिता से कई दफे उसने कहा—शब्द रूपावली और धातु रूपावली मँगवा दीजिए। अमरकोष की जिल्द वँधवा दीजिए। परन्तु जयनाथ ने वरावर झिड़क दिया—अभी यह तो खत्म करो। कितावें आ जायेंगी। जिल्द नहीं वँधी तो क्या हुआ? तुम्हारे हाथ से तेल चूता है क्या?

भीतर ही भीतर रत्ती का दिल कचोट और आत्मग्लानि से भर उठता। उसे चाची याद आतीं।

एक दिन वैशाख की कड़ी दुपहरी में वह पाठशाला पहुँचा। और लड़के दो-अढ़ाई वजे के करीव आया करते थे। रत्ती भी समय पर ही आता था, मगर आज वह निर्जन दुपहरी में पाठशाला के अन्दर घुसा।

सरस्वती की एक सुन्दर प्रतिमा थी। प्रतिवर्ष वसन्तपंचमी के दिन सरस्वती की नई प्रतिमा की स्थापना होती थी, और साल-भर वह प्रतिमा ज्यों की त्यों वहाँ रहती थी। दूसरे कोने में एक रद्दी-सी आलमारी थी। उसी में पंडितजी अपनी पुस्तकें रखा करते। टूटी होने के कारण वह ऐसी थी कि कोई भी चीज यों ही अन्दर रख या वाहर निकाल सकते थे। लड़कों का जिस दिन खूब खेलने का मन रहता, उस दिन वे भी अपनी कितावें आलमारी में डाल देते। सो, आज रत्ती ने अपने साथियों को आलमारी के अन्दर कितावें डालते देखा था।

इधर-उधर नजर मारता और पैर वचाता हुआ वह आलमारी के पास पहुँचा। अन्दर हाथ डालकर चार-छः कितावें निकालीं। तीन नई और अच्छी कितावें उसने छाँट लीं और पुराने अखवार में लपेटकर उन्हें पाठशाला से ज़रा दूर एक झाड़ी में छिपा दिया। फिर शंकित चित्त से वार-वार झाड़ी की ओर देखता हुआ वह अपने घर चला आया। उस दिन दुवारा रत्ती पाठशाला नहीं गया।

अगले दिन सुवह जव पाठशाला पहुँचा तो उसके सभी साथी, चोर को

गालियाँ दे रहे थे। रतिनाथ को उन्होंने घेर लिया और ऊपरा-ऊपरी कहने लगे—देखो रत्ती, आलमारी के अन्दर से किसी ने हमारी किताबें उड़ा ली हैं···हे सरस्वती माता, आपको तो पता होगा !

रत्ती का दिल धड़क रहा था। आज तक उसने बाहर चोरी नहीं की। अपने घर में समय-समय पर दुअन्नी, इकन्नी, चवन्नी और अठन्नी चुराई थी। बाप ने दो-तीन दफे पकड़ा भी था। और, आज रत्ती के इस छोटे-से जीवन में यह पहला ही अवसर है कि उसने किसी की कोई चीज चुराई है।

रत्ती के अन्दर से एक धीमी-सी आवाज आई—धिक्कार है ! अपने साथियों की किताबें तुम चुरा ले गए !

झूठ वह पचीसों बार और बोला है, मगर आग में तपाए लोहे के लाल गोले की भाँति इतना असह्य झूठ रत्ती के कंठ से कभी बाहर नहीं निकला। वह बोला—चोरी ! नहीं, नहीं, चोरी नहीं, किसी ने देखने के लिए उठा ली होंगी।

साथी एक साथ चिल्ला उठे—अरे भाई, इन छोटी-छोटी किताबों की जरूरत और किसको पड़ी होगी ! भूत-प्रेत तो ले नहीं गए होंगे ! अच्छा, परसौनी का जूगल कामति कटोरा चलाना जानता है। जिस साले ने हमारी किताब ली होगी, उस पर अगर कटोरा न चलवाया, तो···

यह सुनकर रतिनाथ का चेहरा फक हो गया। उसे लगा कि चोरी का पाप दानव बनकर आज उसको निगल जायगा। पिता सुनेंगे तो कच्चा खा जाएँगे। हे भगवान ! ···बेचारे की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। शौच जाने का बहाना कर वह नजदीक के पोखर की ओर चला गया। उसके मुँह से इतनी-सी भी बात नहीं निकल सकी कि साथियो ! कटोरा चलवाने की क्या जरूरत है ? पाठशाला के सभी लड़कों को सुनाकर यह कह दो, आज शाम तक—नहीं, कल सुबह तक आलमारी के अन्दर किताबें वापस न आई तो हम परसौनी जाकर चोर पर कटोरा चलवाएँगे।

रत्ती शौच के लिए गया तो पोखर के भिडे से नीचे उतरकर इमली के एक बूढ़े पेड़ की आड़ में बैठ गया। उसकी आँखों में आँसू का अविरल प्रवाह चुपचाप बह चला, लेकिन आज चाची नहीं थी कि अपनी धोती की खूँट से आँसू पोंछती और पीठ पर हाथ फेरते हुए चुमकारती, पुचकारती।

वह सूने मन से बड़ी देर तक रोता रहा। उसने रो-रोकर अपनी आँखें लाल कर लीं। अन्त में वापस लौटा और पोखर में नहाने के घाट पर घुटने-भर पानी के अन्दर धँसकर उसने आँख-मुँह, हाथ-पैर धोए। पानी से निकलकर अँगोछे के फटे-पुराने कपड़े से चेहरा पोंछा और फिर पाठशाला आ गया। वहाँ वह अपनी किताब लेकर जब पढ़ने बैठा तो सत्तो (सत्यनारायण) ने कहा—तुम्हारी आँखें क्यों लाल हो गई हैं, रत्ती ?

पोखर पर गया था, उड़ते कीड़े पड़ गए थे। बड़ी मुश्किल से निकले। मसलने से आँखें लाल हो गईं—रतिनाथ ने जवाब दिया।

थोड़ी देर बाद रत्ती घर के लिए चल पड़ा—आज पिताजी नहीं हैं, रसोई करनी पड़ेगी ?

उस दिन दुबारा वह पाठशाला नहीं गया ! अगले दिन आलमारी में गायब किताबें मौजूद थीं। किताबें मिलने की खुशी में सत्तो, परमा, उत्तिम, नित्या और रत्ती—पाँचों साथियों ने मिलकर सरस्वती मैया को पाँच पैसे की मिठाई अगले इतवार को चढ़ाना मंजूर किया।

नौ

आम अब बड़े-बड़े हो गये थे। वैशाख का महीना खतम हो गया था। चाची के न रहने से इस बार सतुआ संक्रान्ति रत्ती के लिए फीकी रही। बीच-बीच में कई बार अंधड़ और तूफान आए। इतने आम गिरे कि घिवही की टहनियाँ हलकी हो गईं। अचार तो बनाता ही कौन ? रह गई आमिल और फाँकी की बात, इसमें जयनाथ ने तत्परता दिखाई। दो मजूरिन रखकर गिरे-पड़े आमों की आमिल और फाँकियाँ उन्होंने काफी बनवा लीं !

अब इक्के-दुक्के आम पकने लग गए थे। एक दिन सुबह-सुबह रतिनाथ ने एक पका आम पाया और खुशी के मारे चिल्ला उठा—पिताजी, यह देखिये, कैसा बढ़िया है ! घर के अन्दर से ही जयनाथ ने आवाज दी—अरे सूंघ मत लेना, भगवान को भोग लगाएँगे।

रत्ती ने वह आम लाकर फूल-डाली में रख दिया।

इस बार शुभंकरपुर में आम खूब नहीं फला था। जिसके बाग में दस-पाँच भी कलमी पेड़ थे, उनकी तो बात नहीं, लेकिन बीजू ही बीजू के पेड़ जिनके बाग में थे, उनके लिए सचमुच ही आम कम था। जयनाथ के पिता एक कलकतिया और एक मालदह की कलम लगा गए थे। सेवा नहीं होने के कारण ये दोनों पेड़ प्रौढ़ होने से पहले ही बुड्ढे हो रहे थे। कुछ डालें सूख गई थीं। कुछ में टहनियाँ कम थीं। फिर भी सौ-दो सौ आम हर साल वे देते थे। मालदह (लँगड़ा) का पेड़ लम्बा नहीं, फैला हुआ था। जब जयनाथ नहीं रहते, उस समय मालदाह की टेढ़ी-मेढ़ी डालों पर रतिनाथ का एकछत्र राज्य रहता और वह टोल-पड़ोस के पाँच-सात लड़कों को बुलाकर खेलने लग जाता था। और, इस बार तो मालदह में गिने-गिनाए पचास आम बच रहे थे। मालदह आमों का राजा है—जिसने एक बार खाया, उसका कहना है। कलकतिया फलने में बहादुर होता है, लेकिन जयनाथ का भी यही कलकतिया अपने मालिक की लापरवाही से चिढ़कर कसम खा बैठा है, कम से कम फलो।

इससे क्या ? आम के अपने पेड़ फलें या न फलें, जयनाथ ब्राह्मणों की भिक्षा-वृत्ति के बहुत प्रशंसक थे। राजाबहादुर की ड्योढ़ी के चारों ओर सैकड़ों बीघा कलमबाग थे। दुनिया के लिए आम का अकाल भले ही हो, लेकिन राजाबहादुर की स्टेट कभी आम के फलों से खाली नहीं जाती थी। दस-दस, पाँच-पाँच करके भी फलते तो लाखों फल निकल आते। 'बम्बई' आम जेठ से ही पकने लगता है, और बथुआ ठेठ कुआँर तक जाता है। इन चार-पांच महीनों में स्टेट के कर्मचारी आम खा-खाकर लाल बुन्द हो जाते। अवधनारायण मल्लिक राजाबहादुर के यहाँ दीवानगीरी करते थे। मल्लिकजी के घर बच्चे हो-होकर मर जाते। न लड़का जीता न लड़की। ताराबाबा के आदेश से दीवानजी साधु-ब्राह्मणों की बड़ी सेवा करते थे।

जयनाथ पर तो उनकी खास कृपा थी; वे कई बार मल्लिकजी के यहाँ महामृत्युंजय का जप कर चुके थे। दक्षिणा के अलावा दो धोतियाँ, कम्बल का आसन, अर्घा, पंचपात्र, आचमनी, ताँबे की पवित्री (अँगूठी) मिला करती। जितने दिनों तक जप चलता, तस्मई (खीर) और पकवानों से एकभुक्ति होती।

जयनाथ को मल्लिकजी का बड़ा भरोसा रहता था। जब जाते, शास्त्र-पुराण की बात सुनाकर, कोई न कोई चीज या एक-आध रुपया ले आते। दीवान जी की तीसरी पत्नी का मायका मानिकपुर में था और जयनाथ की भी शादी वहीं हुई थी। गाँव के रिश्ते में वह जयनाथ की सरबेटी होती थी और इन्हें फूफा कहा करती थी। इस प्रकार मल्लिकजी के परिवार में जयनाथ का प्रवेश हो गया था। अब, दुनिया में चाहे आम फले या न फले, मल्लिकजी बरकरार रहें; जयनाथ को और चाहिए क्या ?

आठ-दस दिन बीतते-बीतते घिवही के आम पक-पककर टपकने लगे। दिन-भर की प्रचंड गर्मी, दो पहर रात तक की ठिठकी हवा और उसके बाद रात्रिशेष में जब दक्षिण पवन ग्रीष्मऋतु की श्रान्त शिथिल अलस प्रकृति-नटी के सिमटे हुए आँचल को फरफराने लगता, तो घिवही के विशाल वृक्ष की निस्पन्द टहनियाँ उच्छ्वसित हो उठतीं—टप-टप करके आम गिरने लगते। पूर्वी आसमान में शुक्र-तारा अपने मधुर उज्ज्वल प्रकाश से दिग्वधुओं को ललचाता हुआ सहसा उग आता कि रत्ती की आँखें खुलतीं। वह पेड़ के नीचे जाकर आम चुनने लगता। एक-एक करके बीती बातें उसे याद आतीं—पद्मा की आँखें, बांगों के लम्बे बाल ! अपर्णा का गोल-मटोल चेहरा। और, इन सब पर अपने बड़े-बड़े परन्तु हलके पंख फैलाकर मुस्कराने वाला चाची का वह अनुपम सौन्दर्य ! आसिन की दूध-धुली रातों में इन लकड़ियों के साथ वह छुटपन से ही हरसिंगार के फूल चुनता आया है। बाप की मार खाकर, यही जगह है कि, घंटों खड़े होकर माँ की याद में उसने आँसू बहाये हैं। यही जगह है कि चाची की अशेष सहानुभूति का अधिकृत उत्तराधिकारी की भाँति हृदय से उपभोग किया है।···

तब तक जयनाथ भी उठ जाते और अच्छी तरह पौ फट चुकी होती। फिर

विहान हो जाता। पूर्वजों के खुदवाए हुए अपने उस छोटे पोखर की हल्की लहरों पर जव रतिनाथ वालरवि की किरणों को मचलते देखता, तो सिहरन से उसका रोम-रोम कंटकित हो उठता।

जयनाथ का उमानाथ की माँ पर तो ध्यान था ही, फिर भी तारा वावा ने जो यंत्र दिया था, उसे उन्होंने तरकुलवा नहीं भेजा। लिफाफे में भेजने से यंत्र का प्रभाव घट जाता। शूद्र के द्वारा इसे भेजा जा नहीं सकता! अन्ततोगत्वा जयनाथ ने तय किया कि रत्ती को तरकुलवा भेज दें।

कुल्ली राउत को साथ कर दिया। यह खवास सत्तर साल का था। वातचीत, रंग-ढंग और वनाव-देखाव ऐसा था कि अपरिचित लोगों को भ्रम हो जाता कि यह ऊँची जाति का कोई आदमी है। उसे संस्कृत के कई स्तोत्र याद थे। जनेऊ का मंत्र वह जानता था और, कहते संकोच होता है, गायत्री भी उसे आती थी। संकोच इसलिए कि जिस गायत्री के लिए ब्राह्मण वटुकों का उपनयन संस्कार होता है, जो सिर्फ द्विजों की चीज है, उस महान् प्रणव को एक शूद्र जान जाय, यह असह्य है। जाने कैसे उसने सीख ली थी! जयनाथ से इस वात की किसी ने शिकायत की, तो वह फुफकार उठे—साले की चमड़ी उधेड़ लूंगा। शूद्र है तो शूद्र की भाँति रहे।

तरकुलवा के रास्ते पर दरभंगा महाराज का एक वड़ा-सा पोखर पड़ता है। वहीं दोनों ने स्नान किया, रतिनाथ ने जल्दी-जल्दी संध्या की तो कुल्ली राउत ने टोका—ववुआ, तुम नीलमाधव उपाध्याय के वंशधर हो। फिर अपने कर्म-धर्म में इतनी हड़वड़ी क्यों दिखाते हो? कहीं कोई जान जायगा तो शुभंकरपुर की हँसी होगी।

रत्ती ने जवाव दिया—अरे, यहाँ कौन देखता है? देखना चलकर तरकुलवा में, घंटा-भर नाक न दवाए रहा, तो जो कहो।

राउत ने मुस्कराकर कहा—लो, वाप का गुन सीख न गए! जयनाथ भी जव दूसरी जगह जाते हैं, तो चार-चार घंटे पूजा करते हैं।

रत्ती को वात लग गई। ऊपर से उसने कहा—चलो राउत, धूप कड़ी हो जायगी।

दोनों चले, परन्तु रास्ते-भर रतिनाथ यह सोचता रहा कि राउत का कहना गैरवाजिव नहीं था। पिताजी अपने यहाँ तो पूजा-पाठ में आधा घंटा मुश्किल से ही लगाते हैं, मगर लोगों के सामने गप्पें खूव मारते हैं। क्या किसी को ऐसा करना पड़ता है? रतिनाथ को कुल्ली राउत वहुत ही चतुर, वहुत ही व्यावहारिक, और वहुत वड़ा ज्ञानी मालूम पड़ा। वह सोचने लगा—अगर यह भी ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ होता, तो निश्चय ही इसके वदन पर फटे-पुराने कपड़े न होते। हमारी जूठन खाकर, हमारी पहिरन पहनकर इसके वच्चे पलते हैं। उन्हें कभी स्कूल और पाठशाला जाने का अवसर नहीं मिलता। क्या मर्द, क्या औरत—इन लोगों का जीवन वड़ी जातिवालों की मेहरवानी पर निर्भर है···सोचते-सोचते

रतिनाथ का दिमाग चकराने लगा तो तरकुलवा नजदीक आ गया। पूछने पर एक घर से आवाज आई—ग्वाले का घर है। कुल्ली ने रत्ती से कहा—आ तो गए ही, वबुआ, ज़रा सुस्ता न लें !

इस सुस्ताने की ओट में कुल्लीराउत की तमाखू पीने की इच्छा काम कर रही थी। अन्दर से बुढ़िया निकली तो कुल्ली ने कहा—पीनी हमारे पास है, तुम हुक्का भरकर ला दो।

और, आग नहीं चाहिए ?—मुस्कराकर बुढ़िया ने कहा। फिर उल्टे पैर आँगन चली गई। पीनी लेती गई थी।

हुक्का और चिलम जब आई तो राउत रतिनाथ को तरकुलवा का भूगोल बता रहे थे—पाँच कोस उत्तर नेपाल है। पूरब लौकहा थाना है, दक्खिन थाना फुलपरास पड़ता है। पच्छिम कमला मैया बहती हैं। जमीन बड़ी उपजाऊ है। दो-दो मन कट्ठा धान उपजता है।

फिर तन्मय होकर राउत तमाखू पीने लगे। गुड़गुड़ाते-गुड़गुड़ाते जब जी भर गया, तो हुक्का बुढ़िया को थमा दिया।

चुम्मन झा का घर राउत को मालूम था। वह कई दफे भार लेकर तरकुलवा आया है। सीधे दोनों जयकिशोर बाबू की दालान पर पहुँचे। रतिनाथ आँगन में चला गया। चाची पूरब की ओर वाले घर के ओसारे पर बैठी थी। आँखें चार होते ही वह बोल उठीं—लाल मेरे, इतनी कड़ी धूप में पैर तो तुम्हारे जरूर ही पक गए होंगे ! साथ कौन आया है, राउत ?

हाँ !—कहते हुए, रत्ती ओसारे पर पहुँचा और चाची के पैर छूए। गौरी ने उसे छाती से लगा लिया और ठुड्डी छूती हुई बोली—हे भगवान ! भूखे पेट इस जेठ में कैसे आया होगा ?

रत्ती ने कहा—नहीं चाची, भूखा नहीं हूँ, चिउड़ा और आम साथ थे।

आँखें नचाकर चाची ने कहा—रहने भी दे, चिउड़ा और आम। पेट पाँजर से सटा जा रहा है, और, भूखे नहीं हैं !

रत्ती ने देखा, आषाढ़ में जब पहले-पहल किसी दिन मूसलाधार वर्षा होती है, तब जिस तरह धरती का सद्यःस्नात रूप निखर आता है, उसी प्रकार चाची का शरीर लगता है। डेढ़ मास पहले चाची की शक्ल जैसे कुछ पीली-पीली लगती थी, अब वैसा रंग नहीं था। इस परिवर्तन का रहस्य उस किशोर का मन भला जान ही कैसे सकता था ! उसके लिए इतना काफी था कि बीमार होकर चाची तरकुलवा आई थी, और अब राहु-मुक्त चन्द्रकला की भाँति अपने स्वाभाविक स्वास्थ्य को फिर से उसने पा लिया है।

लोटा भर ठंडा पानी लाकर अपने ही हाथ से चाची ने रत्ती के पैर धोये। अपने ही आँचल से उन्हें पोंछा और कहा—राउत को भी पानी दे आओ, हाथ-पैर धोएँगे।

जब तक राउत को पानी देकर वह आया, तब तक इधर चाची ने काँसे की

उसी चमचमाती थाली में खाना परोस रखा था। वह खाने बैठा तो चाची पंखा झलने लगी। खाते-खाते रत्ती ने पूछा—क्यों चाची, इस साल इधर आम की फसल कैसी है ?

पंखे की बेंट से अपनी ठुड्डी को टेककर चाची बोलीं—आठ आना समझो।

रतिनाथ की आँखें चमक उठीं। वह गुनगुनाया—फिर तो दस दिन रहने का मन करता है।

इतने में उसे भूली हुई कोई बात याद आई। खाते-खाते ही गौर से इधर-उधर नजरें घुमाईं और कहा—नानी दिखाई नहीं पड़ रहीं !

पंखा झलते हुए चाची ने कहा—रात में चोरों ने आम तोड़ लिए। मालदह के दो पेड़ साफ कर दिए, माँ वहीं गई है। जो कुछ बच रहे हैं, उनकी हिफाजत का इन्तजाम तो करना ही पड़ेगा।

रत्ती मचल उठा—खाने के बाद मैं वहीं जाऊँगा।

नहीं बेटा, जब ठण्डा होगा, तब जाना, अभी बहुत धूप है। और, मैं तो राउत के सामने जाती नहीं। बूढ़े को खाना कौन खिलाएगा !

वह इस दलील से चुप हो गया।

राउत को खिलाकर और दो टूकड़े सुपारी देकर रत्ती अन्दर आया और जयकिशोर बाबू के पलंग पर चाची के पास सो गया।

थोड़ा दिन बाकी रहा तो गौरी की माँ बाग से लौटी। रतिनाथ को देखकर बहुत खुश हुई। शाम को रत्ती और राउत बाग की ओर टहलने गए। बम्बई आम जा रहा था और मालदह का पकना शुरू हो गया था कि ऐन मौके पर चोरों ने धावा बोला। फिर भी डेढ़-दो सौ बच रहे। दोनों ने घूम-फिरकर सारा बाग देखा। राउत की भी तबीयत हुई कि दस दिन रहकर आमों की बहार लूटी जाय, मगर उसे अपने वे खेत याद आए, जो मड़ुआ रोपने के लिए तैयार पड़े थे।

राउत दो ही दिन तरकुलवा में रहा, फिर भी काफी आम उसे खाने को मिले। गौरी की माँ को खिलाने-पिलाने का बड़ा शौक था। स्वयं विधवा होने के कारण वह निरामिषभोजी थी, परन्तु आगन्तुकों के लिए दूर-दूर से मछलियाँ मँगवाती, खस्सी पिटवाती। यह ठीक है कि कुल्ली राउत के लिए तरकुलवा में कभी खस्सी नहीं पिटवायी गई, फिर भी उमानाथ की नानी का स्वागत-सत्कार इस बूढ़े खवास के लिए खास आकर्षण रखता था। वह दो दिन रहा, और तीसरे दिन प्रातःकाल शुभंकरपुर के लिए रवाना हो गया। चाची ने जयनाथ के लिए दस बम्बई और दस मालदह आम दिए।

दस

समाज उन्हीं को दबाता है, जो गरीब होते हैं। शास्त्रकारों को बलि के लिए बकरे ही नजर आए। बाघ और भालू का बलिदान किसी को नहीं सूझा। बड़े-बड़े दाँत और खूनी पंजे पंडितों के सामने थे, इसलिए उधर से नजर फेरकर उन्होंने बेचारे बकरों की बलि का फतवा दे डाला।

गौरी की माँ समाज के लिए बाघिन थी। इतना बड़ा 'कुकांड' हो जाने पर भी तरकुलवा में किसी ने गौरी की माँ को खुल्लम-खुल्ला कुछ कहा नहीं। गर्भ गिराने के ठीक ग्यारहवें दिन उसने सत्यनारायण की पूजा की। गाँव-भर को आमन्त्रित किया। पाँच ही छः लोग थे, जो नहीं आए। उनमें से तीन तो ऐसे थे जिनकी इस घर से पुश्तैनी अनबन थी। बाकी दो-तीन ऐसे थे जिनका ख्याल था कि सिमरिया घाट जाकर प्रायश्चित कर लेने के उपरान्त ही सत्यनारायण की पूजा करवानी चाहिए थी।

गौरी की माँ का कहना था कि बूँद-भर गंगा जल में उतनी ही सामर्थ्य है, जितनी कि सिमरिया घाट की गंगा में। यों कोई कहे तो हमारी बेटी पचीस बार गंगा नहाने को तैयार है। गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या का पाप तो इसने किया नहीं, फिर महज मामूली बीमारी के लिए किसी को इतना बड़ा दंड मैं कैसे दिलवाती ?

गरी-छुहाड़े और मुनक्के डलवाकर पंजीरी तैयार की गई थी। पुरोहित महाराज थे, बुढ़ऊ वैदिक नरेश ठाकुर। गुलाबी रंग में रँगी हुई दो धोतियाँ सत्यनारायण स्वामी को चढ़ाई गई थीं। पीले रंग में रँगा हुआ तीन हाथ का एक अँगोछा। पुजारी बने थे शंकर बाबा। संकल्प करते समय वैदिक जी ने जय-किशोर की माँ से कहा "गौरी बिटिया से कहो, पुजारी के सामने आकर ज़रा बैठ जाय।

स्वच्छ सफेद शान्तिपुरी धोती पहिने गौरी सामने आई, तब संकल्प हुआ—ॐ अद्य ज्येष्ठे मासे शुक्ले पक्षे त्रयोदश्यां तिथौ निवृत्तरोगाया अस्याः श्री गौरी देव्याः सर्वाऽऽपत्ति प्रशमनार्थं सांगसायुध सवाहन सपरिवार श्री सत्यनारायण पूजनमहं करिष्यामि···

पूजन हुआ, कथा हुई, विसर्जन हुआ। फिर आमंत्रितों में प्रसाद बाँटा गया। इस बीच में रह-रहकर ढोल, पिपिहिरी वाले गाते-बजाते रहे। छाँटकर जिन पन्द्रह ब्राह्मणों को खाने का निमन्त्रण दिया गया था, उन्हें खिलाया गया।

गाँव की तीन-चार वृद्धाओं ने भी असहयोग कर दिया था। गौरी की माँ को किसी की परवाह नहीं थी। हाँ, बेटे का डर जरूर था। अभी जयकिशोर के आने में आठ-नौ दिन की देरी थी। उनके आने से पहले ही गौरी ने शुभंकरपुर लौटना चाहा। इस विचार से माँ भी सहमत हो गई।

जेठ की पूर्णिमा को, रात के समय बैलगाड़ी पर रत्ती और चाची राजनगर

स्टेशन की ओर चले। गाड़ीवान एक ग्वाला था। गाँव से वाहर आने पर रतिनाथ ने वावा से कहा—स्टेशन वहुत दूर है, आइए आप भी चढ़ लीजिए। नहीं तो थक जाएँगे।

दाँतों तले जीभ दवाकर वावा ने गम्भीरतापूर्वक सिर हिलाया—उहूँ :

रत्ती वावा की ओर वकर-वकर ताकने लगा। अपने हाथ से उसका हाथ दवाकर गौरी ने कहा—वावा, कभी वैलगाड़ी पर नहीं चढ़े ? तुम्हारा गाँव कहने को तो पंडितों का गाँव है, किन्तु आँख-मुँह ढँककर वड़े-वूढ़े भी वैलगाड़ियों पर दूर-दूर तक हो आते हैं। तुम्हारे वाप को भी मैंने एक वार वैलगाड़ी पर वैठे देखा है।

रत्ती को वूढ़े वावा के प्रति एक अजीव-सी श्रद्धा हो आई। वह वोला—तो चाची, कुछ दूर तक मुझे भी इन्हीं के साथ पैदल चलने दो।

पागल कहीं का ! चाची ने डाँटा—फूलकर पैर तुम्वा हो जाएँगे !

आखिर रत्ती नहीं माना। छलाँग मारकर नीचे आ गया और शंकर वावा के पीछे-पीछे चलने लगा। थोड़ी दूर जाकर उसने मुँह खोला—क्यों वावा, आप वैलगाड़ी पर क्यों नहीं चढ़ते ?

वावा ने सुरती फाँक रखी थी। थूककर कहा—वच्चा, अव कोई इन वातों का विचार नहीं करता। वैल ठहरे शिवजी के वाहन। इनके चारों पैर धर्म के ही चार चरण हैं। इसीलिए ब्राह्मण न हल जोतते हैं, न गाड़ी चलाते हैं। चढ़ना भी मना है।

वावा ने एक वार फिर थूका। रत्ती ने फिर पूछा—तो क्यों लोग चढ़ने लगे हैं ? हल तो कोई नहीं जोतता है। वावा ने चलते-चलते रतिनाथ का कन्धा पकड़ लिया और थोड़ा रुक गए। वोले—घोर कलियुग आ गया है, आज नहीं तो कल ब्राह्मण भी हल जोतेंगे। देख लेना। अंग्रेजी पढ़े-लिखे ब्राह्मण, सुना है, प्याज-लहसुन खाते हैं। मुर्गी का अंडा खाते हैं···इतना कहकर वावा ने फिर थूक दिया।

गाड़ी चली जा रही थी, ढचर-ढचर-ढच। गौरी उसी पर लेटी पड़ी थी। आकाश से चाँद अमृत वरसा रहा था। हौले-हौले हवा चल रही थी। तारों को एक-दूसरे से दूर-दूर देखकर उसे फिर एक वार अपने एकाकी जीवन का ख्याल आया। स्त्री और पुरुप, पुरुप और स्त्री। एक-दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे से रहित कुछ नहीं है—इसके वाद गौरी को वह व्यक्ति याद आया जिसके हाथ में आज से वाईस साल पहले वैदिक जी ने यह हाथ थमा दिया था। फिर उसे अपना अभाव-अभियोग-ग्रस्त वह दाम्पत्य-जीवन याद आया जो इसी गाड़ी की भाँति ढचर-ढचर कुछ दिनों जैसे-तैसे चलता रहा—इस गाड़ी के भी दो वैल वरावर नहीं हैं, उनकी भी जोड़ी ऐसी ही विपम थी—इसके वाद अपने हृदय-आकाश में अकस्मात् उग आने वाले उस स्वस्थ तरुण की याद आई, जिसे लोग जयनाथ कहते हैं—

तव गौरी ने रतिनाथ की ओर मुड़कर देखा। वह वावा के साथ आहिस्ते-आहिस्ते चला आ रहा था। चाँदनी में उस किशोर का सुन्दर मुखमंडल चमक रहा था। मन हुआ कि आवाज देकर फिर उसे गाड़ी पर वैठा लें।

और सचमुच ही उसने आवाज दी—आओ, गाड़ी पर चढ़ जाओ।

रत्ती ने एतराज नहीं किया। चुपचाप आ वैठा। हिलती-डुलती उस गाड़ी पर थोड़ी देर वाद वह नींद के झकोरे खाने लगा और चाची के वदन पर उठंग गया। कुछ समय तक गौरी रतिनाथ की देह पर हाथ फेरती रही। उसे सहसा एक ख्याल आया···जयनाथ को धर-पकड़कर अगर किसी तरह दूसरी शादी कर लेने के लिए राजी कर लिया जाय, तो कैसा रहे? एक ही खतरा है कि सौतेली माँ इस लड़के को जिन्दगी-भर परेशान करती रहेगी! अरे, क्या परेशान करेगी? मैं भी तो रहूँगी। रत्ती को अपने साथ रक्खूंगी, अपनी दुनिया लेकर जयनाथ और उनकी वीवी अलग रहें। दूसरा फायदा इससे यह होगा कि मुझ पर जयनाथ की लोलुप दृष्टि नहीं पड़ेगी। नई नवेली सहचरी पाकर निश्चित है कि मेरी ओर से उनका मन खट्टा हो जायगा। तीसरा फायदा यह कि उतने वड़े आँगन में रात-विरात मुझे अकेले रहना पड़ता है सो, एक साथिन मिलेगी।

आधे रास्ते पर एक ओर वहुत ही चालू एक कुआँ पड़ता था। शंकर वावा झटककर आगे जा चुके थे और उसी कुएँ पर वैठे सुस्ता रहे थे। गाड़ीवान को दूर से ही उन्होंने आवाज दी—रोकना हो ऽऽऽ

सड़क कुएँ से दो वीघा थी। गाड़ीवान सोया हुआ था। वैल वेचारे लीक पकड़कर चले जा रहे थे। वाईं ओर जो जुता था, वह सिलेविया (संवलिया) था, दाईं ओर धौला। डील-डौल, चाल-ढाल, रंग-रूप सभी दृष्टि से सिलेविया अव्वल था। उसकी तुलना में धौला काफी हलका था। सिलेविया की गरदन में घंटी वंधी थी। उसकी टुन्-टुन्-टुन्-टुन् उस नीरव निशीथ में अवश्य दूर-दूर तक प्रतिध्वनित होती होगी। वावा की परिचित आवाज सुनकर वैल ठिठक गए और हल्का-सा धचका लगा तो गाड़ीवान की नींद टूट गई। गौरी और रतिनाथ भी जगे। सवने उतरकर पानी पिया। कुछ देर तक खड़े रहने से वैलों को भी दम मारने की फुरसत मिली। उन्होंने मूता।

करीव आधा घंटा के वाद गाड़ी फिर चली।

दूर की निविड़ अमराइयों में से चुहचुहिया की आवाज आ रही थी। शंकर वावा राह चलते ही सोते जा रहे थे। एक वार आँख झपकती तो दस कदम उसी हालत में वढ़ जाते। वह देहात की कच्ची सड़क थी। राह के किनारे एक ओर तो गाड़ी की लीक थी, और दूसरी ओर पगडंडी। पगडंडी पर कहीं धूल, कहीं चिकनी मिट्टी और कहीं दूव ही दूव पड़ती थी। वावा के पैरों की खुरदरी उँगलियाँ दूव में उलझ जातीं, तो नेत्र खुल जाते। मिट्टी और धूल से तो पैरों को कोई डर था नहीं, इस स्थिति में चुहचुहिया की मधुर आवाज ने वावा को एकदम जगा दिया और उन्होंने प्रभाती की तान छेड़ दी—जागहु हो वृजराज, लाज

भगवान हमें बचायें। इन आँखों के सामने वह न आवे, महादेव से मेरी यही प्रार्थना है। सन्नो की माँ तन्मय होकर अपनी तकली चला रही थी, किर्र किर्र किर्र। अब उसका ध्यान भंग हुआ। ऊपरी मन से यह बातें वह सुन रही थी। तकली में कते सूत को लपेटती हुई वह बोली—आम लेने में क्या हर्ज हैं! हाँ, पकवान-वकवान होता तो बात दूसरी थी।

दमयन्ती सुलग उठी। उसकी भौंहें तन गईं। वह सन्नो की माँ पर बरस पड़ी—सवाल यह आम और पकवान का नहीं है।

शकुन्तला और जनककिशोरी ने अपना सिर हिलाकर इस बात का समर्थन किया। इससे उत्साहित होकर दमयन्ती दूने ओज से बोलने लगी—बात इतनी ही नहीं है सन्नो की माँ, देखना यह है कि पड़ोस के इस पाप का हमारे जीवन पर क्या असर पड़ता है। अपराधी को यदि दंड न मिले तो एक दिन भी संसार टिक नहीं सकता। उमानाथ की माँ अपनी मायके जाकर पाक-साफ हो आई है। परन्तु शुभंकरपुर का नाम इससे कितना कलंकित हुआ है…

दम्मो फूफी आवेग में आ गईं। बागो के हाथ से छूटकर हनुमानचालीसा जमीन पर गिर पड़ा। सन्नो की माँ ने कहा—तो अब उसका क्या होगा? इतना बड़ा कलंक क्या मामूली सज़ा है!

रामपुरवाली चाची चाहती थी कि दमयन्ती और बोले। तकली छोड़कर उसने सन्नो की माँ का हाथ पकड़ लिया। कहा—पूरा-पूरा कहने तो दो?

दमयन्ती कहती गई—अब और क्या होगा? मर्दों का तो कोई ठिकाना है नहीं। अगर हम न रहें, तो संसार से आचार-विचार हट जाय। उमानाथ की माँ व्यभिचारिणी है, पतिता है, भ्रष्टा है, कुलटा है, छिनाल है, उससे हमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। बोल-चाल बन्द। बात-विचार बन्द। प्रत्येक विचार बन्द। हाँ, जयनाथ और रतिनाथ दोनों बाप-पूत यदि प्रायश्चित कर लें तो इस समाज में उनके लिए स्थान हो सकता है, परन्तु उमानाथ की माँ को समाज किसी भी हालत में क्षमा नहीं कर सकता।

रामपुरवाली ने कहा—बिल्कुल ठीक। अपराधी को सज़ा मिलनी ही चाहिए।

थोड़ी देर तक उस गोष्ठी पर सन्नाटा छाया रहा।

निस्तब्धता को भंग करते हुए कोमल स्वर में दम्मो फूफी से जनक-किशोरी ने पूछा—उमानाथ की माँ भी तो प्रायश्चित करके शुद्ध हो सकती है?

सन्नो की माँ ने जनककिशोरी की ओर देखा, मानो यह कह रही हो कि तुम्हारी जिज्ञासा ठीक है, मैं भी यही जानना चाहती थी।

उत्तर दिया दमयन्ती के बदले रामपुरवाली ने। वह बोली—प्रायश्चित की बातें तो कोई पंडित ही बता सकता है। इसमें किसी दूसरे के लिए रियायत थोड़ी ही हो सकेगी।

दम्मो ने चादर में जाली मढ़ने का अपना काम ख़तम कर दिया था। सुई

को एक कागज में टाँचते हुए उसने कहा—रामपुरवाली की राय सही है, लेकिन खाली प्रायश्चित किसी काम का नहीं; जाति-बिरादरी का दंड ही इस प्रकार के अपराधों को फिर से न दुहराने की दवा का काम करता है। सामाजिक वहिष्कार तो उमानाथ की माँ का हर हालत में करना पड़ेगा।

सन्नो की माँ ने कहा—और, इस बात को लेकर गाँव में दो दल हो जाएँ तो ?

इस प्रश्न पर सभी थोड़ी देर तक चुप रहीं। मौन भंग किया रामपुरवाली ने। उसने कहा—भले ही तीन दल हो जाएँ, हमारा तो उमानाथ की माँ से किसी भी प्रकार का संपर्क न रहेगा !

दम्मो फूफी ने मौन रहकर अपनी स्वीकृति इस विचार पर दी।

सन्नो की माँ उतनी मुँहजोर नहीं थी, जितनी कि समझदार। रामपुरवाली अपने पति की दूसरी स्त्री थी। भोला पंडित ने पुत्र की लालसा से पैंतालीस की उम्र में यह दूसरी शादी की थी। पहली स्त्री भी अब तक मौजूद है। दोनों मुर्गियों की तरह आपस में लड़ती रहती हैं। रामपुरवाली को ही दुनिया विजयिनी मानती है, क्योंकि अपनी सौत को इसने ऐसी करारी हार दी कि वह बेचारी पाँच साल से मायके में पड़ी है। यहाँ शुभंकरपुर के पाँच घरों के इस टोले में अब रामपुरवाली का एकच्छत्र राज है। झगड़ते-झगड़ते अंत में गालियों के अपने जिन तीरों का वह इस्तेमाल करने लग जाती है, यहाँ उनका जिक्र न करना ही अच्छा है। एक बार भोला पंडित ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा था—पूर्व जन्म में बहुत बड़ा प्रत्यवाय मैंने किया होगा, जिससे रामपुर में अवतार लेने वाली यह चंडी मेरे घर आ गई। पंडित को जब बहुत गुस्सा चढ़ता है, तो झोंटा पकड़-कर चार लात जमा देते हैं। और, भगवान की कृपा से ऐसे अवसर इस दम्पति के जीवन में आते ही रहते हैं। बागो कोयले की खान का हीरा है। कम बोलना, स्निग्ध और स्थिर आँखों से देखते रहना, मुस्कान और सौन्दर्य। बागो का यही परिचय है।

जनककिशोरी और शकुन्तला, इन्द्रमणि की वही लड़कियाँ हैं जिनका ब्याह बिकौआ से हुआ था। दोनों बहिनों का स्वभाव तीव्र था। परन्तु बुद्धमती होने से उनकी यह तीव्रता बात नहीं, काम से जाहिर होती थी। एक का अपने चचेरे भाई से, और दूसरी का कुल्ली राउत के जवान बेटे से गुप्त स्नेह-संबंध था। साल-डेढ़ साल पर बिकौआ महाशय आ ही जाते। डेढ़-दो मास रहकर फिर चले जाते। शकुन्तला के तीन लड़के थे, और जनककिशोरी के एक लड़का और एक लड़की। शकुन्तला के पति की सात शादियाँ हुई थीं, और जनककिशोरी के पति की दस। शकुन्तला का तीसरा लड़का हू-ब-हू उसके चचेरे भाई की शक्ल का था। जनककिशोरी की दोनों सन्तानें आकृति में कुल्ली राउत की परंपरा में आती थीं।

दम्मो के पिता की दो शादियाँ हुई थीं। पहली शादी से एकमात्र यही दमयन्ती

हुई। दूसरी से दो लड़के थे। पिता का नाम था विश्वनाथ झा। यह सभी लोग नीलमाधव उपाध्याय के ही वंशज थे। जयनाथ के पिता और विश्वनाथ चचेरे भाई थे। तांत्रिक-साधना में दिलचस्पी लेने के कारण विश्वनाथ आजीवन रक्ताम्वर-धारी रहे। वड़े-वड़े वाल, वड़ी-वड़ी दाढ़ी। दीप्त और प्रशस्त ललाट, सिन्दूर का वड़ा-सा टीका। लाल-सुर्ख धोती। लाल जनेऊ। हाथी के दाँत के तराशे हुए दानों की सुन्दर माला— विश्वनाथ का यह स्वरूप अव भी शुभंकरपुर में वहुतों को याद है। उन्हें लोग सिद्धजी-सिद्धजी कहते थे। अपनी ढलती उमर में ग्वालियर और इन्दौर जाकर वे रुपये भी काफी वटोर लाए थे। अपनी वाल-विधवा पुत्री—दमयन्ती को उन्होंने आग्रहपूर्वक यहीं रख लिया। दमयन्ती के ससुराल वाले उस कोटि के व्राह्मण थे, जिन्हें अपनी परंपर से चली आई मर्यादा का वहुत अधिक ख्याल रहता है, जिनके रग-रग में व्रह्मवाद और आस्तिकता भरे रहते हैं और पूर्वजों की ज्ञाननिधि के संरक्षण में वड़ा-सा वड़ा त्याग करते हुए जो हिचकते नहीं। जिनके साथ दमयन्ती का विवाह हुआ उनका नाम था वाचस्पति पाठक। न्याय और व्याकरण के अद्वितीय विद्वान थे। छव्वीस साल की उमर में हैजे से उनका देहान्त हो गया। और, तव से दम्मो अपने पितृकुल में रहती आई है। अपनी जायदाद का तीसरा हिस्सा पिता उसके नाम चढ़ा गए हैं।

एक सम्मानित व्यक्ति की वुद्धिमती वेटी होने के नाते गाँव के सामाजिक जीवन में दमयन्ती का जो स्थान है, वह उपेक्षणीय नहीं है। समाजपतियों के कूटनीतिक शतरज की वह भी एक खिलाड़िन है। उसकी पैनी सूझ का लोहा सभी मानते आए हैं।

इसलिए उमानाथ की माँ के सम्वन्ध में दम्मो फूफी का उक्त निर्णय वड़ा ही महत्त्व रखता था।

वारह

रतिनाथ तेरह-चौदह दिन पर गाँव आया था।

देहात की पाठशाला और सो भी संस्कृत की। उसका वन्द रहना और न रहना वरावर है। अपने साथियों से मिलने की इच्छा रत्ती को पाठशाला की ओर खींच ले गई। पहर-भर दिन वाकी था। तीन ही चार लड़के थे। सरस्वती को प्रणाम करने के पश्चात रतिनाथ ने पंडित जी के पैर छुए। पंडित जी उल्लसित होकर वोले—क्यों रे, कहकर नहीं गया था?

रत्ती की जवान वेधड़क होकर झूठ खेल गई—क्या करता गुरुजी, पिताजी ने कहा। जाना ही पड़ा। वतला तो उन्होंने आपको दिया ही होगा।

गाय का पगहा टूट गया। पंडित जी कुशासन पर वैठे हुए उसकी मरम्मत

कर रहे थे। आगे सन पड़ा था। पगहा की नई गाँठ को दोनों हाथों की पूरी ताकत लगाकर पंडित जी कसने लगे। बीच ही में बोल उठे—नहीं, तुम्हारे बाप ने मुझे यह सब नहीं बतलाया। हाँ, मत्तो से तुम्हारे तरकुलवा जाने की बात मालूम हुई थी···तब पंडित जी ने गौर से रत्ती की ओर देखा। और आँखें फाड़कर बोले—देखता हूँ, दस दिन की पहुनाई में ही तेरी शकल बदल गई है।

सत्तो मौजूद था। मुस्कराकर बोला—हाँ, गुरुजी, बम्बई और मालदह इतना अधिक खा आया है कि साल-भर इसका बदन यह लाल हो रहेगा।

रत्ती ने मटकी मारकर सत्तो की ओर देखा, फिर नजर नीचे कर ली।

पगहे की मरम्मत हो चुकी थी। कुछ मामूली-सा पढ़ा-बढ़ाकर पंडित जी शौच के लिए निकल गए। थोड़ी देर बाद रतिनाथ भी चला आया। कल से ही रत्ती का मन बागो से मिलने के लिए तरस रहा था। आज शाम को पाठशाला से लौटने के बाद वह अपने घर की ओर न जाकर भोला पंडित की दालान की ओर चला गया।

भोला पंडित का घर इन्द्रमणि के घर से कुछ उत्तर की तरफ था। उसके दो तरफ खेत थे। पीछे की ओर बाँस का जंगल था। रामपुरवाली चाची की कोख से बागो के अलावा एक और सन्तान पैदा हुई थी, लड़का। वह नौ महीने का होकर चल बसा। उसके बाद सन्तान होने का कोई लक्षण किसी को दिखाई नहीं पड़ा। भोला पंडित सत्तर की उमर टाप गए थे। हड्डी इतनी मजबूत थी कि चौदह-चौदह, सोलह-सोलह घण्टे अब भी खटते रहते। तेरहों अध्याय चंडी (दुर्गा सप्तशती) का पाठ रोज करते। कंठस्थ हो गया था सारा। सुबह उठकर, शौच से निबट चुकने के बाद उनकी यह भनभन शुरू हो जाती। हाथ लगे रहते काम में और जीभ नाम में। दुनियादारी और जगदम्बा की स्तुति। इहलोक और परलोक यह दोनों भोला पंडित साथ चलाते। इस बीच कोई मिलने वाला आता तो उससे एक प्रकार की अस्पष्ट भाषा में मतलब की बात भी कर लेते, जैसे कि कोई आकर कहता—पंडित जी, आज दुपहर का निमन्त्रण देता हूँ, तो पंडित पाठ छोड़कर उससे पूछ बैठते—ङोङ ङोङ ङङेङा (कौन-कौन रहेगा) और उनका ऐसा करना बिल्कुल दुरुस्त था। चंडी, गीता अथवा किसी अन्य धार्मिक ग्रन्थ का पारायण करते समय बीच-बीच में आप बातचीत नहीं कर सकते। हाँ, संस्कृत की बात दूसरी है। वह ठहरी देवताओं की वाणी। उसका इस्तेमाल भले ही कोई कर ले। अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर समझदार लोग इसी ङू-ङ या ॐ आँ जैसी अव्यक्त ध्वनियों का सहारा लेते हैं।

भोला पंडित की दौड़-धूप का क्षेत्र चार जिलों तक विस्तृत था। दरभंगा, मुंगेर, भागलपुर और पूर्णिया। साल में एक बार तीन दिन के लिए वे बेतिया भी जाते थे। भिक्षा, आशीर्वाद, अनुष्ठान और रिश्तेदारी के सिलसिले में प्रतिवर्ष चार-छः महीने उनके बाहर बीत जाते। राजाबहादुर दुर्गानन्दन सिंह से लेकर बनैली के राजा कीर्त्यानन्दसिंह तक भोला पंडित की शुभकामनाओं के पात्र थे।

जामुन, कटहल वगैरह की डाली से तैयार किया हुआ सोंटा भुस-भुस घिसता है। बम्भोले की बूटी छानने वाले इसीलिए अमरूद के सोंटे की प्रशंसा करते थकते नहीं। जयनाथ कड़ी पत्ती का इस्तेमाल करते थे। गिनकर ग्यारह दाने काली मिर्च डालते, दो बादाम। चुटकी-भर सौंफ। चीनी और गुड़ डालकर भाँग पीना उन्हें पसन्द नहीं था। वह कहते—यह साधकों की चीज नहीं है। पर्व-त्योहार को नशाखोरी की नीयत से भाँग पीने वाले ऐसा भले कर लें, परन्तु विजया देवी के जो नित्य सेवक हैं, उन्हें कड़वी भाँग ही प्रिय होती है।

रत्ती ने छिपाकर एक बार थोड़ी भाँग पी ली थी। बुरा हाल हो गया उसका। खाते समय मुँह के बदले कान में ही उसने भात के कौर डालने शुरू किए। जयनाथ ने पूछा—दाल में नमक तो ठीक है? लड़के ने यों ही मुँह चलाकर सिर हिला दिया। कन्धे पर कान से भात गिरते देखकर पिता ने समझा, लड़के ने भाँग खा ली है। बस, फिर क्या था? रत्ती पर बड़ी पिटाई पड़ी। चाची ने आकर छुड़ा लिया, नहीं तो उस रात पीट-पाटकर जयनाथ उसे बेहोश कर देते। उस वक्त नशे में चोट नहीं लगी, मगर अगले दिन रत्ती का बदन टूटा जा रहा था। चाची ने दो बार मालिश की, तब कहीं जाकर दर्द दूर हुआ। मालिश के वक्त जयनाथ ने तो दाँत पीसते हुए कहा—गधा! फिर कभी भाँग तूने पी, तो कुल्हाड़ी से गरदन काट लूँगा। चाची ने जयनाथ को फटकारा, खुद जो पीते हो, भर-भर लोटा! जयनाथ बरबराते हुए आँगन से बाहर हो गए कि मैं तो अभिमन्त्रित करके पीता हूँ, उसमें नशा कम होता है।

जयनाथ तन्मय होकर भाँग घोंट रहे थे! रत्ती नजदीक आकर खड़ा हो गया।

पिता ने पूछा—क्या चाहिए?

कड़वा तेल नहीं है!—पुत्र ने कहा। जयनाथ बोले—अभी उमानाथ की माँ से लेकर काम चला लेंगे, कल देखा जायगा।

रत्ती की आवाज सुनकर चाची निकल आईं। उपालंभ के स्वर में बोलीं—आज नाश्ता नहीं किया रे!

रतिनाथ ने निगाहें जमीन पर गाड़ लीं। चाची ने सिर से पैर तक उसकी ओर देखा। जरा रुककर बोलीं—तेरा खाना मैं ही बना रही हूँ।

रत्ती चुप रहा। पिसी हुई भाँग के गोले को पानी में मिलाते हुए जयनाथ बोल उठे—तो, इस गर्मी में अपने पेट के लिए चूल्हे के पास बैठकर मैं तपस्या क्यों करूँ? पाव-डेढ़ पाव चिउड़ा घर में है ही, घिवही आम का गाढ़ा रस और फूला हुआ चिउड़ा···जरा-सी कसौंझी···आहा! हाँ!! इस दिव्य पदार्थ के आगे भात-दाल-तरकारी गोबर है!

चाची से न रहा गया। बोलीं—रात-दिन वही गोबर तो खाते रहते हो।

अरे गोबर नहीं, एक बात कही है।—जयनाथ ने कहा। जब परिश्रम किए बिना भी खाने की चीज सुलभ है, तो रसोई की झंझट में वे पड़ते ही क्यों!

कमलनाथ, वैद्यनाथ और जयनाथ—जब तक माँ जीती रही, तीनों इकट्ठे रहे। उसके बाद अलग-विलग हो गए। जमीन-जायदाद, बर्तन-बासन सभी के तीन हिस्से हुए। चूल्हे भी तीन। कमलनाथ यहाँ थे नहीं। रह गए वैद्यनाथ और जयनाथ। यह दोनों भी अलग-विलग थे। वैद्यनाथ की मृत्यु के बाद जब रत्ती की माँ मरी तो बेचारे जयनाथ की गृहस्थी छिन्न-भिन्न हो गई। यों तो वह पहले ही से गई-गुजरी थी, क्योंकि जयनाथ ठिकाने से कभी शुभंकरपुर नहीं रहे। उनकी सारी जवानी कटी थी भागलपुर से बाईस कोस दक्षिण बड़हड़वा में। वहाँ इन लोगों की बड़ी बहन सुमित्रा की ससुराल थी। इसकी भी एक कहानी है। आज से चालीस साल पहले रुपया ही महँगा था, चीजें खूब सस्ती थीं। मेवालाल ठाकुर बड़हड़वा के बहुत बड़े काश्तकार थे। पचास वर्ष की उमर में उन पर यह सनक सवार हुई कि किसी कुलीन कन्या का पाणिग्रहण करना चाहिए। दो शादियाँ इससे पहले की थीं। वे दोनों औरतें मौजूद थीं। उनमें से एक के चार और दूसरी के सात सन्तानें थीं। जयनाथ के पिता को अपने एक मित्र से मेवावाल की यह इच्छा मालूम हुई। यह जानकर कि बड़हड़वा वाले बहुत ही धनी हैं और धूम-धाम से शादी करेंगे, उन्होंने निश्चय किया कि अपनी कन्या सुमित्रा का व्याह उधर ही कर देंगे, तदनुसार बातचीत शुरू हो गई और सम्बन्ध स्थिर हो गया। रानी छाप के दो सौ नगद रुपये, सौ मन कनकजीरा चावल, पन्द्रह मन अरहर की दाल, दो मन घी, पाँच थान ननगिलाट (लाँग क्लाथ), इतना सामान लेकर मेवालाल ठाकुर शुभंकरपुर आए थे शादी करने। बारात में कुल चार आदमी थे, एक खवास था। गरीब ब्राह्मण के घर को ठाकुरजी ने भर दिया। गहनों से सुमित्रा लद गई। खानदान के पाँचों घर की औरतों को एक एक बिसहत्थी साड़ी मिली थी। कुल्ली राउत को दो धोतियाँ। उसकी घरवाली को दस हाथ की साड़ी! छः महीने बाद ही गौना हुआ। भाइयों में जयनाथ ही छोटे थे। वही साथ गए। पहली यात्रा में वे साल-भर बड़हड़वा रह आए। दूध, दही, घी, मछली-मांस—इनकी प्रचुरता ने जयनाथ के मन और तन, दोनों पर प्रभाव डाला। वे सदा के लिए अपने बहनोई के यहाँ रहने को तैयार थे। अपनी शादी और गौने के बाद भी जयनाथ का मन घर पर नहीं लगता था। वे भाग-भागकर बड़हड़वा पहुँच जाते। टट्टू और गधे को छोड़ दीजिए। वह उसी मैदान की ओर पिछली दो टाँगों के बल पर रुक-रुककर कूदता हुआ पहुँच जायगा जिसकी हरी-हरी मुलायम दूबों का स्वाद उसे भली-भाँति मालूम है। यही हाल था जयनाथ का। बड़हड़वा उनके लिए हरी घास का अक्षय मैदान था। फिर अपनी सारी जवानी अगर उन्होंने दक्षिण भागलपुर के उस देहात में बिता दी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? ठाकुर जी की विधवा भावज वहाँ जयनाथ के लिए जान देती थी। खेत की मजूरिनों से हँसी-मखौल करने का जयनाथ को अबाध अधिकार था। विशाल वटवृक्ष की छाया में दस-पाँच गायों के बीच खड़े होकर साँड जैसे आँखें मूँदे जुगाली करता रहता है, वही स्थिति थी जयनाथ की।

यही वात थी कि गृहस्थी में कभी जयनाथ का मन नहीं लगा। रत्ती की माँ मर गई, तव से उमानाथ की माँ ने अपने देवर की टूटी गृहस्थी को सँभालने की वरावर चेप्टा की है।

अलगाव-विलगाव की वह मोटी दीवार बहुत कुछ ढह चुकी थी। नाममात्र के दो चूल्हे थे। खाना वहुधा साथ ही वनता। और, जयनाथ जव वाहर रहते तव तो रत्ती रात-दिन चाची के ही घर में आसन जमाये रहता; आँगन के दक्षिण ओर अपना वन्द घर उस लड़के का ध्यान शायद ही कभी आकर्पित करता।

भाँग पीकर जयनाथ वलुआहा पोखर की ओर निकल गए और रत्ती चाची के घर में घुसा। खाना तैयार होने में कुछ देर थी।

तेरह

ठीक दीपावली के दिन वैद्यनाथ की वर्पी पड़ती थी। इस अवसर पर उमानाथ घर आता। कम से कम पाँच व्राह्मण जिवाये जाते! किसी-किसी वर्ष यह संख्या, सात और नौ तक पहुँच जाती। प्रथा यह है कि पाँच वर्पों तक कम से कम ग्यारह व्यक्तियों को निमंत्रण दिया जाय। उसके वाद आप स्वतन्त्र हैं।

परन्तु इस वर्प तो समस्या ही दूसरी थी। कौन खाएगा उमानाथ के घर? सभी ने उसकी माँ को समाज से वहिष्कृत कर दिया है।

उमानाथ दुर्गा पूजा की छुट्टी में हमेशा आता और दिवाली के दिन वाप की वर्षी करके फौरन चला जाता वहन के यहाँ। कार्तिक शुक्ल द्वितीया उन व्यक्तियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण तिथि है, जिनकी वहन जीवित हों। भाई दूज का यह त्योहार उमानाथ के लिए वचपन से ही आनन्द और उत्सव का दिन रहा है। व्याह कर दूर चली जाने पर भी प्रतिभामा प्रतिवर्प अपने भाई को इस त्योहार के अवसर पर वुलवाती ही। उमानाथ जव से भागलपुर रहने लगा तव से तो आग्रह और भी अधिक हो गया।

इस वार दुर्गा पूजा की छुट्टी में, कलश-स्थापन (नवरात्रि के आरम्भ का दिन—अश्विन शुक्ल, प्रतिपदा) से दो रोज पहले उमानाथ घर पहुंचा, पर थोड़ी ही देर वाद अपनी माँ के सम्वन्ध में सारी वात जव उसे मालूम हुई, तो ग्लानि और क्षोभ के मारे उसका दिमाग फटने लगा। और, उससे यह सव कहा किसने? दम्मो वुआ ने!

आँखों में आँसू भरकर विपाद की फीकी छाया चेहरे पर लाकर फूफी ने उमानाथ से कहा था—ववुआ, तेरी माँ ऐसी कुलवोरनी निकलेगी, इस वात का जरा भी पता पहले होता, तो कभी मैं वैद्यनाथ की शादी तरकुलवा में नहीं होने देती। सोचो तो, नीलमाधव उपाध्याय का यह विमल वंश कितना प्रसिद्ध है!

और एक विधवा···इतना कहते-कहते उन वनावटी आँसुओं को आँचल के खूँट से दमयन्ती ने पोंछ लिया और हाथ पकड़कर उमानाथ को अपने दरवाज़े की भीत के ओट में ले गई।

उमानाथ फुफकारता हुआ अपने आँगन में आया और माँ का झोंटा पकड़ लिया। वह वेचारी इस आकस्मिक आक्रमण से चकित थी ही कि इसी वीच लड़के ने उसकी पीठ पर आठ-दस लात गद्‌ागद जमा दिये। चाची ऐंच कर रह गई। उसे यह समझते देर न लगी कि दमयन्ती ने उमानाथ के कान भरे हैं।

अपने आँसू, अपनी आह—चाची सव पी गई।

पति, पुत्र या परिपालक के द्वारा पीटी जाने पर यदि औरत न रोए, न चिल्लाए और न आह-ऊह करे, तो क्या होगा? होगा यही कि पीटने वाले का क्रोध क्षोभ के रूप में वदल जायगा और तव अपना कपार आप ही वह पीट लेगा···

उमानाथ का मन न भरा। दाँत पीसता हुआ वह वोला—राक्षसी कहीं की! ले, रख अपना घर। मैं जाता हूँ तालाव में डूवने और तव तू मौज मारती रहना···

उठकर चट से चाची ने उमानाथ के पैर छान लिए।

लड़का चिल्लाया—नहीं, नहीं, जीकर मैं क्या करूँगा! गले में घड़ा वाँधकर डूव मरूँगा, तभी मुझे शान्ति मिलेगी।

नहीं भैया,—लड़के के पैरों पर अपना मुक्त-कुन्तल मस्तक डालकर माँ गिड़गिड़ाई—नहीं भैया, कोने में कुल्हाड़ा रखा है, उठा लाओ, मुझे खण्ड-खण्ड कर दो! मैं खुद इसलिए नहीं डूव मरी कि तुम्हारे हाथों से सद्‌गति मिलेगी तो मेरे सारे कुकर्म धुल जाएँगे।

माँ के वाहु-पाश से अपने पैर छुड़ाकर वह अलग हो गया और वीच घर में वैठकर फूट-फूटकर रोने लगा। माँ की आँखें भी आँसू से तर थीं। वह उठी। लड़के के विल्कुल करीव आकर वैठ गई। आँचल के खूँट से उसके आँसू पोंछने लगी, परन्तु आज उमानाथ का हृदय गर्मी की गंगोत्री वन गया था। तापविगलित हिमानी प्रखर स्रोत की भूमिका वनकर जव वह निकलती है, तो मैदान की गंगा अपने दोनों तटों को आप्लावित करती हुई वहती चली जाती है।

वहुत देर तक उमानाथ रोता रहा, माँ पास ही वैठी वरावर उसके आँसू पोंछती रही। पाठशाला से रतिनाथ आ गया तो जागकर वह उठा और लोटा में पानी लेकर आँख-मुँह धो आया।

रत्ती को साहस नहीं हुआ कि चाची से पूछे।

यह सव तो हुआ, किन्तु निमन्त्रण देने पर वर्षी के दिन कोई खाने नहीं आया। मूर्ख और मन्दवुद्धि रहने पर भी उमानाथ होनहार को वलवान तो मानता ही था। अपनी अपराधिनी माँ को क्षमा करके उसे फिर कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। दीवाली के दिन ही वह भागलपुर के लिए रवाना हो गया।

चौदह

दुर्गा पूजा के दसों दिन जयनाथ ने विन्ध्याचल में बिताए। एक मारवाड़ी ने चंडी का सम्पुट पाठ करवाया था। पाठ करने वाले नौ थे। पचीस-पचीस की दक्षिणा मिली थी। एक-एक जोड़ा धोती। दसों दिन फलाहार का इन्तजाम था। शाम को गंगा के किनारे पंडे ठंडई छानते। वहीं जयनाथ भी अपनी कुंडी और सोंटा लेकर एक ओर बैठ जाते। पाठ करने वालों में से चार मैथिल थे और पाँच सरयूपारी। सेठ था कलकत्ते का, मगर प्रवन्ध मिरजापुर के हरिहर पंडे के हाथ था। सेठ के लड़के को लड़का नहीं हो रहा था। इसलिए भगवती विन्ध्यवासिनी की आराधना वह करवा रहा था। हरिहर पंडा से जयनाथ का पहले से ही परिचय था। खत लिखकर उसने जयनाथ को इस वार बुलाया था। शर्त यही थी कि अपनी दक्षिणा में से पाँच रुपया पंडे को देना पड़ेगा। सभी से पाँच-पाँच उसने लिए थे। सेठ से एकमुश्त पाँच सौ लिया था।

दीवाली के बाद जयनाथ प्रयाग चले गए। वहाँ बेतिया की महारानी रहती थी। पागल करार देकर उसकी रियासत सरकार ने ले ली थी। सालाना डेढ़ लाख रुपया उसे खर्च के लिए मिलता था। इलाहाबाद में एक बड़ा-सा बँगला लेकर अपने अमले और नौकर-चाकर के साथ महारानी रहती थी।

बेतिया की महारानी के यहाँ पूजा-पाठ, अनुष्ठान, जप और ध्यान का कुछ न कुछ सिलसिला लगा ही रहता। रुद्रधर मिश्र पुजारी के तौर पर रानी के यहाँ रहते थे। इस बार विजयादशमी के दिन महारानी भगवती का दर्शन करने विन्ध्याचल गईं तो मिश्र जी भी साथ थे। वहीं जयनाथ का मिश्र से परिचय हुआ और वही परिचय जयनाथ को प्रयाग खींच लाया। एक मास महामृत्युञ्जय का जप करके चालीस रुपया दक्षिणा पाई। भोजन का प्रवन्ध तो, खैर, अलग से था ही।

प्रयाग से जयनाथ काशी आ गए।

काशी बहुत ही विलक्षण और बड़ा ही विचित्र स्थान है। ऐसा लगता है, मानो हिन्दुत्व और भारतीयता के सारे गुण और सारे दुर्गुण यहाँ बाबा विश्वनाथ की शरण में दुबके पड़े हैं। इससे पहले भी जयनाथ दो बार काशी आ चुके थे। बनैली के राजा पद्मानन्दसिंह की रानी पद्मावती ने नेपाली खपड़ा मुहल्ले में तारा भगवती का एक मन्दिर बनवाया। भोग-राग के लिए लाख रुपये की तहसील भगवती के नाम ट्रस्ट कर गई। गरीब विद्यार्थी और काशीवास की इच्छा से आनेवाले बूढ़े पचासों की तादाद में वहाँ नित्य भोजन पाते। परन्तु यह सुविधा केवल मैथिल ब्राह्मणों के ही लिए थी। मन्दिर के मैनेजर से जयनाथ की दूर की रिश्तेदारी की लपेट थी। इसलिए चाहे जितने दिन काशी-वासी बनकर वह तारा भगवती का प्रसाद पा सकते थे। फिर भी होली तक ही रहे। साढ़े तीन महीने के इस काशीवास की स्मृतियाँ जयनाथ को जीवन-भर न भूलेंगी। यह अनुताप कि

शिक्षित नहीं वना, उनके हृदय में काशी रहते समय और तीव्र, और भी असह्य हो उठा। वड़े-वड़े पंडितों की गंगा में तख्त पर वैठे और त्रिपुंड किये जप में लीन देखते तो जयनाथ सोचने लगते—यह अगर पच्छिम की ओर निकल जायँ, तो सौ-सौ रुपये का मासिक वेतन पाएँ। परन्तु विद्या भी विजया की तरह एक मादक वस्तु है। तभी तो पन्द्रह-पन्द्रह, वीस-वीस रुपये लेकर जिन्दगी-भर ये लोग काशी ही में पढ़ाते रह जाते हैं। जयनाथ को अपने क्षेत्र के महामहोपाध्याय भवनाथ मिश्र का नाम याद आया, जिन्हें लोग अयाची कहते थे। वे जीवन-भर किसी से कुछ माँगने नहीं गए। वस, अपनी कुटिया में वैठकर विद्यार्थियों को पढाते रहे।

इन वातों से रह-रहकर जयनाथ को अपनी मूर्खता खलती और आहत मन को वहलाने के लिए वह कचौड़ी गली, कुँजगली, ठठेरी वाजार, चौक और दशाश्वमेध की राह लेते। यदा-कदा परिचितों की निगाह वचाकर दालमंडी का भी चक्कर लगा आते। 'राँड़, साँड़, सीढ़ी, संन्यासी, इनसे वचे तो सेवै काशी।' सो, वेचारे जयनाथ झा आखिर उलझ ही गए। विश्वनाथ और अन्नपूर्णा की पूजा कर चुकने पर लोग ढुंढिराज पर जल चढ़ाने जाते हैं। वहाँ से दंडपाणि। दंडपाणि वाली गली में चूड़ियों की कई दुकानें हैं। एक दिन जयनाथ ने देखा कि दो विधवाएँ वहीं एक दूकान पर मैथिली वोली में चूड़ियों का मोल-भाव कर रही हैं। जयनाथ के कन्धे पर भीगी धोती थी, हाथ में लोटा था। जल चढ़ाकर आ रहे थे। अपनी मातृ-भाषा में विधवाओं को वोलते पाकर ठिठक गये। वाद में जिधर वे चलीं, वह भी उधर ही हो लिए। जाते-जाते मणिकर्णिका घाट के पास ऊपर एक गली में एक मकान के अन्दर वे घुसीं। उस मकान की दीवाल पर किसी ने गेरू से लिख दिया था—मैथिल विधवा-निवास। साहस हुआ, अन्दर गए। एक वुढ़िया नल के पास कपडा फींच रही थी। उसने देखते ही पूछा—किसे ढूँढ़ते हो?

शुभंकरपुर की एक मुसम्मात यहाँ रहती है। उससे ही मिलने आया हूँ।

वुढ़िया ने सिर हिलाकर कहा—ना, ना, शुभंकरपुर की तो कोई नहीं है यहाँ।

इतने में उन्हीं दो में से एक विधवा ने ऊपर से झाँककर देखा और पूछा—आप कहाँ के रहने वाले हैं?

शुभंकरपुर के।—जयनाथ ने कहा।

ऊपर से आवाज आई—ठहरिए, सीढ़ियों में धम्-धम् करते दो हल्के पैर नीचे उतर आए। नजदीक आकर उस विधवा ने माथे पर का कपड़ा ठीक किया और वोली—मैं परसौनी की रहनेवाली हूँ। शुभंकरपुर और परसौनी दोनों पड़ोसी हैं।

जयनाथ वरवस मुस्करा पड़े—तो, हम और आप पड़ोसी हुए।

विना किसी संकोच के चट से उस औरत ने कहा—इसमें भी क्या कुछ सन्देह है?…थोड़ा रुककर वह फिर वोली—ऊपर चलिए, हमारी कोठरी को अपनी चरण धूलि से…

जयनाथ ने टोका—प्रतिदिन सवेरे जहाँ की गलियाँ झाड़-वुहारकर साफ कर

ली जाती हों, वहाँ भला चरण-धूलि ?

धूल न सही, चरण तो पड़ेंगे !—विधवा ने कहा—और सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर चलने का संकेत किया।

चार महीने हो गए थे, जयनाथ को घर छोड़े। इतने दिनों पर नजदीक से एक स्त्री का मुँह देखकर और उस मुँह से निकली बातें सीधे अपने कानों से सुनकर उनका मन प्रसन्न हो गया।

दुतल्ले पर पहुँचकर पूरब की ओर एक छोटी कोठरी के पास वह औरत रुक गई। मुड़कर जयनाथ की ओर देखा और बोली—इस मकान का किराया अपने ही जिले के एक श्रीमान् देते हैं। हम विधवाओं पर उनकी विशेष कृपा रहती है। और, आप देखते ही हैं, इस मकान में कमरा दो ही एक हैं। तीन तल्लों में कुल मिलाकर पाँच ही सात कोठरियाँ हैं, बाकी बरंडा ही बरंडा हैं।

चारों ओर नजर घुमाकर जयनाथ ने उस मकान को देखा।

ख्याल आया—वह कौन श्रीमान् हैं, इन विधवाओं के प्रति जिनके हृदय में करुणा का यह उद्रेक हुआ है ?

कुश का आसन बिछाते हुए विधवा ने बैठने का इशारा किया और बोली—लोटा रख दीजिए और धोती दीजिए इधर। सूखते क्या देर लगेगी ?

जयनाथ ने कहा—बैठने को तो थोड़ा मैं बैठ लेता हूँ, मगर तारा मन्दिर में ठीक ग्यारह बजे भोजन की घंटी बजती है।

आसमान की ओर दृष्टि डालकर वह विधवा बोली—दस भी न बजे होंगे। तब तक यह गीली धोती क्या आप कन्धे पर ही डाले रहेंगे ?

जयनाथ ने कन्धे से उठाकर यह गीली धोती उसे थमा दी।

संसार का जयनाथ को जो थोड़ा-बहुत ज्ञान था, तद्नुसार वह विधवा उन्हें उन विधवाओं से विलक्षण मालूम हो रही थी, जिन्हें शुभंकरपुर, बड़हड़वा या कहीं और देखा था। वह चौड़े पाड़ की सफेद साड़ी पहने थी। गले में चाँदी की तीन सिकड़ियाँ झूल रही थीं। भ्रमर-कुंचित केश और खिला हुआ चेहरा देखकर ऐसा लगता था कि इस जीवन को वह उपेक्षा के योग्य नहीं समझती।

तब तक बरामदे की खूंटियों पर वह धोती डाल आई और कोठरी के अन्दर जाकर एक दोने में चार पेड़े लाकर जयनाथ के सामने रख दिए। कहा—अभी तक आपने पानी नहीं पिया होगा।

जयनाथ से 'न' कहते नहीं बना। उन्होंने अपने को समझाया—मिट्टी की ओर सभी खिचते हैं, मेरी-इसकी कोई जान-पहचान तो थी नहीं। शुभंकरपुर का नाम सुनकर इसे अपनी मातृभूमि परसौनी याद आई। पास-पड़ोस का होना ही इस खिचाव का कारण है…जयनाथ भी चार महीने से प्रवासी-जीवन बिता रहे थे। एकाएक यों पड़ोस की महिला से भेंट हो जाना कितना बड़ा सौभाग्य है ?

उनका साहस नहीं हो रहा था कि प्रथम परिचय के इन क्षणों में ही नाम, कुल, जीविका आदि पूछ लें।

पेड़ा खाकर पानी पीकर वह जब तक निवृत्त हुए, तब तक पान के दो बीड़े सामने आ गए। विधवा और मगही पान ! जयनाथ की आँखें कपार तक फैल गई ! पान खाकर उन्होंने कहा—धोती मैं आकर फिर ले जाऊँगा, अभी जाने दीजिए।

स्त्री ने निषेध-मुद्रा में हाथ उठाकर कहा—अब आठ बजे रात से पहले मैं नहीं मिलूँगी। एक खत्री के तीन बच्चे हैं। औरत उसकी पिछले साल चल बसी। उन अबोध बच्चों की मैं ही देखभाल करती हूँ।

मन ही मन जयनाथ बोले—तभी तो ! अब बात समझ में आई।

—मेरा नाम सुशीला है। धोती आपकी थोड़ी देर बाद पहुँच जाएगी, उसकी चिन्ता न करें, विधवा ने कहा।

उस समय तो जयनाथ चले आए, मगर सुशीला उनके हृदय-कमल पर मानो वज्रासन मारकर बैठ गई।

तारा मन्दिर में जयनाथ के ननिहाल की एक वृद्धा चावल फटकने का काम करती थी। अवसर पाकर सुशीला के बारे में जयनाथ ने कुछ बातें मालूम कीं। वह सचमुच परसौनी की ही रहने वाली थी। बाल-विधवा हो जाने के बाद जेठानी और ननद के दुर्व्यवहार से तंग आकर मायके में रहने लगी। वहाँ भाभी से खटपट हुई, तो भागकर काशी आ गई। पहले एक घाटिया महाराज के पल्ले पड़ी, और अब उस खत्री दूकानदार के घर की मलिकाइन बनी हुई है। खूब चुगती है, खूब छितराती है। भाई और चाचा आते हैं, तो उन्हें भी काफी दे-दिवाकर विदा करती है।···सुशीला की यह गुण-गाथा सुनकर जयनाथ ने उसके प्रति और भी आकर्षण अनुभव किया। यह तीसरे-चौथे दिन सुशीला के यहाँ पहुँचने लगे। सम्पर्क बढ़ता गया तो इससे क्या? उस विधवा ने अपने व्यक्तित्व को सदैव जयनाथ की कोरी भावुकताओं से ऊपर रखा। एक दिन, रात को वह उन्हें सिनेमा दिखाने ले गई। भागलपुर और इलाहाबाद में जयनाथ सिनेमा पच्चीसों बार देख चुके थे, लेकिन ऐसी अद्‌भुत साथिन तो उन्हें कभी नहीं मिली। एक बार पंचगंगा घाट पर बैठे-बैठे सुशीला ने कहा—बहता पानी ही धार कहलाता है। देखो, सुबह-शाम हजारों आदमी नहाने आते हैं। मगर तुम जिस जाति में, जिस समाज में पैदा हुए हो, वह जिन्दा नहीं, मुर्दा धार है, वह छाड़न है। फिर भी मिथिला की उस मिट्टी का मुझे बहुत ही मोह है। उस धनी सज्जन का नाम मैं तुम्हें नहीं बताना चाहती जिसका हृदय हम विधवाओं के प्रति करुणामय है—इतना कारुण्यमय कि तीन-तीन विवाहिताएँ और पाँच-पाँच रखेलियाँ रहते हुए भी चूड़ियों से सूनी कलाई की ओर ललचाई निगाह से देखा करता है। ताड़ी पीने वाले को तुमने अवश्य देखा होगा, मेरा भी वही हाल है। मैं प्रज्वलित अग्नि-कुण्ड हूँ, जो जितनी ही स्निग्ध समिधाएँ पाता है, उतना ही निर्धूम, उतना ही निठुर होता जाता है।

जयनाथ समझदार जरूर था, मगर सुशीला की जलन को भली-भाँति समझ सका हो, इसमें सन्देह है। वह जब आवेश में आती तो लगती सिगरेट पर सिगरेट

फूंकने ! एक दिन उसे कीमती चूड़ियाँ पहने देखकर जयनाथ दंग रह गया था और इस पर क्या कहा था सुशीला ने ? कहा यही था कि मेरे जितने मित्र बनते हैं, उतनी बार मैं चूड़ियाँ पहनती हूँ, और फोड़ती हूँ ।

पन्द्रह

पंडित कालीचरन की स्त्री और सन्नो की माँ ने अब चाची से मिलना-जुलना आरम्भ कर दिया था। और लोगों का भी रुख बदल रहा था। कर्ज, घाव का निशान और बदनामी—यह तीन ऐसी बातें हैं जो आहिस्ते-आहिस्ते मिट जाती हैं। चाची के भी कलंक को अब लोग भूलने लगे थे। और शुभंकरपुर जैसे प्रतिष्ठित गाँव में हर छः माह पर किसी न किसी ऐसी घटना का हो जाना असम्भव नहीं, जो पिछली तमाम दुर्घटनाओं पर पर्दा डाल दे।

जयदेव मिश्र एक ज्योतिषी थे। उन्होंने अपने तीन लड़कों में से दो को अंग्रेजी की उच्च शिक्षा दिलवाई थी। बड़ा लड़का हरिदेव एम० ए० में सर्वप्रथम होकर फौरन पटना कालेज का प्रोफेसर हो गया था। छोटा भवदेव एम० एस-सी० में सर्वप्रथम हो फिलहाल अनुसंधान का कोई काम कर रहा था। घर वाले उससे आगे चलकर एस० डी० ओ० और कलेक्टर हो जाने की उम्मीद रखते थे। वह स्वयं विलायत जाकर और भी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता था। बड़े की शादी हो चुकी थी और अब इसकी होने वाली थी।

पच्छिमी बंगाल के दिनाजपुर और मालदह जिले बिहार की पूर्वी सीमा से बहुत दूर नहीं हैं। आज से सैकड़ों वर्ष पहले कुछ मैथिल ब्राह्मण उधर जाकर बस गये। अब भाषा, वेश, शिक्षा आदि की दृष्टि से वे बिल्कुल बंगाली हो गए। औरतों तक ही अपने क्षेत्र की संस्कृति, सभ्यता और भाषा सीमित रह गई है। रायबहादुर व्रजबिहारी ठाकुर दिनाजपुर के रहने वाले थे। पूर्णिया में आप कलेक्टर के ओहदे पर थे। अपनी लड़की के लिए वर का पता लगाते-लगाते उनकी नजर भवदेव पर पड़ी। बात पक्की हो गई। रायबहादुर ने मान लिया कि वह या तो भवदेव को विलायत में पढ़ने का सारा खर्च देंगे या डिप्टी मजिस्ट्रेट का ओहदा दिलवा देंगे। पिता का विचार न रहने पर भी भाई तो इस विवाहवार्ता से सहमत था ही। पूर्णिया में ही भवदेव की शादी हो गई। बस, फिर क्या था ? उठा शुभंकरपुर में तूफान ! लोगों ने कहना शुरू किया—बंगाली की लड़की से जयदेव ने अपने लड़के की शादी करा दी। लड़की का बाप किरिस्तान है और अण्डा खाता है। बाल-बच्चे समेत इतवार के दिन गिरजा जाता है।···इस चर्चा ने इतना तूल पकड़ा कि चाची की कलंक-कथा उसके आगे बिल्कुल फीकी पड़ गई। समाज-पतियों ने तुलसी, ताम, गंगाजल उठाकर आपस में शपथ खायी—यदि लड़का

शादी करके आया, और बाप ने उसे अपने घर में घुसने दिया, तो जयदेव के यहाँ का अन्न-जल हममें से जो भी ग्रहण करे, वह गो मांस खाय। तीन बार सविधि उच्चारणपूर्वक यह शपथ ली गई थी—दमयन्ती के दरवाजे पर। दमयन्ती ने भी शपथ ली थी।

चैत का महीना था। एक दिन संध्याकाल पाँच इक्कों ने गाँव में प्रवेश किया और जाते-जाते जयदेव के दरवाजे पर रुक गए। पीछे-पीछे गुलाबी रंग की धोती और आसमानी रंग की कमीज पहने हैट लगाए भवदेव साइकिल पर आया। लोगों ने आंख फाड़-फाड़कर देखा। वह आकर सीधे अपने दरवाजे पर उतरा। तख्तपोश पर बैठे पिता को प्रणाम किया। सामान उतारा जा चुका था। तीन इक्कों पर सूती, ऊनी कपड़ों से भरे ट्रंक लदे थे। दो पर मिठाइयों से भरे खाँचे थे। उन मिठाइयों की खुशबू से गाँव-भर की हवा भारी-भारी हो रही थी। नथने बिचका-बिचकाकर बूढ़ियाँ कहने लगीं—हुआ भ्रष्ट! सारा गाँव इन मिठाइयों को खाकर किरिस्तान हो जायगा। सभी परिवार-पति अपने-अपने दालान पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बैठे थे। दो बातें उन्हें परेशान किए हुए थीं। एक यह कि बच्चों पर बराबर तो निगरानी रखी जा नहीं सकती। दिनाजपुर के बंगाली के यहाँ से आई हुई यह मिठाइयाँ अगर बच्चों को गुपचुप खिला दी गईं तो अन्दर ही अन्दर सारा गाँव विधर्मी के संपर्क में आ जायगा। दूसरी यह बात उन्हें परेशान कर रही थी कि जयदेव और उसके कुपुत्र भवदेव का अधिक से अधिक अपमान किस तरह से किया जा सकता है। इन दोनों बाप-बेटों को चित करने के लिए किस्म-किस्म के दाँव-पेंच सोचे जा रहे थे। बच्चों को धमकाकर कह दिया गया था कि उस दरवाजे की ओर गए तो टाँग तोड़ देंगे।

उसी रात को जयदेव ने लोगों को बुलाया कि आकर नवविवाहित भवदेव पर दूब-अक्षत डाल जायँ, आशीर्वाद दे जायँ। जबकि पचकौड़ी पाठक और घूटर झा दो को छोड़कर कोई तीसरा नहीं गया। ऐसे में आशीर्वाद देने के लिए कम से कम पाँच ब्राह्मणों का होना तो अनिवार्य है, परन्तु भवदेव का आना निश्चित तिथि से तीन दिन पहले ही हुआ, इस असावधानी से दुश्मनों को खिल्ली उड़ाने का बहुत ही बढ़िया अवसर हाथ लगा। जयदेव टिटियाकर मर गए, अपने को लगाकर भी चार से अधिक ब्राह्मणों का जुटाना पहाड़ हो गया उस दिन। चौथे सज्जन थे जयदेव के मौसरे भाई यदुनन्दन। वह पाँच-छः दिनों से यहाँ पहुनाई कर रहे थे। मछली के अंडों का बड़ा बहुत ही स्वादिष्ट होता है। यदुनन्दन ने कुछ अधिक खा लिया था। दूसरे दिन रोहू के तेल खंडों के साथ घी में भूने चिउड़े का नाश्ता किया था। अगले दिन कटहल की भाजी आवश्यकता से अधिक खा ली थी। नतीजा यह हुआ कि पेट खराब हो गया और अब दही और बेल खाकर शीतोपचार कर रहे थे। इन्हीं कारणों से पहुनाई में तीन दिन के बदले छः दिन हो गए थे!

पचकौड़ी पाठक समूचे गाँव के निर्णय को अमान्य करके भी जयदेव के यहाँ

जो आए, वह भी निःस्वार्थ नहीं था। पचकौड़ी के लड़के ने इसी साल मैट्रिक किया था और आशा थी कि हरिदेव उसे पटना ले जाकर आगे पढ़ने का कोई रास्ता पकड़ा देंगे। घूटर झा ठहरे पाक-शास्त्री। वह जयदेव की बात में इसलिए आ गए थे कि भवदेव का डिप्टी मजिस्ट्रेट और थोड़े ही दिनों बाद एस० डी० ओ० बन जाना बिल्कुल निश्चित था। सो, सरकारी अफसर के साथ रहना कम भाग्य की बात नहीं है।

गाँव वालों को अपार आनन्द हुआ, जब उन्होंने यह सुना कि वर के माथे पर दूब-अक्षत डालने के लिए जयदेव को पाँच हाथ भी न मिले।

तब भी जयदेव ने बड़ी नम्रता दिखलाई। जयनाथ भी गाँव ही में थे। भोला पंडित भी मौजूद थे। दमयन्ती थी ही। दूसरे टोले में प्रमुख थे जयनारायण झा और रमानाथ मिश्र। जयदेव ने स्वयं जा-जाकर इन पाँचों के पैर पकड़े। गिड़-गिड़ाकर कहा—जिसे आप लोग बंगाली कहते हैं, किरिस्तान कहते हैं, वह प्रवासी मैथिल है। कुल और शील सब अच्छा है। चाहें तो पंजीकार से जाँच करवा लें।

इस पर सभी ने यही कहा कि भवदेव को प्रायश्चित्त लगेगा। तुम्हारे घर-भर को प्रायश्चित्त करना होगा।

सभी घरों में मिठाइयाँ भेजी गई थीं। मगर यह बायना लोगों ने लौटा दिया। जयनाथ ने लौटाया तो नहीं, परन्तु दमयन्ती के बैल को खिला दिया। दो दिन के बाद भोला पंडित दल से फूट गए। जयदेव ने उन्हें एक जोड़ा महीन धोती देकर चाँदी के दस रुपये सुंघा दिए थे। अब क्या था, भोला पंडित ने तारा बाबा की कुटिया पर जाकर गरजना शुरू किया—अरे, मैं तो उस ब्राह्मण की सत्रह पीढ़ियाँ जानता हूँ। ब्रज-बिहारी ठाकुर के दादा, परदादा बहुत बड़े तांत्रिक थे। मुर्शिदाबाद के नवाब ने दिनाजपुर जिले के अन्दर पांच हजार बीघा लाखिराज ब्रह्मोत्तर उन्हें दिया था। यह लोग तभी से उधर बस गए।···जयदेव के घर और कोई न खाय, मगर···

आवेश में आकर भोला पंडित अपनी छाती पर आप ही मुक्कियाँ मार-मार-कर कहने लगे—मैं? यह चला मैं जयदेव के घर खाने। देखूं, कौन मेरा क्या कर लेता है?

कहते-कहते वे इतने आवेग में आ गए कि कच्छा खोलकर अपने को अर्धनग्न कर लिया। इसके बाद प्रतिद्वंद्वियों का नाम ले-लेकर बड़ा ही बीभत्स संकेत किया।

जोरों की गर्जना सुनकर आसपास के खेतों से कुछ ग्वाले जमा हो गए। उन्हें डर हुआ कि उन्हीं में से किसी की गाय या भैंस पंडित की बगिया में घुसकर कुछ नुकसान कर आई है। जब वे नजदीक आए, तब तक अविराम गर्जन के कारण भोला पंडित का गला बेसुरा हो चुका था; मानो फूटा शंख हो। कच्छा-बच्छा वे ठीक कर चुके थे।

बिरजू अहीर ने झुककर पालागन किया और नम्रता से पूछा—क्या बात है ? किस पर आप इतना गरज रहे थे ?

भोला पंडित ने थके स्वर में कहा—अरे, जयदेव का लड़का व्याह करके आया है। जानते हो न ?

हाँ, सब जानते हैं। बिरजू बोला।

भोला पंडित खिसियानी सूरत बनाकर बोले—सारा शुभंकरपुर जयदेव के ऊपर उलट पड़ा है। चाहते हैं लोग यही कि जयदेव सबकी जूतियाँ धो-धोकर पिए।...

थोड़ा-सा विश्राम पाकर भोला पंडित के गले में फिर ताकत आ गई और दायाँ हाथ उठकर चला गया मूँछ पर। मूँछ के विरले बालों को मरोड़ने की निष्फल चेष्टा ने उनके आवेश को द्विगुणित कर दिया। वे तमककर बोले—अंग्रेज बहादुर का राज है, कोई किसी को चबाकर खा जाएगा, सो नहीं होगा।

इस पर बिरजू अहीर बोला—आखिर गाँववाले चाहते क्या हैं ?

चाहेंगे क्या ?—भोला बोले—जयदेव के दिन फिरेंगे। किसी से भला यह कैसे देखा जायगा !

ब्राह्मणों के समाज पर टीका-टिप्पणी करने का अवसर पाकर बिरजू अहीर को सचमुच ही बड़ी खुशी हुई। वह बोला—जब ऐसी बात थी, तब क्यों जयदेव बाबू ने सबसे राय नहीं ले ली ? और समाज को भी अब सोचना पड़ेगा कि इस जमाने में किसी को एकघरा बनाकर छोड़ा नहीं जा सकता। हजाम अगर बाल नहीं बनाएगा तो क्या ? इस्टीसन पर दिन की गाड़ी के वक्त दस-दस हजाम दाढ़ी-बाल बनाने को तैयार बैठे रहते हैं। जाति-पाँति नहीं किसी की पूछते। अब बताओ महाराज, जिसका हजाम तुम बन्द कर दोगे, वह क्या जाकर इस्टीसन से बाल न बनवा आएगा ?

भोला ने कहा—बिरजू, अब इस गाँव में पंडित तो कोई रहा नहीं, खाली गधे भरे पड़े हैं। उनकी समझ में यह बात नहीं आती।

अभी तक तारा बाबा कुटिया में बैठे जप कर रहे थे। जप खत्म हो गया। वे बाहर निकले। देखो, भोला पंडित बिना नाथे बैलों को हाँके जा रहे हैं। गाँव का कोई भी रहस्य बाबा से छिपा नहीं था। गाँव वालों पर कभी बाबा ने अपना निर्णय थोपने की कोशिश नहीं की। फिर भी बाबा के लिए सभी के हृदय में श्रद्धा थी। उनके पास जयनाथ जैसे कामचोर, जिद्दी और रगड़ी आते थे और भोला पंडित जैसे लोलुप, अवसरवादी और काइयाँ भी आते थे। कभी-कभी जयदेव भी आते थे।

बाबा को सामने खड़े देखकर भोला पंडित और बिरजू अहीर, जो बैठ चुके थे, खड़े हो गए। बाबा ने हाथ से इशारा किया—बैठो।

एक बार और अन्दर जाकर फिर वे बाहर आए तो हाथ में एक बड़ा-सा बेल था। उसे भोला की ओर बढ़ाते हुए बाबा ने कहा—बागो जगदम्बा की पूजा के

लिए अड़हुल के लाल फूल मुन्ने दे जाया करती है, वह वेल ले जाओ, उसको देना।

भोला पंडित का गर्जन सुनकर दो-चार ग्वाले जो और आए थे, वे गरजने की वजह जानकर वापस चले गए थे। बिरजू ही था जो नजदीक आकर बैठा था। तारा बावा की यह कुटिया गाँव वालों की साझी संपत्ति थी। सुखी-दुखी, धनी-गरीब, पठित-अपठित, सभी आते थे समय पाकर। बाबा भी गाँव-भर में सबके यहाँ जाने को तैयार रहते। पर, इधर बुढ़ापे के कारण कुटिया से निकलते कम थे। कल जयदेव के यहाँ से दही, केले, मिठाइयाँ आई थीं। भगवती को भोग लगाकर और थोड़ा-सा अपने लिए रखकर बाकी बाबा ने बच्चों में बँटवा दिया।

भोला पंडित को अपने पक्ष में पाकर जयदेव निश्चिंत हो गए कि यह बुड्ढा खुद ही कई को खींच लाएगा।

और हुआ भी ऐसा ही।

सोलह

शुभंकरपुर की कुल उपजाऊ जमीन का रकवा तीन सौ बीघा था। ढाई सौ बीघा धान के खेत थे। पचास बीघा रबी और भदई के थे। इसके अलावा आमों के बाग, बाँसों के जंगल, तालाब, गोचर आदि के लिए पचास बीघा और पड़ते थे। ढाई सौ परिवारों की आबादी, खाने वाले मुँह ग्यारह सौ। साफ है कि गरीब ही अधिक थे। यह गरीब भी दो श्रेणी में बँटे थे। बाभन और गैर-बाभन। ब्राह्मणों में विद्या का खूब प्रचार था। पढ़े-लिखे लोग शहरों में फैले थे। चिट्ठियाँ और मनीआर्डर उन्हीं की बदौलत गाँव में खूब आते। सौ घर ब्राह्मणों के थे, मुश्किल से पन्द्रह घर ऐसे होंगे, जिनका शुमार महादरिद्रों में होता था। बाकी लोग खेती के अभाव में भी भर पेट खाने वालों में से थे। गाँव के नजदीक हाट लगती थी, सोमवार और गुरुवार को। धान, चावल, दाल, तेलहन, मडुआ, मकई, साग-भाजी, मछली, पान, मोटिया गमछा और चादरें—हाट के रोज शुभंकरपुर के लोग यह चीज जाकर खरीद लाते थे।

इस गाँव के ब्राह्मणों का खिला चेहरा देखकर बाहर वाले सोचते—बड़े सुखी होंगे ये लोग। काफी खेत होंगे इन लोगों के पास! मगर, असलियत यह थी कि लूट लाओ, कूट खाओ। ये लोग जवार में जब भोज खाने जाते, तो इनका साफ-सुथरा पहनावा, विनीत और भद्र वेश देखकर दूसरे गाँव वालों को भ्रम होता कि जमींदार घराने के होंगे।

इस मौजे के मालिक रायबहादुर दुर्गानन्दनसिंह बड़े जमींदार तो थे ही, साथ ही लहना-तगादा का भारी कार-बार भी चलाते थे। आसपास की पाँच कोस जमीन पर उनकी छत्रछाया थी। तीन लाख रुपये पचीसों बस्तियों के इस समुद्र में

दाँत निपोड़े पूँछ कड़ी किए मगरों की भाँति टहल-वूल रहे थे। व्याज की दर प्रति मास डेढ़ रुपये सैकड़ा थी। राजावहादुर पुराने अँगूठे को साल-साल नया करवाते जाते। सूद भी मूल वनता जाता। चक्रवृद्धि का यह क्रम राजावहादुर की शरीर वृद्धि के लिए रसायन का काम कर रहा था। कहते हैं, हवेली में नकद रुपये रखने के लिए उन्हें चहवच्चा वनाना पड़ा था। माँ के श्राद्ध में समूचे भारत के उन पंडितों की आपने सभा बुलवाई थी, जो महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित थे। प्रत्येक पंडित को दुशाला और एक-एक सौ एक-एक रुपये की विदाई दी गई थी। आने-जाने का सेकेण्ड क्लास का खर्च। सात दिनों तक पंडितों का शास्त्रार्थ चला था। मैथिल पंडितों को अपनी भूमि पर अपने पांडित्य प्रदर्शन का जो सुयोग मिला, वह अभूतपूर्व था। वाहर के पंडित विदा होते समय राजा-वहादुर को 'धर्म-दिवाकर' की गौरवपूर्ण उपाधि से सुशोभित करते गए थे। जवार के पचासों गाँव निमंत्रित किए गए थे। उन्हें पूड़ी-तरकारी से नहीं, खाजा, मुँगवा (वुँदवा), घेवर, वर्फी, पेड़ा, वालूसाही, रसगुल्ला, गुलाव जामन, जलेवा वगैरह अठारह किस्म की मिठाइयों से परितृप्त कर दिया गया। हाथी के कान जैसा वड़ा-वड़ा खाजा, फुटवाल जैसा मुँगवा था। दरअसल यह चीजें खाने की 'नहीं *तमाशे की थीं। सवके आगे वड़े पत्तलों में मिठाइयों का ढेर लगा था।* जूठन की उन मिठाइयों को जवार के शूद्रों ने कई दिन तक खाया था और आज भी उल्ल-सित होकर वे राजावहादुर का गुणगान कर रहे हैं। ब्राह्मणों को भर-भर अँजुरी वम्वइया सुपारी दी गई थी। महापात्र को हाथी मिला था।

अपने वैभव के इस विराट् प्रदर्शन से राजावहादुर को इतना आत्म-सन्तोष हुआ कि खाने-पीने में अरुचि हो गई। कोई भी चीज चित्त पर चढ़ती ही न थी। एकमात्र कन्या थी। धूम-धाम से उसकी शादी वे पहले ही कर चुके थे। स्टेट का सारा भार घर-जमाई के कन्धों पर डालकर राजावहादुर तीर्थयात्रा के लिए निकलने ही वाले थे कि सन् '३७ का वह कांग्रेसी जमाना आ धमका।

वार-वार आगे-पीछे सोचकर कांग्रेस ने जव प्रान्तों के शासन में हाथ वंटाना स्वीकार कर लिया तो जनता ने युग की ओर नई आशा से देखा। मिनिस्टरी कुवूल कर लेने पर नेताओं का उत्तरदायित्व वेहद वढ़ गया। चुनाव के समय उन्होंने जनता से वड़े-वड़े वादे किए थे।

जमींदार चुनाव में हारकर अपने अंधकारमय भविष्य की कल्पना करते हुए कछुए की भाँति दुवके पड़े थे। अन्दर ही अन्दर कुछ सोचकर अपने पैंतरे वदल डालने का उन्होंने निश्चय किया। परम्परा की दुहाई देकर कांग्रेसी मन्त्रियों को उन्होंने धमकी दी—"आपका, खादी का कुर्ता पहले हम अपने खून से तर कर देंगे, उसके वाद जाकर जमींदारी प्रथा उठा दीजिएगा।"

मन्त्रियों ने अपनी पीठ कर दी किसानों की ओर, मुँह कर दिया जमींदारों की ओर। दुनिया-भर में वदनामी फैल गई कि विहार की कांग्रेस पर जमींदारों का असर है। जवाहरलाल तक ने खुल्लम-खुल्ला यह वात कही।

किसान संगठित होने लगे। उनका नारा था—"कमाने वाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो।" संगठन की यह हवा राजाबहादुर की भी जमींदारी में पहुँची। उनकी सूदखोरी और जमींदारशाही से सारा इलाका तंग आ गया था।

हजारों बीघा जमीन वे किसानों को मनखप (कूत, मनहुन्डा) दिए हुए थे। चार मन फी बीघा से लेकर पन्द्रह मन फी बीघा तक रेट था। शुभंकरपुर के ग्वाले सत्तर-अस्सी बीघा खेत मनखप पर जोतते थे। अब वे लोग भी सुरफुराए। गाँव में से ही दो-तीन लीडर निकल आए। बलुआहा पोखर के भिंडे पर किसान-कुटी बन गई। घर-घर से मुठिया वसूल होने लगा। किसान कुटी के लिए किसी ने लोटा दिया, किसी ने थाली दी। कुम्हार ने घड़े दिए, तौला दिया, कड़ाही दी। उमानाथ की माँ ने अपना दो साल का पुराना कंबल दे दिया। उनके पास दूसरा कंबल नहीं था। रतिनाथ ने मना किया तो बोलीं—यह दस का काम है। देश का काम है। गरीबों का यज्ञ है। मेरे पास और है ही क्या, जो दूँगी।

ब्राह्मणों में इस बात को लेकर दो दल हो गए। एक दल जमींदारों की ओर था, दूसरा किसानों की ओर। जो लोग जमींदारों की ओर थे वे खूब नफे में रहे। आन्दोलन की बातें इस तरह बढ़ा-चढ़ाकर राजा-बहादुर के कानों में डाली गईं कि वे बदहवास हो गए। बढ़िया-से-बढ़िया धनहर खेत सौ या पचास रुपए फी बीघा लुटाने लगे। 'आग लगते झोपड़ी जो आवे सो हाथ।' किसान बित्ता-भर भी जमीन छोड़ने को तैयार नहीं थे। उनमें गजब का जोश था। उनके लीडर दरभंगा और पटना तक दौड़ लगा रहे थे। इस संघर्ष की ज़रा-ज़रा-सी बात भी "जनता" में विस्तारपूर्वक छपती थी। सभा, जुलूस, दफा एक सौ चवालीस, गिरफ्तारी, सजा, जेल, भूख-हड़ताल, रिहाई—यह सिलसिला किसानों को ठंडा नहीं कर सका। जयदेव ज्योतिष पढ़-लिखकर घर बैठ गए और अब तीन-तीन लायक बेटों के भाग्यवान् बाप बनकर बुढ़ापे के दरवाजे पर खड़े थे! शायद ही कोई कुकर्म उनसे छूटा हो। तरुणी विधवाओं को प्रेम-पाश में फँसाकर फिर उनकी जायदाद अपने नाम लिखवा लेना और चूसे आम की गुठली की भाँति फिर उन्हें फेंक देना; दो खेत वालों में सीमा का झगड़ा खड़ा करके मुकदमों में बझा देना और उनमें से एक को खुदका बनाकर लील जाना; सस्ते दामों में अँगूठे (हैंडनोट) खरीदकर पीछे ज्यादा-से-ज्यादा रकम चढ़ाकर उन्हें अदालत में पेश कर देना, और अपने घर में आप ही सेंध डलवाकर पड़ोसी को गिरफ्तार करवा देना—इसी रास्ते से चलकर जयदेव उस मंजिल तक पहुँचे थे, जहाँ कि चोरों का सरदार और थाने का दारोगा समान श्रद्धा-भक्ति से स्वागत पाता है। किसान-आन्दोलन से सर्वाधिक लाभ इन्हीं महाशय को पहुँचा, क्योंकि राजाबहादुर ने दबंग समझकर मनखप वाले दस बीघा खेत जयदेव को लिख दिया, सिर्फ छः सौ रुपये लेकर। मालूम होने पर किसान गुस्से के मारे पागल हो गए, मगर अन्दर के घूसखोर और ऊपर के पुरजोर कुछ किसान-सेवकों ने उल्टा-सीधा समझाकर उन्हें शान्त कर दिया। जिला किसान सभा के एक प्रमुख नेता रमापति झा परसौनी के रहने वाले थे, तीन साल तक एड़ी-

चोटी का पसीना एक करके उन्होंने राजाबहादुर के रैयतों को जगाया था। और अब उनके भी मुँह से लार टपकने लगी। चौदह बीघा जमीन मिली, बारह सौ का कर्जा माफ हो गया। शुभंकरपुर के तीन तरुण ब्राह्मण छोटी जाति वाले किसानों के अगुआ बनकर उठे थे। दो-दो बीघा खेत देकर राजाबहादुर ने उनके मुँहों में भी दही लगा दिया। इतने पर भी किसान डटे रहे। पड़ोस के एक दूसरे छोटे जमींदार ने राजाबहादुर के शुभंकरपुर वाले सारे खेत लिखा लिए। किसानों के संघर्ष को अवसरवादी नेता चौपट कर चुके थे। मुकदमा लड़ते-लड़ते उन बेचारों का बुरा हाल था। ऐसी स्थिति में पंडित कालीचरण के नौजवान लड़के ताराचरण ने बीच-बचाव करके नये जमींदार से यह मनवा लिया कि खेत किसानों की ही जोत में रहेंगे। फी बीघा ग्यारह मन के हिसाब से अनाज इसके एवज में उसे साल-साल मिलता रहेगा। हारती बाजी के समय का यह मामूली नेतृत्व किसानों की दृष्टि में ताराचरण को आगे ले आया।

किसानों के उस संघर्ष का जब इस प्रकार उपसंहार हो रहा था तब दो साल पूरे हो चुके थे और यूरोप हिटलर की चँगुल में था। कांग्रेसी मंत्रिमण्डल इस्तीफा देकर विश्राम कर रहा था। विश्राम तो क्या कर रहा था, आगामी महासंघर्ष की चर्चा में जोर से लग गया था।

सत्तरह

जयकिशोर की बदली मोतिहारी जिला स्कूल में हो गई थी। एक ही भेंट ने रतिनाथ के प्रति उनके हृदय में ममता पैदा कर दी थी। इस बार प्रथमा परीक्षा पास कर चुकने पर रत्ती ने उन्हें पत्र लिखा और साथ रहने की अपनी इच्छा प्रकट की। जवाब में जयकिशोर ने लिखा—तीन जून से हमारा स्कूल बन्द हो रहा है। तेरह जुलाई को खुलेगा। पाँच-सात दिन पहले ही तुम तरकुलवा आ जाना। साथ ही मोतिहारी आ जाएँगे।

रत्ती ने चाची को मामा का पत्र दिखाया तो वह गम्भीर हो गई। चर्खा चला रही थी। खतम हो रही पूनी के छोर पर नई पूनी रखते हुए एक बार उसने रत्ती के मुँह की ओर देख लिया। चर्खा ज्यों का त्यों चल रहा था। ज़रा देर बाद अपनी दृष्टि को तकुए पर सीमित किए हुए ही चाची बोली—मुझे क्या, अकेली भी रह लूँगी। परन्तु मेरे भैया के साथ रहकर तुम अपने बाप को न भूल जाना।

रतिनाथ ने कहा कुछ नहीं; सिर्फ गौर से चाची की ओर देखा। वह बोली—समझती हूँ, पिता के प्रति तुम्हारे हृदय में माया-ममता बहुत ही कम है। परन्तु सद्गति तो उनकी तुम्हारे ही तर्पण से होगी। ससार उन्हें खिला सकता है, पिला

सकता है, जिला सकता है, पर मरने के बाद वह उन्हें प्रेत होने से नहीं बचा सकता। यह तुम्हीं कर सकते हो।

रत्ती बकर-बकर सुन रहा था। उसे माँ याद आ रही थी। साथ ही पिता का वह कसाईपन और कुल्हाड़ी से गला काटने की चेष्टा का वह दृश्य भी याद आ रहा था···

चिन्तना की गहरी छाप रत्ती के चेहरे पर देखकर चाची ने बातचीत का सिलसिला बदल दिया। बोली—अरे! हाँ, अब मेरा सूत खादी भंडार कौन ले जाएगा!

रत्ती थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—मधुबनी जाने वालों की भी क्या कमी है? जिससे कहोगी, वही तुम्हारे सूत के लच्छे वहाँ पहुँचा देगा।

अपने बारीक सूत पर निगाह टिकाकर चाची बातचीत कर रही थीं। उन्होंने कहा—क्या-क्या ले जाओगे!

लोटा, धोती और किताब।

चाची ने मुस्कराकर कहा—और मुझे क्या इसी जंगल में छोड़ जाओगे?

अब रत्ती का मुँह खुला—सुनता हूँ, पुराने जमाने में तापसियाँ वनवासिनी होती थीं। कम से कम खाना-पीना, कम सोना। व्रत और उपवास। भक्ति और भजन। अतिथियों की सेवा। सब के प्रति ममता का भाव। यही उनकी जीवन-चर्या थी। और, चाची, तुम भी बहुत बदल गई हो। दिन-रात चर्खा चलाकर अपने लायक पैसा कमा लेती हो। तीस दिन में दस दिन तो तुम्हारे उपवास में चले जाते हैं। शरीर सूखकर काँटा हो गया है। गाँव में भूला-भटका कोई आ जाता है, तो लोग उसे इस टोले में भेज देते हैं कि उमानाथ की माँ दो मुट्ठी भात और कलछी-भर दाल तो आगन्तुक को खिला ही देंगी। बाराखड़ी मुझसे सीखकर अब तुम रामायण बाँचने लग गई हो। ऐसा लगता है कि दिन-ब-दिन तुम देवता होती चली जा रही हो।

जिस हाथ से चाची चर्खा चला रही थी, उसी हाथ से रत्ती के गाल पर हल्की चपत लगाकर बोली—दुत पगला! और हाथ फिर चर्खा चलाने लगा। बाएँ हाथ में तो पूनी थी ही।

इतने में रत्ती को पुकारता हुआ सत्तो आ गया। उसके साथ रत्ती बाहर चला गया।

चाची का जीवन सचमुच ही इधर एक विशेष प्रकार का हो गया था। रत्ती ने अभी जो कहा, उसमें थोड़ी भी अत्युक्ति नहीं थी। तीसरे साल जब वे तरकुलवा से आईं, तभी से चर्खा चला रही हैं। पचीस-तीस रुपये हर महीने इससे निकल आते हैं। सूत बेहद बारीक कातती हैं। चर्खा-संघ वाले भी कम चालाक नहीं होते। चाची जैसी कत्तिनों के सूत को कभी तो एक सौ दस नम्बर का करार देते हैं और कभी साठ का। तरीका चर्खा-संघ वालों का यह है कि पहले कुछ दिनों तक महीन सूत कातने वाली के प्रति कुछ इन्साफ का अभिनय किया, फिर सूतों के माकूल

नम्बर दिए। वाद में धीरे-धीरे नम्बर घटाते गए। झख मारकर कत्तिनों को यह सव वर्दाश्त करना पड़ता है, तभी तो चाची जैसी कत्तिनें अखिल भारतीय सूत-प्रतियोगिता में सर्वप्रथम पदक पाने पर भी इतनी कम मजदूरी पाती हैं।

चाची की समझ में यह नहीं आ रहा था कि गांधी जी के चेले इस प्रकार की वेईमानी क्यों करते हैं? फिर भी चर्खा चलाते रहने से चाची को वहुत लाभ पहुँचा है। आर्थिक समस्या हल हो गई। मन नियंत्रित हो गया। दुर्भावनाओं से छुटकारा मिला। इधर वे जयनाथ की भी ओर से तटस्थ थीं। आजकल वे अधिकतर गाँव में ही रहते हैं। वचे-खुचे खेत वेचकर महाजन वनने की धुन में कजरौटा और सादा कागज लिए वैठे रहते हैं। वादाम और खीरे के वीज डालकर तैयार की गई दूधिया भाँग आप उन्हें पिला दीजिए और पचास-पचहत्तर ले लीजिए, अँगूठे का निशान भले ही दो दिन वाद वना दीजिएगा। दादा-परदादा के जमाने के खेत वेचने का विचार रत्ती को असह्य लगा था, परन्तु चौदह साल का लड़का कर ही क्या सकता था!

एक विधवा तेलिन इन दिनों जयनाथ की प्राणवल्लभा वनी थी। चाची ने समझाया—शादी कर लो वावू, भले आदमी की जिन्दगी विताओ। सेंध लगाने की फिराक में भीतों की ओर घूरते रहनेवाला चोर क्या खाक चैन से रहेगा?

अपनी भूतपूर्व प्रेयसी की ये वातें जयनाथ को गुड़िच-सी कड़वी लगीं। उनकी सिर्फ एक ही दलील थी कि संसार मुझे क्या कहेगा? लड़का सयाना हो रहा है, शादी तो उसकी न होनी चाहिए!

इस पर चाची का कहना था कि लड़के के खा-पी लेने पर क्या तुम्हारी भी भूख-प्यास मिट जाती है? उमानाथ की उसी माँ के मुँह से यह वात सुनकर जयनाथ देवरोचित परिहास कर वैठते—और तुमने क्या अमृत पी लिया है!

चाची का चेहरा दीप्त हो उठता। क्षुद्र पुरुष के इस धृष्ट-परिहास का मुँह-तोड़ उत्तर देना अत्यन्त आवश्यक समझकर वे वोल पड़तीं, किसी भी युग में स्त्री को अमृत पीने का सुयोग नहीं मिला। पुरुष को अमृत पिलाकर स्वयं वह विषपान ही करती आई है···जाने दो, तुम यह सव क्या समझोगे!

पिछले साल इन्हीं महाशय ने उमानाथ की माँ को क्या कम परेशान किया है! दिन में तो नहीं, परन्तु रात को सोना चाची के लिए हराम हो गया था। वे रत्ती को वरावर अपने नजदीक सुलातीं, फिर भी जयनाथ नहीं मानते। खा-पी चुकने पर कहानियाँ सुनते या गप करते जव रत्ती सो जाता तो किसी न किसी वहाने जयनाथ चाची के पास आ वैठते। वे वेचारी भी सँभलकर उठ वैठतीं। उनका रोम-रोम जागरूक प्रहरी वन जाता। जयनाथ का हाथ वहकता तो चाची उसे पकड़कर आहिस्ते से हटा देतीं। वासना के उद्रेक से जयनाथ की जीभ लड़खड़ाने लगती तो ये फुर्ती से उठकर वीच आँगन में आ जातीं। ऊपर नीले आकाश में नक्षत्रों का मृदु मधुर आलोक उस समय चाची को आकर्पित नहीं करता। उनका सारा ध्यान रुग्ण हृदय वाले अभागे जयनाथ पर केन्द्रित रहता।

मन्मथ का यह नृत्य देर तक देखते रहना उन्हें जयनाथ के प्रति अन्याय प्रतीत होता। वे दौड़कर पीढ़ा ले आतीं और उस पर जयनाथ को बैठा देतीं। कुएँ का ठण्डा पानी घड़े में मौजूद रहता ही। चाची फुर्ती से घड़ा उठा लातीं और जयनाथ के माथे पर धीरे-धीरे ठंडा पानी ढालने लगतीं। आपत्ति करने पर कहतीं—नहीं, धो लो। फिर देखा जाएगा। परन्तु पन्द्रह मिनट तक शीतल जल के इस अभिषेक से जयनाथ स्वस्थ हो जाते। चाची धोती लाकर पहना देतीं।

चलो सो रहो—जयनाथ का हाथ पकड़े चाची उन्हें बिस्तरे पर लिटा आतीं। जब वे लेट जाते तो तेल और पानी मिलाकर तलवे रगड़ने लगतीं। इस तरह उन्हें सुलाकर तब रत्ती के पास आतीं और सो रहतीं।

इसी प्रकार वह अपने को जयनाथ से बचाती रही हैं। तैंतीस साल के इस विधुर देवर के प्रति उनका वही भाव रहता है जो कि एक समझदार माँ का अपने बीमार बालक के प्रति रहता है। वे उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखती थीं। खेत भी जयनाथ ने अपने मन से बेचा था। उनसे पूछते तो जरूर मना करतीं। रत्ती के सम्बन्ध में चाची उतनी चिन्तित नहीं रहती थीं, जितनी कि जयनाथ के सम्बन्ध में। उस तेलिन से जयनाथ का सम्पर्क जो इधर स्थापित हो गया, उसका पता चाची को कई महीने बाद ही लग सका। यह समझकर कि यों भी भला गाँव में इनका मन लगा रहे, उन्होंने इस बारे में जयनाथ से कभी कुछ कहा नहीं।

अब चाची आत्मलीन होने लगी थीं। इसीलिए रत्ती का मोतिहारी जाना उन्होंने इतनी आसानी से मंजूर कर लिया।

मर्दों में से एक ही था कि जिससे इन दिनों चाची की घनिष्ठता थी। वह था ताराचरण। किसान-आन्दोलन के आरम्भ में ही उसे अखबार पढ़ने की चाट लगी और अब वह दैनिक 'आज' का नियमित ग्राहक एवं समझदार पाठक हो गया था। किसान-सभा के नाम पर चाची ने कई बार करके थोड़ा-थोड़ा चन्दा दिया था। गरीबों के स्वराज और धनिकों के स्वराज में आकाश-पाताल का अन्तर है, यह बात चाची के हृदय में ताराचरण ने भली-भाँति बैठा दी थी। ताराचरण दूसरे-तीसरे दिन आकर चाची को देश और दुनिया के हाल बताया करता। पर्व-त्योहार के दिन वे न्योता देकर उसे ही खिलाया करतीं।

अठारह

उमानाथ भागलपुर से कलकत्ता चला गया था। खूब मन लगाकर पढ़ने पर भी भागलपुर में जब वह प्रथमा पास नहीं कर सका, तो विशाल और कोलाहलपूर्ण

कर्म-क्षेत्र में अपना उचित स्थान प्राप्त करने की नीयत से कालीजी की छत्रछाया में उसने प्रवेश किया। थोड़े दिनों तक इधर-उधर धक्के खा लेने के बाद पान की एक दुकान पर सुपारी काटने का काम पा गया। दस घंटा काम। पन्द्रह रुपये की माहवारी। शुभंकरपुर के वैदिक अच्युतानन्द दिन-भर घास की तरह पान कचरते रहते। हरीसन रोड और अपर चितपुर रोड का जहाँ क्रास हुआ है, उसी नुक्कड़ पर पान की वह दूकान थी जहाँ से वैदिक जी पान लिया करते। इस दूकान के तमोली लोग दरभंगे के ही रहने वाले थे। कलकत्ते में लाखों विहारी हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के भी हजारों होंगे। उन्हें बंगला पान नहीं सुहाता, मगही और देशी पान ही उन्हें रुचते हैं। इसीलिए इधर के सैकड़ों तमोली कलकत्ते में पान की दूकान करते हैं। वह चलती भी खूब हैं। उस नुक्कड़ वाली दूकान के मालिक ने वैदिक जी से पुराने नौकर के भाग जाने का जिक्र किया तो अगले दिन ही वह उमानाथ को भरती करा गए। हाँ, कमीशन के तौर पर पहले मास के वेतन में से पाँच रुपया देने की बात उन्होंने उमानाथ से मनवा ली थी। इन बातों को वैदिक जी वेद-पाठ के अन्दर ही समझते थे। नये आगन्तुकों की पहली कमाई में से इस तरह कुछ न कुछ ले लेना अच्युतानन्द जी की अच्युत नीति थी।

उमानाथ दसों घंटा अविराम गति से सरौता चलाता हो, ऐसी बात नहीं थी। पान की दूकानों का तरीका यह है कि सुपारी के छोटे-छोटे टुकड़े करके आज शाम को उसे पानी में डाल देंगे और कल सुबह दूकान खोलने पर उसे निकाल लेंगे या थोड़ा-थोड़ा करके जरूरत के मुताबिक दिन-भर निकालते रहेंगे। उमानाथ को दिन-भर के लायक सुपारी काटने में छः घण्टे लगते थे। उसके बाद मौज थी। लेकिन दूकान पर मौजूद रहना लाजिमी था। कुल मिलाकर वहाँ चार छोकरे थे। मालिक स्वयं शाम को आकर डेढ़ घंटा, दो घंटा बैठा करता। सारा काम नौकर ही करते। उनमें से एक का काम था पीतल-मढ़ी चौकी को, कत्थे की फुलही गड़वी को, जर्मन सिल्वर की दो मझोली बाल्टियों को, पान कतरने वाली छुरियों को माँज-मूँजकर झकाझक रखना। एक का काम था सुपारी काटना, कत्था फुलाना, स्टॉक से लेकर छोटे डिब्बों में जरदा, मसाला, इलायची भर देना। दो का काम था उस पीतलमढ़ी चौकी के दोनों ओर बैठकर फुर्ती से गाहकों को पान लगा-लगाकर देते जाना।

चारों नौकर एक ही उम्र के थे। अपना देहाती दायरा छोड़कर वे बाहर आ गए थे। कलकत्ते की हवा उन्हें लग रही थी। आपस में अनबन का कोई कारण नहीं था। इसीलिए किसी व्यक्तिगत काम के लिए उनमें से एक भी अपनी ड्यूटी छोड़कर कहीं जाता तो बाकी तीनों उसका काम सँभाल लेते। उमानाथ चार महीने उस दूकान पर रहा। छोड़ते समय वह बीस पा रहा था। लड़ाई छिड़ जाने पर भी खाने-पीने की चीजें सस्ती थीं। मन्दिर स्ट्रीट के एक मकान में डेरा था। पाँच-छः जने थे, मिल-जुलकर रसोई कर लेते। खाने का खर्च छः से अधिक नहीं पड़ता। साबुन, तेल, हजामत वगैरह के लिए दो रुपये काफी थे। बारह रुपया

मन्मथ का यह नृत्य देर तक देखते रहना उन्हें जयनाथ के प्रति अन्याय प्रतीत होता। वे दौड़कर पीढ़ा ले आतीं और उस पर जयनाथ को बैठा देतीं। कुएँ का ठण्डा पानी घड़े में मौजूद रहता ही। चाची फुर्ती से घड़ा उठा लातीं और जयनाथ के माथे पर धीरे-धीरे ठंडा पानी ढालने लगतीं। आपत्ति करने पर कहतीं—नहीं, धो लो। फिर देखा जाएगा। परन्तु पन्द्रह मिनट तक शीतल जल के इस अभिषेक से जयनाथ स्वस्थ हो जाते। चाची धोती लाकर पहना देतीं।

चलो सो रहो—जयनाथ का हाथ पकड़े चाची उन्हें बिस्तरे पर लिटा आतीं। जब वे लेट जाते तो तेल और पानी मिलाकर तलवे रगड़ने लगतीं। इस तरह उन्हें सुलाकर तब रत्ती के पास आतीं और सो रहतीं।

इसी प्रकार वह अपने को जयनाथ से बचाती रही हैं। तैंतीस साल के इस विधुर देवर के प्रति उनका वही भाव रहता है जो कि एक समझदार माँ का अपने बीमार बालक के प्रति रहता है। वे उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखती थीं। खेत भी जयनाथ ने अपने मन से बेचा था। उनसे पूछते तो जरूर मना करतीं। रत्ती के सम्बन्ध में चाची उतनी चिन्तित नहीं रहती थीं, जितनी कि जयनाथ के सम्बन्ध में। उस तेलिन से जयनाथ का सम्पर्क जो इधर स्थापित हो गया, उसका पता चाची को कई महीने बाद ही लग सका। यह समझकर कि यों भी भला गाँव में इनका मन लगा रहे, उन्होंने इस बारे में जयनाथ से कभी कुछ कहा नहीं।

अब चाची आत्मलीन होने लगी थीं। इसीलिए रत्ती का मोतिहारी जाना उन्होंने इतनी आसानी से मंजूर कर लिया।

मर्दों में से एक ही था कि जिससे इन दिनों चाची की घनिष्ठता थी। वह था ताराचरण। किसान-आन्दोलन के आरम्भ में ही उसे अखबार पढ़ने की चाट लगी और अब वह दैनिक 'आज' का नियमित ग्राहक एवं समझदार पाठक हो गया था। किसान-सभा के नाम पर चाची ने कई बार करके थोड़ा-थोड़ा चन्दा दिया था। गरीबों के स्वराज और धनिकों के स्वराज में आकाश-पाताल का अन्तर है, यह बात चाची के हृदय में ताराचरण ने भली-भाँति बैठा दी थी। ताराचरण दूसरे-तीसरे दिन आकर चाची को देश और दुनिया के हाल बताया करता। पर्व-त्योहार के दिन वे न्योता देकर उसे ही खिलाया करतीं।

अठारह

उमानाथ भागलपुर से कलकत्ता चला गया था। खूब मन लगाकर पढ़ने पर भी भागलपुर में जब वह प्रथमा पास नहीं कर सका, तो विशाल और कोलाहलपूर्ण

कर्म-क्षेत्र में अपना उचित स्थान प्राप्त करने की नीयत से कालीजी की छत्रछाया में उसने प्रवेश किया। थोड़े दिनों तक इधर-उधर धक्के खा लेने के बाद पान की एक दुकान पर सुपारी काटने का काम पा गया। दस घंटा काम। पन्द्रह रुपये की माहवारी। शुभंकरपुर के वैदिक अच्युतानन्द दिन-भर घास की तरह पान कचरते रहते। हरीसन रोड और अपर चितपुर रोड का जहाँ क्रास हुआ है, उसी नुक्कड़ पर पान की वह दूकान थी जहाँ से वैदिक जी पान लिया करते। इस दूकान के तमोली लोग दरभंगे के ही रहने वाले थे। कलकत्ते में लाखों बिहारी हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के भी हजारों होंगे। उन्हें बंगला पान नहीं सुहाता, मगही और देशी पान ही उन्हें रुचते हैं। इसीलिए इधर के सैकड़ों तमोली कलकत्ते में पान की दूकान करते हैं। वह चलती भी खूब हैं। उस नुक्कड़ वाली दूकान के मालिक ने वैदिक जी से पुराने नौकर के भाग जाने का जिक्र किया तो अगले दिन ही वह उमानाथ को भरती करा गए। हाँ, कमीशन के तौर पर पहले मास के वेतन में से पाँच रुपया देने की बात उन्होंने उमानाथ से मनवा ली थी। इन बातों को वैदिक जी वेद-पाठ के अन्दर ही समझते थे। नये आगन्तुकों की पहली कमाई में से इस तरह कुछ न कुछ ले लेना अच्युतानन्द जी की अच्युत नीति थी।

उमानाथ दसों घंटा अविराम गति से सरौता चलाता हो, ऐसी बात नहीं थी। पान की दूकानों का तरीका यह है कि सुपारी के छोटे-छोटे टुकड़े करके आज शाम को उसे पानी में डाल देंगे और कल सुबह दूकान खोलने पर उसे निकाल लेंगे या थोड़ा-थोड़ा करके जरूरत के मुताबिक दिन-भर निकालते रहेंगे। उमानाथ को दिन-भर के लायक सुपारी काटने में छः घण्टे लगते थे। उसके बाद मौज थी। लेकिन दूकान पर मौजूद रहना लाजिमी था। कुल मिलाकर वहाँ चार छोकरे थे। मालिक स्वयं शाम को आकर डेढ़ घंटा, दो घंटा बैठा करता। सारा काम नौकर ही करते। उनमें से एक का काम था पीतल-पढ़ी चौकी को, कत्थे की फुलही गड़वी को, जर्मन सिल्वर की दो मझोली बाल्टियों को, पान कतरने वाली छुरियों को मांज-मूंजकर झकाझक रखना। एक का काम था सुपारी काटना, कत्था फुलाना, स्टॉक से लेकर छोटे डिब्बों में जरदा, मसाला, इलायची भर देना। दो का काम था उस पीतलमढ़ी चौकी के दोनों ओर बैठकर फुर्ती से गाहकों को पान लगा-लगाकर देते जाना।

चारों नौकर एक ही उम्र के थे। अपना देहाती दायरा छोड़कर वे बाहर आ गए थे। कलकत्ते की हवा उन्हें लग रही थी। आपस में अनबन का कोई कारण नहीं था। इसीलिए किसी व्यक्तिगत काम के लिए उनमें से एक भी अपनी ड्यूटी छोड़कर कहीं जाता तो बाकी तीनों उसका काम सँभाल लेते। उमानाथ चार महीने उस दूकान पर रहा। छोड़ते समय वह बीस पा रहा था। लड़ाई छिड़ जाने पर भी खाने-पीने की चीजें सस्ती थीं। मन्दिर स्ट्रीट के एक मकान में डेरा था। पाँच-छः जने थे, मिल-जुलकर रसोई कर लेते। खाने का खर्च छः से अधिक नहीं पड़ता। साबुन, तेल, हजामत वगैरह के लिए दो रुपये काफी थे। बारह रुपया

प्रतिमास वचाए जाने में उमानाथ को किसी प्रकार की दिक्कत महसूस नहीं होती। माँ को खत या रुपया वह कुछ नहीं भेजता। उन्नीस वर्ष का हो रहा था और जाने किसने उसके दिल में यह बात बैठा दी थी कि चार-पाँच सौ रुपया जमा नहीं करोगे, तो शादी नहीं होगी। वचे हुए रुपये वह डाकखाने में जमा करने लगा।

उसके मेस में खाने वाले सभी प्राय: दरभंगा जिले के ही थे। सव के सव ट्राम कम्पनी के मुलाजिम थे। दो ड्राइवर, तीन कंडक्टर। उन्हीं लोगों की बदौलत उमानाथ को ट्राम कम्पनी में ड्राइवर का काम मिल गया। ऊपर बिजली के तार का सहारा लेकर नीचे सड़क से सटी पटरियों पर दौड़ने वाली यह छोटी-छोटी गाड़ियाँ कलकत्ता के नागरिक जीवन में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। ट्राम-गाडियाँ बिजली के चार-चार, पाँच-पाँच खम्भों की दूरी के फासले पर खड़ी होती जाती हैं। एक ओर से आप चढ़िए, दूसरी तरफ से उतर जाइए। कंडक्टर आकर टिकट के लिए पूछेगा। इकन्नी का टिकट ले लीजिए, चार-चार मील चले जाइए। सबसे सस्ती सुविधाजनक सवारी है यह !

पाँच-छः दिन में ही उमानाथ ने ड्राइव करना सीख लिया। ट्राम के ड्राइवर को मोटर के ड्राइवर की तरह लम्बी ट्रेनिंग नहीं दी जाती। रोकना, चालू करना, दाएँ-वाएँ मोड़ना, पीछे खिसकाना, और राहगीरों की भीड़-भाड़ में से गाड़ी को वचाकर ले जाना—यही सव उसे सिखलाया जाता है। दस-पन्द्रह दिन पुराने ड्राइवर के पास खड़े रहकर उसे गाड़ी चलाने दी जाती है। बाद में धोखाधड़ी मिट जाने पर वह अकेले ही गाड़ी चलाने लगता है। ट्राम में इंजिन तो होता नहीं, होती है बिजली ! दो डिब्बों की एक गाड़ी बनती है। अगले डिब्बे के सिरे से सम्बन्धित एक बड़ा-सा डंडा ऊपर की ओर उठा रहता है। उसका ऊपरी छोर सड़क के बीचों-बीच फैले चले गए तार को छूता रहता है। ड्राइवर के स्विच दवाते ही ऊपर तार से संपर्कित डंडा सर-सर-सर-सर सरकने लगता है और गाड़ी चल पड़ती है। गाड़ी को रोकना होता है तो स्विच को ऊपर कर देते हैं। इसी तरह चलाने, ठहराने, मोड़ने, तेज करने वगैरह की स्विचें ड्राइवर के सामने होती हैं। ट्राम का फुर्ती से सरकने लगना, फुर्ती से खड़ा हो जाना और फिर चल पड़ना, अनभ्यस्त और अपरिचित लोगों को अजीब-सा लगता है। चढ़ते-उतरते समय दस-पाँच दिनों तक उसके पैर लड़खड़ाते हैं।

बत्तीस रुपये पर उमानाथ बहाल हुआ। फिर भी अपना खर्चा उसने नहीं बढ़ाया। उसके पिता कुछ जमीन गिरवी रख गए थे। पचहत्तर रुपये में पन्द्रह कट्ठा जमीन फंसी थी। वेचने पर आजकल छः सौ रुपये मिलते। उमानाथ ने भोला पंडित के नाम छिहत्तर रुपया आठ आना मनीआर्डर भेजा। समूचा गाँव दंग रह गया। किसी ने कहा—यह है वाप का वेटा। किसी ने कहा—उमानाथ की माँ के दिन फिर गए। भोला पंडित इसीलिए फूलकर कुप्पा हो गए कि मनीआर्डर जयनाथ के नाम से न आकर उनके नाम आया। लम्बी साँस खींचकर

जयनाथ ने कहा—बाबा विश्वनाथ मेरे भतीजे पर इसी प्रकार दया-दृष्टि रखें। रत्ती को बड़ी खुशी हुई। चाची ने सुना तो उसकी आँखों में आँसू छलक आए।

पति के देहान्त के बाद न जाने कितनी मुसीबतें झेलकर चाची ने अपने लड़के को पाला-पोसा, बड़ा किया था। आज उमानाथ इस योग्य हुआ है कि बाप के फँसाए खेत को छुड़ा रहा है। जमीन के इस उद्धार को चाची ने भगीरथ द्वारा उद्धृत तथा अवतरित गंगा से कम महत्त्व नहीं दिया। अगले ही दिन उन्होंने रति से खत लिखवाया—

स्वस्ति सकल मंगलाऽलय चिरंजीवी श्री बबुआ उमानाथ को गौरी का शुभ आशीर्वाद पहुँचे। अत्र कुशलं तत्रास्तु।

आगे हाल-समाचार यह है कि तुम्हारा भेजा हुआ मनीआर्डर बागो के बाप के नाम आया। खेत उन्होंने छोड़ दिया। बेटा, दो साल से तुम घर नहीं आए। कसूर मेरा ही है, मगर इस तरह सन्यासी बनने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा। सौराठ की विवाह-सभा के दिन नजदीक आ गए। मुझे कब तक यों अकेली रखोगे? देह मेरी दिन-प्रतिदिन दुर्बल होती जा रही है। तुम ब्याह करते, बहुरिया आती। फिर मैं निश्चिन्त होकर जरा काशी-प्रयाग हो आती। इति।

ज्येष्ठ सुदि पंचमी बुद्ध सन् 1346 साल।

इस खत का जवाब डाकिया नहीं लाया, लाए अच्युतानन्द वैदिक। खचिया-भर प्रशंसा करते हुए उमानाथ का जो सम्वाद वैदिक जी ने चाची को दिया, उसका सारांश इतना ही था कि वह अभी रुपया जमा कर रहा है। पाँच सौ हो जाएगा, तब आकर शादी करेगा।

चाची मुट्ठी बाँधकर खर्च करतीं, तो उनके लिए भी सौ-दो सौ बचा ले जाना आसान था, परन्तु इधर उन्हें 'देवाय-धर्माय' का चस्का पड़ गया था। रत्ती को वह अपने ही आश्रम में रखती थीं। दैनिक 'आज' मंगाने के लिए ताराचरण को प्रति-वर्ष पाँच रुपया देने का वादा किया था, इस साल का दे चुकी थीं। इसके अलावा धीरे-धीरे कई बरतन चाची ने खरीद लिए थे। फूल की दो थालियाँ ली थीं, दो लोटे, दो गिलास। अतिथि-अभ्यागत आते तो पहले दरी या कम्बल न रहने के कारण लेटने-पड़ने के लिए उन्हें खजूर की चटाई देते समय चाची को कचोट होता। अब उन्होंने काली भेड़ की ऊन के दो कम्बल मंगवा लिए थे।

यह सब उमानाथ की भावी गृहस्थी का पूर्वाभास नहीं तो और क्या था?

और, अब रतिनाथ जा रहा था मोतिहारी। खर्च में कमी होने जा रही थी। फिर भी चाची उमानाथ के विचार से अप्रसन्न नहीं थीं। ब्याह मुफ्त में होता नहीं, और उसके बाद तो खर्च का ताँता ही बंध जाता है। पाँच सौ तो क्या, हजार भी हो तो कम होगा।

रतिनाथ चौदहवाँ साल पार कर पन्द्रहवें में पैर रख रहा था। बड़हड़वा में पुरोहित की आठ साल की एक लड़की थी। चार सौ पर पिछले साल ही जयनाथ सौदा पटा चुके थे। उन्होंने चाची के सामने एक दिन यह चर्चा छेड़ दी—रत्ती का

व्याह बड़हड़वा में कराने का निश्चय कर चुका हूँ। कन्या क्या है, साक्षात् गंधर्विणी है। आठ वर्ष की लड़की यों भी 'गौरी' कहलाती है। चार सौ रुपये मिलेंगे। पढ़ने का खर्च देगा। जब चाहोगी गौना कराकर वहू ला देंगे…।

सुनते ही चाची के वदन में आग लग गई। जयनाथ को फटकारती हुई बोलीं—तुम भी धन्य हो! महाजन बनने की धुन में यही सब सोचा करते हो? इस तरह मैं तुम्हें रत्ती का गला नहीं काटने दूंगी। तुम्हारा वह खिलौना मात्र है, परन्तु मेरा? मेरा वह कलेजा है। उसके साथ खिलवाड़ मत करो।

यह वात बतलाकर बाप के प्रति रत्ती की घृणा को और अधिक तीव्र होने देना चाची को अभीष्ट नहीं था। इसी से रत्ती को उस अष्टवर्षीय गौरी के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चला। जरूरत भी क्या थी, वह तो मोतिहारी जाने की भावनाओं में मग्न हो रहा था।

रत्ती के मोतिहारी जाने में जयनाथ को भला आपत्ति ही क्या हो सकती थी? अब वह अलग होकर दूर जा रहा था। जयनाथ ने जीवन में पहली बार सन्तान के प्रति ममता का अनुभव किया। वह उसे दरभंगा ले गए, पैर नपवाकर जूता खरीद दिया। देह नपवाकर दर्जी से कमीज सिलवा दी। आज तक न उसने कभी जूता पहना था, न देह की नाप लेकर कटाई-सिलाई कमीज पहनी थी। अपने प्रति पिता का यह वात्सल्य देखकर भीतर ही भीतर उस मातृहीन किशोर का हृदय भर उठा।

जाने का दिन आ पहुँचा। शौच आदि से निबटकर रतिनाथ नहा आया और भक्ति से भगवान की पूजा की, सोचा—चिरपरिचित यह शालिग्राम, यह नर्मदेश्वर, अब मुझे कहाँ मिलेंगे?

पूजा कर चुकने पर वह खाने बैठा। दाल-भात, परवल की तरकारी, अचार, आम और दही। चाची पंखा झलने बैठी, दस-पाँच कौर मुंह में डालकर वह उठ गया। खाया नहीं गया उससे।

कमीज पहनी। कुलदेवता (उग्रतारा) को जाकर प्रणाम किया और छोटी-सी गठरी लेकर बाहर निकला। चाची को प्रणाम करते समय उसकी आँखें तर थीं। आशीर्वाद देते हुए उनका भी गला भर आया। गठरी जयनाथ ने लड़के के हाथ से ले ली। गांव से बाहर छोड़ आने को वह साथ हो गए।

नये जूतों ने पैर काट खाये थे। उन्हें बाएँ हाथ की उंगलियों से उठाकर जब रतिनाथ आँगन से बाहर निकला; तो पीछे मुड़कर एक बार उसने घिवही आम के जाने-पहचाने पेड़ की ओर देखा। घर के पिछवाड़े की ओर बाँस का जंगल था, रत्ती ने उस ओर भी देखा।

आज अपने टोल-पड़ोस की एक-एक वस्तु सचेतन प्रतीत हो रही थी। लगा कि सब उसे मना कर रहे हैं—मत जाओ, मत जाओ, मत जाओ! तालाब बुड्ढा पीपल, मौलसिरी का वह बौना पेड़, वे खेत, वे बाग, वे झाड़ियाँ, वे झुरमुट, वह बलुआहा—उन्होंने मानो चिल्ला-चिल्लाकर रतिनाथ को मना करना शुरू किया—

कहाँ जाओगे, लौट चलो, लौट चलो, लौट चलो !

नई जगह, नये लोग-वाग, नई वस्तुएँ—यह भला किसे न अच्छा लगेगा ! रतिनाथ भी उल्लास और उमंग से भरा हुआ मोतिहारी के लिए विदा होना चाहता था। मगर छुटपन से ही जिनके वीच वह रहता आया था, जिन्हें देखता आया था, जिनकी रग-रग से परिचित था, उन व्यक्तियों, पशु-पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों और यहाँ तक कि चल-अचल सभी वस्तुओं से विछुड़ते समय उसका हृदय रो रहा था। पैर उसके उठ नहीं रहे थे।

गाँव से वाहर आने पर उसने अपने पिता के दोनों पैर छू लिए। जयनाथ की आँखें छलछला आईं ! इससे पहले रतिनाथ ने अपने वाप की आँखें कभी गीली नहीं देखी थीं। ऊपरी दाँत से निचला होंठ दवाकर ही वह अपने को रोने से रोक सका।

पिता के हाथ से गठरी लेकर जव रत्ती चला तो उन्होंने पाँच रुपये का एक नोट उसकी जेव में डाल दिया और गुपचाप लौट गए।

उन्नीस

उस साल आम विल्कुल नहीं फले थे। शादी-व्याह, मूड़न-छेदन, उपनयन—संस्कारों और उत्सवों की धूम थी। शुभंकरपुर की ही वात लीजिए। वहाँ वाहर के नौ दूल्हे व्याह करने आए थे। सात घरों में जनेउआ हुआ था। मूड़न-छेदन भी पाँच-सात वच्चों के हुए थे। गौना करके चार वहुएँ आई थीं।

वागो का भी व्याह हुआ था, इसी आषाढ़ में। रामपुरवाली की वात रह गई। वर अच्छा मिला। काशी का साहित्य-शास्त्री। वीस साल की उम्र, गेहुँआ रंग, लम्वा चेहरा, नुकीली नाक, गोल-गोल आँखें, चौड़ा कपार, वड़े-वड़े कान। सिर के वाल पतले और मुलायम थे। लड़के का वाप मुजफ्फरपुर में होटल चलाता था। छोटा भाई मिडिल स्कूल में पढ़ रहा था। यह लोग हरिपुर के रहने वाले थे। शुभंकरपुर के दस कोस उत्तर वेनीपट्टी थाने में यह गाँव पड़ता था। भूमिहारों की वस्ती थी। मैथिल दो ही चार घर थे।

रामपुरवाली चाची के मायके के लोग न पड़े होते तो इतना अच्छा काम होता ! होता यही कि भोला पंडित अपनी टेव के मुताविक कहीं से कोई ठूंठ पीपल उखाड़ लाते और जिन्दगी-भर वागो उसकी परिक्रमा करती रहती।

अव उमानाथ की माँ समाज से वहिष्कृत न रह गई थी। उस कुकांड को लोग अव भूलते जा रहे थे। इधर गाँव में एक तीसरा ही भूचाल उठा था। जयनारायण झा के छोटे भाई की शादी जयनगर के पास भुतही में हुई थी। जयनारायण शुभंकरपुर के उन चार-पांच भाग्यशालियों में थे, जो समाज के स्तम्भ कहलाते

हैं। और, जयनारायण के पास तो कुलीनता भी थी, धन भी था। एक मौजे में दो आने की जमींदारी पड़ती थी। बैठक के सामने चार बखार थे। काठ के लम्बे नाँद में सानी-भूसा खाते हुए आठ तंदुरुस्त बैल उनकी भरी-पूरी गृहस्थी की गवाही दे रहे थे। नाटे कद का हिनहिनाता हुआ भोटिया घोड़ा वैभव का ओजस्वी प्रमाण था। अपने छोटे भाई की शादी उन्होंने भुतही के जमींदार की एकमात्र कन्या से करवाई थी। सोने के टुकड़े जैसे दस बीघा खेत उस जमींदार ने अपनी लड़की के नाम लिख दिए थे। अभी कुछ दिन पहले उसकी जमींदारी के किसी दूसरे मौजे में किसान आन्दोलन ने जोर पकड़ा, रैयतों ने अपनी जोत की तीस बीघा जमीन छोड़ने से साफ इन्कार कर दिया। मालिक उसे पड़ोस के किसानों के हाथ बन्दोबस्त कर देना चाहता था। जो पच्चीसों वर्ष से उस जमीन को जोतते-बोते और फसल काटते आ रहे थे, वे लोग डट गये—इस पर हमारा हक है। रैयतों में से पाँच-सात घर ब्राह्मण के भी थे। तनातनी बढ़ी। सरकार ने एक सौ चौवालीस दफा लगाकर जमीन को लाल साफे और लम्बी लाठी की अपनी निगरानी में ले लिया। किसानों ने सत्याग्रह आरम्भ किया। मालिक को लठैत और पुलिस वाले मिल गए। ऊपर कांग्रेसी मंत्रिमंडल था, नीचे धरती माता थी। सत्याग्रही पृथ्वी-पुत्र जब पिटने लगे तो खून से तिरंगा लाल हो उठा। इस छोटे से महाभारत में दो कुर्मियों और एक ब्राह्मण की जान गई। किसानों को कुछ हद तक सफलता अवश्य मिली; परन्तु मालिक को ब्रह्महत्या का पाप लग गया। चाँदी और सोने का भस्म कई बड़े रोगों की अचूक दवा है। जमींदार बाबू ने अपना पाप धोने के लिए भागीरथी गंगा की शरण नहीं ली। कर्मकांडकेशरी वयोवृद्ध पंडित बुच्चन पाठक के आदेशानुसार मालिक बाबू ने कमला नदी में स्नान किया और वहीं एक पीपल के नीचे साधारण-सा प्रायश्चित कर लिया। प्रकट रूप से कुल दस-बारह रुपये खर्च पड़े। यह दूसरी बात है कि कर्मकांडकेशरी महाशय को दस कट्ठा बढ़िया जमीन इस सिलसिले में मिल गई।

जयनारायण के अनुज का नाम था लक्ष्मीनारायण। इस बार जब वे ससुराल से लौटे; तो गाँव गनगना उठा—ब्रह्मवध का महापाप हजम करने वाले ससुर के दामाद होकर, उसके यहाँ खा-पीकर लक्ष्मीनारायण अपने भाई की आँखों में भले ही धूल झोंकें, परन्तु शुभंकरपुर का समाज उनको माफ नहीं कर सकता। अरे राम! ब्राह्मण की हत्या करके उस महापापी ने समूचे देश को कलंकित किया है, और अब लक्ष्मीनारायण भुतही का पाप शुभंकरपुर के माथे पर लादने आए हैं! हरे! हरे!!

बात बिल्कुल दुरुस्त थी। ब्रह्महत्या महापाप है, तो महापापी से संसर्ग रखना भी पाप है। लक्ष्मीनारायण जनकपुर जाने के बहाने गाँव से निकले थे और ससुराल में चार-पाँच दिन बिताकर परसों रात दबे पैर चुपचाप घर आ गए थे। आज फिर पूरे दो दिन के बाद जो यह भूचाल उठा था इसमें अंदरूनी ज्वालामुखी का काम जयदेव ने किया था। उसने अपने चारों पट्टशिष्यों को सारी योजना समझा दी

और वे गाँव-भर में लक्ष्मीनारायण के प्रच्छन्न पाप की मुक्तघोषणा कर आए। इन चारों में जो अगुआ थे, वे और कोई नहीं, यही हमारे भोला पंडित थे। अपने मझले लड़के (भवदेव) की शादी के बाद जयदेव जयनारायण गुट द्वारा बार-बार अपमानित और तिरस्कृत हुए थे। अब बदला लेने का अच्छा सुयोग जयदेव के समक्ष स्वतः आकर उपस्थित हो गया था।

जयनारायण भी मामूली अखाड़े का पहलवान नहीं था। विरोधी दल के हमलों से वह बिल्कुल नहीं घबड़ाया। प्रायश्चित्त की तो बात ही क्या, अपने छोटे भाई पर लगाए गए अभियोग को ही उसने उड़ा दिया। कहा---जिसके बाल-बच्चे मुर्गी का अंडा और प्याज-लहसन खाते हैं, अशौच में केश नहीं कटाते, वह इतना बड़ा निर्लज्ज होगा, यह मैं नहीं जानता था। ईसाई की लड़की अपनी सीथ में सिन्दूर लगाती है, तो लगाए, परन्तु भुतही के हमारे उस कुटुम्ब ने ऐसा कौन-सा पाप किया कि जिसका पंडित लोग प्रायश्चित्त कराते! रैयतों की हुल्लड़बाजी को किसान-आन्दोलन कह देने से काम नहीं चलेगा। ब्राह्मण मरा सही, मगर गोली तो सरकार बहादुर की लगी थी। इसमें लक्ष्मीनारायण के ससुर का क्या कसूर?

फिर भी जयदेव जयनारायण के दल में से आठ-दस परिवारों को फोड़ लेने में कामयाब रहे, इसका पता तब चला जबकि जयनारायण के लड़के का उपनयन हुआ।

जयनाथ और दमयन्ती भी अब जयदेव के दल में आ गए थे। ताराचरण उधर ही रहे।

भोला पंडित दामाद की विदाई के समय घर से रूठकर दरभंगा चले गए थे, उन्हें यह पसन्द नहीं था कि जमाई की विदाई में सौ रुपये से एक पाई भी अधिक खर्च किया जाय। रामपुरवाली ने नहीं माना। तीन सौ रुपये का सामान मधुबनी से उसने मँगवाया। चार जोड़ा धोती, ओढ़ने की दो चादरें, दो तौलिया, हाफ जूता, दो जोड़ा पैंताबा, बनियाइन, कमीज, तसर का कोट, रेशम के पाग, छड़ी-छाता, बारह आने-भर सोने की अँगूठी, कम्बल, दरी, तोसक, उलैंच (बिछाने का चादर), दो तकिए, फूल का बड़ा थाल, लोटा और गिलास, दाल खाने का दो बड़ा कटोरा, छः छोटे कटोरे (भाजियों के लिए), घी और चटनी खाने की दो कटोरियाँ, इसके अलावा रसोई में काम आने वाले तमाम बरतन, पीकदान··· इतनी सारी चीजों से रामपुरवाली ने जमाई की विदाई का आयोजन किया। भोला पंडित को यह असह्य लगा। वे गाँव से टल गए।

जमाई बाबू विदा हुए, उसके साथ भार लेकर पन्द्रह भरिया गए। दही, केला, मिठाई, पान-सुपारी, मेवा-मखान, बहुत-कुछ सामान था। ऊपर लिखी चीजें तो यों ही।

दूध, दही, घी, मछली आदि खिला-पिलाकर रामपुरवाली ने दूल्हे की देह को लाल-बुन्द कर दिया था। इक्कीस रोज रहे थे वे।

रतिनाथ बागो की शादी के सात दिन बाद निकला था। अपनी बाल-सखी

के इस रूपान्तर से रत्ती को बड़ी प्रसन्नता हुई थी। चतुर्थी (सुहागरात) के बाद, अगले दिन थोड़ी देर के लिए दोनों मिले थे। किसी काम से वह चाची के यहाँ आई थी। रत्ती अपने ओसारे पर बैठा 'कन्यादान' पढ़ रहा था। प्रसंग बहुत रोचक था। नायक की सम्भावित वधू बुच्चीदाई की मुग्धताओं पर मस्त होकर रतिनाथ उस उपन्यास को सरसर पढ़े जा रहा था कि पीछे से आकर किसी ने अपने छोटे-छोटे मृदु-सुरभि हाथों से उसकी आँखें झाँप दीं। एक हाथ से उपन्यास पकड़े रहकर, दूसरे हाथ से रतिनाथ इस चोर का हाथ टटोलने लगा। लाह की चूड़ियों पर उँगलियाँ पड़ते ही वह खिलखिला उठा। बोला—धत् तेरी की ! बागो, कैसे आई ?

पीछे से हाथ हटाकर बागो सामने हो गई थी। पूछा था—अब तो तुम मोतिहारी में पढ़ोगे, आओगे कब ?

दुर्गापूजा की छुट्टी में—रत्ती ने कहा था ?

इसके बाद देर तक वे एक-दूसरे को ताकते रह गए थे। इससे पहले दोनों जब मिलते थे, तो बड़ी देर तक गप-शप चलती रहती। मगर उस दिन न रतिनाथ के मुँह से कुछ निकला और न बागो के मुँह से।

बीस

अषाढ़ बीत चुका था।

खेतों में धान के पौधे लहलहा रहे थे। बरसात भली-भाँति शुरू हो गई थी। धान रोपने के दिन थे। क्यारीनुमा खेत पानी से भरे थे।

आज रात फिर बारिश हुई थी, खूब हुई थी।

जयकिशोर सुबह-सुबह उठे और लोटा लेकर दिशा-फराकत के लिए घर से निकले। तरकुलवा में सभी जाति के लोग बसते थे। दुसाध, मुसहर, डोम थे तो धुनिया, जुलाहा भी थे। लेकिन बाभन, राजपूत, बनिया, ग्वाला वगैरह गाँव के एक ओर थे। मुसलमान दूसरी ओर। छोटी जाति वाले उसके बाद—सड़क के किनारे लम्बाई में बसा था गाँव। आठ-दस पोखर थे। कुछ बस्ती के सामने और कुछ पीछे की ओर। एक का नाम 'बड़ी पोखर' था। जयकिशोर ने बचपन में इसी पोखर में तैरना सीखा था। भादों-आसिन की तपती दुपहरियों में छाता लगाए इसी के बाँध पर घण्टों बैठकर काँटों में मछलियाँ फँसने की प्रतीक्षा की थी। बीसों बार इसके छाती-भर पानी में घुसकर नीले-सफेद कमल वह तोड़ लाए थे। इन्हीं कारणों से यह पोखर उन्हें प्रिय था।

कान पर जनेऊ चढ़ाए, हाथ में लोटा लिए जयकिशोर जब बड़ी पोखर के घाट पर हाथ मटियाने आए, तो शंकर बाबा मिल गए। वह बाँस की छतरी (मेघडम्बर)

लगाए हुए थे, कछौटी मार बड़े ही गौर से उस नाले की ओर देख रहे थे जिसमें से वरसाती पानी आ रहा था। तालाव की मछलियाँ रात में काफी निकल चुकी थीं, लोगों ने खूब पकड़ा था। पोते ने जिद की तो अव शंकर वावा भी आए थे। अभी तक दो पोठियाँ हाथ लगी थीं, कुछ और हो जातीं तो अच्छा था···जयकिशोर को देखते ही वोले—किशोर, तुम्हें इनका शौक नहीं रहा क्या?

वाह, क्यों नहीं—जयकिशोर ने कहा—मछलियों का शौक भी कभी जा सकता है? मगर, कौन रात-भर इसके लिए परेशानी उठाए! चरवाहे ने कुछ मछलियाँ पकड़ी होंगी जरूर। हमारे वहाँ यह सव वही करता है। तालाव से मछलियाँ पकड़ना, वाग में से आम तोड़ लाना, हाट से साग-भाजी ले आना···सव वही करता है। दूसरा है ही कौन?

इतना कहकर जयकिशोर वावू पानी के किनारे रखे काले सिल पर वैठ गए और हाथ मटियाने लगे। इस बीच में शंकर वावा को एक पोठी और दिखाई पड़ी, वह नाले के छल-छल करते पानी में उस मछली को पकड़ने के लिए लपके। पैर लगाकर छपाक् से पानी उछाला, निशाना ठीक वैठा था। पोठी नाले से वाहर आकर उछल रही थी। हरी-हरी दूव पर चाँदी-सी सफेद और चमकदार वह छोटी मछली जयकिशोर को वहुत वढ़िया लगी। वावा ने उसे उठाकर जोर से पटक दिया, वह निष्प्राण हो गई। उछल-कूद वन्द हो जाने पर भी दूव पर वह सुन्दर तो लग ही रही थी। वावा ने कहा—वस, एक और हो जाय।

जयकिशोर हाथों में तीन वार मिट्टी लगा चुके थे, अव लोटा माँज रहे थे। वह शंकर वावा की ओर नजर फेंकते हुए वोले—वस, चार ही पोठी! सारा परिवार इतने से ही तृप्त हो जायगा?

वावा की निगाह फिर छल-छल करते पानी पर जम चुकी थी। उन्होंने कहा—मुझे अव इन वस्तुओं का आवेश नहीं है। वुचनू का हठ था, उसके लिए तीन-चार काफी होंगे।

इतने में एक वड़ा-सा झींगा तालाव से निकलकर वाहरी दुनिया की सैर करने के लिए नाले के रास्ते पर आगे वढ़ा। वावा ने देख लिया। उसका मटमैला रंग उसकी आँखों को धोखा नहीं दे सका। वह फिर उसी भाँति झपटे। इस वार अजुरी से पानी उछाला उन्होंने। झींगा नाला से वाहर आ पड़ा। वावा ने उसे भी दे पटका! जयकिशोर यह सव देख रहे थे, कुल्ली कर चुके थे। अव उन्हें भिंडे पर वैठकर दाँतुन करना था। वावा से कहा—अव तो आप जायेंगे?

एक-आध और हो जाय तो क्या हर्ज है?—शंकर वावा गुनगुनाकर वोले। जयकिशोर ने सोचा—इनका लोभ वढ़ता जा रहा है। मनुष्य जव प्राप्तव्य पा जाता है तव उसकी दृष्टि आगे की ओर इतनी तेजी से क्यों फिसलती है?

वड़ी पोखर के भिंडे पर उत्तर की ओर मुँह करके जयकिशोर दाँतुन करने वैठे। आगे खेतों में धान के हरे-हरे पौधे लहरा रहे थे। उनसे परे आमों के नील-निविड़ कुञ्ज थे! उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश में हिमालय की धवल-धूमिल

चोटियाँ थीं जो उगते सूरज की पीली किरणों से उद्भासित होकर स्वर्ण-शृंग-सी लग रही थीं। जयकिशोर ने इसी भाँति यह दृश्य कई बार देखा है और यहीं बैठकर। किन्तु आँखों को परितृप्ति नहीं हुई। हिमालय क्या इतना नजदीक है? उन्हें विश्वास नहीं होता, फिर भौगोलिक जानकारी चिकोटी काटती कि दरभंगा जिले की उत्तरी सीमा यहाँ से चार कोस पर है, आगे नेपाल है। यह हिमालय नेपाल ही में तो पड़ता है। हाँ, ठीक तो है। फिर वह स्वप्न देखने लगे कि पेन्शन मिल जाने पर जब घर बैठेंगे तब रोज यह दृश्य देखने को मिलेगा। वह कभी बिहार छोड़ बाहर नहीं गए, फिर भी अपनी मातृभूमि की प्रशंसा करते थकते नहीं। सुजलां सुफलां मलयजशीतलां फुल्ल कुसुमित द्रुमदलशोभिनीं शुभ्रज्योत्स्ना पुलकितयामिनीं सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीं सुखदां वरदां—मातृभूमि की वन्दना के लिए वंगीय वंकिमचन्द्र ने इन विशेषणों का उपयोग किया है। जयकिशोर का दावा था कि हमारी मातृभूमि मिथिला भी ठीक इन्हीं विशेषणों की अधिकारिणी है। इस सम्बन्ध में दक्षिण बिहार के अपने भाइयों से वह उलझ पड़ते।

जयकिशोर के तीन बच्चे थे, दो लड़के और तीसरी लड़की। सपरिवार वह प्रवास में रहते। बहुत कोशिश की कि माँ भी साथ रहे, मगर बुढ़िया ने मंजूर नहीं किया। जिद करने पर वह कहती---जनम-भर कहीं नहीं गई और अब बुढ़ापे में क्यों कुलदेवता और ग्रामदेवता की पूजा मुझसे छुड़वाओगे? पर्व और त्योहार के दिनों में देवता-पितर आवेंगे, आँगन घर सूना रहेगा तो निराश लौट जायेंगे। यह सब सुनकर जयकिशोर चुप हो जाते। श्रद्धालु माँ के दिल को दुखाना इस शिक्षित पुत्र को अच्छा नहीं लगता। दूसरी बात भी थी। जायदाद काफी थी, दूसरे पर निगरानी का भार सौंप देने से निश्चित था कि उसमें चूहे लग जाते। जयकिशोर की नौकरी मजबूरी की नौकरी नहीं थी। वह थी खाते-पीते आदमी द्वारा शौक से की जाने वाली नौकरी। जिला स्कूल में हेड पंडिताई यों भी मामूली नौकरी नहीं कहलाएगी, उसका सम्बन्ध सीधे सरकार बहादुर से रहता है। औरत उन्हें अच्छी मिली है। उसका कुल-शील भी अच्छा है, चेहरा-मुहरा भी बढ़िया है। गौना के बाद कई साल तक वह अपनी सास के साथ ही रही। जब जयकिशोर की नियुक्ति राँची के जिला स्कूल में हुई तब से रूपरानी भी साथ रहती आई है। यह नाम सास का रखा हुआ है। मायके का नाम था शशिमुखी। भले घर की सभी औरतों के दो-दो नाम हुआ करते हैं—एक ससुराल का और दूसरा मायके का।

पिछले दिन सन्ध्याकाल रतिनाथ तरकुलवा पहुँचा था, अकेला। इधर वह कई बार शुभंकरपुर से तरकुलवा आ-जा चुका था। इसलिए जयनाथ ने अकेले ही आने दिया।

रतिनाथ यद्यपि जयकिशोर का अपना भाँजा नहीं था फिर भी वह उसे बहुत मानते थे। उसके गुणों पर मुग्ध थे। वह बहुत कम बोलता। फुर्ती से काम करता। कमजोर और दुबला रहने पर भी सभी प्रकार के कामों के लिए तैयार रहता। पढ़ने में तो खैर तेज था ही, अक्षर भी उसके सुन्दर होते थे। खाते-पीते समय

कभी कोई शिकायत नहीं की कि यह खाऊँगा और वह नहीं। रसोई भी करना उसे आता था। एक प्रवासी के लिए यह बहुत बड़ा गुण है कि वह खाना पकाना जाने।

जयकिशोर के जाने में तीन दिन बाकी थे। आम इस बार नहीं फरा था। फिर भी जिनके पास कलमी आम के पेड़ थे उन्हें कुछ न कुछ हाथ लगा ही। कलकतिया थोड़ा-बहुत हर साल फलता है। मालदह और कृष्णभोग के बारे में ठीक यही बात नहीं कही जा सकती। और वर्षों की भाँति इस वर्ष भी सौ-डेढ़ सौ आम जयकिशोर साथ ले जाना चाहते थे। माँ को भला इसमें क्या आपत्ति होती? उसने कहा—यहाँ खाओ तब भी और वहाँ खाओ तब भी, बराबर है। कौन है खाने वाला? बच्चों को खाते देखती हूँ तो यों ही मेरा मन अघा जाता है। नहीं तो अकेले कोई अच्छी चीज खाना मेरे लिए पहाड़ हो जाता है।

रूपरानी ने कहा—आम मोतिहारी में भी है, क्या होगा ले जाकर? यहाँ रहेगा तो पड़ोस और समाज के लोग खाएँगे। जस देंगे।

मगर माँ ने बहुत जोर दिया—कितना भी ले जाओगी, यहाँ के लिए घटेगा नहीं। इस गाँव में सभी के यहाँ अपने-अपने पेड़ हैं। थोड़ा-बहुत आम सभी के पेड़ों में फरे हैं। कुछ ने तो बेचा भी है। तुम वहाँ खरीदकर खाओगी और यहाँ सड़ेंगे, सो कैसे होगा?

आखिर दो सौ आम खाँचों में भरकर ऊपर से एक-एक खाँचा डालकर उन्हें मजबूती से सी दिया गया। इन कामों में जयकिशोर की माँ बहुत चतुर थीं। वह वास्तव में नारी के रूप में पौरुष की अवतार थी। जयकिशोर मुक्तकण्ठ होकर कहते—ऐसी माँ और किसकी होगी? कभी किसी काम के लिए मुझे नहीं कहा। मैं राजकुमार की तरह रह आया हूँ। हाथ से कदाचित् ही एक तिनका भी उठाना पड़ा हो! और, जयकिशोर बाबू का ऐसा कहना अनर्गल नहीं था। उनकी माँ घर के सारे काम-काज स्वयं ही करती-कराती थी। खेती-बाड़ी के लिए कभी उन्होंने कारपर्दाज नहीं रखा। कभी-कभी भाई मदद कर जाता था। तरकुलवा में खेत-मजदूर सुलभ थे। जयकिशोर की माँ ने दो खेत-मजदूरों को पाँच-पाँच कट्ठा खेत दे दिए थे। वे पिशाच की तरह कड़ी मेहनत से सारे काम करते। धान रोपने के दिनों में रोज पाँच-पाँच, सात-सात, दस-दस तक मजदूर लगे रहते। उन्हें अढ़ाई सेर धान और पेट-भर खाना मिलता। दाल-भात, तरकारी और अचार। छोटी जाति के उन गरीब और भूखे बनिहारों (खेत-मजदूरों) के लिए जयकिशोर बाबू के खेतों में धान रोपने के ये दिन महोत्सव के दिन थे, पुण्याह थे। इसका असर पड़ता गृहस्थी पर। सबसे पहले जयकिशोर के ही खेतों में धनरोपनी हो जाती, औरों की पारी पीछे आती। सोहनी करने (निराने) और फसल काटने में भी यही सिलसिला रहता। यह सब उस वृद्ध महिला का ही पौरुष था, नहीं तो प्रवासी पंडित की खेती-बारी का नमूना देखना हो तो शुभंकरपुर के जनार्दन पंडित के खेतों को देखिए। खुद कलकत्ता रहते हैं। बेटा राँची स्कूल में मास्टर है। परिवार को साथ रखता है। बेटा-पतोहू राँची में। दो छोटे लड़के पटना में पढ़ते हैं। घर

पर पचासी साल की वृद्धा चाची हैं। जायदाद काफी है मगर यह सब खवास, नारायण मड़ड़ के भाग में लिखा है। भैंस का दूध वह पीता है। मालभोग और कनकजीर का भात वह खाता है। वगिया का चम्पा केला, मालदह आम, वनारसी अमरूद—सव उसी के वाल भोग में चला जाता है। वाप-दादे के जमाने का रजाशाही पलँग। पंडित नहीं हैं तो उस पर टाँग फैलाकर और कौन सोएगा? सोता है नारायण खवास? चाची वेचारी न जीती हैं न मरती हैं, हुकुर-हुकुर करती हैं। राँची से जव-जव पोता आता है, अपनी इस दादी के लिए एक न एक रसोइया वहाल कर जाता है। मगर वह रसोइये को दस-पन्द्रह दिन से ज्यादा टिकने नहीं देतीं। जिन्दगी-भर वह अकेली ही रहीं, अकेले पकाकर अकेले ही खाया। अव उन्हें दूसरे के हाथ की रसोई कैसे पसन्द आए? आँगन में चारों तरफ चार घर हैं। एक में चाची का डेरा है। दूसरे में पलँग वगैरह है। तीसरे में धान, चावल, चूहा, झींगुर और नेवले रहते हैं। चौथा खाली पड़ा है, जिसमें धान की भुस, टूटी सन्दूक, पुराना पिटारा वगैरह सुरक्षित है। कुन्ती और नीलो इसी घर में व्याती हैं। टोल-भर की सार्वजनिक कुत्ती का नाम जाने कव किसने 'कुन्ती' रख दिया। नीलो विल्ली थी। कुन्ती के प्रसव का सुनिश्चित स्थान पिटारा है और नीलो रानी टूटी सन्दूक में वच्चे जनती है। जनार्दन पंडित का घर-आँगन किसी अभागे जमींदार की उजाड़ कचहरी जैसा लगता है! विना देख-भाल की घर-गिरस्थी का यही हाल होता है।

जयकिशोर को अपनी माँ का वहुत वड़ा अभिमान था। कभी उन्होंने माँ की किसी वात का प्रतिवाद नहीं किया। तीसरे साल जव वह घर आए तो किसी ने गौरी के उस कुकांड का सारा समाचार जयकिशोर से कहा और वारम्वार कहा, परन्तु वह उत्तेजित नहीं हुए। समाज में एक तरुणी विधवा को किन परिस्थितियों का मुकावला करना पड़ता है, इस वात को वह भली-भांति समझते थे। थोड़ा क्षोभ और संकोच जयकिशोर को अवश्य हुआ परन्तु उन्होंने उसे दूसरे ही रूप में प्रकट किया। प्रतिवर्ष की भाँति उस साल भ्रातृद्वितीया में अपनी वहन के यहाँ वह नहीं गए, वस। माँ को समझाने के लिए कोई वहाना ढूंढ़ लिया।

रतिनाथ को स्नेह-भाजन वनाकर जयकिशोर उसे अपने साथ रखने के लिए तैयार हुए थे। इसके अन्दर उनका भगिनी प्रेम ही काम कर रहा था। उमानाथ को वह पढ़ा नहीं सके थे तो इसमें उनका क्या दोष? रतिनाथ को गौरी कितना मानती थीं, यह जयकिशोर को खूव अच्छी तरह मालूम था। रत्ती की प्रतिभा देखकर उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि यह लड़का उमानाथ की तरह मुझे वहन की दृष्टि में हल्का नहीं वनाएगा।

स्कूल तेरह जुलाई को खुल रहा था। एगारह और वारह को मंगल और वुधवार पड़ते थे। उत्तर की तरफ जाने में दिशा-शूल होता इसीलिए जयकिशोर आषाढ़ शुक्ल पंचमी सोम को सपरिवार मोतिहारी के लिए चल पड़े। एक अहीर का लड़का—ठकवा साथ रहता था। तीन वच्चे, नौकर, रतिनाथ और दो जने

खुद। कुल मिलाकर इस वार परिवार में सात प्राणी हो गए थे। तरकुलवा से राजनगर। काम एक ही वैलगाड़ी से चल गया।

भीड़ के कारण औरत और वच्चों को जनाना डब्वे में वैठा दिया गया था। सुवह की ट्रेन थी, रतिनाथ ने सोचा, चलो अच्छा हुआ। देखते चलेंगे। तारसराय तक, नहीं दरभंगा तक, उसका देखा हुआ था ही। उसके आगे रत्ती सहस्राक्ष वनकर चलती गाड़ी में से आस-पास के दृश्य देखने लगा। कोसों तक फैले धान के हरे-भरे खेत। उनकी लहराती हरियाली क्या थी, तरंगित समुद्र का ही हरा संस्करण था, लेकिन रतिनाथ ने समुद्र नहीं देखा था। हाँ, वाढ़ के दिनों में परसौनी के पच्छिम, जव मोहना चौर पानी से भर जाता तो लोग कहते—मोहना तो समुद्र हो गया है। इससे समुद्र का एक कल्पित नक्शा उस किशोर के दिमाग में था अवश्य, फिर भी धान के खेतों की कोसों लहराती हरियाली को महा समुद्र कह देना उसके वूते की वात नहीं थी। असीम हरीतिमा के इस भव्य दृश्य से रत्ती की आँखें अघाती नहीं थीं। इधर-उधर वैठे-खड़े मुसाफिरों के गुल-गपाड़े उसका ध्यान भंग करने में असमर्थ थे। गाड़ी हड़हड़ाती हुई जव एक पुल को पार करने लगी तो ठकवा ने चकोटी काटकर कहा—रत्ती वावू, जानते हैं, कौन नदी है?

नहीं तो!—रतिनाथ ने चौंककर कहा। ठकवा वोला—वागमती है। रत्ती को किसी कवि का एक पद याद आया जिसमें कहा गया—वागमती, तू धन्य है! तेरा पानी विद्यापति की साँस से सुरभित है और तेरे तट के वालुका-कण दर्शनिकों की दृष्टि से भास्वर। तेरा प्रवाह जिस भूमि पर से एक वार भी गुजर जाता है, वह सदा के लिए रत्नगर्भा वन जाती है। वागमती, तू धन्य है। शरद् ऋतु की पूर्णिमा के इस निशीथ में मन करता है, मैं अपनी देह तेरे प्रवहमान वक्ष पर छोड़ दूँ···सोचते-सोचते वह झपकियाँ लेने लग गया।

एक दचके के साथ नींद टूटी तो गाड़ी समस्तीपुर आ चुकी थी। लोग धड़ाधड़ उतर रहे थे। रतिनाथ भी उतरा। उसकी छोटी-सी गठरी मामा-मामी के विस्तरों में डाल दी गई थी। उस ओर से वह निश्चिन्त था। इतमीनान से उतरा और मामा के पास जाकर खड़ा हो गया।

वहुत वड़ा स्टेशन। लोगों की अपार भीड़। ट्रेनों की कमी नहीं। पान-सिगरेट-वीड़ी वालों का कोलाहल। दुनिया के इस विचित्र पहलू से रतिनाथ आज तक अनजान था। वाप, चाची और साथियों के विछोह से जो दिल अभी तक भारी-भारी-सा था वह अव हल्का होता जा रहा था। नयी जगह, नये लोग, नये नजारे। स्मृतिपट पर से पिछली रेखाएँ मिटती जा रही थीं, रंग तो धुंधला पड़ ही चुका था। रत्ती को ख्याल आया—यह तो समस्तीपुर का हाल है! और, कलकत्ता कितना वड़ा शहर होगा? कहते हैं, वहाँ पन्द्रह लाख लोग रहते हैं। वड़ा होने पर भैया के साथ मैं भी कलकत्ते जाऊँगा···

इतने में मुजफ्फरपुर की गाड़ी आ धमकी। सव उसमें सवार हुए। भीड़ कम थी। पूसा रोड, ढोली, सिलौट और चौथा स्टेशन मुजफ्फरपुर। रत्ती गिनता गया

था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते बारह बज गए। लाइन के दोनों ओर आम और लीची के बड़े-बड़े बाग थे। धान के खेत भी थे, मगर उतने हरे-भरे नहीं। लीची का मौसम बीत चुका था और आम फरा ही न था। फिर भी स्टेशन पर 'बथुआ' आम बिक रहे थे, रुपये में बारह। वह उन लोगों के लिए अलभ्य वस्तु नहीं थी क्योंकि दो सौ बड़े और बढ़िया आम साथ जा रहे थे।

मोतिहारी की गाड़ी में अभी कुछ विलम्ब था। दरी बिछाकर प्लेट-फारम पर वे बैठ गए। वहीं खाना-वाना हुआ। जयकिशोर पड़ रहे तो ठकवा ने उनके पैर और जाँघों में मुक्कियाँ लगाना शुरू किया। मुक्कियाँ लगवाते-लगवाते उन्हें नींद आ गई।

छोटी बच्ची के आगे से पूड़ी उठा लेने के कारण सड़ी दुम वाले काने कुत्ते को रतिनाथ ने एक लात लगाया। वह आँउ-आँउ-आँउ कर उठा तो जयकिशोर की आँख खुली। बिस्तर बाँध-बूँधकर तैयार हो गए। थोड़ी देर में पहलेजा-घाट से गाड़ी आई, उसी पर सब सवार हुए। तीन बज रहे थे। गाड़ी के चलते ही रतिनाथ को नींद आ गई।

आठ बजे रात को ट्रेन मोतिहारी पहुँची।

इक्कीस

स्टेशन के उत्तर गुमती के नजदीक उनका डेरा था। पास ही एक मन्दिर था। बीच में मन्दिर, चारों ओर धर्मशाला। यह सब बकुलहर मठ की मिल्कियत थी। पिछले साल महन्त जी आए तो जयकिशोर का उनसे परिचय हुआ और उसी परिचय का फल है कि यह धर्मशाला और मन्दिर अब जयकिशोर की निगरानी में हैं। इनको इससे और कुछ नहीं, पर एक फायदा जरूर था कि वक्त-बे-वक्त दो-चार आदमियों को वहाँ टिका देते।

धर्मशाला में पचीसों कोठरियाँ थीं। बहुधा वे खाली ही पड़ी रहतीं। खाली रहने के दो कारण थे। एक तो वह शहर से बाहर पड़ती थीं और दूसरा यह कि मोतिहारी कोई बड़ा शहर तो है नहीं। जिला चम्पारन का सदर होने से ही इसका थोड़ा-बहुत नाम है। नहीं तो, चम्पारन में प्रमुख नगर अगर है तो वह बेतिया है। सभी दृष्टि से वह मोतिहारी से अव्वल है।

दूसरे दिन उसी धर्मशाला की एक छोटी-सी कोठरी रतिनाथ को मिली। वह उसी में रहने लगा।

मोतिहारी में संस्कृत का एक उच्च विद्यालय था। अध्यापक थे पंडित दूधनाथ तिवारी व्याकरणाचार्य। जयकिशोर स्वयं भी कभी-कभी रत्ती को पढ़ाते थे। रतिनाथ का पढ़ने में मन खूब लगता था। काव्य और व्याकरण, यही दो विषय

थे। व्याकरण वह विद्यालय में पढ़आता, काव्य जयकिशोर पढ़ाते।

विद्यालय शहर के बीच में पड़ता था। पढ़ने वाले बीस से अधिक न थे। पंडित जी को बीस रुपये मासिक मिलता था। कुछ अनियमित रूप से मारवाड़ी लोग भी दान दे दिया करते। बात यह है कि संस्कृत पाठशाला के अध्यापक और विद्यार्थियों के प्रति धनी समाज का वही दृष्टिकोण रहता है जो कि पिंजरापोल के प्रति सेठों का। सड़े-सूखे आम, रद्दी चादरें, खुरदरे कम्बल, घुन लगा अनाज, फटी-पुरानी किताबें—इन वस्तुओं का दान और कौन लेगा?

विद्यालय के पास ही 'कमला नेहरू पुस्तकालय' था। वहाँ दैनिक आज, सरस्वती, बालक, योगी, विश्वमित्र आदि कई अखबार आते थे। रतिनाथ उन्हें पढ़ना पसन्द करता था। मासिक पत्रों ने उसकी रुचि को उपन्यासों की ओर मोड़ दिया।

जयकिशोर ही उसे लाए थे, इसलिए खाना-कपड़ा वही देते थे। एक संस्कृत प्रेमी जमींदार ने अपने छोटे लड़के को पढ़ाने के लिए अपने यहाँ एक विद्यार्थी रखना चाहा। उसने जयकिशोर से यह बात कही। उन्होंने रतिनाथ को उसके यहाँ रख दिया। खाना-कपड़ा और रहने की जगह अब सभी कुछ रत्ती को वह जमींदार ही देने लगा। बदले में जमींदार के लड़के को संध्या, गीता आदि पढ़ाना पड़ता। लड़के की उम्र थी बारह साल की। वह देखने में खूबसूरत था, पढ़ने में मन्द।

यह जमींदार महाशय जिला गोरखपुर के कोई दूबे थे। मोतिहारी शहर से डेढ़ मील उत्तर उनका मौजा था। दो सौ बीघा काश्तकारी भी थी। चम्पारन की जमीन खूब उपजाऊ है, वहाँ की मामूली मिट्टी सोना उगलती है। फिर यह दूबे तो जमींदार भी थे और काश्तकार भी। इस साल वर्णाश्रम स्वराज्यसंघ (काशी) के किसी महोपदेशक ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि अपने कनिष्ठ पुत्र को संस्कृत की शिक्षा दिलाने का आपका निश्चय वज्र संकल्प बन गया, इसीलिए एक गरीब विद्यार्थी को अपने परिवार में शामिल करके उससे लड़के को पढ़ाना चाहते थे।

शुभंकरपुर के जीवन से मोतिहारी के इस जीवन की कोई तुलना हो ही नहीं सकती। यहाँ नागरिकता का वातावरण था। रतिनाथ की प्रतिभा खिल उठी। संस्कृत के साथ ही हिन्दी में भी उसने योग्यता हासिल करना अपना लक्ष्य बनाया। संस्कृत के लिए जयकिशोर थे, विद्यालय था। हिन्दी के लिए पुस्तकालय था और अखबार थे। कठोर और रुक्ष प्रकृति के पिता का नियन्त्रण हटते ही रतिनाथ स्वतन्त्र हो उठा। स्वतन्त्र नहीं, स्वच्छन्द कहना चाहिए। जमींदार का लड़का खूबसूरत तो था ही, रतिनाथ उसकी सुन्दरता पर मुग्ध रहने लगा। दूबेजी (जमींदार) का आदेश हुआ—विद्यार्थी जी, तुम दोनों को एक अलग कमरा देता हूँ। उसी में सोया करो। आपस में तुम लोग देववाणी (संस्कृत) में ही बतियाया करो। बस, फिर क्या था? दोनों किशोर, दोनों 'राम-लक्ष्मण' साथ रहने लगे। उनका सोना-जागना, उठना-बैठना, खाना-पीना सब साथ चलता। परन्तु उनमें से एक अभावों-अभियोगों की सीमान्त भूमि से आया था और दूसरा था विलासिता के वातावरण

में पनपने वाला। उस लड़के का नाम था नरेश। अपने पिता के कठोर शासन के अनुसार आजकल वह ब्रह्मचारी का जीवन विता रहा था। न तो सिर में वह तेल डाल सकता न आइने में मुँह देख पाता और न कंघी का इस्तेमाल कर सकता। जूता तक जमींदार साहब ने उसके लिए वर्जित कर रखा था। रतिनाथ के लिए यह त्याग कोई नया अभ्यास नहीं था, वल्कि एक आसान खेल था। मगर नरेश की माँ को अपने पति का यह पागलपन कतई पसन्द न था। वह बीच-बीच में लड़के के सिर में सुवासित तेल डाल देती, शायद नारियल का। खद्दर की मोटी धोती और मोटा कुर्ता उतरवाकर मिल की महीन धोती और नफीस कमीज पहना देती। पैसे देकर रतिनाथ का साथ कर देती, सिनेमा देखने के लिए। यह सब तब होता जबकि दूबेजी गोरखपुर गए होते।

मुजफ्फरपुर के प्रख्यात व्यापारी रायबहादुर श्री ललितकिशोरी शरण प्रकट रूप से वैष्णव और प्रच्छन्न रूप से सखी-समाजी थे। बहुत सारे सुन्दर छोकड़ों में से छाँट करके तीन उन्होंने अपने यहाँ रख लिए थे। उन्हें राम, लक्ष्मण और सीता के रूप में पूजते थे। रायबहादुर की यह उत्कट सखी-भावना जब उत्तर बिहार के कतिपय बुद्धिजीवियों में अन्दर ही अन्दर फैलने लगी, तो दूबेजी भी उस ओर आकृष्ट हुए। शायद इसीलिए रतिनाथ और नरेश का जोड़ा उनकी आँखों को एक प्रकार की परितृप्ति देता था। पढ़ने में तेज था, इसलिए रतिनाथ पर किसी को किसी प्रकार का सन्देह क्यों होता?

नरेश की घड़ी, चश्मा और अच्छी पेंसिल देख-देखकर रतिनाथ का मन मचल उठता। चुराने की इच्छा होती, मगर छिपाकर रखने की कोई दूसरी जगह तो थी नहीं, इससे वह इच्छा ज्यों की त्यों रह जाती।

आठ-दस दिन पर वह जयकिशोर के वासे पर जाया करता। मामी उसे खूब मानती थीं। उनकी राय नहीं थी कि रतिनाथ जमींदार के यहाँ जाकर रहे। मगर जयकिशोर ने अपनी पत्नी को जब समझाया कि यहाँ तुम्हारे बच्चों की चह-चह चुह-चुह में उसकी पढ़ाई ठीक से नहीं होगी तब रूपरानी मान गई। फिर भी जब-जब खास किस्म का कोई खाना बनता तो वह रत्ती को बुलवा लेतीं। मछली जिस दिन पकाई जाती उस दिन तो जरूर ही। रत्ती को मछली खाने का बड़ा शौक था। शुभंकरपुर में एक छोटे-से पोखर का वह पट्टीदार था ही, बचपन से ही छोटी-बड़ी मछलियों का स्वाद उसे मालूम था। वहाँ, विधवा होने के कारण चाची के लिए मछली-मांस अखाद्य था और इसीलिए जयनाथ और रतिनाथ ही थे कि पानी-फल (मछली) का भोग लगाते। हाँ, चाची यत्नपूर्वक मछलियाँ तलतीं अवश्य कि रतिनाथ और जयनाथ मन से खाएँगे। यहाँ दूबेजी जब से वैष्णव हुए थे तब से परिवार-भर को निरामिषाहारी बनाने का सत्याग्रह कई बार कर चुके थे। दो-चार दिन के लिए जब वह बाहर जाते तभी उनके यहाँ मछलियाँ पकतीं और नरेश की माँ का जी भरता। जमींदार बाबू स्वयं पचपन साल की अवस्था तक मछली-मांस का स्वाद ले चुके थे और अब जाकर रायबहादुर ललितकिशोरी शरण की

छत्रछाया में कण्ठी बाँध आए थे। कण्ठी क्या थी? तुलसी-काठ के खरादे हुए मसूर जैसे दाने थे, उन्हीं को गूँथकर बनाया हुआ कण्ठहार था। परन्तु संस्कार क्या कम प्रबल होता है? बाबू साहब को जब कभी ललमुँहा रोहू का स्वाद याद आता तो बाजार चले जाते, मछली बेचने वालों के इर्द-गिर्द चार चक्कर लगा आते—सट्टी की मत्स्यगंधा आबोहवा उन्हें तृप्त कर देती। एक दिन किसी साथी ने दूबेजी की चुटकी ली तो आप बोले—भाई, इतना भी नहीं करने दोगे? खाना तो मछली का छूट ही गया, कहो तो अब नाक भी काट लूँ।

दुर्गा पूजा की उन छुट्टियों में न जयकिशोर घर गए न रतिनाथ। रतिनाथ को तो मोतिहारी ऐसी मनलग्गू जगह मालूम हुई कि सपने में भी उसे घर जाने की इच्छा न होती। साथी भी कई मिल गए थे। हाँ, चाची की याद आती तो छन-भर के लिए उसका दिल झनझना उठता। बीच में दो-एक खत शुभंकरपुर से आए थे जरूर, मगर उनमें कोई बात नहीं थी।

विजयदशमी के रोज बेतिया में बहुत भारी मेला लगता है। गाय, बैल और घोड़े खूब बिकते हैं। जमींदार बाबू प्रति वर्ष मेला में जाते थे। इस बार गाड़ी के लिए बैलों का जोड़ा उन्हें खरीदना था। साथ में नरेश, रतिनाथ, दो नौकर और रसोइया गया।

बाइस

उस साल का सावन शुभंकरपुर के लिए मौत का पैगाम लेकर आया। मलेरिया का ऐसा प्रकोप उस इलाके में इससे पहले शायद ही हुआ हो। लोग पटापट मरे। मवेशी तक न छूट पाए। भोला पंडित उन्नीस दिन तक बुखार में उबलकर स्वर्ग सिधार गए। दम्मो फूफी भी इस बीमारी की चपेट में आ मर गईं। डाक्टर-वैद्य कोई काम न आया। काम आईं उमानाथ की माँ। बेचारी ने जी-जान से सेवा की, फिर भी दमयन्ती न बचीं तो इसमें किसका दोष? फूफी की सारी जायदाद भतीजे के हाथ लगी।

जयनाथ भागकर बड़हड़वा चले गए। चाची को भी दो दिन का बुखार आया, मगर वह शीघ्र ही ज्वरमुक्त हो गईं। छोटे-बड़े सौ से कम नहीं मरे होंगे। सरकारी सहायता तब पहुँची जब सत्तर के करीब लोग मर चुके। कुनैन की टिकिया बँटी थी, किन्तु गरीबों को वह मुश्किल से ही मिली थी। तुलसी का काढ़ा पी-पीकर आखिर कब तक लोग मलेरिया का मुकाबला करते?

ताराचरण ने बड़ी कोशिश की कि जिले और थाने के कांग्रेसी अधिकारियों से इस मामले में कुछ करवाएँ, मगर अभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की तुलना में नेताओं के लिए इन बातों का क्या महत्त्व था? यह वे दिन थे जबकि हिटलर आधा

अधिक यूरोप जीत चुका था और गाँधीजी कोई नया कदम उठाना चाहते थे।

लोगों का कहना था कि भूकम्प (1934) के वाद देश की आवोहवा वदल गई है। नदियाँ, तालाव और पोखर उथले हो गए हैं। उपज कम होने लगी है। मलेरिया का प्रकोप वढ़ गया है, अकाल मृत्यु वढ़ गई है। इधर पैदा होने वाले वच्चे साँवले नजर आते हैं। आमों की फसल अव साल-साल नहीं आती।

शुभंकरपुर के इस टोले में चौदह औरतें थीं, उनमें छः को मलेरिया ने लील लिया। दस मर्द थे, अव पाँच ही वच रहे। सन्नो की माँ, दमयन्ती, जनककिशोरी, जयदेव की वहन और पतोहू, नरेश की माँ—यही छः औरतें मरी थीं। ग्यारह ब्राह्मणों का जुटना मुश्किल हो गया था कि क्रिया-कर्म करने वाले का उद्धार होता। परसौनी के महापात्र भी मलेरिया का शिकार हो गए थे। हजाम इस गाँव में तीन ही थे, उनमें से दो मर चुके थे। क्रिया-कर्म की कौन कहे, लाश उठाकर ले जाने वाले नहीं थे। पास में कोई वड़ी नदी थी नहीं, हाँ लकड़ी की कमी नहीं थी। फिर भी सैकड़ों चिताएँ तैयार करने में गाँव-भर की अमराइयाँ ठूँठ हो गईं। छोटी जात वालों को अपनी लाशें वहाने में जीवछ नदी की वाढ़ ने काफी मदद न पहुँचाई होती तो मुश्किल था। कहाँ से वेचारे उतनी लकड़ियाँ लाते?

भागकर जो वाहर जा सकते थे, जा चुके थे। मगर औरतें और वच्चे कहाँ जाते। मुसीवत का यह पहाड़ उन्हीं पर अधिकतर गिरा। सौभाग्य से रतिनाथ और उमानाथ वाहर थे, चाची को अपनी परवाह नहीं थी। जयनाथ श्रावणी पूर्णिमा से चार दिन पहले ही भाग चुके थे। आँगन में कोई और नहीं था। दिन तो खैर जैसे-तैसे कट जाता, लेकिन रात का कटना पहाड़ हो जाता। एक तो यों ही ये लोग गाँव के छोर पर थे। तिस पर जयनाथ का आँगन विल्कुल अलग था। वह छोर की पूँछ पर था। छिद्रों में हवा भर जाने के कारण जव सूखे-अधसूखे वाँस रात-विरात वेतुकी तान अलापने लगते; तो चाची का हृदय काँपने लगता। वेचारी साफ देखती कि अँधेरी रात में भैंसे पर सवार काले-कलूटे यमराज आग-वरसाती अपनी लाल-लाल आँखों से उसे घूर रहे हैं। तव उसे अपने विजन का वह वालसाथी—रत्ती याद आता। घोर एकान्त के इन दारुण क्षणों को चाची उस लड़के से चिपटकर जाने कव से फटकारती आई थी और अव वही सहारा पचासों कोस दूर हट गया था! उदास देखकर चाची के कन्धे या पीठ पर रतिनाथ जव अपने हाथ रख देता तो असमर्थता या अनाथपन की उसकी भावना खटाई पड़े दूध की तरह फट जाती। वह महसूस करती कि एक ऊर्जस्वी पुरुष का क्षमताशाली हाथ पीठ पर है; लड़का है तो क्या हुआ, मर्द तो है।

चार-छः महीने वड़ी मुश्किल से कटे। कभी-कभी तो ढिवरी जलाकर रात-रात-भर चाची चर्खा ही चलाती रहती। दिन में वहुधा ताराचरण की माँ आ जाती या कोई और। चाची की पिछली भूल-चूक का लेखा लेनेवाला अव कोई रह नहीं गया था। गरीवी और मलेरिया ने लोगों की कमर तोड़ दी थी। लड़ाई की तेजी के साथ अनाज का भाव भी वढ़ता जा रहा था। चाचा के हाथ में पैसे थे,

वेसाह खरीदकर चावल, मकई, अरहर सब कुछ वह मँगाती थी। ताराचरण की खेती काफी थी। साल-भर का सारा खर्चा उसका उसी से निकलता था। चाची ने कभी अपने लड़के को रुपये-पैसे के लिए नहीं लिखा। जब लिखा तब यही कि खाने-पीने में कंजूसी नहीं करना। अपने शरीर का ख्याल रखना। सौ रुपये पिछले छः महीनों में चाची ने बचा लिए थे। कोकटी की रुई खरीदकर उसने दो सेर सूत इसलिए काते कि दोनों लड़कों की चादरें और कुर्ते का कपड़ा बुनवा लेगी।

जयनाथ का महाजन बनने का उत्साह शान्त हो चुका था। दो सौ रुपये डूब गए थे। बाकी भंग, माजून, घी, दूध, मछली, मांस और प्रेयसी के पीछे लग रहा था। आजकल आप बड़हड़वा चले गए थे। वहाँ भांजे अपने एक पट्टीदार से मुकदमा लड़ रहे थे। मामूली पैरवी के लिए भी भागलपुर दौड़ना उन अमीरजादों को अखरता था। ऐन वक्त पर उन्होंने अपने लायक मामा को याद किया। आतुर गजराज की पुकार पर शेषशय्या छोड़कर और लक्ष्मी को समझा-बुझाकर नारायण भी उतनी फुर्ती से नहीं दौड़े होंगे जितनी फुर्ती से जयनाथ बड़हड़वा पहुंचे। प्रेयसी को पांच रुपये का एक नोट थमा और उमानाथ की माँ को सौंप दिया घर-आँगन। चल पड़े। दुतरफा झोला कन्धे से लटक रहा था। भगवान् (शालिग्राम) इस बार साथ जा रहे थे। जाते-जाते उन्होंने चाची से कहा—कृष्णाष्टमी तक अवश्य लौट आऊँगा, बाबा (वैद्यनाथ) पर जल ढारना है। और तो कोई काम है नहीं। तुम किसी बात का अन्देशा मत करना···

चाची ने कहा था—बाबू, जल्दी की क्या बात है? समूचा गाँव भट्ठी पर चढ़ा हुआ है। देखते हो, लोग मलेरिया के मारे तबाह हैं। क्या करने आओगे अभी? कृष्णाष्टमी क्या और जगहों में नहीं होती? हम न ठहरीं लाचार, तुम्हारा क्या है? जहाँ धड़ तहाँ घर!

इस बात का जयनाथ ने प्रतिवाद किया था—नहीं-नहीं उमानाथ की माँ, कहीं क्यों न हों, जी तो हमारा यहीं टंगा रहता है! घर-बार है, बाप-दादों की जायदाद है। टोल-पड़ोस, जान-पहचान, चीन्हा-परिचय क्या-क्या नहीं है? सब कुछ तो अपना यहीं है···उमानाथ की माँ, ऐसा मत समझना कि जयनाथ को इस मिट्टी का मोह नहीं है···

अन्त में उसका गला भर आया था और झुककर आँगन की भूमि में से एक चुटकी मिट्टी उसने उठा ली थी। उसमें से जरा-सा तो जयनाथ ने कपार में लगा लिया था और बाकी बांध लिया था चादर के खूंट में। उस दिन देवर का वह अपूर्व भावावेश देखकर उमानाथ की माँ का सारा शरीर सिहर उठा था! जयनाथ का वह रूप आज तक उसने नहीं देखा था। उत्तरदायित्व की भावनाओं से शून्य, मेहनत-चोर, आवारा, कृतघ्न, कठोर, झूठा—जयनाथ यह नहीं तो और क्या था? ऐसे मनुष्याभास के हृदय में भी कहीं अपनी पितृभूमि की मिट्टी के प्रति इतनी ममता हो सकती है? हाँ, हो सकती है। अपने देवर का भरा हुआ गला और डबडबाई आंखें चाची के सामने थीं! यह सब कुछ किसी निपुण अभिनेता का

असंभावित कौशल नहीं, वल्कि प्रत्यक्ष वास्तविकता थी।

सचमुच इस वार जयनाथ वड़हड़वा में रम गए। उनका नित्य-कृत्य था सुवह उठकर शौच आदि से निवटना, फिर भाँग छानना। दस वजे स्नान-पूजा। ग्यारह वजे भोजन। उसके वाद घंटा-भर मनोयोग-पूर्वक देशी सरौते से कतर-कतरकर सुपारी फाँकते जाना और साथ ही वातें भी लड़ाना। वारह से चार वजे तक सोना। छः तक फिर भंग-भवानी की आराधना। आठ तक भाँजों के इस्टेट का काम। नौ वजे भोजन। उसके उपरान्त दिवंगत वहनोई की छोटी भ्रातृ-वधू से नर्म-आलाप। वह वाल-विधवा वड़ी हँसोड़ तवीयत की थी और जयनाथ के लिए जान देती थी। कहने के लिए एक-दूसरे के लिए भाई-वहन थे, परन्तु उनका आपस के संपर्क का क्षण दो संतप्त प्राणियों के चिरवांछित मिलन का मधुपर्व ही था। सुमित्रा वहन का वैधव्य नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का निर्मल प्रतीक था। उसकी कोख से यही एकमात्र कमलकान्त उत्पन्न हुए थे। वाईस साल हुए, पति के देहान्त के वाद कभी सुमित्रा ने रंग-विरंगी या किनारीवाली साड़ी नहीं पहनी। न पान खाया, न दाँतों में मिस्सी लगाई। गहने पतोहुओं को दे दिये। मेले के दिनों में गंगा या और तीर्थों में नहीं गई। मार्कीन की पतली धोती, गले में वारीक रुद्राक्षों की माला, कपार पर गंगा की मिट्टी का टीका—यही उसका भेष था। अकेले में किसी ने मर्द से वातें करते उसे कभी नहीं देखा। वहुत कम वोलती थी, सो भी जमीन-जायदाद या घरेलू मामलों की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए ही। अव तो खैर लड़के वालिग हो गये थे। उन्होंने गृहस्थी का भार भली-भाँति सँभाल लिया था। फिर भी एक सतर्क निरीक्षक की भाँति सुमित्रा की दृष्टि सदैव अपने पुत्रों पर रहती। एक कमलाकान्त था और कई सौतेले थे। व्रत, उपवास और नियमित आहार से सुमित्रा ने स्वास्थ्य को अपने कावू में कर लिया था। मधुर वाणी और सरल व्यवहार से वह स्वजन-परिजन, नौकर-चाकर और खवास-खवासिन सभी की श्रद्धा का पात्र वन गई थी। इस प्रकार तिरहुत और शुभंकरपुर का नाम उसके कारण विख्यात हुआ था। वहन ने वड़ी कोशिश की कि भाई आदमी वने, पर वह नहीं सुधरा। जयनाथ को काफी जमीन देकर वड़हड़वा में ही अलग वसाने की सुमित्रा की इच्छा थी, किन्तु वह पूर्ण न हुई। इसमें जयनाथ का ही दोष था। वह शादी करने के लिए तैयार नहीं हुआ। दो साल तक पड़ोस की एक लड़की को सुमित्रा अपने भाई के लिए छेंके रही, मगर 'यहाँ न लागहि राउर माया!'

इस वार भी सुमित्रा की देवरानी ने ही छल-वल से जयनाथ को वुलवाया था। प्रेमी या तो अविवाहित हो या फिर विधुर। वैसी स्थिति में प्रेमिका को सहूलियत रहती है। देवरानी का नाम था चन्द्रमुखी। धनी माँ-वाप की लाड़ली वेटी 'फुदनी' ससुराल में चन्द्रमुखी क्यों कहलाई? इसका रहस्य उसके सौन्दर्य की अव तक अकंपित दीप-शाखा में निहित है। विधवा हुई तो क्या हो गया? मछली-माँस छोड़कर और सभी वस्तुएँ वह खाती है। वचपन से ही छटाँक-भर घी, आधा

पाव मलाई रोज लेती आई है। काँच और लाह की न सही सोने-चाँदी की चूड़ियाँ पहनने से कौन उसे मना करेगा? खान-पान, ओढ़न-पहिरन सभी में चन्द्रमुखी बदलती ऋतुओं के मुताबिक रुचि-वैचित्र्य का ध्यान रखती थी।

चन्द्रमुखी से भर-पेट गप-शप कर चुकने पर जयनाथ दालान के उस खंड में सोने आते जो हवेली से संबद्ध था। सोने से पहले वह दो-चार श्लोक गुनगुनाते और अँधेरे में बिस्तरे पर बैठे-बैठे ही बटुए से निकालकर दश-दश रुपये वाले पन्द्रहों नोट गिन लेते। यही डेढ़ सौ बच रहा था। यह आमदनी की जगह थी, इसीलिए खर्चा नहीं पड़ रहा था। छूते-टटोलते अब पन्द्रहों नोट जयनाथ की अँगुलियों से ऐसे परिचित हो गए थे कि कोई जरा भी हेर-फेर या कमोवेश उनमें करता तो वह जरूर ही जान जाते।

तीन-चार रुपये प्रतिमास वह रतिनाथ को मनीआर्डर भेजते थे। इसके लिए किसी ने उनसे कहा नहीं था। स्वत: ही यह बात उनके दिमाग में बैठ गई थी कि लड़का परदेश में है। कभी कोई खास चीज खाने-पीने का मन करेगा तो किससे कहेगा? यों भी हाथ में चार पैसे रहेंगे तो दिल मजबूत रहेगा।

रत्ती महीने में एक खत बाप के नाम डालता था। एक खत चाची को भी भेजता था। कभी-कभी उसका हृदय अपने गाँव के लिए रोता था। बागो याद आती। सत्तो याद आता। वह कई बातों में रत्ती का गुरु था। तैरना और पेड़ पर चढ़ना उसने सत्तो से ही सीखा था। नकली रोने की तालीम भी रत्ती को उसी उस्ताद से मिली थी।

उम्र में दो महीने का छोटा होने पर भी सत्तो इन्हीं कारणों से रत्ती का गुरु था। अपने इस प्रिय साथी की याद रतिनाथ को बहुत सताती। दूसरा नम्बर था बागो का, मगर अब उसका व्याह हो चुका था, इससे उसके प्रति थोड़ा बिलगाव और बेगानापन अनुभव करना अस्वाभाविक नहीं था।

जाड़े के दिन आए। रत्ती ने अपने मन को पढ़ने में लगाया। रात बड़ी देर तक वह जागता रहता। यह जागरण उपन्यासों की सैर के लिए नहीं, पाठ्य-पुस्तकों के लिए था। होली तक उसने मध्यमा का कोर्स पूरा कर लिया। उसके बाद वह हिन्दी के पीछे लगा। गर्मियों के दिन आते-आते कुछ अंग्रेजी भी उसने सीख ली थी। इसके अलावा संस्कृत से हिन्दी और हिन्दी से संस्कृत करने में जो विशेष योग्यता वह हासिल कर सका इसका सारा श्रेय जयकिशोर बाबू को ही देना चाहिए।

बेतिया रतिनाथ को मोतिहारी से अच्छा लगता था। इस बीच में कई बार वहाँ से वह हो आया था। वहाँ की प्राकृतिक शोभा और वातावरण उसे दरभंगा जैसा ही लगता था, मगर जिला स्कूल तो मोतिहारी में ही था। रतिनाथ की इच्छा से तो नरेश बेतिया नहीं आ-जा सकता था। दूबेजी का गुनगुना पिजड़ा उसे अब अच्छा नहीं लगता। नरेश की रुचि पढ़ने-लिखने की ओर थी नहीं। बाध्य होकर रत्ती को उसके साथ ताश, कौआटुटी, मोगल-पठान और बाघगोटी खेलना

पड़ता। यह ठीक है कि अपरिग्रह का बन्धन अब बिल्कुल शिथिल हो गया था और सुवासित तेल-साबुन का व्यवहार, ताम्बूल-सेवन, नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य आदि का दर्शन-श्रवण, चर्व्य-चोष्य-लेह्य का आस्वादन नरेश ने आरम्भ कर दिया था, परन्तु रतिनाथ का हृदय इन बातों को अपनी पढ़ाई का अंतराय समझता था। अपने पूर्वज नीलमाधव उपाध्याय का नाम उसे इस प्रवाह में अपने को भी समा देने से रोक रहा था। उसने सोचा—क्या है, इनके लिए यही विद्या है, यही पढ़ाई है। नरेश और उनके बाप (दुवेजी) को ज़रा-सी छींक पर चुटकी बजाकर 'चिरंजीव' कहनेवाले, इनकी कलाई पर रक्षासूत्र बाँधने वाले पचासों नहीं सैकड़ों निकल आएँगे। मगर उसे कौन पूछेगा? इस उमर में चार अक्षर पढ़ नहीं लिया तो जिन्दगी-भर इन्हीं की जूतियाँ उसकी इष्ट देवता बनी रहेंगी।

तेईस

सौराठ की सभा उस साल वैशाख के ही अन्त में हुई थी। उमानाथ की शादी पंडौल स्टेशन से पाँच कोस पश्चिम महनौली के एक खेतिहर ब्राह्मण की सयानी लड़की से हो गई। सिर्फ दो घण्टे लगे, बात पक्की हो गई। उमानाथ का यह ब्याह इतना चटपट तय हो जाएगा, किसे पता था? सौराठ में यही तो होता है। हजारों विवाहार्थी इकट्ठे होते हैं। कन्याओं की तरफ से उनके अभिभावक बड़ी तादाद में जमा रहते हैं। सभा में यदि कन्याएँ भी शामिल होतीं तो स्वयंवर का यह विराट पर्व न केवल भारत-भर में परन्तु संपूर्ण विश्व में अद्वितीय कहलाता। तब सोनपुर के प्लेटफार्म और हरिहर क्षेत्र के मेले की तरह सौराठ की यह विवाह सभा भी मशहूर हो गई रहती। यद्यपि अपनी मौजूदा स्थिति में भी ब्राह्मणों का यह वैवाहिक मेला अनुपम है।

चौदहवीं सदी में कर्णाटवंशीय राजा हरिसिंहदेव मिथिला के शासक थे। उनके राजत्वकाल में, एक जनश्रुति के अनुसार, किसी अभिजात ब्राह्मणी पर व्यभिचार का आरोप लगाया गया। राजसभा में वह खड़ी की गई। हाथ में पीपल का पत्ता और उस पर आग रखकर धर्माध्यक्ष ने उससे कहलवाया—चाण्डाल से कभी मेरा सम्पर्क नहीं हुआ, अगर हुआ तो इस आग से मेरा हाथ जल जाए। तीन बार ब्राह्मणी ने कहा। हाथ जलने लगा। तब पंडितों का दिमाग चकराया। उन्होंने सोचा—इनके विवाह-सम्बन्ध की छान-बीन करनी चाहिए। कदाचित् इसका पति ही दूषित विवाह-सम्बन्ध के कारण चाण्डाल की कोटि में आ गया हो··· ब्राह्मणी और ब्राह्मण—दोनों के मातृकुल तथा पितृकुल का लेखा-जोखा हुआ। बाप की तरफ से सात पुरखा और माँ की तरफ से पाँच पुरखा तक यदि कुछ लगाव रहा तब तो शादी नहीं होनी चाहिए। कन्या और वर दोनों के पुरखों की

छान-बीन की जाती है तब जाकर ब्याह होता है। उन दोनों की शादी के समय इस गणना में कुछ गड़बड़ हो गया था। पक्का सबूत मिल जाने पर धर्माध्यक्ष ने फिर उस ब्राह्मणी के हाथ पर आग रखवाई और कहलवाया—पति को छोड़कर यदि किसी दूसरे से मेरा लैंगिक सम्पर्क हुआ हो, तो यह हाथ जल जाए। इस तरह कहने से ब्राह्मणी का हाथ नहीं जला।

इस घटना के उपरान्त राजा हरिसिंह देव को इस बात की बड़ी चिन्ता हुई कि मिथिला के ब्राह्मणों का आभिजात्य कैसे सुरक्षित रहेगा। साथियों से परामर्श करके तत्कालीन ब्राह्मणों की उन्होंने पंजी (ब्योरेवार सूची) तैयार करवाई। विद्या, आचरण, कुलीनता आदि का विचार करके बनवाई हुई ब्राह्मणों की अनुक्रमणिका समयानुसार बढ़ती ही गई। प्रत्येक नवजात ब्राह्मण-कुमार का नाम पंजीकार लोग आज भी अपनी अनुक्रमणिका में लिख लेते हैं।

इससे हुआ यह कि शादी-व्याह में ब्राह्मणों को सहूलियत होने लगी। ब्राह्मणों की ऐसी सिलसिलेवार फेहरिस्त भारत-भर में और कहीं नहीं है। पंजीकार लोग इन छः सौ वर्षों तक निर्लोभ और तटस्थ रहकर यह काम करते आए हों सो बात नहीं। कुलीनता बनाम आभिजात्य विनिमय, क्रय-विक्रय आदि का प्रामाणिक इतिहास अभी काल के गर्भ में छिपा रहे, यही अच्छा। वह भी इन्हीं लोगों का शासन था कि रतिनाथ के नाना की दस विमाताएँ थीं। जयनाथ के परदादा ने इक्कीस शादियाँ की थीं। तिब्बत में जैसे बहुपति-प्रथा अभी तक जायज और जीवित है उसी तरह रतिनाथ की मिथिला में बहुपत्नी-प्रथा जायज और जीवित है।

सौराठ इन लोगों का बड़ा बाजार है।

मगर, अब जमाना बहुत बदल गया है। कुलीनता ही काफी नहीं थी, उमानाथ दरिद्र था। उसके बाप और दादा भी दरिद्र थे। उसकी शादी की बात इतनी चटपट जो तय हुई इसका श्रेय ट्राम कम्पनी की नौकरी को था। उमानाथ आजकल चालीस पा रहा था। अंग-अंग से जवानी झांक रही थी। लगता था कि हरोती बांस की कोंपल सर्र से बढ़ आई है और अब उसमें से कैलियां फूटने ही वाली हैं। पतला-छरहरा। क्या ही खूबसूरत किशोर था! फिर भी दो सौ रुपये देने पड़े। जयदेव और जयकिशोर ने अभिभावक का काम किया। पंजीकार वीरभद्र मिश्र ने ताल-पत्र पर सिद्धान्त लिख दिया। उन्हें दो रुपये उसकी लिखाई मिली। यह रकम कन्या वाले ने दी थी क्योंकि उसका वंश कुछ निम्न कोटि का था।

जयदेव और जयकिशोर बारात में गए। तीसरा स्वयं उमानाथ था। अगले दिन से अतिचार पड़ता था। शुभ लग्न का अन्तिम क्षण दोपहर रात तक ही था। जैसे-तैसे सब महनौली पहुँचे। सौराठ से छै कोस पच्छिम।

वर देखकर महनौली वाले खूब खुश हुए। कन्या के बाप का नाम था नन्द झा। लोगों ने कहा—नन्दे को यह काम अच्छा जुतरा। पैसे भी मिले, पात्र भी

मिला। लड़की जायगी तो उसे बरगद की छाँह मिलेगी। कमासुत पति मिलेगा, मुसम्मात सास मिलेगी···और क्या चाहिए?

आँगन में औरतों ने कमीज-कोट और बनियाइन खुलवाकर उमानाथ को गहरी निगाह से देखा। एक मुँहफट खवासिन बोली—आँख मूंद लो भैया, धोती भी खुलेगी।

आ, तू ही खोल दे—अधेड़ उम्र की एक औरत ने अपनी छोटी आँखें नचाकर उससे कहा, वह अप्रतिभ हो गई। उमानाथ को ट्राम कम्पनी का वह बंगाली डाक्टर याद आया जिसके सामने इसी भाँति कपड़े खोलकर खड़ा होना पड़ा था। उस दिन भी पसीना निकल आया था और आज भी। फर्क यही था कि उस दंतटुट्टे डाक्टर ने फोते टटोलकर देखा था। इन औरतों ने वैसा कुछ नहीं किया। एक बुढ़िया ने आगे बढ़कर पूछा—कुछ पढ़ा-लिखा भी है।

—ज ज ज ज्योतिष···थोड़ा···उमानाथ के मुँह से पूरा वाक्य नहीं निकला। उसका दिल बेहद धड़क रहा था। तब तक पुरोहित ने उधर से आवाज दी—सिन्दूर दान का मुहूर्त निकट आ गया। आप लोग जल्दी करें।

धोती बदलकर उमानाथ पुरोहित के पास, वेदी के निकट पहुँचा।

कई प्रकार के विधि-व्यवहार होते-हवाते कन्यादान जब सम्पन्न हुआ तो रात ढल चुकी थी।

अगले दिन जयदेव और जयकिशोर ने वधू का मुँह देखा। चार-चार रुपये मुँहदिखाई दी। लड़की का स्वस्थ सुन्दर चेहरा देखकर दोनों खूब प्रसन्न हुए और भगवान् से प्रार्थना की, वह जैसी रूपवती है वैसी ही सुशीला निकले।

उसी दिन दुपहर को वे दोनों चल पड़े। नन्द झा ने दोनों को दो-दो धोतियाँ और चार-चार रुपये विदाई में दिए। रुपये लौटाकर धोतियाँ इन लोगों ने रख लीं!

शाम तक दोनों शुभंकरपुर पहुँचे। उन्हें लाल धोती पहने देखकर लोग समझ गए कि उमानाथ का विवाह निर्विघ्न सम्पन्न हो गया।

चाची को यह शुभ समाचार कल रात ही मिल चुका था। सौराठ से जो लोग लौटे थे, उन्होंने ही आकर कहा था।

कुल जमा तीन सौ लेकर उमानाथ कलकत्ते से घर आया था। माँ को शक था कि इस बार काम होगा। इसी से पहले इस शुभ समाचार को चाची ने मजाक ही समझा। मगर गुलाबी रंग में रँगी धोती पहने जयदेव और जयकिशोर आकर जब सामने खड़े हो गए तो खुशी से उसकी आँखें डबडबा आईं। जयकिशोर को प्रणाम करते समय उसके हाथ काँपने लगे।

जयदेव ने मुस्कराते हुए कहा—लो उमानाथ की माँ, तुम्हारा काम हमने कर दिया। कब मिठाई खिला रही हो?

वह भावावेश में थी, चुप रही। जयकिशोर बहन की तरफ से बोले—खाइए न, अब से आसिन तक कितना खाइएगा?

और ठीक ही कहा था जयकिशोर ने। गरीब से गरीब सास-ससुर भी नये

दामाद को हरेक त्यौहार पर दही, पकवान, चूड़ा, केला, मिठाई—दो-चार चंगेरा भरिया के द्वारा जरूर भिजवाता है। सन्तान की ससुराल से आई सौगात की यह सामग्रियाँ लोग अड़ोस-पड़ोस में वायना के तौर पर वँटवा देते हैं। सवकी मिठाई सव खाता है। सवका पकवान सव खाता है। शादी के वाद साल-भर तक यही सिलसिला रहता है। सास-ससुर अगर धनी और उदार हुए, फिर तो कहना ही क्या ?

जयदेव चले गए अपने घर की ओर। जयकिशोर वहन के साथ आँगन में आए। वहाँ और कोई तो था नहीं। शाम की ठंडक में वीच आँगन में ही चाची ने कम्वल विछा दिया। पानी लाकर भाई के पैर धोने ही जा रही थी कि रतिनाथ भी आ गया। वह वलुआहा पोखर पर कवड्डी खेलने गया था। लाल-गुलावी धोती पहने दो आदमियों को अपने घर के सामने दूर से ही देखा तो खेल से उसका मन उचट गया और भाग आया। आते ही लपककर उसने मामा के पैर छुए। फिर एक ओर होकर वैठा।

भाई के पैर धोते-धोते चाची वोलीं—हमको तो भरोसा नहीं था। समय-साल खराव है। चीज-वस्तु दिन से दिन ऊपर चढ़ती जा रही है···।

भगवान की कृपा—जयकिशोर ने कहा—सारी वातचीत मिनटों में तय हो गई। रत्ती तो गया ही नहीं था। नहीं तो यह भी इस समय कहीं ससुराल में ही होता।

शर्म से रतिनाथ की कनपटी सुर्ख हो गई, मामा ने अपनी आँखें उसके चेहरे पर गड़ा दीं और वोले—इसी डर से यह सौराठ गया तक नहीं। है न रे !

संकोच के मारे रतिनाथ की गर्दन टूट रही थी। चाची ने इस अवग्रह से उसे छुटकारा दिलाया। उसने कहा—जाओ वेटा, वूढ़े राउत को समझाकर कहना कि मामा वहुत थके हैं। रात में आकर मालिश कर जायँ।

रत्ती झटककर आँगन से निकल गया।

चाची पंखा ले आई थी। झल रही थी। जयकिशोर ने कहा—दो सौ देने पड़े, मगर काम अच्छा हुआ। लड़की सयानी है। खूवसूरत तो है ही।

भाई के एक-एक शब्द को चाची मानो पी रही थी। उसका रोम-रोम कंटकित हो रहा था। जाने कितनी मुसीवतें झेलकर उमानाथ को उसने पाला-पोसा था। कितना कष्ट, कितनी तपस्या इस लड़के के लिए उसने की थी। आज उमानाथ ने शादी की, कल वहू आएगी। परसों चाची जरूर ही पोते का मुँह देखेगी···वह सुख-स्वप्न में डूवने-उतराने लगीं। हाथ में पंखा था, कव उसका डुलना रुक गया और वाँहें निश्चेष्ट होकर घुटने से आ लगीं और कव फिर कम्पित चेतना की सन्धि के किसी क्षण में वाँह अपने आप हिलने लगी और पंखा फिर चलने लगा, चाची को पता नहीं। ध्यान उसका तव भंग हुआ जव एक वार पंखा कम्वल के छोर से जरा छू गया।

जयकिशोर एक नहीं, दसों दफे शुभंकरपुर आ चुके थे। सव देखा-सुना था।

ब्याह के बारे में साधारण बातें कह चुकने पर दिशा-फराकत के लिए लोटा लेकर बलुआहा की ओर निकल गए। चाची रसोई में लगी। जयदेव ने लोटा-भर दूध भेज दिया था। उनकी दो भैंसें दुधारू थीं। दूध-दही के लिए शुभंकरपुर मरुस्थल था। मेहमान आ जाने पर अच्छे-अच्छे गृहस्थ तक गोरस के अभाव में निर्लज्जता का अनुभव करते थे।

जयनाथ अभी तक बड़हड़वा में ही थे। शुभंकरपुर में उनके लिए कोई आकर्षण तो था नहीं। जायदाद बेच-बूचकर स्वाहा कर गए थे। रतिनाथ अब अच्छी तरह समझ गया था कि महादरिद्र तो हूँ ही, पढ़ूँगा नहीं तो बुरी गत होगी। इसलिए प्रतिदिन चार-छह घंटे वह अपनी पाठ्य-पुस्तकों से चिपटा रहता। हाँ, गाँव में कभी-कभी मन ऊब उठता तो मोतिहारी का वह छोटा-सा पुस्तकालय ध्यान में आ जाता। यहाँ ताराचरण के पास 'आज' बराबर आता था, उससे थोड़ा कुछ मनोरंजन हो जाता है। परन्तु उपन्यास पढ़ने की चाट पड़ चुकी थी, इसका क्या उपाय हो?

पोखर में उस दिन मछलियाँ पकड़ी गई थीं। मल्लाह आये थे। केले के थम्भों पर तख्तपोश डालकर उसे मजबूती से बाँध दिया गया था। वही फिर अच्छी-खासी नाव हो गई। तख्तपोश दम्मो फूफी की थी। आठ हाथ लम्बी और छः हाथ चौड़ी। पोखर के बीच में उसे हेला दिया। चारों मछुए जाल लिये हुए उस पर सवार थे ही। समूचे तालाब में घूम-घामकर वे जाल फेंकने लगे। भाकुर, ब्वारी, रोहू, भुनचट्टी, सौरा, नैनी—किस्म-किस्म की मछलियाँ पकड़ी गई थीं। रत्ती को तीन फरीक का हिस्सा दस सेर का एक रोहू मिला था। अट्ठारह में से तीन भाग। एक हिस्सा कमलनाथ का, जो रामगंज में बस गए थे। एक भाग चाची का। तीसरा भाग अपना। रिवाज यह था कि मछुए तीन में से एक भाग, तेहाई, के हकदार हों। इसके मुताबिक उस दिन उन्होंने कुल नब्बे सेर (दो मन, दस सेर) मछलियाँ पकड़ी थीं। तीस सेर उनकी मजूरी हुई थी। साठ सेर पोखर के मालिकों का हुआ। दमयन्ती, भोला पंडित आदि तीन और थे जो चार-चार छँ-छँ पट्टियों के हकदार थे। पोठी, झिंगा या इच्चा जैसी छोटी-छोटी मछलियाँ कभी पकड़ी जातीं—दो सेर होने पर भी अट्ठारह जगह उनका बाँट-बखरा होता।

अकेले इतनी बड़ी मछली लेकर चाची क्या करती? पाँच सेर रखकर बाकी उसने जयदेव के घर भेज दिया था। चीरने पर रोहू के पेट से करीब आधा सेर अंडा निकला था, देखने में ठीक पोश्ता-दाना की तरह।

जयकिशोर निबट आए तो भूना हुआ चूड़ा और रोहू के तले टुकड़े तश्तरी में सामने आये। अंडे के बड़े थे। उन्हें यह सुयोग बहुत दिनों पर प्राप्त हुआ था। चार साल पहले जयकिशोर के ससुर मरे थे। वहाँ तेरही के दिन रोहू मछली का पर्याप्त प्रबन्ध किया गया था। जमींदार थे वह, चार पोखरों के मालिक। भला वहाँ मछलियों का क्या कहना? और इतने दिन बाद आज वही वस्तु आगे आई थी। मोतिहारी में या तरकुलवा में खरीदकर खाना पड़ता था। खरीदकर खाने में

जलयोग कर चुकने पर मालिश का अवसर आया। असल में यह अवसर रात का खाना खा लेने के बाद आया करता है। आप खाकर लेट जाइए। थकावट ज्यादा है। खवास आएगा। हाथ में ज़रा-सी चिकनाई (तेल) मखाकर वह आपके पैरों से शुरू करेगा, एक-एक नस को मानो दुहता चला जाएगा। पैर, गोड़, टाँग, घुटने, जाँघ, कमर, पीठ, पसलियाँ, गर्दन, कँधे, सिर, माथा, कपार, कनपटी, बाँह, केहुनी, कलाई, हाथ, पँजे—अंग-अंग की नसों को दुह लेगा। पँजे से पँजा लड़ाकर अँगुलियों के एक-एक पोर को चटकाकर अपने हाथ एक बार फिर आपके पैरों पर ले जाएगा। घुट्ठियाँ चाँपकर अँगुलियाँ (पैरों की) चटकाकर कुछ देर तक तलवे रगड़ता रहेगा। और अंत में टाँग, जाँघ और कमर में हल्की मुक्कियाँ लगाता रहेगा। तब तक आपकी पलकें झप चुकी होंगी, आप अवश्य ही रेशम की रस्सियों वाले नींद के झूले पर बेभान हो गए रहेंगे। इसमें कम से कम घंटा-भर तो लग जाएगा।

परन्तु जयकिशोर बचपन से ही परदेश रहे। खवासों की इस कला के प्रति उनकी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी। कल और आज पैदल इतना अधिक चलना पड़ा था कि चूर-चूर हो रहे थे, एकमात्र यही कारण था कि अपना बदन राउत से चंपवाने के लिए वह राजी हो गए। फिर भी इस बूढ़े खवास ने अपने तईं कोई कसर न रखी। जयकिशोर की आँखें लग ही गईं।

ताराचरण की माँ, जयदेव की चचेरी बहन, शकुन्तला, रामपुरवाली और नरेश की भाभी ने आकर तीन मंगल गीत गाए। चाची का भी मन था, साथ मिलकर गाए। दूसरा लड़का तो है नहीं कि कभी और गाकर मनोरथ पूरा कर लेगी। किन्तु बेचारी रसोई में मशगूल थी। फिर भी दूसरे गीत में थोड़ा योग दिया था। जयकिशोर को औरतों की इस मांगलिक गोष्ठी का पता तक न चला, वह सो रहे थे। जाते-जाते रामपुरवाली ने कहा—अहा, आज कहीं जयनाथ भी यहाँ होते!

नाक पर उँगली चढ़ाकर और आगे बढ़कर ताराचरण की माँ बोली—उनका क्या, महनौली में समधी का दालान हो चाहे बड़हड़वा वाले बहनोई का दालान हो, कहीं भी बैठा दो, मुदा भंग और कुण्डी-सोटा उनका सही-सलामत रहे···हाँ, यह कहो बहिना, कि कहीं आज बाबू बैद्यनाथ खुद होते तो···

चाची ने लंबी साँस ली और पड़ोसिनों को दरवाज़े तक जाकर छोड़ आईं।

थोड़े काल बाद रत्तो ने धीरे से उठाया तो मामा उठे। खाना पकाने में चाची ने कुछ लेफलेफा नहीं किया। मछली, भात, अंडे का बड़ा। झोल भी दी और तले टुकड़े अलग से भी थे। जयकिशोर मछली के आगे और किसी भोज्य पदार्थ को महत्त्व नहीं देते थे। हाँ, साथ में जम्बीरी नींबू रहना ही चाहिए? 'जम्बीरनीर-परिपूरितमत्स्यखंडे' की तुलना में मैथिल लोग अमृत तक को तुच्छ समझते हैं, राघव (रोहू) का मूँड़ भी जयकिशोर के ही भाग्य में बदा था। पीठ, पेट, पुछरी,

शिर—रोहू के अंग-अंग में पृथक्-पृथक् स्वाद होता है, इससे जयकिशोर अनभिज्ञ नहीं थे। चालीस मिनट लगे होंगे खाने में। भात तो दो ही चार कौर खाए होंगे, रोहू के आगे भात-दाल को कौन पूछता है? मछली पर से दही खाना अच्छा रहता है, मगर वहाँ तो दूध था। चाची को इस अभाव का खेद अवश्य हुआ।

गर्मी की रात थी। तीनों जने आँगन में ही सोए। चाची को देर तक नींद नहीं आई। कल नहीं, परसों उसे कम से कम चार भार तो भेजने ही होंगे। नहीं तो महनौली में लोग क्या कहेंगे? दूध कहाँ से आएगा? केले तैयार कहाँ मिलेंगे! कपड़े और मिठाई तो खैर बाजार से आ जाएँगे। भरिया कौन-कौन जाएगा? राउत एक, बुचिया दो, किसुनी मंड़ड़ तीन और चौथा? बहू के लिए एक-आध गहना जाना ही चाहिए···अच्छा तो है, बाजार से नाक का लौंग मंगवा लूँगी। पन्द्रह लगेगा कि बीस?···

इन्हीं परिकल्पनाओं में जाने कब चाची की आँखें झिप गईं।

चौबीस

गेहूँआ रंग। लंबा कद। फैला हुआ चेहरा। प्रशस्त ललाट। पतले होंठ। बड़ी-बड़ी आँखें। नाक जरा चिपटी। पन्द्रह-सोलह साल का तरुण साफ धोती और नीली धारी वाली पीली कमीज पहने जब उस विशाल आँगन में बेधड़क प्रवेश किया तो सूर्यास्त का समय था।

किसी ने उसे नहीं पहचाना। वह भी किसी को पहचान नहीं पा रहा था कि इतने में कुंजी खवास की औरत जनकमनि सिर और कमर पर पानी भरे दो घड़े लिये पहुँची। आगंतुक का मुँह देखते ही वह उल्लास से चिल्ला उठी—दइया री दइया! यह तो रत्ता बबुआ है। कितना बड़ा हो गया है!

तब तक दो मामियाँ सामने घर से दौड़ आईं। नानी बीच आँगन में खजूर की सितलपाटी पर बैठी थीं, वह भी उठ खड़ी हुईं। उनके हाथ में बाँस की बिजनी थी। गर्मी के मारे सारे बदन में फुंसियाँ निकल आई थीं। बिजनी के बेंट से पीठ खुजलाती हुई वह भी चार कदम आगे आईं।

बड़ी मामी ने रत्ती के हाथ से गठरी ले ली और कहा—नानी को नहीं पहचाना?

वृद्धा के पैरों पर धब से पड़कर उसने प्रणाम किया। नानी रो पड़ीं—भूल गए हमें बेटा?

अपनी मृत पुत्री की पुरानी स्मृति इतने जोर से उभर आई कि वृद्धा का गला रुँध गया। वह आगे लपकी और लड़के को छाती से लगा लिया। माथे पर हाथ फेरते हुए मानो संतोष ही नहीं हो रहा हो! वात्सल्य का यह रूप रतिनाथ

ने आज तक नहीं देखा था। उसके जीवन में सर्वप्रथम यह रस उँड़ेलने वाली चाची थी। उसको माँ की तो याद तक नहीं है। ननिहाल पूरे दस साल पर आया है…

ओसारे पर घड़े रखकर जनकमनि भी स्वागत के इस अद्‌भुत समारोह में शामिल हो गई। मौका पाकर बोली—और मामियों को परनाम नहीं किया? और मैं? तुम क्या जानो, मैंने तुम्हें साल-भर अपनी छाती का रस पिलाया है…

मामियों को अनजाने तो पहले भी वह प्रणाम कर बैठा था, अब जान-बूझकर प्रणाम किया। तब तक नानियों और मामियों की पूरी पलटन आकर आस-पास खड़ी हो गई। बात यह थी कि रतिनाथ के नाना पाँच भाई थे। अपने और चचेरे कुल मिलाकर सत्रह मामा थे। बारह मौमियाँ थी। चौदह मामियाँ थीं। सचमुच उसका मातृ-कुल बहुत विशाल था।

नाना रुद्रधर पाठक संत और झक्की स्वभाव के आदमी थे। जयनाथ उनको फूटी आँखों भी नहीं सुहाते। प्रतिदिन तीन पहर तक उनका पूजा-पाठ चलता। उसके उपरान्त भोजन। दिन-रात में केवल एक बार। बाल-बच्चे, नौकर-चाकर मिलाकर तिरसठ प्राणियों के उस महान् परिवार के वह कुलपति थे, बारह सौ बीघा जमीन के मालिक। चालीस बैल थे, बीस हल। अठारह भैंस। तीस गाय। पाड़ी-पाड़ा, बाछी-बाछा सब जोड़कर अस्सी के लगभग मवेशी थे। पक्का और बड़ा, चार ओसारों वाला दालान था। पहियों वाले पाँच बड़े-बडे सन्दूक उन ओसारों पर पडे रहते थे। दालान से पूरब जरा हटकर एक कतार में ग्यारह बखार थे, चिकनी मिट्टी से लिपे-पुते और गोल-मटोल। उन्हें देखकर किन्हीं पंक्तिबद्ध ऐतिहासिक स्तूपों का भ्रम होता था।

रतिनाथ ने उठकर सबको प्रणाम किया। इस समय मर्द एक भी अन्दर नहीं था। गोधूलि का समय क्या घर में घुसे रहने के लिए है? दिन के काम से थके और गर्मी से ऊबे गृहस्थ शाम को पोखर और विरलवृक्ष बागों की ओर निकल जाते हैं। बूढ़े दालान के आँगन में पड़ी चारपाइयों और तख्तपोशों पर, खुले आसमान के नीचे। बच्चों को अपने बीते दिनों की बातें सुनाना उनके लिए सबसे बढ़कर मनोरंजक काम हुआ करता है। शाम का वक्त मखौलिए नौजवानों और अधेड़ों से पीछा छुड़ाकर वृद्धों को मनोरंजन का यह अवसर प्रदान करता है। वे दिल खोलकर तब बच्चों से कहते-सुनते हैं। सुनते कम, कहते अधिक।

रतिनाथ को संकोच हो रहा था यह पूछते कि नाना कहाँ हैं, मामा कहाँ हैं? और कहाँ इस वक्त उनसे भेंट हो सकेगी? नानियों और मामियों की उत्सुकता, उनका अकृत्रिम वात्सल्य, सहज आत्मीयता—ऐसा लग रहा था मानो किसी अमृतकुंड में उसको आकंठ खड़ा कर दिया गया हो।

अपनी छोटी मामी ने स्नेहपूर्वक उसके पैर धो दिए और अन्दर कमरे में ले गई। वहाँ भिगोया हुआ चूड़ा, दही और केले से रत्ती ने जलपान किया। बातें और मौखिक छेड़खानी करके छोटी मामी भगिना बाबू का संकोच काफी हद तक

हटा चुकी थीं। रती प्रसन्न होकर कमरे से निकला और दालान पर आ पहुँचा।

नाना को बाल-मंडली से अपने दौहित्र के आने की सूचना मिल चुकी थी।

वह दालान के नीचे, आँगन में पड़ी एक बहुत बड़ी तख्तपोश पर पल्थी मारे बैठे थे। आगे, कुछ हटकर एक छोटी चौकी पर पीतल का बहुत बड़ा लोटा रखा था। उसी चौकी से टिकाकर बाँस की सुन्दर फराठी (फट्टी से तैयार की हुई छड़ी) रखी थी।

नाना के सामने अर्धचन्द्राकार बालपरिषद् बैठी थी। वह अनुशासक और प्रवक्ता की तरह परिषद् को कुछ समझा रहे थे।

उनकी देहकान्ति गौर-श्याम थी। चेहरा गोल था। चौड़े कन्धे। तना हुआ सीना। लम्बी-लम्बी बाँह। वैसी विशाल काया शुभंकरपुर में कहाँ किसी की थी? बाल, दाढ़ी, मूँछ सब सफेद हो चुके थे। भौंह और कान तक के बाल सफेदी पकड़ चुके थे। दीप्त ललाट, छोटी-छोटी आँखें और कान बहुत भले लगते थे। नाक नुकीली नहीं थी। होंठ न पतले थे न मोटे। गले में स्फटिक की माला थी। पीला और बारीक यज्ञोपवीत बाएँ कन्धे से वक्षस्थल के बीच और वहाँ से दाहिनी ओर पेट और कमर की तरफ लटक रहा था। दाहिने हाथ की अनामिका में चांदी की पवित्री थी। वह साफ धोती पहने हुए थे। पास में अँगोछा रखा हुआ था।

रतिनाथ ने दोनों पैर छूकर प्रणाम किया। नाना ने माथा और पीठ पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिए—आयुरानन्दयोर्वृद्धिरस्तु (आयु और आनन्द की बढ़ती हो)।

रती प्रणाम करके एक ओर बैठ गया तो नाना बोले—क्यों रतिनाथ, मैं समझता था कि जब तक ओझा (जयनाथ) जियेंगे तब तक तुम नहीं आओगे और अब इन आँखों से तुम्हें देख नहीं पाऊँगा। खैर, आ गए।

रती गुम ही रहा।

नाना ने फिर घर का हाल और पढ़ाई-वढ़ाई के बारे में पूछा। रतिनाथ संक्षेप में उत्तर देता गया। अन्त में उन दर्जनों लड़कों का नाम और रिश्ता उन्होंने अपने दौहित्र को बताया—यह हिमकर हैं। यह श्रीकर, वह क्षेमकर, वह शंकर, वह दिनकर, यह सुधाकर, वह रहा मधुकर, पद्मनाभ, रेवतीरमण, इन्द्रकान्त, गोपीकांत, जयकान्त, श्रीनाथ, शिलानाथ, एकनाथ, लक्ष्मीनाथ, जटाधर, श्रीधर, गंगाधर, धरणीधर···यह सब तुम्हारे ममेरे भाई होंगे। और भी हैं। नाना झोंक में आ गए थे। पचीस-तीस नाम बता गए। रतिनाथ लद गया।

थोड़ी देर वहाँ बैठकर वह टहलने के लिए निकला तो कई और समवयस्क साथ हो लिए।

रती का यह ननिहाल, मानिकपुर, जोगियारा स्टेशन से एक कोस पच्छिम पड़ता था। पूछ-पूछकर वह पहुँचा था। सड़क कच्ची थी। और, मानिकपुर तो बड़ा ही प्रसिद्ध गाँव है। पाठकों की खानदान पास-पड़ोस के पच्चीस कोस देहात में मशहूर थी। ये लोग कुलीनता की दृष्टि से निम्नकोटि के ब्राह्मण थे। आचार-

विचार, शील-स्वभाव, ठाट-बाट, धन-दौलत, यह सब प्रमाणित करता था कि इनमें वैशाली के लिच्छवि और मिथिला के विदेह इन दोनों गणों का रक्त मिश्रित है। यह भी क्या कोई रहस्य है कि इन पाठकों का सम्पर्क एक ओर दरिद्र मैथिलों से है तो दूसरी ओर धनाढ्य भूमिहारों से भी। इनका मालिक कोई दूसरा जमींदार नहीं है। अब भी चालीस सौ बीघे का इतना बड़ा रकबा पाठक लोगों की खास अपनी जायदाद है। आसपास के कई गाँवों की जमींदारियों में वे पट्टीदार हैं। इनके गोतिया और भी कई जगह हैं। मगर यहाँ मानिकपुर में पाठकों के छोटे-बड़े बावन परिवार हैं। इस गाँव के बाकी ब्राह्मण भी, जो पाठक नही हैं, इन्हीं लोगों के भाँजे, दौहित्र या उनकी औलाद हैं। ब्राह्मणों की कुल आबादी सत्रह सौ पचहत्तर है परन्तु सभी की धमनियों में एक ही रक्त प्रवाहित है। पाठक कुल एक जटायु वटवृक्ष है जिसके दसियों धड़ और पचीसों शाखाएँ होती हैं। फिर उन शाखाओं की पचासों डालें, सैकड़ों डालियाँ एवं हजारों टहनियाँ। बड़े-बूढ़ों के श्राद्ध में, लड़कों के मूंड़न-छेदन और उपनयन में पाठकों के यहाँ जब जातिभोज—कुलभोज होता है तो वह दृश्य देखकर अवश्य ही आप मुग्ध रह जाएँगे। उस समय आपस का सारा वैमनस्य, व्यक्तिगत राग-द्वेष से अंकुरित छोटे-मोटे झगड़े—सब भूल जाते हैं वे। पंक्तिबद्ध होकर बैठते हैं और दो-दो घंटे तीन-तीन घंटे तक वह महाभोज चलता रहता है। पाठकों की परम्परागत अनश्रुतियाँ, वीरता के आख्यान इतने अधिक हैं कि एक पोथा बन जायगा।

माँ मरी थी तो रतिनाथ नानी के पास रहने लगा था। साल-भर रहा होगा कि एक ऐसी बात हो गई जिससे जयनाथ क्रुद्ध होकर लड़के को ले आए। तब से कभी रत्ती को बाप ने मानिकपुर नहीं आने दिया था। इस बार साहस करके वह स्वयं ननिहाल आया हुआ था।

नानी एक बड़े ही भद्र और कुलीन ब्राह्मण की सन्तान थी—माँ-बाप की तीसरी बेटी। बचपन में ही उसके माँ-बाप मर गए। चाचा ने तीन सौ में बेचारी को पाठकों के कुल में बेच दिया। अभाव-अभियोग के बीच पनपने वाली इस स्त्री का स्वभाव ऐसा उदार और विनीत होगा, किसे पता था? जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ा होगा। सन्त और सनकी स्वभाव के पति मिले। तिस पर इतने बड़े परिवार की जिम्मेवारी! नानी ने अपने माँ-बाप और नइहर के नाम पर कभी धब्बा नहीं लगने दिया। कम से कम पहना, कम से कम खाया-पिया। अधिक से अधिक बर्दाश्त किया, अधिक से अधिक सुना। अपने को पति-कुल की गतिविधि में, क्रिया-कलाप में इस भाँति खपा दिया कि आज सारा मानिकपुर शशिधर (मामा) की माँ का नाम लेकर ही सुबह-सुबह आँख खोलता है। नानी पुण्यश्लोक हैं, प्रातःस्मरणीय हैं। पंचकन्या के बाद इस नर्मदा का नाम कोई कवि जोड़ दे तो अनर्गल नहीं होगा।

मानिकपुर और पाठकों का राज। ननिहाल में रतिनाथ का मन ऐसा रमा कि पैंतीस रोज रह गया। संसार ऐसा स्वर्गीय है, इतना मनोरम है—रत्ती ने इन

बात की कल्पना तक नहीं की थी। मोतिहारी के विद्यालय में पंडित जी संसार की तुलना मछली के तले टुकड़े से करते थे। कोई चाहेगा कि काँटे न हों, मछली ही मछली हो, सो कैसे होगा ? सुख को दुख से बिल्कुल अछूता रहकर भोगा नहीं जा सकता। रतिनाथ सोचता था, नहीं, संसार उजाड़ है। इसमें दुख ही दुख है। परन्तु ननिहाल की दुनिया से वह इतना प्रभावित हुआ कि सारा ब्रह्मांड उसे एक विराट् रसगुल्ला जैसा दीखने लगा।

उस बार आमों की फसल खूब तो नहीं, मगर आठआना जरूर हुई थी। नाना के पास पचास बीघों का बाग था। कलमी ही कलमी आमों का। बम्बई, मालदह, किसुनभोग, कलकतिया, फजली, दड़मी, जर्दालू, शाहपसन्द, सुकुल, सिपिया, कपुरिया, दुर्गोलाल का केरवा, बथुआ, राढ़ी, भदई, मोहरठाकुर की भदई। मालदह आमों का राजा है। बनारस की तरफ यही लँगड़ा कहलाता है। बम्बई सबसे पहले पकने लगता है। मालदह पतला छिलका, मामूली गुठली और अपने विशिष्ट स्वाद के लिए मशहूर है। बम्बई का छिलका मोटा होता है मगर मिठास गजब की होती है उसमें। किसुनभोग दुलरुआ ठहरा, जरा-सी असावधानी से उसमें पीलू पड़ जाते हैं। गूदा कड़ा और काफी रहता है उसमें। शकल बिल्कुल गोल। कलकतिया गरीबों और साधारण जनता का प्रिय ठहरा। खूब फलता है और साल-साल। भादों तक टिकता है। माकूल मिठास और भरपूर गूदा। सुलभ और सस्ता। उसका नाम ही गरीबनेवाज रख दिया है लोगों ने। फजली का नम्बर किसी की राय में तीसरा और किसी की राय में चौथा है। शकल के ख्याल से इसका स्थान दूसरा समझना चाहिए। प्रथम स्थान दुर्गोलाल के केरवा को प्राप्त है। दुर्गोलाल का केरवा दो-दो सेर तक का देखा गया है परन्तु स्वाद में वह असाधारण नहीं होता। दड़मी, जर्दालू और साहपसिन (शाहपसन्द) यह तीनों सगे हैं। आकार में जर्दालू बड़ा और अन्दर से पीला होता है। सुकुल और सिपिया को आम के शौकीनों में काफी इज्जत है। सुकुल की गुठली धागेदार या सनवाली होती है। घुला हुआ सुकुल चूसने की चीज है; दाँतों से छीलकर खाने की नहीं। सिपिया की शकल सीपी की तरह और स्वाद मनोरम होता है। कपुरिया और सिपिया में केवल स्वाद का भेद है, आकार का नहीं। कपुरिया का स्वाद और गन्ध ठीक कपूरी मालूम होगा। बथुआ आसिन तक चलता है, स्वाद में साधारण। राढ़ी, भदई, अपने पतले छिलके और सुरभित माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है। उसका मौसम आधा सावन और भादो है। मोहर ठाकुर की भदई छोटी और नुकीली होती है। राढ़ी का छिलका पीला और गूदा थोड़ा लाल होता है,...

कलमी आमों का यह परिज्ञान रत्ती को नाना की कृपा से हुआ था। बाग में मचान पर बैठे हुए नाना ने एक बार कहा था—अब इन बातों का शौक लोगों में रहा ही नहीं। देखो न, इतना बड़ा बाग है तो क्या आज का है ? तीन पुरखों की तपस्या का फल है। इसमें कितने ही पेड़ अब बूढ़े और रोगी हो गए हैं, साल-साल आँधी-तूफान में दो-एक पेड़ जड़-मूल से उखड़कर धराशायी हो जाते हैं परन्तु

उनकी जगह नये कलम रोपने की चेष्टा कोई नहीं कर रहा। लड़के अहदी हो गए हैं। किसी की कोई सुनता नहीं।

पुराने पेड़ों की जगह मे नये थाले पड़े अवश्य थे परन्तु उनकी संख्या कम ही थी। रुद्रधर पाठक को इतने से भला क्या संतोष होता?

कलमी आमों के इस बाग को छोड़ दें तो वहाँ बीजू आमों का एक दूसरा बाग भी था। बीजू आमों का बगीचा 'गाछी' कहलाता है। स्वाद के ख्याल से लोग कलमी आम पसन्द करते हैं, फायदे के ख्याल से बीजू। बीजू का दूसरा नाम शरही या तुखमी भी है।

बगिया अब उजड़ रही थी। लकड़ी के अभाव में बड़े-बड़े गाछ कट रहे थे। डेढ़-डेढ़ सौ वर्ष की उम्र के विशालकाय वृक्षों के आम रत्ती को यही मिले थे। ये उसकी घिवही के परदादा थे! रूप और गुण के अनुसार आमों के अलग-अलग नाम होते हैं। वहाँ सौ पेड़ बच रहे थे, सबके नाम याद रखना असम्भव है। कुछ नाम अब तक रतिनाथ को याद हैं—केरवा, परोड़िया, बुनक्का, करिअम्मा, धुमनाही, लडुब्वा, केरवी, घिवहो, रोहिणिया, बेलहा, चक्रपाणिभोग, रतुठिया (लाल होठों वाली) कठमिया, कोनैला, तिमरंगा, सिनुरिया, पहुनपदौना, अमतहा, सनहा, तमहा, चपेलवा और बड़ालेट करोड़ों की तादाद में फलते और आँधी-तूफान का मुकाबला करते झड़ते-झड़ते पकने के मौसम तक लाखों की तादाद में बचे रहते थे। बेल जैसे स्वाद के कारण बेलहा 'बेलहा' था। शकल में छोटा। चक्रपाणिभोग का छिलका बेहद मोटा और रस गाढ़ा था। मिठास उसमें खूब थी। बड़ालेट बड़ा रसीला ठहरा। शकल-सूरत में पहुनपदौना अद्वितीय था मगर चूसने के लिए मुंह लगाते ही आपकी नाक-भौं टेढ़ी हो जाती, जीभ विरस हो जाती और रोम-रोम सिहर उठता। हास-परिहास एवं छकाने की नीयत से मनचले नौजवान यह आम पाहुनों को थमा दिया करते—पहुना, यह कपुरिया आम है; ऐसा स्वादिष्ट आम आपको कहाँ मिलेगा! उल्लसित होकर पाहुन महानुभाव जब उसमें मुंह लगाते तो हे राम! बेचारों का बुरा हाल होता! खिलाने वाले ठहाका मारकर हँस पड़ते हः हः हः हः हिः हिः हिः हिः···

रतिनाथ कुछ दिन और रहना चाहता था मगर चाची का बुलावा आ गया।

पच्चीस

ससुराल में सत्रह रोज रहकर उमानाथ घर आया। रामपुरवालों ने अपने जमाई की जिस प्रकार धूम-धाम से विदा की थी, उमानाथ के सास-ससुर ने उस प्रकार अपने दामाद की विदाई नहीं की। काँसे की मामूली थाली, एक बड़ा और छः छोटे कटोरे। लोटा-गिलास। रसोई के साधारण बर्तन। कम्बल-दरी और चादर-तकिया। जूता-छाता। दो जोड़ा धोती। एक चादर और पाग-दुपट्टा।

मगर चाची इतने में ही मग्न थी। केला, दही, चूड़ा, मिठाइयाँ, पकवान। गरी-छुहारे, मेवा-मखान। चाची ने कुछ नहीं रखा, सारा बंटवा दिया।

उमानाथ एक मास का अवकाश लेकर आया था। तीन सौ साथ लाया था। दो सौ माँ ने निकाले थे! शादी में कुल मिलकर चार सौ रुपये उठे। मधूश्रावणी (तीज) में फिर वह ससुराल जा सकेगा, इसकी संभावना नहीं थी। फिर भी गौरी-पूजन और साधारण त्यौहार के लिए साड़ियाँ वगैरह महनौली भेजी ही जाएँगी, इसीलिए बाकी रुपये उसने माँ के ही पास रहने दिए।

उमानाथ कलकत्ता चला गया।

चाची के हृदय को एक बार फिर जोर का धक्का लगा। सोचा था, समाज जैसे पुरानी बात को भूल गया है वैसे ही उमानाथ भी भूल गया होगा। अपनी माँ की पहली और शायद आखिरी भूल को भूल गया होगा···मगर वह लड़के की रुखाई देखकर भीतर ही भीतर रो रही थी। उमानाथ जिस दिन जानेवाला था, माँ ने सहमते हुए पूछा—भैये, अगहन में गौना करा लाना ठीक रहेगा न?

लड़का कुछ बोला नहीं, जूते पहनकर फीता कस रहा था।

उत्तर के प्रति अवज्ञा की घोर भावना उमानाथ के चहरे पर लाली बनकर छा गई। आकृति का यह रूपान्तर देखकर चाची को साहस नहीं हुआ कि दुबारा वही प्रश्न पूछे। चलते-चलते उमानाथ ने दिखावटी तौर पर माँ के पैर छू लिए। माँ की आँखें सजल हो आईं, आहत मर्म की नीरव वेदना का वह प्रतीक—आँसू—लड़के ने देखना नहीं चाहा। उलटे, कड़ककर कहता चला गया कि चर्खा चलाकर तूने दुनिया-भर को बतला दिया : उमानाथ आवारा है, कलकत्ता में खुद तो मौज मारता है और घर पर माँ जुलाहिन हुई जा रही है। खबरदार! अब कभी चर्खा छुआ तो हाथ काट लूंगा···

उमानाथ आँगन से बाहर निकला और चाची सितलपाटी बिछाकर लेट गई। आँखों से अश्रु का अविरल प्रवाह निकल चला। वह अब नहीं जिएगी, अवश्य मर जाएगी। इस जीवन से मृत्यु लाख गुना श्रेयस्कर है। कुतिया से भी गई-बीती हूँ मैं!—चाची ने सोचा—रोज खाकर उठने के बाद अतूऽऽह अतूऽऽह अतूऽऽऽऽ की आवाज लगाकर उमानाथ कुतिया को बुलाता था और पूरा कौर भात खाने देता था। चुमकारता था, पुचकारता था। और, मैं तुम्हारी माँ हूँ उमानाथ! क्या मैं कुतिया से भी बदतर हूँ?

अवश्य तू कुतिया से भी गई-गुजरी है—चाची के अन्तस्तल से आवाज आई—तू जीने योग्य नहीं है। तेरे कलेजे में जितनी सुइयां चुभोई जाएँ उतना अच्छा। सिसक सिसककर तू जितनी ही रोएगी, मेरा कलेजा उतना ही ठंडा होगा। चुड़ैल, तेरा सत्यानाश हो। कुहर-कुहरकर मरे तू। तेरे अंग गलकर गिरें···

कि एकाएक उनकी आँखों के आगे किसी किशोरी की सौम्य, संयत प्रतिमा कहीं से अलक्षित ही आकर खड़ी हो गई। चाची का रोम-रोम सिहर उठा···यह उनकी कल्पना की पुत्रवधू थी। गद्गद होकर चाची ने आँखें मूंद लीं। उसे भान

हुआ, वह नजदीक आई है और अपनी तिनपढ़िया साड़ी के आँचल से सास के आँसू पोंछ रही है। आह ! कितना शीतल स्पर्श है लाह की चूड़ियों और कंगन वाले इन मृदु-मांसल हाथों का ! ओह !···अपनी नई-नवेली पुत्रवधू का भला कौन-सा नाम मैं रखूँगी ! पद्मसुन्दरी ? जयमुखी ? चन्द्रमुखी ? नहीं, पद्मसुन्दरी ही ठीक रहेगा···

कोने में से निकलकर एक चुहिया घर में विहार करने जा रही थी। उसने चाची का ध्यान आकृष्ट किया। किसी घरेलू दुर्घटना में बेचारी की दुम थोड़ी कट गई थी। बेहोश हालत में देखकर चाची ने ज़रा 'अमृतधारा' लगा दी थी। फिर क्या था ? चार दिन में वह चंगी हो गई और पहले के माफिक उछलने-कूदने लगी। वह इतनी ढीठ बन गई थी कि चाची के पैर, हाथ, मुँह, सिर सूंघ जाती और चाची उसकी इस धृष्टता को उल्लसित होकर, स्मितमुखी होकर बर्दाश्त करतीं। आज उसे देखते ही उन्होंने विचारा—मनुष्य होकर जन्म लेना अच्छा नहीं है। हे भगवान् अगले जन्म भले ही मैं चुहिया होऊँ, भले ही नेवला, मगर चेतनामय इस मानव समाज में फिर कभी न पैदा होऊँ। ओह, जो औरतें किसी विषाद के कारण कुएँ में कूदकर या गले में फंदा डालकर अपने प्राणों का अंत कर लेती हैं, अवश्य ही पुनः इस मानव-योनि में उनका जीव नहीं आता तो क्या मैं वैसा नहीं कर सकती हूँ ? कुआँ में कूदना और कूदकर जान देना आसान नहीं है। लोग मानते नहीं, निकाल डालते हैं। हाँ, घर में फंदा लगाकर झूल जाने से ठीक रहेगा। जिस किसी के हाथ पड़ूँगी निष्प्राण, निश्चेष्ट, निस्पन्द शव के रूप में ही; जीवित नहीं।

तब फिर उमानाथ का ख्याल आया। विचार जब उड़ते-उड़ते आसमान को छू लेता है, अवश्य ही उस स्थिति में वह जोर का पलटा खाता है। हिचकी लेकर एक बार सिहर उठी। उसने सोचा—विधवा होकर मैं गर्भवती हुई और आठ मास का बच्चा कोख से निकलवाया। चमाइन उसे जंगल-झाड़ी में फेंक आई ! ऐसी माता हूँ मैं ! और, अब गले में फंदा लगाकर मरूँगी तो बेचारा (उमानाथ) सुयश का ऐसा भारी पहाड़ कैसे सँभाल सकेगा ? ना, माँ को लेकर जितना यश उसे अब तक मिला है वही पर्याप्त है। फाँसी लगाकर, गौरी, स्वयं तो तू भवबन्धन से छुटकारा पा लेगी लेकिन उस अभागे का क्या होगा ?

परन्तु जीवन की एकमात्र आशा—पुत्र जब इस प्रकार विमुख हो रहा है तब किसके बूते वह अपने दिन काटेगी ? अपमान या आघात स्वजन की ओर से जब होता है तो उसकी असह्यता कई गुना अधिक होती है।

और समाज में कैसे विषधर छिपे पड़े हैं ! जाने किसने उमानाथ के कान भरे थे ! चाची की यह ज़रा भी खुशहाली जाने किसे चुभ रही थी !

चर्खा और तकली कातते-कातते चाची के हाथ में घट्ठे पड़ गए थे। सारा गाँव जानता था कि कितनी कड़ी मिहनत वह करती थी। आठ घंटा, दस घंटा ? व्रत का दिन हो या उपवास का, पर्व का हो चाहे त्योहार का। चाची का यज्ञ कभी समाप्त नहीं होने वाला था। बदले में वह पाती क्या थी ? तीस-पच्चीस

रुपये मासिक। कभी यह आमदनी तीस तक पहुँच जाती थी। अपने खाने में तो बहुत ही कम खर्च करती, दस से अधिक कभी नहीं। बाकी पैसे जमा रहते या घर के किसी काम में लगते। दस-पाँच उधार उससे कौन नहीं ले गया होगा? कभी चाची ने ना नहीं किया। सास-ससुर, बाप और पति बर्षी में पाँच-सात ब्राह्मणों को बराबर वह खिलाती आई थी। घर छवाने के लिए साल-साल फूस चाहिए, डोरी चाहिए, मजदूर चाहिए। एक दिन, दो दिन बाद देकर अतिथि-अभ्यागत आ धमकते, उन्हें दो मुट्ठी चावल का भात खिलाए बिना चाची स्वयं कैसे दाना-पानी मुँह में डालती? पर्व-त्यौहार साल में दसों पड़ते हैं, उन दिनों कुछ न करो तो देवता नाराज हो जाते हैं और लक्ष्मी चिढ़ जाती हैं···यह सब आखिर कहाँ से होता था?

उमानाथ ने इतना भी नहीं सोचा कि शादी में जो चार सौ लगे हैं और सौ रुपया यह जो और जना है सो यह कहाँ से आया? तीन सौ उसकी कमाई के ठीक हैं, मगर बाकी दो सौ कहाँ से आया? यह सब ओछे स्वभाव वाले उस नौजवान ने कुछ भी नहीं सोचा! बस रामपुरवाली चाची की चुगलखोरी पर ही अपने सम्पूर्ण विश्वास को उसने टिका दिया! माँ के प्रति तिलशः पुंजीभूत अश्रद्धा को प्रकट करने में क्या कोई दूसरा रास्ता नहीं था?

चाची ने अपनी दृष्टि से भी सोचा और उमानाथ की दृष्टि से भी। फिर भी इस प्रकार तिरस्कृत जीवन की चरितार्थता उसकी समझ में नहीं आई। कौन-सी भावना है जिसे वह जीवन की सार्थकता के प्रमाण में पेश करे?

अगहन में उमानाथ गौना तो करेगा ही। चाची ने निश्चय किया, पतोहू का मुँह देखकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेनी चाहिए। फिर वही बात? नहीं, वह बात नहीं। जीवनलीला के समाप्त करने में पल-भर भी लग सकता है, पहर-भर भी। मास, छै मास, साल-भर भी लग सकता है। अलक्षित रूप में अपने को बीमार कर लेना, दवा-दारू नहीं करवाना और लगातार कुपथ्य और असंयम करते चले जाना···इस तरह कोई मरता है तो घर वालों की बदनामी नहीं होती। और यहाँ तो टलती बला को जानकर कोई भी 'हाय, हाय', नहीं करेगा!

इस निर्णय ने चाची की आँखें चमक उठीं और वह उठ बैठी। हाथ पर ठुड्डी टेककर उसने देखा—लाश तुलसी-चौरे के नजदीक पड़ी है। मुँह उत्तर की ओर है। रतिनाथ निकट ही बैठा है। उसकी आँखों से आँसू की धारा अविराम बह रही है···वहाँ और कोई नहीं है।

रतिनाथ।

हाँ, रतिनाथ ही अपने हाथ से मेरा अंतिम संस्कार करेगा। वह मेरा मानस पुत्र है। चाची का चिन्तन-चक्र चलने लगा···रत्ती ने कुछ ही दिन पहले कहा था—चाची, पता नहीं, माँ कैसी हुआ करती है! मगर मेरे लिए तो तुम्हीं माँ हो। हो न चाची!

और तब अपने उच्छ्वसित आवेग को छिपाने के लिए चाची ने उसके गाल

पर हल्की-सी एक चपत जमा दी थी—दुत् पगले! अप्रतिभ आँखों से लड़के ने चाची की आँखों में झाँका। इनमें छलकते वात्सल्य का तरल रूप पाकर रतिनाथ का चेहरा खिल उठा···उस समय तकली कात रही थी। डेढ़ सौ नम्बर का महीन सूत। अपने ध्यान को फिर से उसने एकाग्र कर लिया था। किन्तु वैशाख शुक्ल दशमी की चाँदनी रात क्या कम आकर्षक होती है? रतिनाथ ऊपर निगाह किए गगन विहारी चन्द्रमा की ओर अपने को टिकाए हुए था। जहाँ तकली की कटोरी थी वहीं उसके सिर की छाया पड़ती थी। बस, आधे बित्ता का फासला हो तो हो। छाया में चाची ने देखा, उसकी ओर गर्दन को तिर्छी करके रत्ती ने दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली में चुटिया के लम्बे बालों को लपेट लिया है। थोड़ी देर बाद चुटिया के बालों से अँगुली छुड़ा ली और उसे इस भाँति हिलाने लगा मानो शून्य में कुछ लिख रहा हो। अन्त में उसी अँगुली से उसने अपनी गर्दन को मानो रेतना शुरू किया। फिर एकाएक पूछ बैठा—क्यों चाची, मुझे कोई जान से मार दे तो तुम बहुत रोओगी?

चाची ने उसे डाँट दिया—भाँग तो नहीं पी आए हो?

वह झेंप गया और सुजनी पर जाकर सोने की तैयारी करने लगा···

रतिनाथ के हृदय का पता चाची को खूब था। रत्ती भी चाची को खूब पहचानता था।

आज चाची ने भगवान् से प्रार्थना की कि उसका अन्तिम संस्कार रतिनाथ के हाथों ही हो। पुत्र को जब माँ पर इतनी घृणा है तो यह अप्रिय कार्य उसे न करना पड़े—यही एकमात्र कामना थी जिसने बार-बार उस दिन चाची से हाथ जुड़वाये।

कालाजार और मलेरिया का शिकार बन जाना शुभंकरपुर वाले के लिए बड़ा आसान था। चाची को निश्चय था कि इस बार वह अपने को इस मोर्चे पर आगे कर देगी और फिर देखा जायगा।

दिन ढल गया था मगर चाची ने खाना नहीं खाया।

उमानाथ की ससुराल का सामान सहेज-सँभालकर एक ओर रख दिया। मन हुआ कि चर्खा तोड़कर फेंक दें। मगर नहीं। इसने पिछले पाँच साल से जीवन का साथ दिया है, अब उमानाथ के कहने से वह इसको छोड़ बैठेगी? ना, ऐसा नहीं हो सकता। उमानाथ चाहे चमारिन कहे, चाहे जुलाहिन, चाची चर्खा नहीं छोड़ेगी।

कि इतने में बादल गड़गड़ा उठे। चाची बाहर निकल आई घर से। देखा, पश्चिम का आकाश काली घनघटा से छा गया है। उसे रतिनाथ याद आया। अभी रहता तो बाग की ओर दौड़ता। आँधी-तूफान के इन अवसर पर जो भी दस-पाँच आम होंगे सब गिर पड़ेंगे। फटे-फूटे कच्चे आमों का और क्या होगा? अचार बनेगा। कसौंझी बनेगी। अमचूर बनेगा, चटनी और कुच्चा। रतिनाथ के अभाव में टोल-पड़ोस के और लड़के क्या बैठे रहेंगे?

रत्ती आजकल तरकुलवा में था। अब ननिहाल होगा या जाने वाला होगा।

दच्छिन वाला घर छवाई के अभाव में चूने की सूचना पहली बारिश में ही दे चुका था। यह तीसरा साल था। इस बार यदि नई फूस छप्पर पर नहीं पड़ेगी तो बरसात में समूचा मकान बैठ जायगा। चाची ने बड़े खेद के साथ उस घर की ओर देखा—रतिनाथ की माँ मर गई, तभी से इस घर की शोभा चली गई। चूहे, झींगुर और नेवले रहते हैं अब। मगर इस साल उनके भी रहने लायक नहीं रह जायगा…

जयनाथ को कई पत्र चाची दे चुकी थी कि इस बार बरसात में घर बैठ जायगा। खुद न आ सको तो रुपये ही भेज देना। यहाँ सब ठीक हो जायगा। परन्तु किसी पत्र का उत्तर बड़हड़वा से नहीं आया। रतिनाथ मोतिहारी से आया तो बाप की इस लापरवाही पर झुंझला उठा। निष्फल झुंझलाहट उपेक्षा की भूमिका होती है। पैसे तो बेचारे के हाथ थे नहीं कि छवाने का कोई प्रबन्ध करता। चाची ने कहा था—बेटा, अपने हाथ से बाप को चार आखर लिख दो, शायद इससे उनकी नींद टूटे। रतिनाथ को यह बात जँची नहीं।

छब्बीस

अगहन में नहीं, माघ में उमानाथ कलकत्ते से आया और महनौली से गौना करा लाया।

चाची चौमासा (बरसात) भर मलेरिया से खेलती रही। बेहद कमजोर थी, परन्तु खूब उत्साह से उसने पतोहू का स्वागत किया। लड़की सचमुच ही स्वस्थ और सुन्दर थी।

गहना के नाम पर माँ-बाप ने उसे कुछ नहीं दिया था। नन्द झा दरिद्र नहीं था परन्तु उसके चार लड़कियां थीं। खेती-गृहस्थी मामूली ही थी। दो लड़के थे, दो बैल। साल-भर हड्डीतोड़ मिहनत करने के बाद कहीं घर का पूरा खर्चा जुटा पाता था। पाल-पोस कर चौदह साल की लड़की को किसी की 'गृहलक्ष्मी' के लायक बना देना ही क्या कुछ कम था ?

इस अवसर पर उमानाथ ने प्रतिभामा को भी बुलवा लिया था। पति स्वयं ही उसे पहुँचा गया था।

रतिनाथ भी मौजूद था। पिछली गर्मियों में जब मोतिहारी से वह गाँव आया तब से लौटकर कहाँ वह दुबारा मोतिहारी गया ? बात यह हुई कि नानी ने बड़ा ही आग्रह किया कि दरभंगा के विद्यालय में ही पढ़ो, सीधा-सामान या और जो भी कुछ मांगना तुम्हारे मामा देने को तैयार हैं। नानी का यह मधुर आग्रह रत्ती

टाल नहीं सका। दरभंगा की महाराजी पाठशाला (रमेश्वरलता संस्कृत विद्यालय) में वह भर्ती हो गया। पढ़ाई अच्छी थी, व्याकरण-मध्यमा का कोर्स उसका पूरा हो चुका था। दस-बारह साथी और मिले। छोटी छुट्टियों में ननिहाल चला जाता। कभी-कभी चाची के पास भी।

ताराचरण की माँ, रामपुरवाली चाची, शकुन्तला और चाची—सबकी राय से दुलहिन का नाम पड़ा कमलमुखी बहुरिया। सास ने मधुबनी से पैंजनी मँगवा दी कि कमलमुखी ताल बाँधकर चलेगी। मगर वह ठहरी ठेठ किसान की बेटी, खेत में राख डाल आना, कंडे पाथना, तालाब और कुएँ से पानी भर लाना, मौका-बेमौका गाय-बैल चरा लाना—यही सब जानती थी। भद्र कुलवधुओं की चाल उसे अभी सीखना था। कमलमुखी के सम्बन्ध में शुभंकरपुर की औरतों का कहना था कि खेतिहर की बेटी है, मोटा-झोटा खाना दो और कसकर काम लो।

उमानाथ महीना-भर की छुट्टी ले आया था। इतने दिन काफी थे। सिखा-पढ़ाकर कमलमुखी को शेर बना गया।

आँगन के क्या कहने! जहाँ पहले चाची अकेले उदासी के तराने सुना करती, वहीं कई प्राणी अब और आ गए थे। कमलमुखी थी। प्रतिभामा थी। उसके दो बच्चे थे। बीच-बीच में रतिनाथ भी आ जाता।

चाची ने बड़ी कोशिश की, मन को इनमें उलझाए। मगर उमानाथ का बर्ताव उसे दिन-दिन असह्य लग रहा था। अपना हृदय उसने पतोहू के लिए खोल दिया, प्रतिभामा से अधिक वह उसे ही मानने लगी। परन्तु आखिर खरबूजे को देखकर खरबूजे ने रंग पकड़ ही लिया। कमलमुखी चाची की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने लगी। होली का त्योहार आया। चाची का विचार था, कम से कम पाँच सेर आटा के लायक घी-गुड़ का प्रबन्ध करना चाहिए। कमलमुखी ने कहा—नहीं, इतना क्या होगा? ढाई सेर आटा काफी रहेगा। चाची बोली—तुम नहीं समझती हो, इस बार भगवान की कृपा है कि आँगन भरा-पूरा है, तुम हो, प्रतिभामा है, बाल-बच्चे हैं! पूआ पकवान कुछ ज्यादा ही बन जाएँगे तो क्या हर्ज है?

इस पर कमलमुखी ने ठुमुककर कहा—मना कर गए हैं।

चाची ने जोर दिया—तो क्या हुआ?

ऊँ हूँ—पतोहू अचल होकर बोली। प्रतिभामा ने माँ को इशारा किया—क्यों झगड़ती हो? चाची इस घटना से टूट गई। उसने कुछ नहीं किया। प्रतिभामा ने त्योहार की तैयारियाँ कीं। सास-पतोहू दोनों अलग-अलग कोपभवन में पड़ी हुई थीं। लगता था कि वही मेहमान हैं और प्रतिभामा ही गृहस्वामिनी है। उसके दोनों बच्चे फुदक-फुदककर मालपूआ खा रहे थे। रामपुरवाली चाची आई तो कमलमुखी की पीठ थपथपा गई।

वैसी मनहूस होली चाची ने कभी नहीं बिताई।

जिस बात का सन्देह था वह सच निकली। पतोहू का स्वभाव पति की ओर झुका हुआ था। किसी नववधू का स्वभाव यदि पति की ओर अनुरक्त हो तो बुरा

है ? नहीं। पति में अनुरक्त होना और बात है मगर बात-बात में सास-ससुर को चिकोटी काटना और ही बात है। उमानाथ माँ के प्रति अपनी घृणा का कुछ अंश पत्नी के भीतर उँडेल गया था। औरत अब उसके लिए 'स्वजन' थी और माँ थी पराई।

चाची ने सिर झुकाकर परिवार की इस नई व्यवस्था को कबूल कर लिया। कमलमुखी को उन्होंने अपनी राह जाने दिया। प्रतिभामा तीन मास शुभंकरपुर रही, देवर बुला ले गया। स्वागत-सत्कार बहुत ही साधारण हुआ था बेचारी का। उमानाथ की प्रकृति में जिन गुणों का विकास हुआ था उनमें कृपणता का ही स्थान प्रथम था। कम से कम खाकर कम से कम पहन-ओढ़कर पैसे बटोरते चलो—सफल गृहस्थी का अपना यह मूलमंत्र कमलमुखी के भी कान में फूंक गया था। अपनी लड़की की विदाई में चाची ने अलग से पच्चीस रुपये खर्च किए। कमलमुखी ने उमानाथ को चुपचाप लिखवाया—घर के काम में तो कुछ देतीं नहीं, मगर लड़की की विदाई के समय पचास जाने कहाँ से निकाले ? कितनी लम्बी है तुम्हारी माँ की आँत ?

प्रतिभामा चली गई तो चाची के लिए फिर एकान्तवास आरम्भ हुआ। कमलमुखी से वह कम ही बोलती थी। उसने भी अपनी सास से अधिक रामपुर-वाली चाची का ही आदर-सत्कार शुरू किया। क्यों न हो ? वह आकर दुनिया-दारी के नए पैंतरे बतलाया करती। टोल-पड़ोस की औरतों के गुन-औगुन ! यहाँ तक कि कमलमुखी को अपनी सास की वह कलंक-कथा भी मालूम हो गई।

चाची को संग्रहणी हो गई थी। चैत का महीना। ताराचरण की माँ ने कहा, कुछ दिन अन्न छोड़ दो; दही और उबला हुआ बेल खाओ।

परन्तु पथ्य का यह सिलसिला चार ही छः दिन चला। चर्खे में कूवत नहीं थी, वह अब सो रहा था।

रतिनाथ परीक्षा में मशगूल था। पन्द्रह अप्रैल को उसकी परीक्षा पड़ती थी। एक बार आकर वह दवा दे गया। परन्तु सेवा-शुश्रूषा और पथ-पानी कौन करे ? खाली दवा से क्या होता है ?

कमलमुखी सास की सेवा करती अवश्य थी परन्तु हृदय से नहीं। श्रद्धा-भक्ति से यदि आपको कोई विष भी देता है तो उससे आपके होंठ उल्लसित ही होते हैं। चाची का स्वास्थ्य दिन से दिन बिगड़ता ही जा रहा था। कमलमुखी का रूखापन उससे छिपा नहीं था। लगता था कि बेटा और पतोहू अब उस बुढ़िया को नहीं चाहते। एक ही आदमी था जिसे इस बुढ़िया की जरूरत थी। किसको ?

रतिनाथ को ?

हाँ, रतिनाथ को। उसे चाची की अभी जरूरत थी।

पिता के जीवित रहने में रतिनाथ को न हानि थी न लाभ। जयनाथ का था भी एक ही काम कि अपना पेट पोसें। आज न रत्ती सोलह-सत्रह साल का हुआ है, बचपन में भी उसने अपने बाप के रंग-ढंग देखे हैं। जयनाथ को वह सदा कंगाल-

पत्थर वाला चटियल मैदान ही समझता आया। इसके विपरीत, चाची उसे सदा-बहार बगिया प्रतीत हुई। सहज स्नेह की फुहियाँ बरसाने वाली यह बदली न होती तो रतिनाथ का कैसा बुरा हाल होता !

परन्तु यह बदली अब स्वयं ही पथरा रही थी। उसे धक्का पर धक्का लग रहा था। उसकी वर्षण-क्षमता, उसकी प्रस्रवण-शक्ति, उसकी अमृतद्रव की वह सामर्थ्य अब क्षीण होती जा रही थी। इस बात का आभास रत्ती पा जरूर गया था किन्तु असहाय था बेचारा। उमानाथ को रास्ते पर ले आना उसके बूते की बात नहीं थी। महनौली वाली को समझाना वह बेकार समझता था। और जो लोग थे, तमाशबीन थे। वे यही चाहते थे कि उमानाथ की माँ अपनी पतोहू को खुलकर गालियाँ दे, झोंटा पकड़कर घसीटे। झाड़ू-मुस्सर से मारे। बदले में पतोहू भी उसको एक का दस सुनावे, झोंटा पकड़े···फिर बाकी औरतें पंच बनकर फैसला करें·· परन्तु चाची ने यह सब होने का अवसर आने ही नहीं दिया। वह सारा विष स्वयं ही पीती गई।

परीक्षा देकर रतिनाथ आया। पर्चे अच्छे बने थे। पास होने की पूरी उम्मीद थी।

उसकी इच्छा थी कि आषाढ़ की पूर्णिमा तक मन लगाकर चाची की परिचर्या करे। परन्तु अब चाची का जमाना लद चुका था। कमलमुखी गिन-गिनकर चावल निकालती और पकाती। रतिनाथ का हिसाब वह मेहमान के तौर पर करने लगी। दो नहीं चार दिन रहो, चार नहीं दस दिन रहो; हमेशा के लिए यहीं पल्थी लगा लो सो नहीं होगा। ऐसा हो तो अपना घर है, खुद का कर-खा लो अपना।

रतिनाथ के लिए यह नई बात थी। जहाँ अपने घर की भाँति वह आज तक रहता आया वहाँ अब मेहमान बनकर रहना उसे अखरने लगा। पाँच ही सात दिन रहा, फिर अपने सहपाठी के यहाँ चला गया। तालाब में साथ तैरने और मछली खाने का निमन्त्रण सहपाठी श्री धर्मनाथसिंह ठाकुर की तरफ से पहले ही मिल चुका था।

मन परन्तु उसका चाची पर ही लगा रहता था।

वह बेहद कमजोर हो गई थी। पतले-पतले वे सुन्दर होंठ फीके पड़ गए थे। कपार पर नीली नसें उभर आई थीं। आँखें धँस गई थीं, मानो दो कुओं में दो तारे टिमटिमा रहे हैं ! छाती की हड्डियाँ बाँस की फट्टियों की तरह झकझक कर रही थीं। पेट और पीठ सटकर एक हो गए थे।

रत्ती ने पूछा था—कलकत्ते लिखूँ ?

नहीं।—चाची ने सिर हिला दिया था। थोड़ी देर के बाद रत्ती के हाथ को अपने कमजोर हाथ में लेकर कहा था—बबुआ, कहीं कुछ हो जाय तो इस मुँह में आग तुम्हीं देना, हाँ !

रतिनाथ चुप ही था···

अरे, क्या कहा मैंने ? समझा नहीं ?

रतिनाथ से फिर भी 'हाँ' कहते न बना।

चाची ने तीव्र स्वर में पूछा—अरे, क्या कहती हूँ?

इस बार रत्ती ने भीगी आँखों से चाची की ओर देखा।

अरे! तू तो रोता है!—चाची ने फक् से हाथ छोड़ दिया और अपनी धोती के खूंट से लड़के की आँख पोंछने लगी।

रतिनाथ ने कहा था—चाची, यह सब अभी तुम क्यों बोलती हो?

मौन रहकर चाची ने अपनी गलती मान ली थी। और, रतिनाथ दौड़कर गया था। तारा बाबा से एक यन्त्र बनवा लाया था। चाची के वाम बाहुमूल में लाल धागे से उस यन्त्र को रतिनाथ ने अपने हाथ से ही बांध दिया था।

चाची की इन सब बातों से सचमुच ही रतिनाथ खिन्न रहता था। चाहता था कि खुद बीमार हो जाय मगर चाची की तन्दुरुस्ती सुधर जाए। पर चाहने ही से कुछ थोड़े ही हो जाता है?

रत्ती की नानी पचहत्तर साल की थी, फिर भी अभी स्वस्थ थी। रतिनाथ सोचता था, क्यों न चाची भी उतने दिनों तक जिए? तरकुलवा में चाची की माँ सत्तर के अन्दर ही है, तो चाची इतनी कम उमर में मर जायगी?

परन्तु दीर्घ आयु का सम्बन्ध जिन परिस्थितियों से है क्या चाची उन्हीं परिस्थितियों में अपना जीवन बिताती थी? ग्लानि और अपमान, तिरस्कार और उपेक्षा चाची ने बहुत सहा था किन्तु अब उमानाथ का बर्ताव और कमलमुखी की अश्रद्धा उस बेचारी को अधिक से अधिक यातना दे रही थी। इतने दिनों तक तो पुत्र की आशा से सब कुछ सहती आई थी और अब आशा का वही केन्द्र निराशा का गड्ढा साबित हो रहा था। ऐसी स्थिति में निरानन्द और नीरस जीवन बिताने से लाभ?

रतिनाथ ने निश्चय किया, कहीं भी रहेगा दस-पन्द्रह दिन में एक बार शुभंकरपुर आकर वह चाची को देख जाया करेगा।

ताराचरण बीच-बीच में आकर खबरें सुना जाते थे। हिटलर ने रूस पर हमला कर दिया था। इस अशुभ समाचार से चाची को खेद हुआ। वह बोली—कैसा दिमाग है दरिद्दर का! मुदा बच्च-बच्चा कट मरेगा तभी रूस दखल होगा! है न बाबू?

ताराचरण का ख्याल था कि अन्त में रूस हार जायगा, लेकिन चाची का कहना था, मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ मगर इतना समझती हूँ कि पचीस साल से रूस वालों ने अपने यहाँ जो नया संसार बसाया है उसके अन्दर जाकर राक्षसों की बड़ी से बड़ी फौज भी मात खा जाएगी···

देख लेना—ताराचरण कहते।

देख लूंगी, यदि जीती रही—चाची मुस्कुरा पड़ती। उसके चेहरे पर विश्वास की एक चमक कौंध जाती।

ताराचरण आजकल सार्वजनिक प्रवृत्तियों में ज्यादा दिलचस्पी ले रहे थे।

गाँव का किसान-भवन बड़ी बुरी हालत में था, ताराचरण ने इसकी मरम्मत करवाई। पंचायत के फैसलों से जुर्माने की जो रकम आती वह अब उसी के जिम्मे रहती थी।

बरसात के दिनों में सड़क इतनी खराब हो जाती कि कीचड़ और बदबू के मारे नरक उसके सामने कुछ नहीं था। तकलीफ सब उठा रहे थे लेकिन उसको दुरुस्त करने के लिए आगे आने वाला कोई नहीं था। शुभंकरपुर जैसा शिक्षित गाँव और उसका ऐसा हाल! मगर धिक्कार या फटकार आप किसे सुनाएँगे? एक भी शिक्षित व्यक्ति घर पर तो बैठा रहता नहीं, पाँख मजबूत होते ही वह चुगने के लिए बाहर निकल जाता है। हाँ, बाबू ताराचरण हैं जिन्हें गाँव के नाम पर कुछ लाज-शर्म है।

ताराचरण ने बैशाख में मुसहड़ों को सड़क की मरम्मत में भिड़ा दिया। सबसे बड़ा काम था मिट्टी डालना। उधर ब्रह्मस्थान से लेकर इधर पलिवाड़ के पोखर तक, आधा कोस पड़ता है। इतनी दूर तक मिट्टी डलवाने में चालीस मजदूर लगे। ताराचरण आवश्यकतानुसार लोगों से अनाज या नगद लेते गए। 'कमाऊ-पूत' कि जिनका नाम बाहर सम्मान से लिया जाता है, इस अवसर पर फिसड्डी निकले। उन सुशिक्षितों से मूर्ख और गँवार ही भले।

मिट्टी पड़ जाने से सड़क ऊँची हो गई। कुछ लोगों ने अपने-अपने दालान के सामने सड़क की जमीन हद से ज्यादा दबा ली थी। ताराचरण ने नक्शा उठाकर रस्सी और जरीब से नये सिरे से पैमाइश की, इस तरह सड़क की मुनासिब जमीन निकल आई। आधा धूर खुद उसके भी दालान के सामने दबी पड़ी थी।

चाची ने दो रुपये सड़क-सुधार के इस काम में देना चाहा, परन्तु कमलमुखी ने घोर आपत्ति प्रदर्शित की। चाची दम साधकर शान्त हो गई। कमलमुखी ने हाथ चमकाकर रामपुरवाली चाची से कहा था—यहाँ न माल न मवेशी, गाड़ी आवे न इक्का। सड़क खराब हो गई है तो इसकी सजा हम क्यों भोगें?

चाची ने चुपचाप कहला भेजा ताराचरण को—अभी हाथ पर नहीं है।

तीन पोखर बेकार हो गए थे, ताराचरण ने गर्मियों में उनकी सफाई करवा दी। इसमें कुछ खर्चा नहीं पड़ा। शर्त यह थी कि मछलियाँ जो जिसके हाथ लगें वह उसी की रहे। फिर क्या था? अहीर, केवट, अमात, धानुख और बाभन, सभी भूत की भाँति तालाब की सफाई में लग गए। मछलियाँ भी उस दिन खूब निकलीं।

ताराचरण के रूप में नये नेतृत्व का उदय हुआ था। बूढ़े पहले कुछ दिनों तक उसे मान्यता देने को तैयार नहीं थे परन्तु बाद में उन्हें झुकना पड़ा। बूढ़े समाज-पति पुराना अधिकार कायम रखने के लिए हाथापाई करके कई बार शिकस्त खा चुके थे। गत वर्ष कृष्णाष्टमी के अवसर पर उनका विचार था नटुआ (नर्तक) मँगवाने का। तरुणदल कीर्तन-मंडली के पक्ष में था। बूढ़ों ने असहयोग की धमकी दी। तुरन्त भगवान् कृष्ण नये अर्जुनों की दाँत में आ गए। दूसरी पराजय बूढ़ों की राजबहादुर दुर्गानन्दसिंह के सम्बन्ध में हुई थी। राजाबहादुर के दामाद ने

किसी देशी नाटक मंडली को बुलाया था। उनका विचार था कि शुभंकरपुर वाले भी आकर नाटक देखें, वे हमारी प्रजा हैं। उन्हें अलग से बुलावा भेजने की जरूरत ही क्या है? नवयुवक अड़ गए, विना बुलावा के हम क्यों जाएँगे? इसमें बुजुर्ग लोग राजावहादुर को पहले ही आश्वासन दे आए थे। अव उनकी नाक कट रही थी। ताराचरण ने कहा—जमाना वदल गया है, हम जव अंग्रेजों की नाक में कौड़ी बाँधते हैं तो राजावहादुर की क्या विसात? उनका दामाद खुद आकर हमें लिवा ले जाय, तव चलेंगे। अन्त में हुआ यही कि दो-एक बूढ़ों को छोड़कर और कोई नहीं गया।

सत्ताईस

परसौनी से हैजा शुरू हुआ। शुभंकरपुर, केरवनिया, मकरंदा, दहौरा, पकड़िया, अमरितपुर इन आठ-दस गाँवों में फैल गया। वर्षा रुकी रही तो हैजा अपना नंगा नाच नाचता रहा।

चाची साल-भर से वीमार थी। उसका कमजोर देह हैजे का धक्का वर्दाश्त नहीं कर सका। संयोगवश रतिनाथ मौजूद था। उसने आखिरी हालत में उमानाथ को तार दिया, परन्तु अन्त समय में चाची अपने पुत्र का मुँह नहीं देख सकी। छत्तीस घंटे पाखाना-पेशाव रुका रहा। अन्तिम क्षण में रतिनाथ ने कहा—चाची, सिमरिया घाट चलोगी?

नहीं।—हाथ से इशारा किया, चाची ने और नजदीक बुलाकर कहा—यही आँगन मेरे लिए भागीरथी गंगा है।

चाची की आवाज इतनी क्षीण हो गई थी कि वड़ी मुश्किल से रतिनाथ समझ सका। कमलमुखी हलदी का चूरन और चावल का आटा एक महीन कपड़े में बाँधकर उस पोटली से अपनी सास के तलवे मल रही थी। चाची की वेचैनी अतिकोटि पर पहुँच गई थी। उसने डाक्टरी दवा लेने से इन्कार कर दिया था। अमृतधारा तक उसे मंजूर न थी। रतिनाथ को ऐसा लगा कि मरने का यह अवसर चाची अपने हाथ से जाने देना नहीं चाहती, वह इस जीवन से ऊव गई है; अव विराम चाहती है। परिवार में एक भी ऐसा प्राणी नहीं है जिसे चाची का यह असमय प्रयाण सह्य नहीं हो।

आषाढ़ कृष्ण पंचमी के रात्रिशेष में जव ढिवरी की पीली लौ जरा देर के लिए फुरफुरा उठी तव रतिनाथ समझ गया कि चाची चलीं। उसकी आँखों से आँसू वह चले। कमलमुखी ने जोर से रोना शुरू किया। रत्ती ने दिल को कड़ा किया। तुलसी चउरा के नजदीक पहले सुजनी विछा आया, फिर चाची को सँभालकर वहाँ उठा ले गया। वहीं तुलसी चउरा के नजदीक चाची ने एक वार

जोर से ऊर्ध्वश्वास लिया और उनकी आँखों की पुतलियाँ पलट गईं, मुँह से थोड़ा रक्त-मिश्रित कफ निकला और बस !

ताराचरण, घूटर, सुखदेव, गदाधर और रतिनाथ यही पाँचों जने अर्थी उठा ले गए। अपनी ही पुरानी अमराई में चिता तैयार हुई। ठीक उसी जगह, जहाँ थोड़ी-थोड़ी दूर के फासले पर उमानाथ के बाप-दादा, परदादा और दादी-परदादी आदि का अन्तिम संस्कार हुआ था। मृतक को नहलाकर नया कपड़ा पहना दिया गया और तब उसे चिता पर डाल आए। लम्बा पूला की तरह फूस का ऊक (उल्का) बनाया गया। साथ लाई आग को फुँककर रतिनाथ ने उस ऊक को धधकाया और चिता की परिक्रमा करके चाची के मुँह में अग्नि स्पर्श कराया। यह विधि तीन बार की गई। अन्त में ऊक को चिता पर छोड़ दिया गया। आग लाश को पकड़ चुकी थी।

जलने में करीब दो घण्टे लगे। सभी एकमत थे कि उमानाथ जान-बूझकर अपनी माँ को बीमार रखता आ रहा था, यद्यपि होनहार को भला कौन रोक सकता है ! रतिनाथ बराबर गुमसुम रहा।

चिता उसी दिन बुझाई गई। यह काम प्रथा के अनुसार तीसरे दिन हुआ। उस समय बची-खुची दो-एक हड्डियाँ सँभालकर अलग रख ली गईं और बाकी राख समेटकर उस पर छोटा-सा एक चबूतरा बना दिया गया। ऊपर से तुलसी का पौधा उस पर रोप दिया गया। हड्डियाँ ले जाकर समय और सुविधा के अनुसार गंगा में प्रवाहित करना था।

चौथे दिन उमानाथ आ धमका।

श्राद्ध साधारण रूप में ही हुआ। रतिनाथ तेरहों दिन उपस्थित था ही। जयनाथ को खबर कर दी गई थी, फिर भी वह नहीं आए। कुल ढाई सौ खर्च पड़ा। एकादशाह को कच्ची रसोई का भोज था और द्वादशाह को चूड़ा-दही का। जयदेव का लड़का भवदेव विलायत से आया था। इसलिए समाज में दो गोल थे। उमानाथ विलायती गोल में था। यही कारण था कि किफायत में ही काम चल गया।

उमानाथ बीस दिन गाँव रहा। कमलमुखी गृहकार्य में खूब होशियार नहीं तो भोंयड़ भी नहीं थी और अब तो सारी जिम्मेदारी उसी के कन्धे पर आ पड़ी थी। उसने अपने भतीजे को मँगवा लिया।

रतिनाथ ने काशी जाकर पढ़ना तय किया। नानी और नाना इस विचार से सहमत न थे, परन्तु रत्ती का मन अब बिल्कुल नहीं लग रहा था। चाची के अभाव में शुभंकरपुर अब उसके लिए श्मशान था। उस महिला को उसने तिल-तिल करके खपते देखा था। वह चाची की वेदना का हिस्सेदार था। चाहता था कि घर से दूर, खूब दूर रहकर वह वात्सल्य की उन स्मृतियों का उपभोग करे।

आषाढ़ की पूर्णिमा जब हो गई तो एक दिन चाची की हड्डियाँ और राख लेकर रतिनाथ काशी पहुँचा। उसके जिम्मे कुल पन्द्रह रुपये थे। बनारस में नाना के

साथ एक बार वह और काशी जा चुका था, परन्तु तब की देखी-सुनी अब किस काम की ?

तारामन्दिर (क्षेत्र) के अध्यक्ष से रतिनाथ का दूर का एक रिश्ता पड़ता था। उन्होंने भोजन का प्रबन्ध अपने यहाँ कर दिया। पढ़ाई के लिए मीरघाट पर मारवाड़ी संस्कृत कालेज मानो उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

यह सब निश्चित हो चुकने पर रतिनाथ एक दिन प्रातःकाल नाव-भाड़ा करके मणिकर्णिका घाट के सामने बीच में गया और चाची की अस्थि को कम्पित हाथों तथा आर्द्र आँखों से प्रवाहित कर आया।

अस्थि गंगा में प्रवाहित करके लौटते समय रतिनाथ के हृदय में बार-बार यही बात उठ रही थी कि अमावस की उस रात को वह कौन था चाची ? एक घनी और अन्धेरी छाया तुम्हारे बिस्तरे की तरफ बढ़ आई, वह क्या थी चाची ? सदा के लिए तुम्हारे सिर पर कलंक का टीका लगा गई, वह कौन थी चाची ? शील और शालीनता की प्रतिमे ? तुमने क्यों धूर्त का नाम नहीं बतला दिया ?

●●●

बलचनमा

एक

चौदह बरस की उम्र में मेरा बाप मर गया। परिवार में माँ, दादी और छोटी बहन थी। नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौड़ा घर था—दो छप्परों वाला। सामने छोटा-सा आँगन था। बाईं ओर आठ-दस धूर बाड़ी थी। उसमें साल के बारहों महीने कुछ-न-कुछ उपजा लिया जाता। पिछवाड़े गिरहथ का इनारा था, पक्की जगत वाला। सामने इन्हीं के खेत फैले पड़े थे। दाईं ओर कुछ हटकर उन्हीं लोगों का पोखरा पडता था।

कहना न होगा कि वह थोड़ी-सी जमीन, जिस पर हम बने थे, गिरहथ लोगों की ही थी। अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है, वह खूब साफ नहीं है···मालिक के दरवाजे पर मेरे बाप को एक खंभेली के सहारे कसकर बाँध दिया गया है। जाँघ, चूतर, पीठ और बाँह—सभी पर बाँस की हरी कैली के निशान उभर आये हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल उधड़ गई है और आँखों से बहते आँसुओं के टंघार गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गये हैं···चेहरा काला पड़ गया है। होंठ सूख रहे हैं। अलग कुछ दूर छोटी चौकी पर यमराज की भाँति मझले मालिक बैठे हुये हैं। दाएँ हाथ की उँगलियाँ रह-रह मूँछों पर फिर जाती हैं···उनकी वह लाल और गहरी आँख कितनी डरावनी है, बाप रे! मेरी दादी काँपते हाथों मालिक के पैर छाने हुये है। उनके मुँह से बेचैनी में बस यही एक बात निकल रही है कि दुहाई सरकार की, मर जायगा ललुआ! छोड़ दीजिये सरकार! अब कभी ऐसा न करेगा! दुहाई मालिक की! दुहाई माँ, बाप की···और माँ रास्ते पर बैठी हाय-हाय करके रो रही है, और मैं भी रो रहा हूँ। मेरी छोटी बहन की तो डर के मारे हिचकी बँध गयी है।

सुना है मेरा बाप दोपहर के समय बाग से दो बिजुनभोग तोड़ लाया था। बिजुनभोग कच्चा भी खाने में खूब स्वादिष्ट होता है। ठीक वैसा ही जैसा भिगोया हुआ चावल। तोड़ते तो किसी ने देखा नहीं, मगर पुराने चमारों की

ओट में वैठे-वैठे वह जव आम के छिलके उतार रहा था तो किसी ने देखा और जाकर चुगली कर दी। फिर क्या था, मँझले मालिक आग-ववूला हो गये और···

वावू जव मरा तो दादी को चौठइया वुखार लग रहा था। कुछ मालिक से लेकर, कुछ इधर-उधर से जैसे-तैसे किरिया-करम हुआ और मेरे गले की उतरी टूटी। उसके वाद दादी और माँ की राय हुई कि मैं मालिकों की किसी पट्टी में चरवाहे का काम करूँ। दादी ने मना किया था—अभी खाने-खेलने के दिन हैं, इसी समय जोत दोगी तो कलेजा सूख जायगा, इस पर माँ वोली थी कि अभी से पेट की फिकिर नहीं करेगा तो वहतरा हो जायेगा···

कुछ ही दिन वाद छोटे मालिक के यहाँ भैंस चराने का काम मिला है। भगवान! कितनी कठिनाई से और कितना गिड़गिड़ाने पर छोटी मलिकाइन मुझे रखने को राजी हुईं! उनके यहाँ जव हम पहुँचे तो अपना मुलायम और गुलावी हाथ चमकाकर दादी से उन्होंने कहा—अरे, यह तो मेरे वखारों को खुक्ख कर देगा। डेढ़ सेर इस जून, डेढ़ सेर उस जून। छोकड़े का पेट तो देखो, कमर से लेकर गले तक मानो वखिया है। कैसा वेडौल कितना भयानक है, मइया री मइया!

मेरी ओर सिनेह-भरी निगाहें डालती हुई दादी ने कहा—नहीं मलिकाइन, ऐसी वात न कहिये। मेरा वालचन मुट्ठी-भर से अधिक भात नहीं खाता। कोदो, मड़ुआ, मकई, साँवाँ, कावन चाहे जिसकी भी रोटी दे दो, खुशी-खुशी खा लेगा और दो चुल्लू-भर पानी पीकर सन्तोख की साँस लेता उठ जायेगा, वड़ा ही सुभर है, तनिक भी नहीं खलेगा, मलिकाइन!

मेरी कमर से फटी-सी मैली-सी विस्ठी झूल रही थी। विस्ठी न तो लँगोटी है न कच्छा, कपड़े के लीरे को अगर तुम कौपीन की भाँति पहन लो तो वही हमारे यहाँ विस्ठी कहलायेगी। मलिकाइन ने विस्ठी की ओर इशारा करके कहा—कपड़ा-लत्ता हमसे पार नहीं लगेगा। यह सुनकर दादी ने दाँत निपोड़ दिये। चेहरे की झुर्रियों और लकीरों में वल पड़ गया। दोनों हाथ जोड़कर वह गिड़गिड़ाई—क्या कमी है, मलिकाइन आप लोगों के यहाँ? आप ही का तो आसरा है, नहीं तो हम गरीव जनमते ही वच्चों को नमक न चटा दें! अरे, अपना जूठन खिलाकर, अपना फेरन-फारन पहनाकर ही तो हमारा पर्तपाल करती हैं······

छोटी मलिकाइन का चेहरा खिल गया, उनके दाँत दनुफ के फूल जैसे झकझक कर रहे थे। ओठों की लाली वड़ी भली लगती थी। मेरी दादी पर यह-सान का मनों भार लादती हुई वह वोली—खाना-पीना, लत्ता-कपड़ा और ऊपर से दो आना महीना! कौन देगा इतना? अभी सारा काम इसे सिखाना पड़ेगा। समझाते-समझाते दिमाग का गूदा चट हो जायगा।

दादी ने मलिकाइन के पैर पकड़ लिये—आज से आप ही इस निभागे की माँ-वाप हुईं गिरहथनी! आपका जूठन खाकर इसका भाग चमकेगा···

अगले दिन से मैं काम करने लगा। बतला ही चुका हूँ, चौदह साल की उमर थी। यों खास काम मेरा भैंस चराना था, फिर भी और कई काम थे जैसे कि बच्चे को खेलाना, पानी भरना, बाहर बैठक में झाड़ू लगाना, दुकान से नून, तेल, मसाला लाना और मलिकाइन के पैर चाँपने…

चौधरी लोगों का यह घराना किसी जमाने बहुत ही भरापूरा और अकबाली था। अब इनकी जमीनदारी तो नहीं थी, लेकिन रोब-दाब, रहन-सहन, चाल-ढाल और बातचीत से हुकूमत की बड़ी विकट बू आती थी। चार पट्टियों में बँटे थे लोग। अलग-अलग हवेलियाँ थीं। बची-खुची जमीन-जायदाद बँटी हुई थी। गाछी, कलमबाग, बाँस, पोखर, खढ़ोर और चरागाह—यह सब साझा चला आ रहा था। बीजू या शरही (देशी) आमों का बाग गाछी कहलाता है। बीस-बीघा में फैले हुए थे उनके बाग़, हजार के लगभग पेड़ होंगे। कलमबाग भी काफी बड़ा था। बाँस भी तीन सौ बीट थे – तीन बीघे में फैले हुए। पोखर उनके तीन थे। खढ़ोर इतना बड़ा था कि सभी पट्टीदारों को अपने मकान छवाने लायक खढ़ उसी से निकल आता। चरागाह थी तो बड़ी, लेकिन ऊसर हो गई थी। इसके अलावा सीसम, महुआ, तूत, इमली, जीमड़ जैसे तरह-तरह के सैकड़ों पेड़ों से भरा एक जंगल था।

पहले दिन सुबह-सुबह भैंस खोलकर जब मैं चराने ले चला तो अभी काफी सबेरा था। मुझे डर लगा। दादी के मुँह से भूत-प्रेत की कहानियाँ रोज ही सुनी थीं। गाँव के बाहर का हर एक बूढ़ा पीपल या बरगद मेरे लिये भूतों का रैन-बसेरा था। भैंस सीधी-सादी थी, नाकों में नकेल थी। नकेल की रस्सी को हाथ में लपेटकर भैंस की पीठ पर मैं बैठ गया और वह अपनी इच्छा से पूरब की ओर चल पड़ी। जेठ का महीना था। उस साल आम नहीं फरे थे। इसलिये चरवाहे बागों में ले जाकर अपनी भैंसों को छोड़ देते थे और खुद भैंस की पीठ पर पड़े-पड़े सुबह की मीठी नींद के झोंके लेते रहते। उन्हें इस तरह सोते देखकर मुझे कई बार डाह हुई थी, पर आज तो मैं खुद भैंस की पीठ पर सवार था।

छोटे मालिक किसी राजा के यहाँ मनेजरी करते थे। परिवार को कभी उन्होंने साथ नहीं रक्खा। मलिकाइन बहुत बड़े घर की बेटी थीं। बिना दूध-दही का खाना उनके कहने के मुताबिक बालू-गोबर निगलना था। दो सौ रुपये लगा-कर गुजराती नसल की यह भैंस उन्होंने मालिक से खरीदवाई। सेवा नहीं होने से भैंस बड़ी दुबली हो रही थी। पड़िया मर जाने से बिसुक गई थी। पुट्ठों का हाड़ और रीढ़ निकल आई थी। पुराना चरवाहा भागकर कटिहार चला गया था, चटकल में। फिर उन्होंने एक जवान दुसाध को इस काम के लिये रक्खा। उसकी एक ग्वालिन से साँठ-गाँठ हो गई तो मझले मालिक को इस बात का पता लग गया। पकड़े जाने पर उन्होंने उसे जूतों से इतना पीटा कि आधा पहर तक बेचारा आहऊह भी न कर सका, भाग तो गया ही…

अब भैंस मेरे सुपुर्द थी। पहले दिन मालिक के बाग में ही मैं उसे चारा ले

ओट में बैठे-बैठे वह जब आम के छिलके उतार रहा था तो किसी ने देखा और जाकर चुगली कर दी। फिर क्या था, मँझले मालिक आग-बबूला हो गये और…

बाबू जब मरा तो दादी को चौठइया बुखार लग रहा था। कुछ मालिक से लेकर, कुछ इधर-उधर से जैसे-तैसे किरिया-करम हुआ और मेरे गले की उतरी टूटी। उसके बाद दादी और माँ की राय हुई कि मैं मालिकों की किसी पट्टी में चरवाहे का काम करूँ। दादी ने मना किया था—अभी खाने-खेलने के दिन हैं, इसी समय जोत दोगी तो कलेजा सूख जायगा, इस पर माँ बोली थी कि अभी से पेट की फिकिर नहीं करेगा तो बहतरा हो जायेगा…

कुछ ही दिन बाद छोटे मालिक के यहाँ भैंस चराने का काम मिला है। भगवान ! कितनी कठिनाई से और कितना गिड़गिड़ाने पर छोटी मलिकाइन मुझे रखने को राजी हुईं ! उनके यहाँ जब हम पहुँचे तो अपना मुलायम और गुलाबी हाथ चमकाकर दादी से उन्होंने कहा—अरे, यह तो मेरे बखारों को खुक्ख कर देगा। डेढ़ सेर इस जून, डेढ़ सेर उस जून। छोकड़े का पेट तो देखो, कमर से लेकर गले तक मानो बखिया है। कैसा बेडौल कितना भयानक है, मइया री मइया !

मेरी ओर सिनेह-भरी निगाहें डालती हुई दादी ने कहा—नहीं मलिकाइन, ऐसी बात न कहिये। मेरा बालचन मुट्ठी-भर से अधिक भात नहीं खाता। कोदो, मड़ुआ, मकई, साँवाँ, काँवन चाहे जिसकी भी रोटी दे दो, खुशी-खुशी खा लेगा और दो चुल्लू-भर पानी पीकर सन्तोख की साँस लेता उठ जायेगा, बड़ा ही सुभर है, तनिक भी नहीं खलेगा, मलिकाइन !

मेरी कमर से फटी-सी मैली-सी बिस्ठी झूल रही थी। बिस्ठी न तो लँगोटी है न कच्छा, कपड़े के लीरे को अगर तुम कौपीन की भाँति पहन लो तो वही हमारे यहाँ बिस्ठी कहलायेगी। मलिकाइन ने बिस्ठी की ओर इशारा करके कहा—कपड़ा-वपड़ा हमसे पार नहीं लगेगा। यह सुनकर दादी ने दाँत निपोड़ दिये। चेहरे की झुर्रियों और लकीरों में बल पड़ गया। दोनों हाथ जोड़कर वह गिड़गिड़ाई—क्या कमी है, मलिकाइन आप लोगों के यहाँ ? आप ही का तो आसरा है, नहीं तो हम गरीब जनमते ही बच्चों को नमक न चटा दें ! अरे, अपना जूठन खिलाकर, अपना फेरन-फारन पहनाकर ही तो हमारा प्रतपाल करती हैं……

छोटी मलिकाइन का चेहरा खिल गया, उनके दाँत दनुफ के फूल जैसे झकझक कर रहे थे। ओठों की लाली बड़ी भली लगती थी। मेरी दादी पर अह-सान का मनों भार लादती हुई वह बोली—खाना-पीना, लत्ता-कपड़ा और ऊपर से दो आना महीना ! कौन देगा इतना ? अभी सारा काम इसे सिखाना पड़ेगा। समझाते-समझाते दिमाग का गूदा चट हो जायगा।

दादी ने मलिकाइन के पैर पकड़ लिये—आज से आप ही इस निभागे की माँ-बाप हुईं गिरहथनी ! आपका जूठन खाकर इसका भाग चमकेगा…

अगले दिन से मैं काम करने लगा। बतला ही चुका हूँ, चौदह साल की उमर थी। यों खास काम मेरा भैंस चराना था, फिर भी और कई काम थे जैसे कि बच्चे को खेलाना, पानी भरना, बाहर बैठक में झाड़ू लगाना, दुकान से नून, तेल, मसाला लाना और मलिकाइन के पैर चाँपने···

चौधरी लोगों का यह घराना किसी जमाने बहुत ही भरापूरा और अकबाली था। अब इनकी जमीनदारी तो नहीं थी, लेकिन रोब-दाब, रहन-सहन, चाल-ढाल और बातचीत से हुकूमत की बड़ी विकट बू आती थी। चार पट्टियों में बँटे थे लोग। अलग-अलग हवेलियाँ थीं। बची-खुची जमीन-जायदाद बँटी हुई थी। गाछी, कलमबाग, बाँस, पोखर, खढ़ोर और चरागाह—यह सब साझा चला आ रहा था। बीजू या शरही (देशी) आमों का बाग गाछी कहलाता है। बीस-बीघा में फैले हुए थे उनके बाग़, हजार के लगभग पेड़ होंगे। कलमबाग भी काफी बड़ा था। बाँस भी तीन सौ बीट थे—तीन बीघे में फैले हुए। पोखर उनके तीन थे। खढ़ोर इतना बड़ा था कि सभी पट्टीदारों को अपने मकान छवाने लायक खढ़ उसी से निकल आता। चरागाह थी तो बड़ी, लेकिन ऊसर हो गई थी। इसके अलावा सीसम, महुआ, तूत, इमली, जीमड़ जैसे तरह-तरह के सैकड़ों पेड़ों से भरा एक जंगल था।

पहले दिन सुबह-सुबह भैंस खोलकर जब मैं चराने ले चला तो अभी काफी सवेरा था। मुझे डर लगा। दादी के मुँह से भूत-प्रेत की कहानियाँ रोज ही सुनी थीं। गाँव के बाहर का हर एक बूढ़ा पीपल या बरगद मेरे लिये भूतों का रैन-बसेरा था। भैंस सीधी-सादी थी, नाकों में नकेल थी। नकेल की रस्सी को हाथ में लपेटकर भैंस की पीठ पर मैं बैठ गया और वह अपनी इच्छा से पूरब की ओर चल पड़ी। जेठ का महीना था। उस साल आम नहीं फरे थे। इसलिये चरवाहे बागों में ले जाकर अपनी भैंसों को छोड़ देते थे और खुद भैंस की पीठ पर पड़े-पड़े सुबह की मीठी नींद के झोंके लेते रहते। उन्हें इस तरह सोते देखकर मुझे कई बार डाह हुई थी, पर आज तो मैं खुद भैंस की पीठ पर सवार था।

छोटे मालिक किसी राजा के यहाँ मनेजरी करते थे। परिवार को कभी उन्होंने साथ नहीं रक्खा। मलिकाइन बहुत बड़े घर की बेटी थीं। बिना दूध-दही का खाना उनके कहने के मुताबिक बालू-गोबर निगलना था। दो सौ रुपये लगा-कर गुजराती नसल की यह भैंस उन्होंने मालिक से खरीदवाई। सेवा नहीं होने से भैंस बड़ी दुबली हो रही थी। पड़िया मर जाने से बिसुक गई थी। पुट्ठों का हाड़ और रीढ़ निकल आई थी। पुराना चरवाहा भागकर कटिहार चला गया था, चटकल में। फिर उन्होंने एक जवान दुसाध को इस काम के लिये रक्खा। उसकी एक ग्वालिन से साँठ-गाँठ हो गई तो मझले मालिक को इस बात का पता लग गया। पकड़े जाने पर उन्होंने उसे जूतों से इतना पीटा कि आधा पहर तक बेचारा आहऊह भी न कर सका, भाग तो गया ही···

अब भैंस मेरे सुपुर्द थी। पहले दिन मालिक के बाग में ही मैं उसे चारा के

आया। दूसरे दिन से तो वह मुझे पहचानने लगी। अभी तक माँ, दादी और रेवनी (छोटी बहन) से ही हिला-मिला हुआ था। बाबू चल ही बसा था। उन चारों के बाद वह भैंस ही थी जिसकी गीली आँख और गरम साँस मुझ पर अपना असर डाल सकी। सुबह-सुबह मैं रोज उसे चरा लाता। पहर दिन उठने पर मलिकाइन मुझे कलेवा देतीं, मड़ुआ की लाल रोटी। नोन और सरसों के तेल साथ में जब वह रोटी खा लेता, तो छोटा बच्चा मेरे जिम्मे कर दिया जाता। यह लड़का मानो रोना ही जानता था। घड़ी-भर में ही उसकी रुलाई से मेरा माथा दुखने लगता। चुप करने की सारी कोशिशें बेकार जातीं और तब खस की कूची से बाल झारती हुई मलिकाइन सिर नीचा किये ही डपटकर मुझे कहतीं—कँधे के सहारे बच्चे को ले ले और घूमघाम, माँ ने तुझे ठूँस-ठूँस कर खाना तो खूब सिखला दिया है। मगर फूल-सा हलका बच्चा भी तुझसे नहीं सँभलता···कोढ़िया!

गालियाँ सुनकर पहले दो-चार दिन तो मुझे थोड़ी बहुत तकलीफ हुई पर बाद में कान खूब पक्के हो गये। गदहा, सुअर, कुत्ता, उल्लू···क्या नहीं कहती थी वह मुझे? उनका गुस्सा चुपचाप सह जाना मुझे सीखना पड़ा। एक बार दोपहर को घास लाने में ज़रा देर हो गई। बैसाख जेठ की जलती धरती हो तो घास छीलने में बड़ी कठिनाई होती है। पचीसों जगह खुरपी चला-चलाकर तंग आ जाओगे फिर भी टोकरी-भर घास नहीं होगी। लेकिन जो देवी कई-कई डेवढ़ियों वाली हवेलियों के भीतर छाँह में आराम से बैठी हुई हों, उन्हें अपनी यह दिक्कत तुम समझा पाओगे भैया? उनके लिए सारी धरती हरी-हरी, नरम-नरम दूबों में भरी होती है। सो उस रोज घास लेकर जब मैं ज़रा देर से पहुँचा तो मलिकाइन हुहुआ उठीं—मर क्यों न गया? बड़े नवाब के नाती हुए हैं। कहीं बैठकर बाप के साथ कौड़ी खेल रहा होगा और देर हो गई तो घास नहीं मिलती है, खुरपी मोथी है, बेंट ढीला पड़ गया था···पचास बहाने बनाता है। कलमुँहा! इतना बक चुकने पर जब उन्हें सन्तोख न हुआ तो झाड़ू उठा लाईं और मेरी पीठ पर कई बार झटझट बरसा दिये। मैं तिलमिलाकर वहीं बैठ गया—बाप-बाप कर उठा।

वह जब बहुत खुश होतीं तो सूखा या बासी पकवान, सड़ा आम, फटे दूध का बदबूदार छेना या जूठन की बची हुई कड़वी तरकारी देती हुई मुझे कहतीं—बलचनमा, ऐसी अच्छी चीज तेरे बाप-दादे ने भी नहीं खाई होगी।

किसी चीज की कमी नहीं थी। मालिक ढाई सौ रुपया महीना कमाते थे। मलिकाइन के मायके से भी महीने में दो-एक भार आ ही जाता था। यों तो भार का मतलब है बोझा, मगर सौगात में एक गाँव से दूसरे गाँव भेजे जाने वाले ये भार मामूली ढंग के नहीं होते। बाँस की लचकदार बहँगी कँधे पर होती है, उसके दोनों छोर से लटकते छिक्कों पर दही का छाँछ, चिवड़ा से भरा चँगेरा, केले की घौद, पकवानों या मिठाइयों से भरी डलियाँ, धोती, साड़ी, लहठी ऐसा

ही और भी कुछ डाल दिया जाता है; बस यही भार कहलाता है। इसको लेकर चलने वाले भरिया कहलाते हैं। तुम इन्हें बोझ ढोनेवाले मजूर समझ लो। मलिकाइन के मायके से कभी-कभी ऐसा ही भार आता था। सौगात की सारी चीजों को वह टोला-पड़ोस के छोटे-बड़े घरों में बायना के तौर पर बँटवा देती थीं। हाँ, चावल, चिवड़ा, साड़ी, लहठी जैसी वस्तुएँ बायने में नहीं दिया जाता।

दही जब बहुत खट्टा हो जाता था, उससे बदबू आने लगती थी और वह उनके अपने या किसी पड़ोसी के खाने लायक न रह जाता तब मुझे मिलता। मैं उस दही को खुशी-खुशी खा लेता। याद आता है कि एक बार जास्ती खट्टा और बदबूदार रहने से उस दही को नहीं खा पाया तो मलिकाइन ने सजा दी थी—अगले दिन खाना नहीं मिला था।

भैंस चराना मुझे खूब पसन्द था। गाँव के बाहर मेरी ही उमर के जब और-और चरवाहे इकट्ठे होते तो हम अपना-अपना दुःख भूलकर खेलते। कभी कौड़ी उछालते, कभी बकरी की सूखी मींगणियों से सतधरा खेलते, कभी कंकड़ों से कौवाठुट्ठी, मोगल-पठान या बाघ-गोटी का भी खेल चलता। हमारी भैंसें दूब-भरे मैदान या चरागाह में चरती होतीं और हम अपने मालिकों की बुरी-भली कहते-सुनते और खेला करते। बड़े मालिक का चरवाहा बूढ़ा था, सदूरी मंडल। ठिगने कद का बूढ़ा धानुक। कान दोनों बुच थे। कपार छोटा। आँखें चमकदार मगर धँसी हुई। बाल सन जैसे सफेद। अपने पशु की सेवा वह बड़ी ही लगन से करता। हमें अपने बीते दिनों की कहानियाँ सुनाते कभी न थकता था। खेल में मशगूल पाकर बहुधा हमको वह फटकारता भी।

और जो कुछ हो, सदूरी काका की दो बातें मैं अभी तक नहीं भूल पाया। एक तो यह कि अपनी भैंस को वह शायद ही पीटता और दूसरी यह कि सगी सन्तान की तरह उनकी सेवा। उसकी भैंस की आँखों में कभी किसी ने कीचड़ नहीं देखा। हर तीसरे दिन वह उसे तालाब में ले जाकर नहलाता, मुलायम दूबों की नूड़ी से भैंस की पीठ, पेट, पुट्ठे, जांघ, गर्दन, माथ और पैर को भली-भाँति रगड़ता। इस तरह अपनी भैंस को वह साफ-सुथरी रखता···हम तो खैर थोड़ी ही उमर के थे, जिनकी उमर बड़ी थी उन चरवाहों से भी अपनी भैंसों की ऐसी सेवा पार नहीं लगती।

एक दिन मैं दोपहर के वक्त बड़े मालिक के बथान पर गया। उनके सोलह बैल थे और चार भैंसें थीं। चारवाहे तीन थे। सदूरी के जिम्मे दो भैंसें थीं। वहीं अलग एक झोपड़ी में रहते थे। जिस समय मैं उनके पास गया तब वह हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। नारियल की पेंदी वाला इसी तरह का हुक्का मेरा भी बाप पीता था। मैं जाकर उनके पास बैठ गया। आँखें उठाकर अपने नजदीक बैठने को उन्होंने इशारा किया। थोड़ी देर बाद बड़े प्रेम से उन्होंने पूछा—तुम्हारी भैंस का। क्या यह सातवाँ महीना चल रहा है न?

हाँ—मैंने कहा—बाबा, यह तुम कैसे जान गये ?

इस पर पतली मूँछों वाले उनके होंठ खिल उठे। सच, जोर से ठहाका लगाते उन्हें कभी नहीं देखा। बहुत हुआ तो खिलखिला पड़े, और तब बिना दाँत के उनके वे लाल मसूड़े बड़े ही सुन्दर लगते। हुक्के को खूँटे से टिकाकर और चिलम को उलटाकर मंडल ने कहा—जिनदगी-भर तो भैंस ही चरायी है बलचनमा ! मैं जब ननिहाल से भागकर यहाँ आया तो बाइस साल का था। तेरा बाप लालचन्द तेरी ही उमर का रहा होगा···लच्छन से मालूम होता है कि तेरी भैंस के पेट में सात महीने की पड़िया है।

यह सुनकर मैं दङ्ग रह गया। वह उठकर भैंस के पास जा बैठे। थनों से ऊपर वाली उसकी नसों को सहलाते हुए काका बोले—खाली बखत में इधर-उधर भटकना ठीक नहीं। चरवाहे को चाहिये कि अपने पशु के रोएँ-रोएँ को गौर से देखें। लापरवाही से कई तरह के कीड़े पड़ जाते हैं—अठौड़ी, किलनी, जूँ, चिल्लड़···कभी-कभी कुकुरमाछी भी इन्हें तंग करती है। इन बातों का ख्याल चरवाहा न रक्खेगा तो कौन रक्खेगा। इसके अलावा उनके रहने की जगह को साफ और सूखा रखना बहुत जरूरी है···आजकल के चरवाहे हराम का खाते हैं, तभी तो उनका जानवर कलपता रहता है।

उस दिन मुझे ऐसा लगा कि सबूरी काका भैंस की सेवा करने में बड़े ही होशियार हैं, इनके पास घड़ी-आध घड़ी रोज आकर बैठूँ तो बहुत-सी बातें यों ही समझ में आ जायँगी। और तब से जब कभी मुझे मौका मिलता तभी जाकर सबूरी मंडल के पास जा बैठता। हम एक बिरादरी के नहीं थे। वह थे धानुक मैं ठहरा ग्वाला। वह थे सबूरी मंडल मैं था बालचन्द राउत, फिर भी दादा-परदादा की तरह वह मुझे प्यार करते। कहीं कोई खाने-बाने की अच्छी चीज मिल जाती तो उसमें से थोड़ा कुछ मेरे लिये सँजोकर रखते। मुझसे और तो कुछ नहीं होता मगर रात को कभी-कभी जाकर पैर चाँप आता था।

मालिक की नौकरी ऐसी थी कि छुट्टी का नाम नहीं। तब भी छठे-छमाहे आ वह जरूर जाते। दो-चार दिन रहकर वह विदा होते तो इसटीसन तक सामान मुझे ही पहुँचाना पड़ता। चमड़े का छोटा-सा सूटकेस, होल्डाल में बंधा हुआ बिस्तरा। यह दोनों सिर पर और हाथ में टिफिन का डिब्बा रामपुर से मधुबनी ढाई कोस पक्का पड़ता है। उठते-बैठते किसी तरह मैं पहुँचता। गरदन टूट जाती। पसीने से सारी देह तर हो होकर सूख चुकी होती। और इतने पर भी जब मालिक की गाडी पलेटफारम छोड़कर खिसकने लगती तो दो पैसा मेरी ओर फेंककर वह कहते—ले, मूढ़ी या चना खरीद लेना, फाँकते-फाँकते घंटे-भर में घर पहुँच जायगा।

मन करता कि इन पैसों को वहीं पलेटफारम पर ही छोड़कर चल दूँ ! आखिर मैं वह पैसा उठा लेता। पैसे के चने और पैसे की बीड़ी किसी तरह घर पहुँचता और माँ के पास धम्म से जा गिरता।

माँ मेरे वाप की व्याही औरत नहीं थी। पहले व्याह की औरत जब मर गई तो वाप कुछ रोज कलकत्ता रह आया था। वाद में जिस विधवा से समंध हुआ वही थी मेरी माँ। दादी को भैंस चराने का मेरा यह काम पसन्द नहीं था। वहन थी छोटी, उसकी राय का कोई सवाल ही नहीं। हमारे पास कुल सात कट्ठा जमीन थी। मझले मालिक सौ कसाई के एक कसाई थे। वावू के मरने पर वारह रुपये उन्होंने माँ को कर्ज दिये थे। वदले में सादे कागज पर अँगूठे का निशान ले लिया था। सूद देते-देते हम थक गये, मूर ज्यों-का-त्यों खड़ा था। छोटी मलिकाइन दुअन्नी के हिसाव से साल-भर का दरमहा डेढ़ रुपैया देती थी, उतने से क्या होता···

जाड़े की एक-एक रात हमारे लिये परलय की डुगडुगी वजाती आती थी। गर्मी के दिन जैसे-तैसे कट जाते, लेकिन जाड़ा से निवटना वड़ा ही मुश्किल होता। गुदड़ी-कथड़ी भी ओढ़ने को अगर काफी न हो तो पूस-माघ की ठण्ढी रात यमराज की वहन सावित होती है। जलावन के लिये लकड़ी भला हम लाते ही कहाँ से, हाँ दादी ने दो वकरियाँ पाल रखी थीं, उनकी सूखी मींगणियाँ ताप-तापकर हम रात काटते। मालिकों के पास न लकड़ी की कमी, न घास-फूस की। गोइठा, गोरहा भी उन्हीं के पास होता जिनके माल-जाल हों। माल-जाल के नाम पर हमारे यहाँ दो वकरियाँ थी। आम, लताम, जामुन, कटहर, वेर, कुसियार, ककड़ी, तरवूजा और खरवूजा···हमारा पेट भरने में इनसे काफी मदद मिलती। दादी अँधेरे में निकल जाती और मालिक के वाग से आम ले आती। गन्ना और दूसरे मौसमी फलों का यही हाल था। छोटी चीजें चुराने में मेरी दादी कमाल करती थी। यह कभी नहीं पकड़ी गई। माँ से यह काम नहीं होता था।

गाँव के वाहर जाड़े के दिनों में हर साल मालिकों का कोल्हू गड़ता। उनके यहाँ गन्ने की खेती कम नहीं होती। मैं अपनी छोटी वहन को लेकर रात को कोल्हूआड़ में ही विताया करता। गन्ना खा-खाकर पेट भर लेना और भट्ठी की आँच से गरमाकर सो जाना। डेढ़-दो महीने हर साल जाड़ों में हम ऐसा ही करते।

मझले मालिक की निगाह हमारे उन थोड़े से खेतों पर थी जिनमें मड़ूवा उपजाकर तीन-चार महीने का खर्च हम निकालते आये थे। उन्होंने सोचा—लौंडा अभी छोटा है। जमाने का रंग-ढंग अच्छा नहीं। कमाने लायक होने पर कटिहार या कलकत्ता कहीं-न-कहीं जरूर भाग जायगा, फिर कोई इसका क्या कर लेगा! अभी तो खैर इस औरतिया का अँगूठा निशान अपने कब्जे में है···

सोच-समझकर एक दिन मझले मालिक ने हम तीनों को बुलाया। वहाँ गाँव के बूढ़े पंडित भी वैठे थे। आधा पीतल और आधा लोहे से वना सरौता मालिक के हाथ में था। वह सुपारी कतर रहे थे। कुछ वारीक कतरा पंडित जी की ओर वढ़ाते हुए उन्होंने कहा—ललचनमा जब तक जिया, जी जान से मेरी सेवा

उसने की और इनको तो देखिये—

पण्डित जी ने सुपारी-फाँक लिया। फिर टूटे डंठल वाले चश्मे को नाक पर से हटाकर कपार पर चढ़ाया। मेरी ओर तनिक देर गौर से ताकते रहे। तब जाकर बोले—जसोधर बाबू, छोकड़े के रोआँ-रोआँ से नमकहरामी टपकती है। देखो न कैसे मुलुर-मुलुर ताकता है।

इस पर मझले मालिक ने कहा—हाँ गुरु, बड़ा ही पाजी है। कभी पकड़ में नहीं आता। पाहुना आये थे, उनका नौकर बीमार पड़ गया। मैंने इस ससुर को कहला भेजा कि आकर मेहमान की मालिश कर जाय। साला आया ही नहीं···

मैं कुछ नहीं बोला। मेरी ओर से दादी बोली।

उसने कहा—कल का बच्चा है बाबू ? दिन-भर का थका-माँदा, चूर-चूर, रात को बेसुध होकर सो जाता है।

चुप रह कुतिया—मालिक गुर्राये। पंडित जी ने सिर हिलाया और गुनगुना उठे—राड़ं एड़ं पवित्रं हूँः !

लेकिन मझले मालिक को अपना मतलब गाँठना था। अपनी बोली में मिठास घोलकर मेरी माँ से उन्होंने कहना शुरू किया—बलचनमा की माँ ! तुम्हें तो याद होगा, बेर-बखत में हम कभी पीछे नहीं रहे। दो की जरूरत पड़ी तो तुम्हें चार दिये, पाँच की जरूरत पड़ी तो तुम्हें दस दिये। जैसे अपने परिवार के प्राणी हैं तुम लोगों को हमने वैसा ही समझा। हाँ, काम-काज की भीड़ रहती है। ख्याल नहीं रहता है। कभी-कभी तुम्हारी बात पर ध्यान नहीं भी जाता है, मानता हूँ, मगर महतो और बहिया आखिर बाप-बेटे ही तो होते हैं। दूसरा काम नहीं आता है। कान भरने वालों की कमी नहीं है···इतना कहकर मालिक ने पलकों से इशारा करके मुझे अपने नजदीक बुला लिया। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए वह बोले—तुम्हारे दिन, बलचनमा की माँ, अब लौटने ही वाले हैं। बड़ा कमासुत निकलेगा बेटा। अपने बाप का नाम उजागर करेगा। भगवान करेंगे, तुम्हारे सारे मनोरथ पूरे होंगे। बाकी, थोड़ा दिन और धीरज से काम लो···

माँ की समझ में नहीं आ रहा था कि इतना कुछ कहने का आखिर मतलब क्या है। भीतर-ही-भीतर काँप उठी। दादी चुपचाप बैठी थी। पंडित जी तम्बाकू चुना रहे थे। मैं खम्हेली के सहारे, वहीं मालिक के नजदीक खड़ा था।

पंडित जी बोले—जो बहिया, महतो को प्रसन्न रखता है उसके लिए स्वर्ग में अमृत की धार बहती है। अरे जसोधर बाबू, मिट्टी का ठहरा शरीर, गिरता है तो खाक हो जाता है। समझदार वह है जो इस चोले को पाकर कुछ कर जाता है···मान लीजिये आपको बित्ता-आध बित्ता जमीन की जरूरत है और बलचनमा की माँ उतनी जमीन आपको दे देती है तो होता है क्या ?

हम सभी ने भक्कू की भाँति पंडित जी की ओर देखा। मालिक की भी नजर उन्हीं पर थी। वह सुर्ती खा चुके थे। लड़खड़ाती जीभ से एक-एक शब्द

पर डबल जोर देते हुए उन्होंने कहा—होता है क्या ?

इस पर मालिक से चुप नहीं रहा गया। वह बोले—अरे होगा क्या ? आपस की बात है। एक का भात दूसरे की दाल, एक की रोटी दूसरे की भाजी। मतलब यह है कि किसी तरह काम चलना चाहिये।

तब मालिक ने एक बार मुझे, एक बार माँ की ओर, एक बार दादी को गौर से देखा। हमारे चेहरे पर कोई खास भाव नहीं था। सूखे कोहड़ों के लिए क्या वसंत, क्या सरदी ! हमारे अन्दर का अन्दाजा पा चुकने पर मझले मालिक ने कहा—कल बुधवार है, परसों बृहस्पति। बलचनमा की माँ, जरा खजौली चलना होगा। तुम्हारे घर से पश्चिम हमारा जो भिट्ठा खेत पड़ता है उसमें बेरवी आम के कलम लगाना चाहता हूँ, तुम्हारी कुछ जमीन वहीं पड़ती है। वह अगर दे दो तो खेत बिल्कुल चौकोर हो जायगा।

माँ कुछ नहीं बोली। दादी भी चुप थी। मैं कुछ ज्यादा समझ ही नहीं सकता था। सुरती थूककर बूढ़े पंडित जी ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को नचाया। फिर मेरी ओर मुड़ करके बोले—क्या होता है उसमें ? कभी चार सेर मड़ुआ, कभी सेर-भर सुथनी, कभी पाव-भर अल्हुआ···मैंने तो तुम्हारी ऊसर टुकड़ी में दूब भी उगते नहीं देखा।

अब दादी से न रहा गया। लपककर उसने मालिक के दोनों पैर पकड़ लिए। भर्राई आवाज में कहने लगी—नहीं सरकार, ललुआ की कमाई का निशान है वह खेत। उसे न छीनें। क्या कमी है आपको···

मालिक ने 'हट-हट' कहते हुए अपने पैरों को हटा लिया। कुछ देर तक घूर-कर वह हमारी ओर देखते रहे। फिर बोले—दो कट्ठा के बदले चार कट्ठा देने को तैयार हूँ, धनहर खेत। तुझसे सपरेगा ?

इस पर मेरी माँ ने मुँह खोला—मालिक, यह जमीन घर के नगीच पड़ती है। मकई या मड़ुवा जो चाहे छींट दें, बो दें, कुछ-न-कुछ हो ही जाता है। निगाह के सामने रहने से अगोरने का इन्तजाम अलग से नहीं करना पड़ता। और, मालिक धान का खेत गाँव के बाहर जरा दूर पड़ता है। बलचनमा अभी बच्चा है। कौन सँभालेगा ?

मालिक उठे और छप्पर की ओलती से लटकते तिनके को खोंट लिया और फिर बैठ गये। खढ़ की उसी टुकड़ी से कान खोदते-खोदते कहा—अरे, मैं सब कर दूँगा। जहाँ इतनी खेती-बाड़ी होती है वहाँ तुम्हारा दो-चार कट्ठा भला क्यों न आबाद होगा ? हाँ, हल, बैल, बीज पर जो मजदूरी न दे सके तो उतने का रकम जोड़कर कागज पर मैं कहीं टीप लूँगा···भगवान जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं।

अच्छा तो भगवान करते ही हैं ? चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूरकर फाँकती थीं, यह भी भगवान ठीक ही

करते थे। और मालिक लोग कनकजीर और तुलसीफूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते थे, सो, यह भी भगवान की ही लीला थी। चौकोर कलमवाग के लिये उनको हमारा दो कट्ठा खेत चाहिये था और हमें चाहिये अपने चौकोरपेट के लिये मुट्ठी-भर दाना।

अच्छी तरह मुझे याद नहीं है कि माँ को जवरन कैसे राजी किया गया, लेकिन मझले मालिक का कलमवाग आखिर चौकोर हो ही गया। वदले में वटाई के तौर पर धान का खेत तो कौन कहे, अँगूठे का वह पुराना निशान भी वापस नहीं मिला। कहा गया कि मिल नहीं रहा है, कागजात के नीचे तुम्हारा वह छोटा-सा पुरजा कहीं दव गया है। अरे मेरा न सही भगवान का भरोसा तो करो······

छोटी मलिकाइन के यहाँ से फुरसत मुझे वहुत ही कम मिलती थी। भैंस के चरवाहे दोपहर का समय खूव आराम से विताते हैं। लेकिन मैं तो सिर्फ चरवाहा ही नहीं था, उनका वहिया भी था। मेरी हड्डी-हड्डी, नस-नस और रोएँ-रोएँ पर उनका मौरूसी हक था। पोसने-पालने, सड़ाने-गलाने और मारने-पीटने का भी उन्हें पूरा हक था! दोपहर का खाना खाकर जव मैं वैठता कि अन्दर से लौंडी आवाज देती—वलचनमाऽऽऽऽ, कहाँ गया रेऽऽ, अरे वलचनमाऽऽ, कोढ़िया वोलता भी नहीं कहाँ गया।

थकावट के मारे चूर-चूर रहता मैं। ऐसा मन होता है कि कलमुँही का जाकर मुँह नोच लूँ। यह नौकरानी वड़ी मुँहफट थी। मलिकाइन के मायके की रहनेवाली, देखने में खूवसूरत। गोरी और छरहरी। दोनों वाँहों पर वाँसुरी वजाते हुए वाँके विहारी कृस्न गोदे हुए थे। ठोड़ी पर वाईं ओर तिल गोदा हुआ था, कपार पर विन्दी। गरदन पर चाँदी की मोटी हँसुली थी। वाहों में वाजूवन्द थे, नाक के छेद में सोने का छक था। कलाइयों में लाह की मोटी-मोटी चार लहठियाँ वड़ी भली लगती थीं। पैर खाली थे। हाँ, उन पर पीपल के पत्ते की शकल का गोदना गोदवा रक्खा था। चौड़े पाट की साफ साड़ी पहनकर जव वह वाहर निकलती तो और भी खूवसूरत लगती। और तो नहीं कुछ, मखौल और ठिठोली उससे सव करते थे। मझले मालिक का लँगड़ा नौकर तक इसमें नहीं चूकता। और वही जव कोढ़िया कहकर मुझे पुकारती तो मन करता कि झपटकर उसका मुँह-नाक नोच लूँ···। छन-भर भी मेरा वैठना उसे वरदाश्त नहीं था। कुछ काम नहीं रहता तो भी फिजूल की वातों में वह मुझे उलझाये रहती—वलचनमा, दूकान जाकर देख तो आ कि नहाने का सावुन आया है या नहीं। कभी कहती, वखार के अन्दर घुसकर देख कि नेवले ने वहाँ अड्डा तो नहीं वनाया है। कभी उसका हुकुम यों होता—वलुआ पाठक की हवेली के अन्दर जो वगिया है, उसमें मेंहदी के झाड़ हैं, मलिकाइन के हाथ और पैर कई दिनों से सूने पड़े हैं। जा, मेंहदी के पत्ते ले आ।

सभी वात में मलिकाइन का ही वह नाम लेती। ढीठ वह इतनी थी कि

अकेले में पाकर जाने कितनी दफे इन गालों को उसने चूम लिया होगा। हमारे छोटे मालिक का उससे लगाव-सम्बन्ध था कि नहीं यह बतलाना मेरे लिए कठिन है। लेकिन इतना मैं कहूँगा कि थी वह बड़ी चालाक। साफ था, जिस आबोहवा में पल-पुसकर वह बड़ी हुई थी उसमें कई हाथों की फेरी रही होगी। चाँदी के गहने उसकी खूबसूरती के गवाह थे। चुलबुलापन कूट-कूट कर भरा था उसमें। मलिकाइन के लिए वह दाहिना हाथ थी।

पीछे मैंने भैंस दुहना भी सीख लिया था। सबूरी मंडल मेरे गुरु थे। दूध काफी होता था। मगर नई-नई व्याई भैंस का दूध पतला होता है। उससे मक्खन बहुत कम निकलता है। दूसरी बात यह कि सूखे दिनों की कड़ी घास और बरसात की मुलायम घास में बहुत फर्क है। भैंस ने आठ-दस महीने बाद दूध देना बन्द-सा कर दिया। फिर दूध जास्ती से जास्ती मीठा होता गया। तिस पर जेठ, वैसाख की कड़ी घास तो भैंस के गाढ़े दूध को और भी मीठा बनाती गई। गरमी के दिनों में भैंस दूध कम जरूर देने लगी मगर उसमें मक्खन अधिक रहता था।

झूठ मैं नहीं कहूँगा कि उनके यहाँ दूध-दही खाने को मुझे कभी नहीं मिला। मिला क्यों नहीं, लेकिन सिनेह और जतन से नहीं। अमृत भी अगर दुतकारकर मिला तो क्या मिला? उस मिलने से न मिलना लाख गुना अच्छा।

हमारे तरफ छोटी जात वाले बड़ी जात वालों का जूठन खुलकर खाते थे। अब पंचायत ने इस पर रोक लगा दिया है। पर मैं तो यह बहुत पहले की बात कह रहा हूँ। बचपन में मालिक लोगों की बहुत जूठन मैंने खायी है। बल्कि यों कहूँ कि अच्छी चीज जो भी खाई होगी वह बाबू लोगों की जूठन ही रही होगी। इन लोगों के यहाँ दामाद, बहनोई, समधी या ससुर जैसे मेहमान आते ही रहते हैं। उनके आने पर बढ़िया से बढ़िया चावल कोठार से निकलता। अरहर की पुरानी दाल निकलती। कुंजड़ा से कहकर अच्छी से अच्छी तरकारी मँगवाई जाती। मछुओं से अपने तालाब में रोहू मछली पकड़वायी जाती। दही, दूध, घी का तो कहना ही क्या। इस तरह मालिक के घरों में 'महामहोच्छव' होता रहता। ऐसे अवसरों पर हम अभागों का भाग्य चमक उठता। कायदे के अनुसार मेहमानों के आगे खाने-पीने की चीजें अधिक ही रक्खी जाती थीं। वह आधी या चौथाई ही खा पाते। बाकी, जो बचता उससे हमारे जैसों की जीभ का सराध होता। ओह! जिस दिन मेहमान आते उस दिन मेरी दादी कितनी बेचैनी से उनकी जूठन का बाट जोहती! उनके खा लेने पर जूठन बटोरकर दादी ले आती। मैं भी बुलाया जाता। हम सभी उस जूठन को घेरकर बैठते। सबको अपना-अपना हिस्सा मिलता। खाते समय दादी बतलाती जाती—यह कटहल का बड़ा है, यह सहिजन का अचार, यह रोहू की पेटी, और देखो न, खटमिट्ठी कैसी अच्छी है! यह मझले मालिक के ननिहाल से आयी थी। अरे वाह कनकजीर चावल का भात कितना मीठा गमक रहा है। दाल से भी घी की खुशबू आती है…मगर

मलिकाइन का हाथ छोटा है। खुलकर जब परोसती ही नहीं तो बेचारा मेहमान क्या खायेगा और क्या छोड़ेगा ?

मैं गाँव छोड़कर जब से बाहर निकला हूँ तब से दो ही एक बार जूठन खाई होगी। पर उन दिनों मालिक के यहाँ मेहमान की जूठन पा जाना भाग की ही बात थी; क्योंकि मालिकों की तरह दासों के भी अनेक परिवार थे। उन्होंने आपस में घर बाँट रक्खे थे। हमारे हिस्से में छोटे मालिक पड़ते थे। कभी-कभी यह सीमा टूट भी जाती थी। ऐसा तभी होता जब मूड़न, छेदन, जनेउआ, शादी-ब्याह, बूढ़ों का सराध वगैरह आ पड़ता। काम-काज के उस भीड़-भाड़ में एक मालिक के यहाँ बहिया—खानदान के सभी मिलकर खटते थे।

मालिकों की चार पट्टियाँ थीं। पुरानी हवेली बड़े मालिक के हिस्से में पड़ी थी। मझले और सझले मालिकों ने मिलकर उस पुरानी हवेली की मरम्मत करवा ली थी जो उनके निपूती चचा की थी और इधर पन्द्रह-बीस साल से ढंढ्मंढ पड़ी थी।

छोटे मालिक ने अपने लिये एक हवेली अलग बनवाई। यह थोड़ी ही जगह को घेरकर बनाई गई थी। यही कोई दो बीघे की। बीच में आँगन, चारों ओर घर। इन घरों के चार-चार छप्पर थे। छप्पर को हमारे यहाँ चार कहा जाता है। कच्ची ईंटों की दीवारें खड़ी कर उन पर दो-दो धरनें डाल दी गई थीं। धरनों पर छोटे-छोटे खम्भे थे, खम्भों के सहारे मुड़ेरे पर लम्बी बड़ेरी पड़ी थी। कीलों ठुकी साखों की कड़ियों पर चार टिके हुए थे। मालिकों को न बाँस की कमी थी न लकड़ी की। घास-फूस, खढ़-खढ़ी, सरपत-सावे किसी ऐसी चीज का अभाव वहाँ नहीं था जिसकी जरूरत घर बनाने में होती है। चौखटें सीसम की। किवाड़ थे कटहल की लकड़ी के बने। देखने में पीले, बनावट के अच्छे यह किवाड़ बड़े ही अच्छे लगते थे। आँगन की ओर चारों घरों में ओसारे थे। आँगन के दच्छिन-पूरब कोने में तुलसी का चबूतरा था, वहीं हनुमान जी की धुजा गड़ी हुई थी। लाल पताका पर लम्बी लंगूर वाले महाबीर जी सफेद कपड़े से सी दिये गये थे। हाथ में टेढ़ी-सी गदा थी। उत्तर और पूरब के कोने से बाहर निकलने का रास्ता था। दरवाजे पर भी किवाड़ थे। बन्द कर लेने पर घर और आँगन मिलकर हवेली को एक अलग संसार बना देते थे। दरवाजे से सटा हुआ सुन्दर दालान था। उसके अन्दर वाले दो कमरों की हवेली के पुबरिया घर से भीतर-ही-भीतर सम्बन्ध था। बरसात के दिनों में पाहुनों को अन्दर जाने के लिए सुभीता था। घूमकर सदर दरवाजे से जाने पर भींगना होता लेकिन अन्दर का दरवाजा खोल देने पर तुम हवेली पहुँच जाते। दालान के सामने खुली जगह थी। बाईं ओर बड़े-बड़े बखार थे। बैठक में एक ओर चार-चार पहियों वाली बड़ी-बड़ी संदूकें पड़ी थीं जिनमें पुराने जमाने के बेढंगे खुरदरे ताले लटक रहे थे। दूसरी ओर तो तख्तपोश थे, उनमें से एक पर बीचोबीच शतरंज का घर खुदा हुआ था। अन्दर कमरों में छोटे-छोटे दो खपसूरत पलँग खड़े थे।

हवेली के उत्तर मवेशीखाना था। लकड़ी का लम्बा नांद रखा था जिसके दोनों तरफ चार-चार खूँटे ठुके हुए थे। ज़रा हटकर सीमेंट की गहरी और गोल हौद बनी थी, उसके भी दोनों ओर दो खूंटे गड़े थे। वह भैंसों के लिए था। उन आठ खूंटों में बैल बाँधे जाते थे। बैलों की सेवा मुझे नहीं, हलवाहों को करनी पड़ती थी। गाय वहाँ एक भी नहीं थी। बड़े घरों में गाय रखना दरिद्दर समझा जाता है। जिन्हें भगवान ने पालने-पोसने की सामर्थ दी है, उनके यहाँ भैंस ही पाओगे।

हमारे मालिक की पट्टी में दिखावा कम था मगर रुपइया-पइसा जास्ती था। गाड़कर रक्खे हुए थे। दस हजार का लहना-तगादा चलता था। खाने वाले सात ही मुँह थे। उपज थी हजार मन की। मलिकाइन बड़ी चालाक थीं। भादों-आसिन में वह अपने बखार खोलतीं और चढ़े दाम पर सारा धान बेच लेतीं। डेढ़-दो सौ मन ड्योढ़े-सवाये पर भी लगातीं। देते समय का बटखरा लेते समय गायब बतलाया जाता। एक बार फूदन मिसर की विधवा औरत पूस में धान वापस करने आई थी। बराह्मनी ने टोकरी में ढो-ढोकर मलिकाइन के सामने धान का ढेर लगा दिया और कहा—तोलकर लाई हूँ साढ़े सात मन से कुछ जास्ती ही है। फिर भी मलिकाइन, आप तौलवा लीजिए।

उस वखत वह हाथों में मेंहदी लगाये हुए थीं। मुझे अन्दर बुलाया और कहा—जा, जूगल कामत को बुला ला। वह तोल भी लेगा और बखार में टाल भी देगा।

जूगल कामत केवट थे। छोटे मालिक ने दस कट्ठा खेत दे रखा था। इसी घर से उनकी परवरिस होती थी। इन्हीं के यहाँ मजूरी-बनिहारी करके बेचारे का निरवाह होता था। अकाल-बिकाल, बेर-कुबेर, रात-बिरात, समय-कुसमय जभी जरूरत पड़ती, मलिकाइन कामत को बुलवा लेतीं। कर्ज और गुलामी में सिर से पैर तक डूबा हुआ यह आदमी मलेरिया की हड्डीतोड़ बीमारी में गल-पचकर जब मरा तभी छुटकारा पा सका।

जूगल को मैं बुला लाया। मलिकाइन ने उससे कहा—उत्तरबरिया घर में बटखरा पड़ा है, तराजू भी वहीं है। लाकर तोल लेना यह धान।

कामत सफेद पत्थर की गोलमटोल पनसेरी से जब तौलने लगे तो ठुड्डी हिलाकर बराह्मनी बोली—ऊँहुँ ! यह नहीं है वह बटखरा जिससे तौलकर मिला था…ऊँहुँ…

हँऽऽऽ ! सच बघारने आई है—गरजकर मलिकाइन ने कहा—देखो तो कामत, फूदन मिसर की यह विधवा क्या बक रही है ? जब पेट जलने लगता है तब तो आ-आकर नाक रगड़ती है, ईसर-परमेसर, अनपुर्ना-लछमी जाने क्या-क्या बनाकर पैर पकड़ती है ! मौके पर न दो धान तो समूचे गाँव को दनदनव लगेगा, दो तो लौटाते समय…फटता है ! सँपोटाही कहती है कि बटखरा बदला हुआ है !!

फ़िर ताव में आकर मलिकाइन ने मेंहदी लगे अपने हाथों को दच्छिन की ओर फैला लिया और चिल्ला उठीं—दुहाई गंगा मइया की ! छटाँक-आधा छटाँक धान के लिए जो मैंने वटखरा बदला हो तो मेरा सत्यानाश हो नहीं तो झूठ-मूठ का कलंक लगाने वाली इस राँड की माँग अगले जनम में भी खाली की खाली रहे···

मोसम्मात वेचारी चुप रही, और चारा ही क्या था ? हर साल जेठ-अखाढ़ में वह यहीं आकर हाथ फैलाती थी । उसने जी को कड़ा कर लिया—पसेरी-दो पसेरी धान यह अधिक ही लेगी तो क्या ? घटेगा तो देना भी इसी को पड़ेगा न ?

मलिकाइन की ओर वह घूरकर रह गई । तौलना खतम हो चुका था । सात मन दो पसेरी हुआ । झख मारकर वेचारी टोकरी-भर धान और ले आई । दो पसेरी तौल लेने पर थोड़ा-सा धान टोकरी में बच रहा । जूगल ने हाथ से हाथ ठोंककर धूल झाड़ी, फटे-मैले अँगोछे से मुँह-कान पोंछा । अँगना के किनारे जाकर खखार आया और ब्राह्मणी से कहा—ले जाइये मिसराइन, यह धान वचा है ।

गिरहथिनी ने टोका—अरे, ले कहाँ जायेंगी ? पाव-आध पाव भी क्या कोई चीज है । जाओ, यह भी वखार में डाल आओ । हमारे यहाँ पड़ा रहेगा तो समय पर इनके ही काम आएगा नहीं तो फाजिल अनाज ये लोग छींट-छाँट डालते हैं ।

रंज और गम के मारे मिसराइन का चेहरा स्याह पड़ गया था । उलटकर टोकरी को जोर से उसने झाड़ दिया और झपाटे से निकल गई । आँगन से निकलते-निकलते उसने कहा था—हे भगवान ! इनका पेट है कि अगम कुआँ ! इतना धन, इतनी सम्पदा । फिर भी संतोष नहीं !

ऐसे ही करिमवक्कस को भी एक वार मैंने छिलमिलाते देखा था । वसंत पंचमी का दिन, शाम होने में तनिक देर थी । वह और उसका वेटा दो टोकरी धान लाए । उस रोज मलिकाइन ने खुद तौला था । वही सफेद पत्थर वाली पनसेरी थी । तराजू मगर दूसरा था । तीन मन में एक पनसेरी धान कम हुआ । शेख हाय-हाय करने लगा—सरकार, हम तो दो सेर से ज्यादा ही लाये थे, घट कैसे गया ।

उनकी दाढ़ी के नजदीक अपने दाहिने हाथ को चमकाती हुई मलिकाइन गुर्रा उठीं—सुगरखौका, लाज-शरम तुझे छू तक न गई लेकिन मुझे तो भगवान का डर है···वही वटखरा, वही तराजू । वही तू और वही मैं···फिर हाथ के अँगूठे और विचली अँगुली को टेढ़ी करके मलिकाइन ने ऐसा अभिनय किया मानो करिमवक्कस की दाढ़ी नोच लेंगी ।

इस तरह की कई वातें मुझे याद हैं । उनके यहाँ काम करने वालों की कमी तो थी नहीं । मजदूरी में अच्छा दाना नहीं मिलता था । झख मारकर मजदूरों को लेना तो पड़ता ही । दिन-भर काम कराके कच्ची तौल से तीन सेर खेसाड़ी या जौ या मड़ुआ मिलता । दाने हलके और कभी-कभी घुन लगे होते थे । कभी-कभी धान भी मिलता था । डेढ़ पहर काम कर चुकने पर पाव-भर पिसान से वर्ना मड़ुआ की रोटी पनपिआई मिलती ।

धान रोपने के दिन बड़ी चहल-पहल के होते थे। उत्तर बिहार के कई जिलों में धान की फसल काफी अच्छी होती है। वहाँ की खास फसल धान ही समझ लो। दरभंगा जिला तीन डिविजनों में बँटा हुआ है—सदर, समस्तीपुर और मधुबनी। सदर और मधुबनी धान की अपनी अच्छी फसल के लिए मशहूर है। वर्षा उधर बैसाख के अन्त से ही शुरू हो जाती है। रोहिनी नछत्तर में कोसों फैले खेत धान के नये-नये पौधों से हरे समुन्दर की तरह लहराते रहते हैं। आँखों को तर करने वाली वैसी हरियाली तुम्हें और कहाँ मिलेगी? यह पौधे महीना-डेढ़ महीना में बड़े हो जाते हैं। हाथ-हाथ-भर के। तब तक निचली सतह के खेतों को जोत-जोतकर किसान तैयार किये रहते हैं। आसाढ़ में धान के छोटे पौधे, लोग इन्हीं खेतों में रोपना शुरू करते हैं। धान रोपने का यह सिलसिला सावन तक चलता रहता है। हाँ, ऐसा वहीं होता है जहाँ बारिश काफी होती है। हमारे यहाँ नहर का इन्तजाम नहीं है। इन दिनों हर काश्तकार की कोशिश यही रहती है कि पहले उसी के खेतों में धनरोपनी हो जाय। बनिहारों और खेत-मजूरों की मदद के बिना ऐसा होना असम्भव है। छोटे-बड़े सभी गिरहथ इसी से धान रोपने वाले मजदूरों को चार सेर की मजदूरी देते थे, और यह भी कि मेड़ पर बैठाकर दाल-भात, तरकारी-अचार खिलाते थे।

मलिकाइन अपनी खेती का सँभालने के लिए नइहर से मजदूर मँगवा लेती थीं। काम की निगरानी के लिए दूर के रिश्ते का भाई साथ आता। रामपुर के पड़ोस में दो छोटी-छोटी बस्तियाँ मुसहरों की थीं। साँवला रंग, ठिगना कद, गोल माथा, छोटी-छोटी आँख, दिया जैसी नाक—मुसहर होते हैं; मगर मजबूत काठी के। मेहनती और ईमानदार। थोड़े में ही संतोख करने वाले। मुसहरों की दो बस्तियों से क्या होता? वहाँ आस-पास पचासों काश्तकार और कई जमींदार बिछे पड़े थे। धान रोपने के दिनों में मजदूरों की कमी पड़ जाती। हमारे मालिक की औकात के लोग अपने ससुराल, ननिहाल से कमकर मँगवाते; नहीं तो ठीक वखत पर काम सपरना मुश्किल होता।

मलिकाइन इन दिनों अपनी मुट्ठी जरा खोल देती थीं। आम और मिर्च का अचार भंडार से निकल आता। लगातार कई दिनों तक तीस-तीस, चालीस-चालीस आदमियों का खाना तैयार होता। बैलगाड़ी पर चटाई बिछा दी जाती। उस पर केले के पत्ते। फिर भात डाल दिया जाता। पीतल के बड़े हंडे में दाल, टोकरी में तरकारी और अचार। खेतों के बीच-बीच गुजरने वाले बाँध पर जाकर गाड़ी खड़ी हो जाती। साहुड़ के तले दूब पर बैठकर मजूर खाना खाते और फिर रोपनी शुरू होती।

मेरा भी मन मचलता कि मजूरों के साथ जाकर धान रोपूँ; मगर नहीं, सुबह-सुबह भैंस चरा आने के बाद बथान साफ करना पड़ता। आठ बैल थे। भैंसें अब दो हो गई थीं। मलिकाइन के भाई घोड़ा पर चढ़ के आये थे। सो, उनकी जगह भी लीद से भरी रहती। मैं नहीं तो और कौन साफ करता? कमली भैंसों का

गोवर-मूत उठाना भला क्यों अखरता ? लेकिन वैलों की जगह साफ करते समय मेरा रोआँ-रोआँ मलिकाइन को गालियाँ देता। गोवर-गोंत, कीच और लीद उठा कर उन जगहों पर वालू डाल देता ताकि आराम से माल-जाल वहाँ बैठ सकें।

इसके वाद वासी भात या मड़ुआ की गरम रोटी कलेवे में मिलती। अच्छी तरह निगलकर शायद ही कभी खा पाता होऊँगा क्योंकि मलिकाइन और उसकी लाडली नौकरानी का हुकुम-पर-हुकुम छूटता रहता—वलचनमा, जा दौड़, तालाब की मछलियाँ नाले से निकलकर भाग रही हैं, वलचनमा कलमवाग में वह देख कोई आम तोड़ रहा है; वलचनमा, अरे वह किसकी गाय मूँग चर रही है··· लगता था कि एक ही वलचनमा वीस शरीरधारी है और एक ही समय में वाखूवी वीस काम कर सकता है। खवासिन खा-खाकर खूब तगड़ी हो गई थी, सवसे अधिक गुस्सा मुझे उसी पर आता—ससुरी मलिकाइन की सौत वन गई है! जिसकी अपनी कोख सूनी हो वह क्या जानेगी कि वच्चों का मोह क्या होता है। उसे क्या पता है कि चौदह-पन्द्रह साल का वलचनमा वोतल झा (पहलवान) नहीं है। खुद हरामजादी सूअर की तरह मोटी हो गई है; चला तक नहीं जाता और मुझ पर हुकुम चलाती है! वस चले इसका तो मेरे कन्धों पर सवार होकर···।

कभी-कभी वह चिग्घाड़ मारकर रो पड़ती थी। कोंचा खोलकर नंगी हो जाती और हाय वाप, हाय वाप करती हुई जीभ निकालती। वोलती—ही ही ही ही मैं काली हूँ, पोखर पर जो वौना पीपल है उसी पर रहती हूं, खा जाऊंगी समूचा गाँव। वकरा दो वकरा···

मलिकाइन चीखकर दोनों हाथ जोड़ लेतीं—दुहाई भगवती की, सुखिया का भूत भगा ले जाइए। दो कुँआरी लड़कियों को आपकी खातिर खीर-पूड़ी खिलाऊँगी—फिर मेरी ओर मुँह करके कहतीं—वलचनमा, दामो ठाकुर को वुला ला।

दामो ठाकुर ओझा थे। झाड़-फूंक, पूजा-पाठ, टोना-टापर सव करना जानते थे। लाल रंग की धोती, लाल अँगोछा। कपार पर सिंदूर का लाल टीका। चोटी के वाल वहुत वड़े थे, इतने वड़े कि खोल देने पर पीठ के पीछे कमर तक लटक आते। चोटी के आधे वाल हमेशा वँधे रहते। साल में छः महीना वह वाहर रहते और छः महीना घर। गले में हाथी के दाँतों को तरासकर वनाये गये दानों की माला थी—लाल रेशम से गूँथी हुई। सुमेर की जगह उसमें ऐसा दाना था कि जो दोमुँहे वाघ की तरह था। दाईं वाँह पर काले धागे में गूँथा हुआ वड़ा-सा मूँगा वँधा था। कान के छेद में से कुंडल की जगह रुद्राक्ष लटक रहे थे। तीन जगह से टेढ़ी, नेवले के मुंह-जैसी मूठ वाली वकुली छड़ी लेकर दामो ठाकुर जव चलते तो वच्चों को वड़ा ही डर लगता। पैरों से खड़ाऊ कभी नहीं छूटती।

तीन वार वुलाने पर वह आते। दच्छिन वाले घर में उन्हें वैठने को कहा जाता। मलिकाइन उनसे परदा करती थीं। वड़े मालिक की लड़की का नाम था जयमंगला। वह वाल विधवा थी। देखने में खूब सुन्दर। सांवली। वड़ी-वड़ी

आँखों वाली। उसे ऐसे समय बुला लिया जाता। वह विचवई काम करती। चूहे के बिल की मिट्टी, पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके, चार बूँद गंगाजल, पीपल के सूखे पत्ते...इतनी चीज मिलाकर दामो ठाकुर भूत झाड़ना शुरू करते।

फिर-फिर नंगी न हो जाय। इसलिए मलिकाइन लौंडी की साड़ी में कमर के पास गाँठ बाँध देतीं। दो हलवाहे—कल्लर और छीतन उसे बीच आँगन से पकड़कर तान्त्रिक जी के नजदीक बैठा जाते। वह ऊपर बताई चीजों से झाड़ना शुरू करते—ओम् काली काली महाकाली इन्द्र की बेटी ब्रह्मा की साली फू... इतना कहकर कुछ देर तक होंठ पटपटाते और फिर खवासिन की छाती पर फूंक मारते। फिर सिर पर, कन्धों पर, कमर में। आँखों का इशारा पाकर दूसरे लोग घर से निकल जाते, किवाड़ भिड़का दिया जाता। अन्दर से हुँ हुँ की आवाज आने लगती।

थोड़ी देर बाद किवाड़ा खुलता। लेकिन किसी को अन्दर जाने का साहस नहीं होता। थोड़ी देर बीतने पर पसीने से लथपथ दामो ठाकुर बाहर निकलते और यह कहते हुए आँगन से निकल जाते कि नौकरानी का मिजाज ठीक कर दिया है, बड़ा जबरदस्त भूत था, मुश्किल से काबू में आया...अभी थोड़ी देर, जयमंगला उसे अकेली छोड़ दो।

बरसाती नदी में बाढ़ आती है। कैसी विकराल हो जाती है वह! न कूल न किनारा! भूत लगने पर सुखिया का यही हाल होता। भूत उतर जाने पर वह कुँआर-कातिक की नदी की तरह हो जाती। भूत या जिन्न अक्सर बाँझ औरत को ही पकड़ता है। हमारी मलिकाइन के यहाँ उस लौंडी पर साल में दो-एक बार इस तरह का दौरा आया करता और तब दामो ठाकुर की गुहार होती। उसके न रहने पर डेढ़-दो दिन तक वह उछलती-कूदती, रोती-हँसती। खुले बाल, नंगी पकड़कर उसे मलिकाइन उतरवरिया घर में डाल देतीं, किवाड़ा बन्द कर जंजीर चढ़ा देतीं।

एक बार उसने अन्दर से खूब जोर लगाकर किवाड़ों को पीटना शुरू किया। मलिकाइन ने अनन्त बाबू को बुलाया। वह खूब हट्टे-कट्टे थे। आठों पहर उनका खेती-गृहस्थी में बीतता। बदमाश से बदमाश घोड़े को सही रास्ते पर लाने में, बिगड़े बैल की सींग पकड़कर काबू करने में उनकी बराबरी दूसरा कोई नहीं कर सकता था। उस दिन मलिकाइन ने उन्हें नौकरानी के भूत से भिड़ा दिया। लगी कुश्तम-कुश्ता होने। वह भी मरदों की तरह पैंतरे बाँधती थी...लेकिन वह तमाशा मैं देख नहीं सका, न दूसरे देख सके। क्योंकि बाहर से किवाड़ लगा दिये गये। मलिकाइन का कहना था—तमाशबीनों के सामने भूत-पिशाच की ताकत चार गुनी बढ़ जाती है, वह अकेले ही पस्त होते हैं...मुझे तो भूत-पिशाच के दल का भेद कभी समझ में नहीं आया।

भैंस चराते तीन साल जब हो गये तब दादी बीमार पड़ी। ऐसी पड़ी की फिर उठने का नाम नहीं लिया। अन्दर से पेचिश बाहर से दमा। पुराना ढाँचा

उसका चूर-चूर था ही और अधिक दिन चलना असम्भव था। वहाँ गाँव में किसी को कुछ होता तो मधुवनी के सरकारी अस्पताल से दवा लाता। बाबू-भैया लोग थे कि छोटी बीमारी में भी उनके यहाँ डाक्टर बुलाये जाते। अढ़ाई रुपया उनकी फीस थी, एक रुपैया एक्के का भाड़ा। दवा का दाम अपना ऊपर से दो। बाप रे! गरीबों के पास पथ-पानी के लिए भी धेला-पैसा नहीं रहता, डाक्टर की फीस और दवा के दाम का क्या ठिकाना?

गाँव में ही एक बूढ़े थे जो वैद्य का काम करते थे। लेकिन छोटी जाति वालों के यहाँ जाकर भला बीमार की नाड़ी वह क्यों देखने लगे? अपनी दादी के लिए दवा मैं उन्हीं से लाया था। बरसात का अन्त था। भादों की धूप कितनी कड़ी होती है। एक रोज दोपहरिया में डेढ़ पहर तक पंडितजी ने मुझसे काम लिया। काम क्या था? यही कि भदई धान की दँवरी करवानी थी। काम खतम होने पर उन्होंने मुझे दवा की तीन पुड़ियाँ थमाई। डर था कि मुझे भी बुखार आ घेरेगा मगर हम तो कठ जीव ठहरे। मामूली बुखार भला हमारे पास क्यों फटकेगा? मेरी जगह किसी मालिक-बालिक का लड़का होता और उसी तरह भादों की तपती दुपहरिया में दँवरी करता तो बिना बिछावन पकड़े न रहता।

दादी को रोटी हजम नहीं होती थी, चावल जरूरी था। लाख छटपटा आया, बड़ी, मझली या छोटी किसी मलिकाइन ने मुट्ठी-भर चावल नहीं दिया। माँ ने जाकर मझले मालिक से कहा तो उनकी आँखें घूम गईं। बोले—बखत पड़ता है तो घिघियाकर हमारे यहाँ दौड़ती है नहीं तो···

गाली दी थी मालिक ने, वह मैं तुमसे नहीं कहूँगा भैया! मेरी माँ रोकर कहने लगी—सेर-भर चावल चाहिए नहीं तो बुढ़िया की जान नहीं बचेगी। सरकार कागज पर चढ़ा लीजिए। ड्योढ़ा कि दुगुना जैसा कहेंगे पूस में दे दूँगी।

हुंः बड़ी देने वाली हुई है! दो रुपया पहले का बाकी है सो खटाई में सीझ रहा है और चावल यह लेगी, पाँच महीने बाद जस की तस लौटा देगी। नहीं-नहीं तुम लोगों पर रत्ती-भर का विश्वास मुझे नहीं रह गया है···फिर मालिक ने छोटी मलिकाइन के घर की ओर इशारा करते हुए कहा—जाती है न वहाँ, तुम्हारी अन्नपूर्णा वहीं तो हैं।

छोटी मलिकाइन से हम सेर-भर चावल पहले ही ले गये थे।

रात को सोते समय मझले मालिक मुझसे मुक्कियाँ लगवाते थे। पहर-भर मुक्कियाँ लगा-लगाकर मैं थक जाता। दिन-भर की थकान। अपने को भी ऊँघ आती और मुक्कियों की रफ्तार धीमी पड़ती तो गिरहथ सोते ही सोते टोक देते—ऊँह, और इस तरह मेरी ऊँघ को तोड़कर आप वह करवट बदल लेते। चूतड़ पर हाथ मारकर इशारा करते—इधर मुक्कियाँ लगा···

इस तरह बड़ी देर तक मुक्कियाँ लगाने के बाद उन्हें नींद आती और तब मैं फुरसत पाता। उन्होंने कह रक्खा था—जिस चीज की जरूरत पड़े, दिन में कहकर ले लेना और इसी भरोसे पर मैं उनसे चावल माँगने गया था। मन में

खटका तो था ही, माँ को इसीलिए साथ ले गया था। लेकिन बेकार! बहुत घिघियाने पर पाव-डेढ़ पाव चावल मिला वहाँ से। उसमें से छटाँक-छटाँक करके कई दिनों तक दादी को भात खिलाया गया। कभी-कभी मैं अपनी मलिकाइन का जूठन लुका-छिपाकर घर दे आता था। चौमासे में मेहमान भी नहीं आते थे। असाढ़, सावन, भादों और आसिन इन चार महीनों में रास्ता कीचड़, कादों और पानी से भरा रहता था। और तुम जानते ही हो कि देहात में सब जगह सड़कें नहीं होतीं। सूखे दिनों में लोग खेत-ही-खेत होकर चलते हैं। बहुत हुआ तो घूम गये, मेड़ पकड़ ली। धान के खेतों में अक्सर पानी भरा रहता है या फिर जमीन बहुत गीली रहती है। कमर और छाती तक ऊपर उठकर लहलहाते धान के पौधे अपने बीच से चलने में बड़ी रुकावट डालते हैं। रबी के खेतों में से होकर चलना आसान है, मगर धनहर खेतों को पार करने के लिए तुमको मेड़ का ही सहारा लेना होगा। इसीलिए बरसात के चार महीने, देहातों में घूम-फिरकर पहुनाई करने वालों के लिए ठीक नहीं। लगातार इतने दिनों तक मेहमान न आने पर हम घाटे में रहते थे। जूठन का भात हमारे दैनिक जीवन का बहुत बड़ा सहारा होता था।

सावन-भादों में आकर सभी अनाज महँगे हो जाते थे। जिन घरों में कमाने लायक मजबूत काठी के आदमी थे, मैं उनकी बात नहीं कहता। उनके यहाँ तो धान रोपने की मजदूरी में थोड़ा-बहुत धान आ जाता था। पर मेरे यहाँ कौन था? ले-देकर समूचा मैं था। सो मुझे छोटी मलिकाइन और उनकी दुलरुआ लौंडी रात-दिन हुक्मों में नाथे रहतीं।

दादी के लिए दवा लाने की छुट्टी नहीं मिलती। मेरा मन अन्दर-ही-अन्दर रोता कि काम छोड़कर दादी के पास बैठा रहूँ। असल में उसे माँ से बढ़कर प्यार करता था। जब से होश सँभाला तब से अपने को दादी की ही गोद में पाया। चरवाहे का काम करने के पहले तक दादी के ही बिस्तरे पर उसी की बाँह को तकिया बनाये सोया करता था। वह कहीं से कोई अच्छी चीज लाती तो मेरे लिये उसमें से थोड़ा अलग रख देती।

मरने से दो दिन पहले उसे इच्छा हुई कि पोठी मछली का भुरता खाय। मगर पोठी चढ़ती बरसात में जितनी आसानी से मिलती है उतनी आसानी से और समय नहीं। फिर भी मछली तो कहीं से लाना ही था। भादों खतम हो रहा था। अपने भजार से मैं बनसी ले आया। दोपहर के बखत बुढ़िया पोखर के दच्छिन तरफ वाले भिन्डे पर पहुँचा। उधर कुछ जंगल-सा था। बाँस, जामुन, साहुड़ और गूलर के पेड़ थे। गूलर का एक बौना पेड़ पोखर के बिलकुल किनारे था। तीन जगह से टेढ़ी और मोटी डाल पोखर की कछार में दूर तक फैल आई थी। बरसात के दिनों में पोखर भरा रहता। पानी कभी-कभी भिन्डे के ढलानों को छुए रहता। तब उस गूलर की सूखी डाल पानी में डूब जाती। भादों के बाद पानी घटने लगता, वह डाल बाहर निकलती जाती। छिपकर काँटे से मछली

उसका चूर-चूर था ही और अधिक दिन चलना असम्भव था। वहाँ गाँव में किसी को कुछ होता तो मधुवनी के सरकारी अस्पताल से दवा लाता। वाबू-भैया लोग थे कि छोटी वीमारी में भी उनके यहाँ डाक्टर बुलाये जाते। अढ़ाई रुपया उनकी फीस थी, एक रुपैया एक्के का भाड़ा। दवा का दाम अपना ऊपर से दो। वाप रे! गरीवों के पास पथ-पानी के लिए भी धेला-पैसा नहीं रहता, डाक्टर की फीस और दवा के दाम का क्या ठिकाना?

गाँव में ही एक वूढ़े थे जो वैद्य का काम करते थे। लेकिन छोटी जाति वालों के यहाँ जाकर भला वीमार की नाड़ी वह क्यों देखने लगे? अपनी दादी के लिए दवा मैं उन्हीं से लाया था। वरसात का अन्त था। भादों की धूप कितनी कड़ी होती है। एक रोज दोपहरिया में डेढ़ पहर तक पंडितजी ने मुझसे काम लिया। काम क्या था? यही कि भदई धान की दँवरी करवानी थी। काम खतम होने पर उन्होंने मुझे दवा की तीन पुड़ियाँ थमाई। डर था कि मुझे भी बुखार आ घेरेगा मगर हम तो कठ जीव ठहरे। मामूली वुखार भला हमारे पास क्यों फटकेगा? मेरी जगह किसी मालिक-वालिक का लड़का होता और उसी तरह भादों की तपती दुपहरिया में दँवरी करता तो विना विछावन पकड़े न रहता।

दादी को रोटी हजम नहीं होती थी, चावल जरूरी था। लाख छटपटा आया, वड़ी, मझली या छोटी किसी मलिकाइन ने मुट्ठी-भर चावल नहीं दिया। माँ ने जाकर मझले मालिक से कहा तो उनकी आँखें घूम गईं। वोले—वखत पड़ता है तो घिघियाकर हमारे यहाँ दौड़ती है नहीं तो···

गाली दी थी मालिक ने, वह मैं तुमसे नहीं कहूँगा भैया! मेरी माँ रोकर कहने लगी—सेर-भर चावल चाहिए नहीं तो वुढ़िया की जान नहीं वचेगी। सरकार कागज पर चढ़ा लीजिए। ड्योढ़ा कि दुगुना जैसा कहेंगे पूस में दे दूंगी।

हुँः वड़ी देने वाली हुई है! दो रुपया पहले का वाकी है सो खटाई में सीझ रहा है और चावल यह लेगी, पाँच महीने वाद जस की तस लौटा देगी। नहीं-नहीं तुम लोगों पर रत्ती-भर का विश्वास मुझे नहीं रह गया है···फिर मालिक ने छोटी मलिकाइन के घर की ओर इशारा करते हुए कहा—जाती है न वहाँ, तुम्हारी अन्नपूर्णा वहीं तो हैं।

छोटी मलिकाइन से हम सेर-भर चावल पहले ही ले गये थे।

रात को सोते समय मझले मालिक मुझसे मुक्कियाँ लगवाते थे। पहर-भर मुक्कियाँ लगा-लगाकर मैं थक जाता। दिन-भर की थकान। अपने को भी ऊँघ आती और मुक्कियों की रफ्तार धीमी पड़ती तो गिरहथ सोते ही सोते टोक देते—ऊँह, और इस तरह मेरी ऊँघ को तोड़कर आप वह करवट वदल लेते। चूतड़ पर हाथ मारकर इशारा करते—इधर मुक्कियाँ लगा···

इस तरह वड़ी देर तक मुक्कियाँ लगाने के वाद उन्हें नींद आती और तव मैं फुरसत पाता। उन्होंने कह रक्खा था—जिस चीज की जरूरत पड़े, दिन में कहकर ले लेना और इसी भरोसे पर मैं उनसे चावल माँगने गया था। मन में

खटका तो था ही, माँ को इसीलिए साथ ले गया था। लेकिन बेकार ! बहुत घिघियाने पर पाव-डेढ़ पाव चावल मिला वहाँ से। उसमें से छटाँक-छटाँक करके कई दिनों तक दादी को भात खिलाया गया। कभी-कभी मैं अपनी मलिकाइन का जूठन लुका-छिपाकर घर दे आता था। चौमासे में मेहमान भी नहीं आते थे। असाढ़, सावन, भादों और आसिन इन चार महीनों में रास्ता कीचड़, कादों और पानी से भरा रहता था। और तुम जानते ही हो कि देहात में सब जगह सड़कें नहीं होतीं। सूखे दिनों में लोग खेत-ही-खेत होकर चलते हैं। बहुत हुआ तो घूम गये, मेड़ पकड़ ली। धान के खेतों में अक्सर पानी भरा रहता है या फिर जमीन बहुत गीली रहती है। कमर और छाती तक ऊपर उठकर लहलहाते धान के पौधे अपने बीच से चलने में बड़ी रुकावट डालते हैं। रबी के खेतों में से होकर चलना आसान है, मगर धनहर खेतों को पार करने के लिए तुमको मेड़ का ही सहारा लेना होगा। इसीलिए बरसात के चार महीने, देहातों में घूम-फिरकर पहुनाई करने वालों के लिए ठीक नहीं। लगातार इतने दिनों तक मेहमान न आने पर हम घाटे में रहते थे। जूठन का भात हमारे दैनिक जीवन का बहुत बड़ा सहारा होता था।

सावन-भादों में आकर सभी अनाज महँगे हो जाते थे। जिन घरों में कमाने लायक मजबूत काठी के आदमी थे, मैं उनकी बात नहीं कहता। उनके यहाँ तो धान रोपने की मजदूरी में थोड़ा-बहुत धान आ जाता था। पर मेरे यहाँ कौन था ? ले-देकर समूचा मैं था। सो मुझे छोटी मलिकाइन और उनकी दुलरुआ लौंडी रात-दिन हुक्मों में नाथें रहतीं।

दादी के लिए दवा लाने की छुट्टी नहीं मिलती। मेरा मन अन्दर-ही-अन्दर रोता कि काम छोड़कर दादी के पास बैठा रहूँ। असल में उसे माँ से बढ़कर प्यार करता था। जब से होश सँभाला तब से अपने को दादी की ही गोद में पाया। चरवाहे का काम करने के पहले तक दादी के ही बिस्तरे पर उसी की बाँह को तकिया बनाये सोया करता था। वह कहीं से कोई अच्छी चीज लाती तो मेरे लिये उसमें से थोड़ा अलग रख देती।

मरने से दो दिन पहले उसे इच्छा हुई कि पोठी मछली का भुरता खाय। मगर पोठी चढ़ती बरसात में जितनी आसानी से मिलती है उतनी आसानी से और समय नहीं। फिर भी मछली तो कहीं से लाना ही था। भादों खतम हो रहा था। अपने भजार से मैं बनसी ले आया। दोपहर के वखत बुढ़िया पोखर के दच्छिन तरफ वाले भिन्डे पर पहुँचा। उधर कुछ जंगल-सा था। बाँस, जमुन, साहड़ और गूलर के पेड़ थे। गूलर का एक बौना पेड़ पोखर के बिलकुल किनारे था। तीन जगह से टेढ़ी और मोटी डाल पोखर की कछार में दूर तक फैल आई थी। बरसात के दिनों में पोखर भरा रहता। पानी कभी-कभी भिन्डे के उपरली को छुए रहता। तब उस गूलर की झुकी डाल पानी में डूब जाती। भादों के बाद पानी घटने लगता, वह डाल बाहर निकलती जाती। छिपकर काँटे से मछली

फँसाने वाले गूलर की इसी डाल पर झुरमुट की आड़ में बैठ जाते। चाली, गूंथा आटा या सत्तू का बोरा देकर काँटे को पानी में डाल देते और निगाह को एकटक उस ओर गड़ाये रहते। पहर-दो पहर की कड़ी तपस्या के बाद कभी टेंगरा, कभी भुनचट्टी, कभी गरई, कभी सिंगी हाथ आती।

मालिकों को पता लगता तो वे मछलियाँ भी छीन लेते और काँटे वाली डोरी और बाँस या लग्गा भी, फिर जूतों से पीठ की पूजा करते।

आखिर गौसैंया का नाम लेकर मैंने काँटा डाल दिया, गूलर की डाल पर बैठकर इंतजार करने लगा। थोड़ी ही देर हुई कि काँटे की डोरी में कुछ हरकत मालूम हुई, लग्गी को छपाक से खींच लिया मैंने। देखा, टेंगरा है। काँटा मय मछली के, भीड़ के कगार से सटी गूलर की टहनी में उलझ गया। सोचा, चलो दादी के लायक मछली हो गई। काँटा, डोरी समेटकर लग्गी को बगल दबाये मैं घर की ओर चला। नाक-मुँह के रास्ते लम्बी घास की नत्थ डालकर टेंगरे को मैंने उँगली से लटका रखा था। डेढ़ पहर दिन बाकी रहा होगा। दूर का चक्कर लगाकर घर पहुँचा था, सीधा रास्ता छोड़कर। माँ ने मछली को आग में डाल दिया। पकते समय उसकी गंध बहुत दूर न सही, कुछ दूर तो पहुँच ही रही थी।

कि इतने में हन-हन, पट-पट करती हुई नौकरानी आ धमकी। मुंह बनाकर और हाथ चमकाकर उसने पहले तो मेरी ओर देखा, फिर कहा—जाओ न आज, मलिकाइन गाँड़ का गूदा निकाल लेंगी...इसके बाद उसने नथने बिचका लिये। भौंह और मुंह को बुरी तरह सिकोड़कर उसने फिर कहा—मछली फँसाने का शौक चर्राया है! कितना मार लाये हो? महक तो खूब आ रही है। खाओ, बाबू खाओ, गाँड़ फटेगी तो मालूम होगा...चल बदमसवा, मलिकाइन के पास...

दादी अन्दर लेटी पड़ी थी। पलक उठाकर उसने देखा तो मुझे मालूम पड़ा कि बिल के अँधेरे से खरगोश की आँख चमक रही है। दोनों हाथ जोड़कर सुखिया को मैंने इशारा किया...चुप रहो। अलग ले जाकर माँ को समझा दिया—यह यों ही बकती है, जाता हूँ। तू दादी को टेंगरे का भुरता और भात खिला देना। माँ क्या कहती है इसकी पर्वाह किये बिना ही घर से मैं निकल गया। हाथ पकड़कर नौकरानी को भी खींचता आया।

रास्ते में बड़े मालिक की हवेली के पिछवाड़े सुखिया ने दोनों बाहों में मुझे कस लिया। चूमती हुई बोली—अगर तू मेरी बातों में 'ना' कभी न करे तो...।

धत् चुड़ैल की!—छिटककर मैंने अपने को उसकी बाहों से छुड़ा लिया। ऐसा लगता था कि उसकी भूखी आँखें मुझे निगल जायेंगी। उसने मुस्कराकर कहा—कुत्ता से भी बदतर है तू जो चुमकारने-पुचकारने पर अगली दोनों टाँगों के सहारे खड़ा होकर अपने सिनेही के सीने से सटने को बेताब हो जाता है।

सिर से पैर तक सुखिया को मैंने एक वार देखा और छन-भर में मेरा रोआँ-रोआँ सिहर उठा। मुँह वनाकर मैंने कहा—'कल्लर से व्याह क्यों नहीं कर लेती है ?'

'और तू ?'

'मैं तो अभी छोटा हूँ।'

'मगर है तो वतिया खीरा अभी से···'

उछलकर मैंने अपनी हथेली से उसका मुँह बन्द कर दिया। दूसरी ओर होकर मैंने थूका और वोला—'वेहया कहीं की ! लाज-शरम सव धो-धाकर पी गई !'

'पी न जाती तो निर्वाह कैसे होता ?'

वह मुझे गन्दगी की पिटारी जैसी लगी। तय था कि काँटे से मछली निकालने की वात कहकर मलिकाइन के हाथों वह मुझे पिटवायेगी। लेकिन पिटवाना अपने को मंजूर था, उसके पाँच सेर भारी मुंह से अपने को चटाना मंजूर नहीं था।

उस दिन हुआ यही था कि मालकिन ने आम की आधी जली चैली से पीठ दाग दी थी मेरी।

मलिकान में कोई ऐसा नहीं था जो विना गाली दिए मुझे सम्वोधित न करता हो। वात-वात में साला। वात-वात में ससुर, पाजी और नमकहराम का तो कहना ही क्या। दोपहर, रात को सोए रहने पर कभी-कभी ऐसा होता कि मालिक पेशाव करने वाहर आते। खड़ाऊं की खटर-खटर, खट्ट-खट्ट से भी जव आँख न खुलती तो नजदीक आकर वेदर्दी से वह मेरा कान खींचने लगते। खींचते-खींचते कहते—ललचनमा का वाप, उठ साला ! भैंस को मच्छरों ने परेशान कर रक्खा है, जा वहीं। फिर से आग जला दे; धुंआ लगने से मच्छर भाग जायेंगे···।

रोता-रोता मैं उठता और जाकर देखता कि अलाव में अभी काफी आग है और धीरे-धीरे धुंआ भी उठ रहा है। लेकिन इससे क्या ? सो जो रहा था मैं ! वह भला मालिक से कैसे देखा जा सकता ?

इस तरह गालियाँ, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुतकार और फटकार यही वह रास्ता था जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था। अव मेरी आयु सत्रह साल की थी। मेरी ही उमर का था रामखेलौना जो वड़े मालिक के छोटे लड़के के साथ पटना रहता था। छुट्टियों में अपने मालिक के साथ वह भी आता। छँटे हुए वाल, आधी वाँह की कमीज, धारीदार नेकर···रामखेलौना का यह रूप मुझे विल्कुल अनोखा लगता। इरखा होती कि मैं भी किन्हीं मालिक वावू के साथ कुछ दिन किसी शहर में जाकर रह आता। अपनी मौजूदा जिन्दगी से मैं ऊव चुका था। दुनियाँ की वातों को समझने के लिये जिस पक्की उमर की जरूरत है वह यहाँ नहीं थी। फिर भी छोटी-छोटी दो आंखें तो थीं ! दो

कान तो थे? घर जाने पर माँ को जब कठौती में मड़ुआ का आटा गूँथते देखता तो अपनी गरीबी हल्की नोंक बनकर कलेजे को फाड़ने लगती।

दो

मलिकाइन के भतीजा बाबू पटना में पढ़ते थे। उन्हें अपने साथ रखने के लिये किसी नौकर की जरूरत थी। काम था बर्तन-बासन माँज देना, कमरे में झाड़ू-बहारू देना, बाहर दूकान से पान-सिगरेट लाना और सामान की रखवाली करना। इस काम के लिये किसी सयाने आदमी की जरूरत नहीं थी और वैसा आदमी दो-चार महीने से ज्यादा टिकता भी नहीं।

उमर के लिहाज से छोटा मैं जरूर था, मगर ठिगना या नाटा नहीं। मेरे बाप-दादे लम्बे-तगड़े, खासी अच्छी डील के आदमी थे, माँ मेरी साँवली जरूर रही, लेकिन कद्दावर थी।

मलिकाइन के भतीजा बाबू दुर्गा पूजा की पिछली छुट्टी में आये थे और पाँच-सात दिन रहे भी। नाटा-कद, गोल-गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, मझोली नाक, पतले होंठ, कपार चौड़ा था। देखने में खूबसूरत थे। स्वभाव के मधुर, बात के तनिक कड़े।

डेढ़ पहर दिन उठे जब मैं घास छीलकर लौटता तो वह हवेली के अन्दर मुझे बुलवा लेते। इधर-उधर की बातें कर लेने के बाद मेरी ओर अपना हाथ बढ़ा देते। उनकी वह मुलायम हथेली अपने कँधों पर डालकर मैं उसे चाँपने लगता। वह आँख मींचकर कुछ-कुछ बतियाते रहते और मैं अपने हाथ को उनकी कुहनी तक ले जाकर वापस ले आता। दरअसल नसें दुहवाना उन्हें बहुत पसन्द था। दो अँगुलियों के सहारे उनकी मोटी बाहों को मानों मैं घंटों गूँथा करता। इसके अलावा चूतड़ों पर मुक्कियाँ लगवाना भी उन्हें खूब अच्छा लगता था। कहा करते—मेरे खवास का लड़का मनोरथा हैजे में मर गया, तब से क्या बताऊँ बलचनमा, इस देह की कैसी दुर्गत हो रही है...बाबू करवट बदलकर उस ओर तकिया में मुँह को गोंत लेते और कुछ देर तक ङु ङ ङु ङ करते रहते। सारी देह थिर, मगर एड़ियाँ दोनों डोलती रहतीं। यह किसी भारी सोच में पड़ जाने का उनका लच्छन था।

एक रोज ऐसे ही लच्छन के बाद बिजली की फुर्ती से मुंह उठाकर मेरी ओर वह बकर-बकर ताकने लगे। थोड़ी देर ताकते रहे। फिर पूछा—बलचनमा रहेगा मेरे साथ? चलेगा पटना?

न हाँ, न हूँ—मुझसे कुछ कहते नहीं बना। उन्होंने कई बार पूछा। आखिर मुँह मुझे खोलना ही पड़ा। निगाह नीचे की ओर, गर्दन भारी। अपनी फटी

वनियाइन के लटकते पल्ले को छूते-छूते मैं वोला—मलिकाइन जाने देंगी ?

'अरे मलिकाइन की वात छोड़। तेरी माँ अगर मान जाय तो सव मामला ठीक हो जायगा।'

इस पर मैं कुछ नहीं वोला था। जाने कैसे माँ को उन्होंने मना लिया था और मलिकाइन का क्या पूछना ! वह तो पचास वार मौका-वेमौका मुझे सुनाकर वोल चुकी थीं : एक जायगा एगारह आएगा। चरवाहे की क्या कमी है।

मलिकाइन अपने भतीजे को 'फूल वावू' कहकर वुलाती थीं। वाकी लोग भी उन्हें इसी नाम से जानते थे। मैं भी उन्हें फूल वावू-फूल वावू कहा करता। रहे भी खूव खुश-मिजाज। मिसरी-सी वोली थी। छोटे-छोटे खुदिया दाँतों वाले। उनके मुँह से वातें निकलती तो लगता किसी सुन्दर फुलडाली से झर-झर हरसिंगार के फूल गिर रहे हैं।

फूल वावू वचपन से ही अपनी पीसी के यहाँ आते रहे। माँ उनका शील-सुभाव जानती थी। वल्कि वह कई वार उनके घर हो आई थी। उनकी माँ, उनके वाप, उनका खानदान, सवका हाल मेरी माँ को मालूम था और इसीलिये इतनी आसानी से मेरा उनके साथ जाना माँ को मंजूर हुआ। दुर्गापूजा की छुट्टी विहार-वङ्गाल में वड़ी लम्वी होती है, जानते ही हो। शुरू क्वाँर से लेकर दिवाली—छठ-भाईदूज तक स्कूल-कालेज वन्द रहते हैं। लड़कों और मास्टरों और परफेसरों के लिये मौज है भैया ! फूल वावू दसहरा-भर मलिकाइन के यहाँ रहे। उड़ता हुआ नीलकंठ देखकर अपने गाँव गये। इधर मलिकाइन को चिन्ता हुई नये चरवाहे की—एक जायगा एगारह आयगा—कहने में क्या रक्खा है ! वाकी, आदमी आदमी है ! हाथ-गोड़। आँख-नाक-कान-कपार। सव जानवर के हैं, मगर दिल और दिमाग इंसान के ही वच्चे के पास मिलेगा। भैंस चराओ चाहे गाय, वकरी चराओ चाहे भेंड़। थोड़ी वहुत अकिल तो चाहिए ही। लेकिन अकिल कहाँ मिले ? भिंडी और वैंगन के खेत में आदमी फूस का पुतला खड़ा करता है। तो क्या वह पुतला गाय-भैंस की चरवाही कर सकता है ? नहीं, भैया नहीं, इन्सान का वच्चा ढेला नहीं है कि जहाँ पाया उठा लिया।

वड़ी खोज के वाद मलिकाइन को एक आदमी मिला। निपट वहरा। हाथ-पैर दुरुस्त थे, मगर था वूढ़ा। हमारे रहते ही वह आ गया था। चारज (चार्ज) हम अपना उसे दे चुके थे। पर भीतर-ही-भीतर अफसोस हुआ कि भैंस को इस वूढ़े के चलते भारी मुसीवत उठानी पड़ेगी। ठीक है, गर्ज का यही हाल होता है। मलिकाइन उतावली में थीं, तभी तो कल्यानपट्टी के इस वहरे और वूढ़े दुसाध को चरवाहा रख लिया। वह सवूरी मंडल तो था नहीं कि चरवाही में रस लेता।

दिवाली से दो रोज पहले ही मैं फूल वावू के घर पहुँचा। अकेला नहीं, मलिकाइन ने एक खेत मजूर को साथ कर दिया। जिस दिन मैं घर छोड़ने वाला था, उस दिन माँ की आँखें जाने कितनी वार भर आईं। वह मेरे सामने तो

खुल कर रो न सकी, मगर पीछे जरूर एक लड़का अपनी इसकूली पोथी में दरभंगे
भैया मैं ही कौन सयाना था। सात वहीं वैठा वीड़ी पी रहा था। पढ़ते-पढ़ते इसके
कलेजा फटा। काहे न फटता स्टेशन को हड़ाही भी कहते हैं, क्योंकि नजदीक ही जो
जिया, कभी कलकत्ता ह हड़ाही पोखरा कहलाता है। खोदते वखत शायद हाड़
भारी-भरकम ही।

यही तस्वीरें भैया, फूल वावू कुली से सामान लदवाकर आगे चले। मैं चला पीछे-पीछे सूटकेस सिर पर उठाए। इस लाटफारम से उस लाटफारम पर जाने के लिए एक ठो वड़का पुल है। पक्का, मजवूत। ऊपर से टीन को छतरी भी है। सीढ़ियाँ वनी हैं। चढ़ने को भी और उतरने को भी।

मैंने यह सव देखा। उस दिन पुल पर चढ़ते-उतरते गिरा नहीं सो अचम्भे की वात है।

उस लाटफारम पर जव हम पहुँचे तो गाड़ी खड़ी थी। कुली ने सामान भीतर रख दिया। मालिक ने मुझे कहा—वैठ वलुआ, मैं चाह पीकर आता हूँ। वह गये चाह पीने, मैं चाह से अनजान नहीं था, क्योंकि मेरा वाप ढाका-कलकत्ता घूमा हुआ था। घर पर कभी सरदी-खोंखी होती तो चाह वनवा के पीता था। चीनी न हुआ तो गुड़ ही सही। दादी को एक वार खाँसी हुई जोर की, तो मीठा के वदले नोन डालकर उसने चाह वनवाई। उसी से उसका दुख दूर हुआ।

फूल वावू चाह पीने गए और मैं आँख फाड़-फाड़कर लाटफारम पर चलते-फिरते लोगों को देख रहा था। रूप-रंग के साथ यहाँ लोगों की वोली भी वदली थी। यह काहे-कुहे[१] सुनने का पहिला मौका था मेरे लिए। अपने गाँव पर पड़ोस में सैयदपुर के मियाँ लोगों को पाजामा पहने देखा था, मुदा वोली तो हमारी उनकी एक ही थी। सामने दो पजामाधारी फर-फर वतिया रहे थे, यही काहे-कुहे की वोली में। अव तो भैया, कानों को आदत पड़ गई है। मगर पहिले-पहल जव यह वोली सुनी थी, तो ऐसा लगा था, जाने कोई कानों में खूँटा ठोंकता जा रहा है। अव तो मुझे भी इसी वोली की लत पड़ गई है। अपनी वोली भूलता जा रहा हूँ। ववुनी की तो वात छोड़ो; चार वरस का मेरा परदिपवा फर-फर हिन्दी वोलता है।

ऍंजन ने सीटी दी और फूल वावू आकर हमारे नगीच वैठ गए। उन्होंने अखवार खरीद लिया था। कैसा वड़ा फर्द था। छोटी पोथी और पंडित जी का भागवत का पोथा—अखवार के वड़े-वड़े फर्दों का मुकावला कर सकते हैं? फैलाकर पढ़ोगे तो वाँह टूटने लगेगी। देखते नहीं नवरास्टर रोज आता है। कामरेड नुनचू पढ़-पढ़कर सुनाते हैं। चार तह, आठ तह का, पहले मोड़ लेते हैं, तव फिर पढ़ना शुरू करते हैं। फूल वावू ने थोड़ी देर फैलाकर पढ़ा, फिर दो तह और फिर चार तह करके पढ़ने लगे। मुझे तो नींद आ रही थी। हिलती-डुलती गाड़ी में ऐसा लग रहा था कि मलिकाइन के वाग में मचकी झूल रहा हूँ। नीचे, पैर के विल्कुल नीचे रेल के पहिये हड़ाक-हड़ाक कर रहे थे। जुड़े हुए डव्वे डव्वर-

डब्बर बोल रहे थे। एंजन झज्झ काली, झज्झ काली करती चली जा रही थी। खूब हचकोले लग रहे थे। झूले का मजा आ रहा था। पलकें सौ-सौ मन की भारी हो उठीं। आँखें झिपती तो झिपकी ही नहीं, मेरा माथा फूल बाबू को केहुने से उठंग गया। मैं सो रहा।

बड़े झटके के साथ नींद टूटी तो सामने समस्तीपुर का बड़ा इसटीसन आ गया। शाम हो रही थी। यहाँ भी गाड़ी बदलनी पड़ी। सुना कि मुजफ्फरपुर जो गाड़ी जाती है, सो सीधे कटिहार से जाती है। बड़ी भीड़ थी। कुली से मोटा सहेजवाकर, मुझे बैठाकर मालिक खाने चले, मुझसे कहते गए—चिउड़ा और पकवान निकालकर खा ले। पानी फिर पी लेना।

आदमी का सुझाव छन-भर में मालूम हो जाता है। फूल बाबू को मैं बहुत पहले से और अच्छी तरह पहचाम चुका था। उनके स्वभाव में एक अजीब मस्ती थी। लापरवाही कह सकते हो। जितना ही उनके बाप कन्जूस थे, उतना ही फूल बाबू की मुट्ठी ढीली थी। मलिकाइन के यहाँ कई दफे ऐसा हुआ कि छुहाड़ा-किसमिस तक उन्होंने मुझे दिये, मगर छिपाकर। अपने घर पर उन्होंने मुझे कै बार सरबत पिलाई, मगर माँ की नजर बचाकर। मेरा मन हरा हो गया—मालिक हो तो ऐसा। कामधेनु वह जिसे खड़ी-खड़ी दुह लिया जाय, साँझ-सबेरे जब चाहो। भीतर ही भीतर मैंने एक दिन अपने आप से कहा—जिनगी-भर फूल बाबू की सेवा करूँगा।

चिउड़ा और पकवान, जिस टोकरी में था, वह सीट के पास ही रखी हुई थी। मन-माफिक मैंने उसमें से निकाल लिया। चिउड़ा भी, अचार भी और पकवान भी। समस्तीपुर में रेलों का भारी जुटान होता है। गाड़ियाँ घंटों तक खड़ी रहती हैं। पीं-पीं करती हुई इंजनें इधर से उधर, उधर से इधर टहलान मारती रहती हैं। झिल्ली-कचरी, लाई-मूढ़ी, लावा-फुटहा, पूड़ी, मिठाई, मखान-मेवा, दाख-किसमिस, गड़ी-छुहाड़ा, बीडी, पान, सब मिलता है वहाँ ! सीसे वाली सन्दूकचियों को सिर पर लादे बेचने वाले चक्कर लगाते रहते हैं। कहीं घवहा कुकुर, कहीं चलाक कौओ, कही दतनिपोड़ा कल्लर—चाहोगे कि खड़े-खड़े कुछ लें और खायें, नहीं होगा।

खैर, मैं तो गाड़ी के भीतर ही अपनी सीट पर बैठे-बैठे चिउड़ा फाँक रहा था। बीच-बीच में तोड़-तोड़ कर पकवान के टुकड़े मुंह में डाल लेता। करेला और परवल का अचार। क्या पूछने हैं, कैसा लगा रहा था !

फूल बाबू उधर से आए तो एक बीड़ा पान मेरे लिये भी लेते आए और हँसकर कहा—सारा का सारा आज ही भकोस लेगा !

लाज से मेरी गरदन झुक गई। मुंह चलाना बन्द कर मैं अपने पैरों की ओर ताकता रहा। मालिक ताड़ गए। बोले—अरे हाँ, खजूर नहीं निकाल लिया ?

और तब फिर मेरा मुंह चलने लगा और दांत चबर-चबर बोलने लगे।

वह आकर मेरे नजदीक ही बैठे, पान थामे हुए। मैं जब फंकी लगा चुका

तो बोले—पानी पी आ। वह देख लोग पानी पी रहे हैं। कल की टोंटी को धीरे-से दवाना, नहीं तो कपड़े भींग जाएँगे। जोर दवाने पर फवारा निकलता है।

जैसा वावू ने कहा था, उसी मोताविक मैंने कल की टोंटी को दवाया और पानी पिया। अचरज लगा कि कहाँ से पानी आता है। न इनार है, न पोखर, न डवरा, न चभच्चा, तो क्या पाताल से आता है? अव तो खैर सयाना हो गया हूँ। देश-दुनिया काफी देखी है। कल-मशीन की वात जानता हूँ, मगर घर से जव निकला तव तो मैं पर्वतिया वोको था। जाड़े के दिनों में पीठ पर वकुच्ची वाँधे ऊपर से भोटिया नेवार उतरते हैं। नेपाली भी उतरते हैं। पहाड़ से उतरकर जयनगर—नीचे के इलाकों को वे लोग मोगलान और भधेस कहते हैं। कातिक-अगहन में आते हैं और माघ-फागुन में लौट जाते हैं। गाय जैसे सीधे। वोली अलग, वानी अलग, भेख अलग। उन्हीं को हमारे यहाँ पर्वतिया वोको कहते हैं।

मेरे सिधाई पर फूल वावू जव कभी हंसते तो वोकुआ ही कहते थे न!

पानी पीकर मैं आ गया और गाड़ी में जा वैठा। इंजन ने सीटी दी। फक्-फक् कर गाड़ी चलने लगी।

रात हो गई थी। वाहर के वाध-वोन दिखाई नहीं पड़ रहे थे। और भैया, कटिहार की गाड़ी वड़ी तेज चलती है। मैं ऊँघने लगा। सोने की जगह तो थी नहीं, फिर भी वैठे ही वैठे मुझे नींद आ गई। मालूम नहीं, कितनी देर वाद गाड़ी वड़े जोर से हड़र-हड़र, हड़ाक-हड़ाक करने लग गई और फूल वावू ने मुझे झकझोर कर दिखाया कि देख हरिहर छेत्तर का पूल। मल-मलकर मैंने आँख साफ की और हाजीपुर के उस वड़े पुल को देखने लगा। पश्चिम की ओर वड़ी दूर, पानी के पार झिलमिल-झिलमिल रोशनी जल रही थी। वावू ने कहा—वही पटना है।

वड़ी देर तक मैं मुंह वाये रहा—वही पटना है!!

इतने में सोनपुर आ गया। ऐसा लम्वा-चौड़ा लाटफारम सुनते हैं कि दुनिया-भर में नहीं है। तुम तो गंगा पार गये ही नहीं, जाते तो देखते। देखकर अकिल गुम हो जाती। इस छोर पर से उस छोर पर जाने में पैर दरद करने लगेगा।

सोनपुर में हमने गाड़ी वदली। कटिहार से जो गाड़ी आती है, वही सीधे छपरा-नखलो चली जाती है। घटही गाड़ी पर चढ़कर हम पहलेजा घाट आये। मगर सोनपुर में कई घंटे वैठना पड़ा। घटही गाड़ी कोढ़िया होती है। आज वीस-वीस वरिस वाद भी पहलेजा वाली गाड़ी का यही हाल है। साली इतनी-इतनी देर वैठाती है कि दिमाग कुफुत हो जाता है। सामान था हमारे पास, सो भी नहीं सकते थे। घाट पर आते-आते पौ फट गई थी।

जहाज का नाम ही सुना था आज तक। हम समझे थे कि जैसे लोहे की पटरी पर रेल चलती है उसी तरह जहाज भी पटरी पर ही चलता होगा। मगर, नहीं भैया नहीं। वह तो नाव जैसा होता है। दो महला-तेमहला।

कुली से सामान उठवाकर जहाज की ओर चले। जेटी पर बड़ी धक्कम-धुक्की थी। सब आपा-धापी करके एक-दूसरे को रेलते-पेलते जहाज पर जा रहे थे। लोहे का भारी-भारी सूटकेस बाबू लोग हाथ ही में लिये हुए थे। बाबू लोग, भाई, आखिर बाबू ही न ठहरे ! कितना भी भारी होगा तो सिर कँधे पर नहीं लेंगे, मोटा या बकसा हाथों में ही ढोने की कोशिश करेंगे। सिर-कँधे पर गठरी डालने से बाबूगिरी में बट्टा लगता है।

जहाज पर किसी तरह बैठे, क्योंकि इंतजाम नहीं था। जो जहाँ पावे, बैठ जाय। यही हाल था। आजकल तो भला जहाज में दो-चार बेंच भी दिखाई देती हैं, लेकिन मैं जिस जमाने की बात कह रहा हूं, उन दिनों ऐसा नहीं था। जहाज देर से छुटा। घंटा बजा। लोहे के मोटे-मोटे सिक्कड़, जो जहाज पर चारों ओर घिरे थे उनमें हरकत आई और मानो गंगा का किनारा ही पीछे की ओर खिसकने लगा। उस वख्त महेंद्रू और पहलेजा दोनों आमने-सामने पड़ते थे। पार होने में घंटों नहीं लगे। इधर महेंद्रू घाट की जेटी से जहाज लगा कि नहीं, लगे पसिंजर कूद-कूदकर उतरने। जिनके हाथ खाली थे, उनको तो उतरने में और भी आसानी थी। धड़फड़-धड़फड़ करते कुली आये और बाबू लोगों का सामान उठाकर उतरने लगे। फूल बाबू को यह आपा-धापी बिल्कुल नापसन्द थी। एक कुली ने बिस्तरे पर हाथ रखा तो उन्होंने मना कर दिया—ठहरो, भीड़ छटने दो।

मैं जब तक जहाज का इंजन देखता रहा। ऐसा समझो कि लम्बा-चौड़ा घर है। बीच में चौकोर गढ़ा। उसी में तमाम कल-पुरजे बैठाये हुए हैं। मोटी और पतली पेंचदार नालियाँ गरम भाप से सुसुआ रहा हैं। इंजन के पहिये जितने बड़े होते हैं, उतने ही बड़े-बड़े धुरी-लगे चक्के नीचे-ऊपर हो रहे हैं। उधर एक ओर जमदूत जैसे काले दो जवान कोयला झोंक रहे हैं। और भैया, छरर-छरर, सरर-सरर पानी काटता हुआ जहाज गंगा मैया की छाती पर आगे बढ़ा जा रहा है। मैं तो पच्चीस बार आया हूं, पच्चीस बार गया हूँ। अब जहाज मेरे लिये घर-आँगन हो गया है।

भीड़ कम हुई तो कुली ने सामान उठाया और हम जहाज से उतरे। टिकट बाबू को टिकट दे दिया गया और सीढ़ियों से चढ़कर महेंद्रू घाट इसटीसन के हाते में पैर रखा। तब रिक्शा इतना नहीं चला था। टमटम का ही राज था। टमटम पर चढ़कर बाबू और मैं डेरे पर आये। डेरा फूल बाबू का असालतन था। मतलब यह है कि रहते या न रहते किराया हमेशा भरते थे। मकान किसी बनिये का था और पड़ता था मछुआ टोली में। आधे में मालिक-मकान खुद रहता। सड़क की ओर, नुक्कड़ पर चौथाई हिस्सा वाला कोना भी किराये पर उठा था। बाकी हमारे फूल बाबू भाड़ा पर लिए हुए थे। इनके हिस्से में दो कमरे और बरंडा था छोटा-सा।

पहिले ही दिन मालिक ने मुझे एक निकर खरीद दिया, आधी बाँह की

कमीज भी। दूसरे दिन सुवह उठकर कहते हैं—वलचनमा, तेरे वाल हैं कि गौरैया का घोंसला? ठहर, वनवा देते हैं आज।

लाज के मारे कनपटी लाल हो गई। क्यों भैया, वाल छँटवाने में लाज कैसी?

समझा नहीं, हमारे गाँव में पंडितों का वड़ा दवदवा था। राज ही उन्हीं का था। अव तो थोड़ा-वहुत जमाना वदल भी गया है, लेकिन कुछ पहिले अगर तुम इसी तरह सतमहला वाल छँटाये, दाढ़ी-मूँछ साफ किये मेरी वस्ती में पहुँच जाते, तो परलय मच जाता। दादी की कही हुई वात सुनाऊँ। मेरा वाप एक वार ढाका से आया वावड़ी छटाकर, वूढ़े मालिक उन दिनों जीते थे। उन्होंने मेरे वाप को वड़ा ही फटकारा। पछवारी टोल के पंडित ववुअन झा वुलाए गए और उन्होंने फतवा दिया। नदी के किनारे जाकर असतूरा से माथा मुड़ाना होगा। उसे झख मारकर माथा मुड़ाना पड़ा। एक वार मेरा मामा आया, तो हाट पर जाकर उसने दाढ़ी वनवाई। मुझे भी ले गया था। मेरे भी बाल छँटवा दिये थे। क्या पूछते हो भाई, कितना वावेला मचा उस रोज! अगले दिन मुझे भी परास्चित करना पड़ा। अव मगर जमाना पलटा खा रहा है। पंडितों और मालिकों के अपने ही घराने में यह सव नहीं चलता। दादा पूरव की ओर देखता है, पोता विल्कुल पश्चिम की ओर खड़ा-खड़ा मूतता है। वुढ़े-वूढ़िया मरते हैं, इसटीसन पर गाड़ी से उतरते समय पोते को अगर पता लग गया तो मुड़-मूड़ाने के डर से सीधे पश्चिम की राह लेता है। लौटती गाड़ी से पटना-मुजफ्फरपुर चला आता है।

फूल वावू ने नहीं माना। खुद सामने खड़े होकर हजाम से वाल मेरे वनवा दिये और विल्कुल नजदीक आकर आँखों में आँखें डालकर मुझसे वोले—आज तो तू आदमी वन गया है।

आदमी तो मैं वन ही गया था। इसमें भी क्या कुछ शक था? नया देश, नया मुलुक, नये-नये चेहरे, नई वोली-वानी, नया भेख, नया वे हवा, सव कुछ नया। मेरे लिए पटना में सव कुछ नया था। लगता था ऐसा कि मैं दूसरी दुनिया में पहुँच गया हूँ। दादी के मुंह से शहरों की कहानियाँ सुनी थीं। सुना था कि शहर में पैर रखते ही आदमी का मन फिर जाता है। घर की ओर, माँ-वाप की ओर, जोरू-जनाना की ओर उसका ख्याल ही नहीं जाता। मगर मुझे तो माँ याद आती थी। रात-दिन रेचनी न जाने कितनी दफे याद आती। अपना वह छोटा घर, वह चितकवरी वकरी, वाड़ी में ठूंठे जीमड़ की टेढ़ी वाँहों पर लतरी हुई नेनुआ की वह हरी-भरी लत्ती···क्या वताऊँ भाई, घर-आँगन का पूरा नक्शा आँखों के सामने सिनेमा जैसा चलता-फिरता दिखाने देने लगता।

गाँव-घर की वातें याद आतीं लेकिन निगाहों के आगे पटना का शहर था। माथे पर फूल वावू की छाया थी, फिर जरा-मरा कचोट होती भी तो दिल वहलाने के लिए वहाँ पच्चीसों रास्ते थे।

फूल बाबू ओकालत पढ़ते थे। साथ ही एम० ए० में भी नाम लिखाए हुए थे। हमारा काम था भोरे-भोरे उठना, चूल्हा जलाकर चाह का पानी चढ़ा देना। यह सब उन्होंने मुझे दो-ही चार दिनों में सिखला दिया। चाह पीकर सात बजे वह लॉ कालेज चले जाते। साढ़े नौ बजे खाना तैयार हो जाता। वह आते और नहा-खाकर फिर निकल जाते। शाम को तीन-चार बजे लौटते, तो एक सन्तरा छीलकर धीरे-धीरे खाते और मुझसे कहते—जा घूम आ। देखना सम्हलकर सड़क पर चलना नहीं तो भुर्ता-भुर्ता हो जाएगा।

दो पैसा रोज मुझे वह अलग से देते थे। मैं उसे बचाकर रखता था। जब तीन आना या चार आना जमा हो जाता था तब मैं भी टेबुल-कुर्सी पर बैठकर होटल से चाय पी आता था इकन्नी की चाय, दूअन्नी के बिस्कुट, पैसे का पान और पैसे की पाँच बीड़ी। पान की दूकान के सामने बड़ी देर तक खड़ा रहकर पान से रँगे अपने होंठ और जीभ बार-बार देखने में मुझे खूब मजा आता। नयाटोला से लेकर सब्जीबाग तक तमोलियों की दूकान पर जहाँ भी आइना होता, खड़ा होकर मैं अपना चेहरा जरूर देख लेता। एक-आध घण्टे में वापस आता डेरे पर, फिर चूल्हे की आरती शुरू हो जाती।

खाना पकाने में कभी-कभी मालिक भी हाथ बँटाते। और यह तब होता जब कि उनके दोस्त आ जाते। महीने में एकाध-दिन अण्डे का हलुआ जरूर बनता। उन्हें खाने और खिलाने का बड़ा शौक था। अपने भी तो भोगिदर ही थे। खेवा-खर्चा की कमी थी नहीं, फिर क्यों न खाते, क्यों न खिलाते? ऐसा नहीं कि मुझे भागीदार न बनाते हों। कैसा भी पदारथ होता मेरे लिए सँजोकर जरूर रखते। उन्हीं के परताप पिंटू होटल का रसगुल्ला मैंने जाने कितनी बार खाया होगा, कोई ठिकाना है।

दस-पंद्रह दिन तक मैं रसोई बनाने में कच्चा रहा, मगर आगे चलकर ऐसा पक्का रसोइया हो गया कि फूल बाबू के दोस्त तक मेरे बनाये हुए पकौड़ों की तारीफ करने लगे। बाकी जो कुछ मैं नहीं बना पाता वह मालिक बड़े सिनेह से बड़े जतन से बना देते थे। एक बात थी, तिरहुतिया बाँभन बड़े खटकर्मी होते हैं। छोटी जाति वालों का छुआ नहीं खायेंगे। अब तो खैर सब चलता है, मगर इस बात का क़ाफी ख्याल रक्खा जाता है कि गाँव-घर वालों को न मालूम हो। पोल सबकी सबको मालूम रहती है लेकिन एक-दूसरे के सामने सभी बाबू भैया पाक-साफ बने रहते हैं। फूल बाबू ने मुझे अच्छी तरह समझा दिया था कि गाँव में यह सब मत बताना।

फूल बाबू बड़े हँसोड़ थे, बड़े खुश-मिजाज। तबियत चुलबुली थी। घण्टा-आध घण्टा चुप रहना उनके लिए भारी सजा थी। खाना पकाना, डेरे की रखवाली यह सब सिरिफ बहाना था। सच पूछो तो उन्हें आदमी की कोई जरूरत नहीं थी। जरूरत होती भी तो क्या पटने में आदमी नहीं मिलते मगर नहीं, मुझे जो वह ले आए सो एक ही वजह थी। अकेले उनका मन नहीं लगता था। साथी-

सँघाती दो-चार या कि आठ-दस घण्टे साथ रहेंगे। किसी के साथ चौबीसों घण्टा पिंजरे में कौन रहना चाहेगा? मैं उनके लिए पिंजरे का तोता था, जिससे वह सुबह-शाम, दिन-रात, वखत-बे-वखत मन बहलाया करते।

पिता उनके किरपिन थे, माँ की मुट्ठी खुली थी। अपनी माँ की सुफ़ारिस करके कुछ और जासती खर्चा फूल बाबू निकाल लेते थे। बाप ने एतराज किया—बुलुर, अरे क्या करोगे इसको साथ रखकर? दोनों बेर सेर-सेर-भर भात ठूँसेगा और टाँगें फैलाकर सोयेगा, मत ले जाओ साले को। किसी होटल में ठीक कर लेना। इसको रखने से नाहक ही झंझट में पड़ोगे। गले का ढोल बन जाएगा। मेरी बात पर ध्यान दो बुलुर!

इस पर फूल बाबू क्या बोले थे? बोले यही थे कि होटल का खाना तो बबे, आपका यह गोला कुकुर भी सूँघकर छोड़ देगा। आप लोग तो दो-चार महीने में एक ही आध बार हाई कोर्ट जाते हैं। दो-चार जून ही होटल में खाने का मौका मिलता है। चार-चार, छै-छै साल तक बराबर पटना में रहने वाले पढ़न्तू नौजवान चार महीना भी अगर इन होटलों का खाना खायें तो बबे, घर वालों को उनसे हाथ ही धोना पड़े।

फूल बाबू का उनकी माँ ने पच्छ लिया; तब जाकर मैं साथ आ पाया, नहीं तो उनके बाप भारी कसाई थे। ठीक वैसे ही जैसे कि हमारे मझले मालिक। सौ कसाई के एक कसाई, न लड़के का मोह न लड़की का; न भाई का मोह न बहन का; न बाप का मोह न माय का! हाय रुपैया, हाय रुपैया! जब देखो तब रुपैया। मैं तो दो ही रोज रहा उनके यहाँ, इसी में सब समझ गया। खेती-गृहस्थी के अलावे सूद-ब्याज पर दस-बीस हजार की वसूल-तहसील थी उनके हाथों में। आस-पास के इलाकों से दुसाध, मुसहर, चमार, खतवे, पासी, धुनिया, जुलाहा लोगों की बस्तियाँ थीं। मुसीबत के मारे खेत-मजदूर, आजकल भी पेट बेचते फिरते हैं। और भैया, उन दिनों भी इनका यही हाल था। फूल बाबू के बाप इन्हीं गरीबों की जमीन-जजाद हड़प-हड़पकर औकात वाले बने थे। इन लोगों का यही पेशा था। फूल बाबू के दादा भी लगानी-भिड़ानी करते थे। परदादा थे बनैली राज में तहसीलदार। चार-चार, छै-छै, आठ-आठ, दस-दस रुपैया देकर वह ऐसी नाथ न नाथते थे लोगों को कि मरने पर भी बेचारों को छुटकारा नहीं। छोटी जात वाले जन बनिहारों के पास होता ही क्या? बहुत हुआ तो दो-चार धुर की डीह, दो-एक मड़ैया, एकाध बकरी-बाछी। मगर भैया इन कसाइयों के चलते बेचारों के पास यह सब भी नहीं रह पाता। नीलाम करा लेते हैं। कुर्क हो जाती है। अदालत उनकी, हाकिम उनका, थाना-दरोगा उनका, पुलिस उनकी। गरीबों के लिए सिवाय लात-जूता के और है ही क्या? अब तो थोड़ा कुछ जमाना बदला भी है, बाकी दस-पन्द्रह साल पहले देहातों में घुप-अँधेरा था। जिसकी लाठी उसकी भैंस, यही चलता था। आजकल तो दरोगा पुलिस लोगों से दबने भी लगे हैं। बड़ी जात वालों की माया तब भी अपार थी

और अब भी। बात-बात में अपनी गोटी वही लाल करते हैं।

गरीबों का गला रेत-रेतकर जमीन-जथा जोड़ने वाले बाप के घर ऐसा देवता किस तरह पैदा हो गया, यह मेरी समझ में नहीं आया। फूल बाबू उन दिनों तो देवता ही थे। इसलिए नहीं कहता हूँ कि मुझे कभी एक थप्पड़ नहीं मारा, न कभी एक बात ही कही; कहता हूँ इसलिए कि उनका सुभाव बड़ी जात वालों के सुभाव से लाख गुना अच्छा लगा था। झगड़ा-झमेला, झूठ-फूस, लाड़-लेपटाई, लल्लो-चप्पो हमारे मालिक को यह सब पसन्द कहाँ था? एक दिन की बात सुनाऊँ। सुबह में रोज वह दूध पीते थे। उस रोज ऐसा हुआ कि बाहर मदारी आया था। बानर और बनरिया ताल पर नाच रहे थे। बनरिया बनी थी दुलहिन, बानर दूल्हा। शादी हो गई थी। सुहागरात बाकी थी। मैं तमाशा देखने में मगन था। उधर उफनकर सारा दूध चूल्हे पर जा पड़ा। मलाई जलने की सोंधी बास आई मैं दौड़ा, पर गिरा हुआ दूध फिर कहाँ से आए? बाबू गए थे टहलने। रोज टहलने की उनकी आदत थी। टहलकर आते तो दो बिस्कुट खाते और ऊपर से यही डेढ़-एक पाव दूध पी लेते। उस रोज दूध चूल्हा पी गया था और मैं अपना कसूर छिपाने के लिए झूठ बोल बैठा—बिल्ली पी गई मालिक!

'बिल्ली पी गई?'

मैं अनबूझ अपराधी बनकर नाखून खोटता रहा, निगाह नीचे की ओर किए। मालिक ने नथने फैलाकर हवा में कुछ महसूस की और बोले—बलचनमा, झूठ मत बोल। झूठ बोलना और गू खाना, दोनों को मैं बराबर समझता हूँ। दूध बिल्ली ने नहीं पिया है। साफ-साफ बतला क्यों न दिया? तुझे फाँसी कोई थोड़े देगा!

मुझे भारी अफसोस हुआ और कान पकड़े—फिर कभी मालिक के सामने झूठ नहीं बोलूंगा। एक ही बात थी, जिससे मुझे तरद्दुद होता था? अरे भाई वही तूफानी जमाना था। कांग्रेसी लोग नमक बना-बनाकर जहल जा रहे थे। भले तो क्या नाम था, अभी याद नहीं आ रहा है। सबने भङ्ग आन्दोलन। फूल बाबू रोज अखबार पढ़ते थे। अखबारों को सरकार ने बन्द करा दिया था, मगर छिपेतौर पर अखबार क्या जाने कहाँ से आता था? लेथो से छपकर निकलता था। कौन निकालते थे, इसका पता नहीं। हमारे मालिक खूब डुबकी लगा-लगाकर अखबार पढ़ते थे। अखबार काहे का भैयन, कागज का छोटका फर्द देखा है न? वही फर्द जिसको मोड़-माड़कर आठ परत का भी बनाते हैं, वैसा ही रहता था। इतना बड़ा-बड़ा फर्द नहीं, जितना बड़ा नवराष्ट्र या स्वाधीनता का होता है। लालटेन जलाकर बड़ी रात तक पढ़ते थे। स्कूल-कालेज की किताब नहीं यही गाँधी जी का अखबार।

दस दिन कातिक बाकी रह गया था, तब हम पटना आये थे, बता ही चुका हूँ। अगहन और पूस इसी तरह कटे। आधा पूस में फूल बाबू को सनक सवार हुई, एक दिन नमक बनाने गये। सुबह कह गये—दीघा जाता हूँ, सदाकत

सँघाती दो-चार या कि आठ-दस घण्टे साथ रहेंगे। किसी के साथ चौबीसों घण्टा पिंजरे में कौन रहना चाहेगा? मैं उनके लिए पिंजरे का तोता था, जिससे वह सुबह-शाम, दिन-रात, वखत-वे-वखत मन वहलाया करते।

पिता उनके किरपिन थे, माँ की मुट्ठी खुली थी। अपनी माँ की सुफारिस करके कुछ और जासती खर्चा फूल वावू निकाल लेते थे। वाप ने एतराज किया—वुलुर, अरे क्या करोगे इसको साथ रखकर? दोनों वेर सेर-सेर-भर भात ठूँसेगा और टाँगें फैलाकर सोयेगा, मत ले जाओ साले को। किसी होटल में ठीक कर लेना। इसको रखने से नाहक ही झंझट में पड़ोगे। गले का ढोल वन जाएगा। मेरी वात पर ध्यान दो बुलुर!

इस पर फूल वावू क्या वोले थे? वोले यही थे कि होटल का खाना तो ववे, आपका यह गोला कुकुर भी सूंघकर छोड़ देगा। आप लोग तो दो-चार महीने में एक ही आध वार हाई कोर्ट जाते हैं। दो-चार जून ही होटल में खाने का मौका मिलता है। चार-चार, छै-छै साल तक वरावर पटना में रहने वाले पढ़न्तू नौजवान चार महीना भी अगर इन होटलों का खाना खायें तो ववे, घर वालों को उनसे हाथ ही धोना पड़े।

फूल वावू का उनकी माँ ने पच्छ लिया; तव जाकर मैं साथ आ पाया, नहीं तो उनके वाप भारी कसाई थे। ठीक वैसे ही जैसे कि हमारे मझले मालिक। सौ कसाई के एक कसाई, न लड़के का मोह न लड़की का; न भाई का मोह न वहन का; न वाप का मोह न माय का! हाय रुपैया, हाय रुपैया! जव देखो तव रुपैया। मैं तो दो ही रोज रहा उनके यहाँ, इसी में सव समझ गया। खेती-गृहस्थी के अलावे सूद-व्याज पर दस-वीस हजार की वसूल-तहसील थी उनके हाथों में। आस-पास के इलाकों से दुसाध, मुसहर, चमार, खतवे, पासी, धुनिया, जुलाहा लोगों की वस्तियाँ थीं। मुसीवत के मारे खेत-मजदूर, आजकल भी पेट वेचते फिरते हैं। और भैया, उन दिनों भी इनका यही हाल था। फूल वावू के वाप इन्हीं गरीवों की जमीन-जजाद हड़प-हड़पकर औकात वाले वने थे। इन लोगों का यही पेशा था। फूल वावू के दादा भी लगानी-भिड़ानी करते थे। परदादा थे वनैली राज में तहसीलदार। चार-चार, छै-छै, आठ-आठ, दस-दस रुपैया देकर वह ऐसी नाथ न नाथते थे लोगों को कि मरने पर भी वेचारों को छुटकारा नहीं। छोटी जात वाले जन वनिहारों के पास होता ही क्या? वहुत हुआ तो दो-चार धुर की डीह, दो-एक मड़ैया, एकाध वकरी-वाछी। मगर भैया इन कसाइयों के चलते वेचारों के पास यह सव भी नहीं रह पाता। नीलाम करा लेते हैं। कुर्क हो जाती है। अदालत उनकी, हाकिम उनका, थाना-दरोगा उनका, पुलिस उनकी। गरीवों के लिए सिवाय लात-जूता के और है ही क्या? अव तो थोड़ा कुछ जमाना वदला भी है, वाकी दस-पन्द्रह साल पहले देहातों में घुप-अँधेरा था। जिसकी लाठी उसकी भैंस, यही चलता था। आजकल तो दरोगा पुलिस लोगों से दवने भी लगे हैं। वड़ी जात वालों की माया तव भी अपार थी

और अव भी। वात-वात में अपनी गोटी वही लाल करते हैं।

गरीवों का गला रेत-रेतकर जमीन-जथा जोड़ने वाले वाप के घर ऐसा देवता किस तरह पैदा हो गया, यह मेरी समझ में नहीं आया। फूल वावू उन दिनों तो देवता ही थे। इसलिए नहीं कहता हूँ कि मुझे कभी एक थप्पड़ नहीं मारा, न कभी एक वात ही कही; कहता हूँ इसलिए कि उनका सुभाव वड़ी जात वालों के सुभाव से लाख गुना अच्छा लगा था। झगड़ा-झमेला, झूठ-फूस, लाड़-लेपटाई, लल्लो-चप्पो हमारे मालिक को यह सव पसन्द कहाँ था? एक दिन की वात सुनाऊँ। सुवह में रोज वह दूध पीते थे। उस रोज ऐसा हुआ कि वाहर मदारी आया था। वानर और वनरिया ताल पर नाच रहे थे। वनरिया वनी थी दुलहिन, वानर दूल्हा। शादी हो गई थी। सुहागरात वाकी थी। मैं तमाशा देखने में मगन था। उधर उफनकर सारा दूध चूल्हे पर जा पड़ा। मलाई जलने की सोंधी वास आई मैं दौड़ा, पर गिरा हुआ दूध फिर कहाँ से आए? वावू गए थे टहलने। रोज टहलने की उनकी आदत थी। टहलकर आते तो दो विस्कुट खाते और ऊपर से यही डेढ़-एक पाव दूध पी लेते। उस रोज दूध चूल्हा पी गया था और मैं अपना कसूर छिपाने के लिए झूठ वोल वैठा—विल्ली पी गई मालिक!

'विल्ली पी गई?'

मैं अनवूझ अपराधी वनकर नाखून खोटता रहा, निगाह नीचे की ओर किए। मालिक ने नथने फैलाकर हवा में कुछ महसूस की और वोले—वलचनमा, झूठ मत वोल। झूठ वोलना और गू खाना, दोनों को मैं वरावर समझता हूँ। दूध विल्ली ने नहीं पिया है। साफ-साफ वतला क्यों न दिया? तुझे फाँसी कोई थोड़े देगा!

मुझे भारी अफसोस हुआ और कान पकड़े—फिर कभी मालिक के सामने झूठ नहीं वोलूँगा। एक ही वात थी, जिससे मुझे तरद्दुद होता था? अरे भाई वही तूफानी जमाना था। कांग्रेसी लोग नमक वना-वनाकर जहल जा रहे थे। भले तो क्या नाम था, अभी याद नहीं आ रहा है। सवने भङ्ग आन्दोलन। फूल वावू रोज अखवार पढ़ते थे। अखवारों को सरकार ने वन्द करा दिया था, मगर छिपेतौर पर अखवार क्या जाने कहाँ से आता था? लेथो से छपकर निकलता था। कौन निकालते थे, इसका पता नहीं। हमारे मालिक खूव डुवकी लगा-लगाकर अखवार पढ़ते थे। अखवार काहे का भैयन, कागज का छोटका फर्द देखा है न? वही फर्द जिसको मोड़-माड़कर आठ परत का भी वनाते हैं, वैसा ही रहता था। इतना वड़ा-वड़ा फर्द नहीं, जितना वड़ा नवराष्ट्र या स्वाधीनता का होता है। लालटेन जलाकर वड़ी रात तक पढ़ते थे। स्कूल-कालेज की किताव नहीं यही गाँधी जी का अखवार।

दस दिन कातिक वाकी रह गया था, तव हम पटना आये थे, वता ही चुका हूँ। अगहन और पूस इसी तरह कटे। आधा पूस में फूल वावू को सनक सवार हुई, एक दिन नमक वनाने गये। सुवह कह गये—दीघा जाता हूँ, सदाकत

आश्रम में हमारे दो-चार साथी-संगी हैं। उन्हीं से मिलना है। रात न आऊँ तो घबराना नहीं। मकान मालिक की बुढ़िया सास से कह दिया है। वह इसी कमरे में सो जायगी। तुझे डर न लगेगा।

मुझको पता ही नहीं चला कि मालिक के मन में कौन-सी बिजली छिटक रही है। मगर इतना जरूर था कि मुझको भीतर ही भीतर उनके लच्छनों से अंदेशा हो रहा था। लग रहा था कि हमारे मालिक भी नमक बनाने जायेंगे और गिरफ्दार होंगे। मेरे सामने एक ही सवाल था। मालिक जहल चले जायेंगे। तो मैं क्या करूँगा? माँ कहो, बाप कहो, पटना में वही तो मेरा सब कुछ थे और उनके खो जाने से मेरी क्या दशा होगी यह सोचते ही मेरा रोआँ-रोआँ खड़ा हो जाता। पटना जैसा शहर। लोगों की भीड़-भाड़। सड़क का न ओर न छोर। जान-पहचान का और कोई था ही नहीं, फिर अकेला होकर मैं मर न जाता? यही अन्देशा था।

सुकुर हुआ कि फूल बाबू रात को लौट आये। मेरा तो कलेजा केले के पत्ते की तरह काँप रहा था। अपने लिए भात-दाल और उनके लिए रोटी-तरकारी बनाकर रख दिया और कोठरी में जंजीर चढ़ा दी। बाहर आकर उसी मकान के नजदीक खड़ा हुआ।

शहर में सड़क के किनारे यों भी खड़ा हो जाओ, तो बहुत बात मालूम होगी। आने-जाने वाले तरह-तरह के चेहरे। एक्का, बग्घी, टमटम, फेरी लगाकर सामान बेचते हुए ठेला वाले, खोन्चा वाले, मोड़ पर किसी दुकान के सहारे बैठे मोची। बहुत बातें देखने को मिलेंगी। बड़े घराने की औरतें ओंठ रँगकर सफेदी से गाल पोतकर शाम को घूमने निकलती हैं। सामने से गुजरेंगी तो खुशबू के मारे तुम्हारे नथने फड़क उठेंगे। उनकी साड़ी-जम्फर देखकर आँख दङ्ग रह जाएगी। ऊँची एड़ी की जूती पहनकर जब वे उचकती चलेंगी तो सच बतलाना भैया अपनी हँसी रोक सकोगे?

लो मैं फिर बहक गया। कहना था क्या और कह गया क्या? हाँ, तो सड़क के किनारे खड़े होकर बटोहियों को देख रहा था। बटोहियों को काहे देखूँगा, मालिक की राह देख रहा था। ताकता रहा, ताकता रहा और ताकता ही रहा। जब पैर उखड़ गये, तब कहीं जाकर फूल बाबू आते दिखाई दिए।

नजदीक आए तो देखा होठों में पपड़ी पड़ गई। बाल बिखरे हुए हैं। उन पर धूल छाई हुई है। गर्दन की तरफ से कुर्ते की दो बटन खुली पड़ी हैं। बाँह वाला हिस्सा उसका केहुनियों तक मोड़ा हुआ है।

देखकर बड़ा दुःख हुआ। समझने में कसर न रही कि किसी ने बाबू को पानी तक नहीं पिलाया। दिन-भर भूखे रह गए। परदेश में कौन किसकी माँ, कौन किसका बाप? काहे कोई तुमसे पूछेगा कि पानी पिओगे, दो मुट्ठी भात खाओगे? काहे पूछेगा? और भैया, बड़े घर के लड़के भारी संकोची होते हैं। प्यासे मर जायेंगे, मुदा गिलास-भर पानी नहीं माँगेंगे। भूख के मारे अंतड़ी ऐंठती

रहेगी वाकी मुट्ठी-भर चना-चबेना माँगकर खा लें; सो नहीं होगा। अपने मालिक की यह दशा देखकर मेरे कलेजे में फार धँस गया। बिल्कुल पास आकर वह मुस्कराये और कहा—वलचनमा, यहाँ क्यों खड़ा है रे?

मालिक की मुस्कान का जवाव मुसकाकर दूँ, उस दिन ऐसा मुझसे न हो सका। कैसे होता? उनकी तो वह फीकी मुस्कान थी। थके-हारे आदमी की बेवस मुस्कान। उसका जवाव मुस्कराकर देना निम्मन नहीं था भैया। मैं सीधे डेरे में आया। पीछे-पीछे वावू आए। इतने थके थे कि धम्म से चौकी पर बैठ गए। फीता ढीला करके उनके पैरों से मैंने जूता निकाल लिया, चप्पल रख दी पास ही। चौका के अन्दर जाकर आसन पर बैठकर खाने की सामर्थ नहीं थी उनमें। ज़रा दूर पर कुर्सी पड़ी थी। उसे खींचकर मैंने सामने कर दिया। खाना परोसकर थाली ले आया और कुर्सी पर रख दी। कुल्ला करने के लिए गिलास में पानी दिया तो दो घूंट पानी मुँह में लेकर वहीं दीवाल के कोने में वावू ने कुल्ली फेंकी। किसी दिन वह ऐसा नहीं करते। हाथ-पैर धोकर कुल्ली करके चौके में आते। पीढ़ी पर बैठकर ठिकाने से खाना खाते। मगर उस दिन तो वेसुध थे वावू।

खाना खाकर, वहीं थाली में हाथ-मुँह धोकर जो सोये, सो दूसरे रोज दुपहरिया में ही उठे। तीसरे रोज वह फिर दीघा गये और उसी तरह कह गये। उस दिन मैंने कह दिया था—रात को वाहर नहीं रहियेगा मालिक! आप नहीं रहते हैं, तो मुझे डर लगता है।

डर!—उन्होंने कहा था—डर कैसा रे? यहाँ कैसा डर? मैं तो शाम तक लौट आऊंगा।

सुनोगे, तीसरे रोज क्या हुआ?

तीसरे रोज दो पहर रात तक में उनका आसरा देखता रहा। वह नहीं आये, तो हारकर बिना खाये ही मैं सो रहा। यह भी नहीं समझ सका कि कव मकान-मालिक की बुढ़िया सास आई और मुझसे सटकर सो रही। जड़काला था न, इसीलिए सटकर सोई।

सुवह में फूल वावू के साथी महेन वावू आए। आते ही उन्होंने मुझसे कहा—मालिक तेरे पकड़े गये हैं। फूल-माला पहनकर जहल चले गये हैं। तुझे अकेला डर मालूम होता होगा, तो चल हमारे घर। फूल वावू का सारा सामान तव तक यहाँ वन्द रहेगा। तू रहना हमारे यहाँ।

सोलह-सत्रह साल की उमर थी मेरी। देखकर दया आती थी लोगों को। महेन वावू को भी मेरे ऊपर दया ही आई थी। मालिक उन्हें मेरे वारे में कहाँ कुछ कह गये थे मगर जव उन्होंने सुना कि फूल वावू सदाकत आसरम के नजदीक नमक वनाते वखत पकड़े गए हैं, तो वेचारे मेरे पास दौड़े आये। अपने साथी के दुखिया नौकर की खोज-पुछारी करने और उस रात नींद भी तो मुझे अच्छी तरह नहीं आई थी। उचट गई थी साली। डेढ़ पहर रात वाकी थी तभी

जो नींद उचटी, सो एकदम विहान हो गया। किरन फूटते न फूटते महेन बाबू आ धमके थे।

खटका तो मुझे था ही। मालिक की गिरफ्तारी सोचकर शाम को रसोई बनाते समय में रोया था, खूब रोया था—फूट-फूटकर, सुबुक-सुबुककर। अभी सच्ची बात मालूम करके बड़ा दुख हुआ। ऐसा लगा कि कोई कलेजे में लात मार-कर चला गया है। चुप मैं तनिक देर ही रहा। फिर बोला—सरकार दरभंगा-मधबनी की ओर आपकी जान-पहचान का कोई जाने वाला हो, तो मुझे उसके साथ कर दीजियेगा। यहाँ तो अपने मालिक के बिना मैं रह सकूँगा, खुद भी मुझे इस बात का भरोसा नहीं। इस पर मुस्कराकर महेन बाबू ने क्या कहा था?

कहा यही कि तेरे लिए जैसे फूल बाबू वैसे महेन बाबू। हम जंगल में थोड़े रहते हैं। आदमी हैं, आदमी के बीच रहते हैं। तो, हमारे यहाँ तेरा निरवाह नहीं होगा? तेरे मालिक महीना-दो महीना जेल काटकर छूट आवेंगे, फिर तू उनके साथ ही रहना।

उस वखत महेन बाबू की यह राय चिरैता-सी कड़वी लगी। मैंने सोचा, बाबू लोग बड़े मतलबी होते हैं। इसका नौकर-चाकर भाग गया होगा तभी तो मुझ पर इतना जोर डाल रहे हैं, नहीं तो मुफ्त में कौन किसको दाना-पानी देता है? फिर भी इनके यहाँ रहकर दस दिन देखना चाहिए। ऐसे अकेले देश पहुँचूँगा तो मलिकाइन खोद-खोदकर सारी बात मालूम कर लेंगीं। फिर सारा हाल फूल बाबू के माँ-बाप सुनेंगे तो उनको हौलदिल हो जायगा। मालिक की माँ तो जरूर ही दाना-पानी छोड़कर जान देने पर उतारू हो जाएँगी। यह सारा बरम बध मेरे ही मथ्थे पड़ेगा? बाप रे! नहीं, ऐसा तो हो नहीं सकता।

भीतर ही भीतर मैंने तय किया कि जब तक फूल बाबू जेल से छूटकर नहीं आते हैं, तब तक मैं देश नहीं जाऊँगा। ठीक ही तो कहते हैं महेन बाबू जैसे महेन बाबू वैसे फूल बाबू। बोल-चाल, रहन-सहन, रंग-ढंग सब बराबर, कहना मुश्किल था कि दोनों में कौन उनैस हैं, कौन बीस।

तो ममझे भैया जल्दी-जल्दी सामान ठीक किया, जँगला-खिड़की अच्छी तरह बन्द कर दी। अपने कपड़े और बिस्तरे, सिलेट-पिनसिल निकालकर बाहर रक्खा। मकान में ठोक दिया ताला। चला आया महेन बाबू के साथ।

बड़े खुश हुए महेन बाबू। घर के बारे में बहुत-सी बातें रास्ते में मुझसे पूछ ली थीं। बाप मर गया। दादी मर गई। माँ है, छोटी बहन है। दो-तीन साल भैंस चराई है। यह सब महेन बाबू ने मुझसे मालूम कर लिया था।

शहर के बाहर बाँकीपुर मैदान के नजदीक एक बड़ा बँगला लाल रंग से रँगा था। वह सीधे मुझे अन्दर ले गए। हमारी मलिकाइन के उमर से तनिक बड़ी कोई माँ जी पीढ़े पर बैठी हुई तिल से कंकड़ चुन रही थीं। महेन बाबू ने मेरा कंधा पकड़कर कहा—अम्मा, फूल बाबू का नौकर है।

अम्मा ने पहले सिर से लेकर पैर तक देखा, तब जाकर बोलीं—फूल बाबू

को यह क्या सनक सवार हुई। गाँधी ने भले घर के लड़कों को विगाड़ने का ठेका ले लिया है ? क्या पढ़ाई-लिखाई छोड़कर कालेज के लड़के अव क्या नमक ही वनाया करेंगे ?

इतना कहकर सूरज की ओर हाथ करके वोलीं—हे दीनानाथ दिनकर, आप इन लड़कों को सुबुद्धि दें !

भारी मकान था। वड़े-वड़े दस-वारह कमरे थे। आँगन में अमरूद, हर-सिंगार और नींवू के झाड़ थे। मैं उन्हीं झाड़ों की ओर वकर-वकर ताक रहा था कि अम्मा ने पुकारकर रसोइये से कहा—वावाजी, फूल वावू का नौकर आया है। इसका भी खाना वनेगा।

मुझे महेन वावू लेकर अपनी कोठरी में आए। अपना कोट उतारकर उन्होंने खूंटी पर टाँग दी। कुर्सी पर वैठे और इशारे से मुझे भी वैठने को कहा।

मैं नीचे ही पलस्तर पर वैठ गया। कोठरी अच्छी और वड़ी थी। साफ और सुथरी। एक पलँग। कुर्सी और मेज। किताबों से भरी रैक। कपड़े टाँगने की खूँटियाँ। पलँग पर चनवे की तरह ऊपर तनी हुई मच्छरदानी। पैर पोछने का पापोश। वड़ा अच्छा लगा।

महेन वावू वंगाली थे। हमारे मालिक के साथ पढ़ते थे। दोनों में गाढ़ी दोस्ती थी। मालिक जो घर से चिवड़ा, घी, अचार लाए थे, उसमें से आधा महेन वावू के घर भेजवा दिया। महेन वावू के वाप और माँ सव पहचानते थे मालिक को। अपने लड़के की भाँति वे फूल वावू को मानते थे।

वंगाली लोगों का परिवार वड़ा ही भरा-पूरा रहता है। उनकी गृहस्थी, उनका घर, उनका खान-पान, उनकी ओढ़न-पहिरन देश वाली लोगों से अलग किस्म का होता है। महेन वावू आठ भाई-वहन थे। वाप थे, माँ थी। विधवा मौसी थी। दो नौकर थे। एक रसोइया था, जिसे वावाजी कहकर पुकारा जाता। पूरा स्टेट था भैया ! महेन वावू के वाप सिकटेरियट में अफसर थे। आठ सौ रुपैया महीना पाते थे। वारह साल की पुरानी नौकरी थी। वँगले के पिछवाड़े दो वीघा के करीव खाली जमीन मिली थी। सामने हरी घास का कटा-छटा छोटा-सा मैदान—नीम के दो झूमते-झामते जवान पेड़। लकड़ी का छोटा-सा फाटक। साहव का नाम पट्टी पर लिखा हुआ था। हाते में घुसने से पहले ही उस पट्टी पर तुम्हारी नजर पड़ जाती।

उनके यहाँ चार दिन रहकर मेरे मन को वड़ा संतोख हुआ। महेन वावू मुझे अपना चाकर वना के रखे हुए थे। किसी ने एतराज नहीं किया। नौकर को उन्होंने मना कर दिया था—आज से मेरी कोठरी में वलचनमा झाड़ू लगायेगा। मेरी चाय अव से वलचनमा ही इस मेज पर रख जाया करेगा। मेरी धोती को वलचनमा ही चुनियायेगा···कहने का मतलव यह है कि सिनेह में महेन वावू ने मुझे सरावोर कर दिया। लेकिन भाई मेरे. इतनी आसानी से भला मैं अपने फूल वावू को कैसे भूल जाता ?

बड़े याद आते फूल बाबू। अकेले में कई बार कलेजा फटा, कै बार आँखें डबडबाईं ? कह नहीं सकता। उन दिनों गाँधी जी का बड़ा जोर था। पकड़-धकड़ जारी थी। सरकार बहादुर की ओर से कानून है कि नमक सब नहीं बना सकते। गाँधी महात्मा सरकार को झुकाना चाहते थे। चाहते थे कि दो-चार बातें उनकी मान ले सरकार। गोरी सरकार अपनी जिद पर अड़ी थी। कलकत्ता, बम्बई के सेठ-साहूकार भी भीतर-ही-भीतर गाँधी जी का पच्छ ले रहे थे। उनको साफ-साफ लौकता था कि स्वराज होने से सबसे जास्ती भलाई उन्हीं की होगी। वे देख रहे थे : सरकार झुकती है, तो सुराज मिलता है। स्वराज मिलता है, तो अधिक-से-अधिक कल-कारखाने वे खड़ा कर सकते हैं। अभी जो देस को दुहकर सारी धन-सम्पदा अंग्रेज ले जाते हैं, स्वराज होने पर वह सब सीधे उनके खजाने में आने लगेगी''' सन् तीस-बत्तीस का जमाना था। गाँधी जी के हुकुम से बाबू लोग गिरफ्तार हो रहे थे। हमारे फूल बाबू को गाँधी महात्मा की हवा लगी थी। मगर मेरी समझ में नहीं आता था कि क्यों लोग नाहक अपने को पकड़वाते हैं। न मार-पीट, न गाली-गलौज; न झगड़ा, न झंझट। फिर क्यों किसी को पुलिस पकड़कर ले जाती है ! सरकार पागल तो नहीं हो गई है ? मैंने एक दिन महेन बाबू से पूछा भी और उन्होंने जवाब में बहुत सारी बातें बताईं। मगर भैया मेरी समझ में कुछ नहीं आया। बार-बार मैं यही सोचता हूँ कि बाबू को जब जहल ही जाना था, तो मुझे भी साथ ले जाते। यह जो दस-दस, पाँच-पाँच आदमी कुर्ता, धोती, टोपी पहनकर गले में माला डाले चढ़उआ बकरे की तरह नमक बनाने जाते थे, सो मुझे बाबू लोगों का एक खिलवाड़ ही लगता था। ऐसे भी कहीं किसी को स्वराज मिला है ?

ज्यादा देर तक गुम-सुम रहने का मौका महेन बाबू के यहाँ मुझे कभी नहीं मिला। हमारी उमर के बच्चों से उनका घर भरा था। अपने भाई-बहनों में महेन बाबू ही बड़े थे। तीसरा भाई और चौथी बहन उमर में मेरे करीब थे। चार छोटे-छोटे। उन्होंने कभी मुझे उदास नहीं रहने दिया। बड़े बाबू और अम्मा जी की भी मुझ पर अच्छी निगाह थी। पन्द्रह-पन्द्रह रोज पर हजाम आता और बच्चों के बाल बना जाता। सनीचर-सनीचर को धुले कपड़ों का गट्ठर लादे धोबी आता। खाने में दो-एक टुकड़ी मछली रोज मिल जाती। मैं नहीं चाहता था कि चाय पीने की लत पड़े, लेकिन महेन बाबू जबरदस्ती मुझे पिलाते थे।

और मेरा काम क्या था। वही थोड़ी-बहुत महेन बाबू की सेवा-टहल और शाम को छोटे खोखा बाबू को रबड़ की पहियों वाली छोटी गाड़ी पर घुमा लाना। वहाँ मौज थी। भर पेट खाओ और तानकर सोओ। हमारी उस छोटी मलिकाइन के और इन अम्मा जी के बीच आकाश-पाताल का फरक था। वहाँ कभी किसी ने मुझे गाली नहीं दी। किसी ने कुत्ता, सुअर नहीं कहा। किसी ने कान नहीं उमेठे। उलटे वहाँ महेन बाबू की छोटी बहनें तगर और कनेर के

झुमकों से मेरे कानों को सजाती-सिंगारती। एक वात वताऊँ, कहोगे तो नहीं किसी को। न, नहीं कहोगे, तो कहूँगा। अच्छा तो सुनो। मुझसे साल-छ: महीने की छोटी थी। अनीता नाम था। महेन वाबू की छोटी वहन। एक वहन और दो भाई उससे वड़े थे। साँवली-सलोनी। गोल चेहरा। वड़ी-वड़ी आँखें। वड़ा कपार। पतले होंठ। नाटे कद की थी। नाच-गान सिखाने के लिए उनके यहाँ मास्टर आते थे। पढ़ाने के लिए तो अलग मास्टर था ही।

वंगाली लोग वड़े मौजी जीव होते हैं। खाली खाना-पीना, पढ़ना-लिखना और रुपैया-पैसा नहीं, गाना-वजाना, राग-रंग भी उनको चाहिए। ठीक न है! कोई अगर ठिकाने से जिनगी को वितावे तो क्या वुरा है? तो भैया, वह अनीता अच्छा नाचती थी। गला भी उसका सुरीला था और मुझे वेहद मानती थी। कुछ दिन तक तो मैं उससे कन्नी काटता रहा। वड़े आदमी के वच्चे ठहरे। उनका मिजाज वड़ा ही तुनुक होता है। इसी से पहले कुछ दिन तक कन्नी काटता रहा। मगर वाद में देखा कि वेचारी छिपा-छिपाकर मेरे लिए विस्कुट और चाकलेट लाती है। एक छोटी-सी कंघी और छोटा-सा एक ऐना कहीं से लाकर उसने मुझे दिया और उलहना देकर कहा—दादा के पास रहते हो। वहाँ इतना वड़ा शीशा रक्खा है। कभी-कभी उसमें अपना चेहरा तो देख लिया करो।

'क्यों, क्या है मेरे चेहरे में?'

मैंने यह पूछा, तो अनीता ने दाएँ गाल में एक हलकी चपत लगाई और कहा—रहेगा क्या? तुम्हारे वाल वड़े अच्छे हैं। सुनहले वाल सवके नहीं होते। इन वालों में कंघी जरूर फिरनी चाहिए...।

थोड़ी देर वाद फिर वोली—मैं राधा वनूँगी, तू कृष्ण वनकर मेरे साथ नाचेगा?

लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे?—उसकी ओर देखकर मैं वोला।

मेरे कान में फुस-फुसाकर उसने कहा—दुपहर में कहाँ कोई रहता है। और नाचते समय घुंघरू नहीं पहनेंगे। न झुनुर-झुनुर की आवाज उठेगी, न किसी को पता चलेगा......।

उसके वाद अपने दोनों हाथ मेरे कंधों पर डालकर मीठी निगाहों से अनीता ने मुझसे हाँ करा लिया और उसी दिन तो नहीं मगर तीन दिन वाद मौका मिला, हम खूव नाचे। नाचना-वाचना, तो मुझे आता नहीं, तव अनीता का हठ था, सो भैया, मैंने उसकी वात रख ली।

फूल वावू फागुन में छूट आये। महेन वावू फुलवाड़ी शरीफ के केम्प जेल में जाकर उनसे मिल आये थे, मेरा कुशल-क्षेम उन्हें वता आये थे। छूटते ही वह सीधे महेन वावू के मकान पर पहुँचे।

अपने मालिक को देखते ही मेरा मन भींगा-भींगा-सा हो उठा। उन्होंने ठुड्डी उठाकर मेरी आंखों में देखा और कहा—कैसे रहा, वलचनमा?

आँखें मेरी डबडबा आईं। कह नहीं सकता कि वे मेरी खुशी के आँसू थे कि पहले के विछोह के।

फिर वह अम्मा जी के पास चले गए। महेन बाबू थे नहीं, मुंगेर गए थे। ननिहाल। उसी रोज शाम को मालिक अपने डेरे में चले आए।

मैंने देखा, मालिक बहुत बदल गये थे। सुबह-शाम गाँधी जी का भजन गाते थे। जेल ही से गीता की एक छोटी पोथी ले आए थे। इधर अगले ही दिन एक चरखा खरीद लाए। अरे भैया, वही चरखा जो छोटे बक्से में बन्द रहता। खाना-पीना भी उनका बदल गया था। मसाला-मिरचाई कुछ नहीं। तरकारी उबालकर खाते थे। एक दिन देखा गेहूँ भींगने दिए कटोरे में। मैं तो समझ ही नहीं सका कि इनका क्या होगा। अगले दिन छाँककर गेहूँ को उन्होंने भीगे अँगोछे पर फैला दिया। अगली सुबह गेहूँ के दानों में जब अंकुर निकल-निकल आए तब फूल बाबू ने एक-एक कर उन्हें खाया। कभी उबाले हुए आलू, प्याज और गुड़ पर ही रह जाते। मुझे तो भैया अन्देशा हो गया कि बाबू का मिजाज सनक गया है।

कालेज से नाम कट गया था। गाँव-घर जाने का तो नहीं, मगर दरभंगा जाकर कांग्रेस का काम करने का विचार वह करने लगे। महेन बाबू बीच-बीच में आते और दोनों में देर-देर तक गप-शप होती। मैं उजबुक-सा उनकी बातें सुना करता। अपने मालिक और महेन बाबू की मेहरबानी से अच्छरों में माथा लगाना अब मैं सीख गया था। क-ट-च-न्ट करके बच्चों की पहली पोथी मैं बाँचने लग गया था।

फूल बाबू का मन पढ़ाई से उखड़ चुका था। माँ-बाप की परवाह उन्हें नहीं रह गई थी। उन्होंने महेन बाबू से एक दिन साफ-साफ कहा—भाई, मुझसे यह सब नहीं होगा। घर वाले मुझे वकील बनाना चाहते हैं। वकालत में पग-पग पर झूठ बोलना पड़ता है। अब कोई दूसरी-तीसरी नौकरी भी मुझसे नहीं होगी। जमीन इतनी है कि मेरे माँ-बाप भूखों नहीं मरेंगे। अपने देश की सेवा करने दो। तुम बालिस्टर बनोगे, विलायत जाओगे। तुम्हारा रास्ता और है; हमारा रास्ता और।

पहले दो महीनों में मेरी माँ के नाम पाँच-पाँच रुपये का मनिआडर भेजा था। जेल से आए, तो पाँच रुपये फिर भेज दिये।

एक दिन सुबह उठकर मुझसे उन्होंने कहा—बलचनमा, महेन के यहाँ नौकरी करेगा? भाई, मैं तो पढ़ाई अब छोड़ चुका हूँ। दरभंगा, समस्तीपुर, मधुबनी, मुजफ्फरपुर, पटना, जहाँ भी कांग्रेस भेज देगी, वहीं रहकर काम करूँगा। अब मुझे नौकरी नहीं चाहिए। गांधी जी का हुकुम है कि अपना पाखाना तक अपने ही साफ करो। अपने कपड़े आप धोओ। अपना खाना आप पकाओ।

मैं पहले ही से समझ रहा था। थोड़ी देर बाद कहा—चार-पाँच महीने हो गए। माँ याद आती है। घर जाना चाहता हूँ। माँ की राय होगी, तो फिर पटना आऊँगा।

इस पर वह बोले—तो चल दरभंगा तक तो साथ चलें।

उसी दिन रात के जहाज से हम देश की ओर विदा हुए।

तीन

मेरी छोटी बहन रेवनी चौदहवाँ पार कर पन्द्रहवें में पैर रख चुकी थी, चेहरा-मुहरा खुल आया था। जवान हो रही थी। गौने की यही तो उमर है, भैया! हमारी बिरादरी में शादी पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है जितना कि गौने पर।

मेरा मन था कि गौना हो जाय रेवनी का। मगर माँ मेरी ऐसा नहीं चाहती थी। उसका विचार था कि अभी बच्ची है। दो-तीन साल और नइहर में खाये-खेले फिर तो जिनगी-भर गिरहस्थी का पहाड़ सिर पर ढोना है ही।

माँ जो ऐसा सोचती थी, उसकी एक दूसरी वजह भी थी। बात यह थी कि हमारे उस छोटे से परिवार में कुल मिलाकर तीन ही प्राणी तो थे। बुढ़िया मर ही चुकी थी। ले देकर मैं रह गया था, रेवनी थी और माँ थी। मैं सात महीना परदेश में बिता आया था। रेवनी ही थी जिसे छाती से सटाकर माँ सोया करती थी। रेवनी का गौना हो जाने के बाद माँ बेचारी अकेली पड़ जाती। मेरा रहना और न रहना बराबर था क्योंकि माँ की देख-रेख, हिफाजत और खबरगिरी और परवरिश तो मैं कर सकता था लेकिन रेवनी की भाँति उसकी सहेली की कमी को दूर करना मेरे बूते की बात नहीं थी।

मुझे यही फिक्र थी कि जमींदारों का गाँव है। लुच्चे होते हैं ये लोग। असूल तहसील का काम गुमस्ता-बराहिल के हवाले, घर-गिरस्थी की देख-रेख छुटभाइयों के हवाले, सेवा-टहल का काम बहिया खवास के हवाले, बाकी बचे बेटा-नाती, भाई-भतीजा, सार-सरवेटा। सो बैठे-बैठे तास पीटेंगे, शतरंज खेलेंगे, शहर जाकर सिनेमा देख आएँगे, बेकार मन शैतान का घर। खान-पान और आराम की कमी नहीं, काम करेंगे नहीं। किसी की लड़की सयानी हुई नहीं कि निशाना साधने लग जाते हैं। यह नहीं कि बहन-बेटी सबकी बराबर होती है। अपनी इज्जत-आबरू सम्हालोगे तो दूसरे का भी भला होगा। मगर भैया, जिनके पास दौलत होती है वह निपट अंधे होते हैं, अपना-पराया कुछ नहीं सूझता।

और हम तो गरीब ठहरे। हमारे पास और क्या चीज होती है। कमाने-खटने को ये दो हाथ, माँ-बहन, बेटी की इज्जत-आबरू, यही न हम लोगों की दौलत है? तुम्हीं बताओ, हम उनकी भी हिफाजत अगर न कर पावें तो यह जिनगानी किस काम की।

हमारा गाँव जमींदारों का था। बड़े घरों के क्या जवान, क्या बूढ़े, बहुतेरों की निगाह पाप में डूबी रहती थी। गौना होकर कोई नई-नवेली किसी के घर आती तो इन लुच्चों की आँख उसकी घूंघट के इर्द-गिर्द मँड़राया करती। जब तक आधी-पौनी निगाह से ये उसे देख न लेते तब तक नींद न आती बदमाशों को। कई बार ऐसा होता कि जिसे देखने को बाप बेताब हो उठता उसी पर बेटा भी फिदा! उन दिनों मालिक लोगों का ही राज था। उनके खिलाफ तुम अपनी कानी उँगली तक न हिला सकते थे। किसी की इज्जत-आबरू को बेदाग रहने देना उन्हें बर्दाश्त नहीं था।

मैं नहीं चाहता था कि मेरी बहन के तन पर उन कुत्तों की चंगुल पड़े, मैं नहीं चाहता था कि मेरी माँ अपनी लड़की को आमदनी का जरिया बनाये। गरीबी नरक है भैया, नरक। चावल के चार दाने छींटकर बहेलिया जैसे चिड़ियों को फँसाता है उसी तरह ये दौलत वाले गरजमंद औरतों को फंसा मारते हैं! उनके पास धन भी होता है और अकल भी होती है। अपरंपार है उनकी लीला। बड़े खानदान का अवारा से अवारा आदमी पंडितों और पुरोहितों से भलमनसाहत का फतवा पा जाता है।

सो भैया, मैं चाहता था कि रेवनी अब अपने मर्द के पास रहे। बाबू लोगों की इस बस्ती में अपनी बहन का रहना मुझे नापसन्द था। छोटे मालिक, चाहे मझले मालिक, चाहे दूसरी पट्टियों के बाबू-बबुआन किसी के इमान पर मुझे भरोसा नहीं था। और तब तो मैं पटना देख आया था। महेन बाबू क्या राजा नहीं थे? उनके यहाँ क्या खूबसूरत औरत-मर्दों की कमी थी? वैसी जगहों में रेवनी का चार-छः महीना रह जाना मुझे नहीं अखरता। महेन बाबू के घर के लोग ठण्डी और अच्छी निगाहों वाले थे। लेकिन, यहाँ महेन बाबू का परिवार मेरे किस काम आता? यहाँ तो छोटे-मझले मालिक थे, मलिकाइन की वही पट्टियाँ थीं। हीरा बाबू, बुच्चन बाबू, मानिकजी, बचोल बाबू, लाल साहेब—मालिकों के खचिया-भर साहबजादे थे। एक-से-एक शैतान! एक-से-एक मजनूँ! यह हो नहीं सकता कि मेरी बहन पर उनकी निगाह न हो?

माँ इन बातों को नहीं समझती थी, उसको मालिक लोगों पर बड़ा ही भरोसा था। समझाने-बुझाने पर भी वह यही कहती कि पानी में रहकर मगर से बैर? जिन लोगों का जूठन खाकर तू बड़ा हुआ है उन्हीं के बारे में ऐसी-ऐसी बातें सोचता है? अधरम होगा रे बलचनमा, अधरम! भगवान नाराज हो जायेंगे। शहर जाकर यही इलम सीख आया है? बूढ़े-पुराने भी तो तेरे इन्हीं लोगों का जूठन खाकर, फेरन-फारन पहन-ओढ़कर अपनी जिनगी गुदस्त कर गये। उतना उड़ानू मत बन बेटा!

ऐसा ही सोचती थी मेरी माँ। छोटी जाति की दूसरी औरतों का भी मालिक लोगों के बारे में ऐसा ही कुछ ख्याल था। गिरती हालत के होने पर भी थे तो आखिर वे मालिक ही न? मालिक राजा होते हैं और राजा ठहरे भगवान

के अवतार ! कौन उनके खिलाफ कुछ भी सोच सकता था।

लेकिन बराबर मेरे समझाने का नतीजा यह हुआ कि माँ कुछ सोचने को मजबूर हुई। वह राजी हुई कि रेवनी का गौना कर दिया जाय।

वैशाख का महीना था। उस बार आम नहीं फरे थे। अब मुझे पूरी मजूरी मिलने लगी। कच्ची तौल से पूरे चार सेर धान मेरी मजूरी में जिस रोज माँ को मिले उस रोज वह फूली न समाई। एक बुढ़िया भिखमँगनी को उसी खुशी में उसने आधा सेर धान दे दिया। उस रात जब मैं खाने को बैठा था तो बड़े सनेह से माँ पंखा झल रही थीं। उसकी निगाह में भैया, अब मैं पूरा आदमी था। था न ?

हमारे यहाँ छोटी जाति वालों में मड़ुआ के लिए बड़ा आदर है। कभी-कभी मजूरी में धान के बदले मड़ुआ को ही पसन्द करते हैं। इसीलिए गरीबों के पास जो थोड़ी-बहुत भीठा जमीन होती है उसमें मड़ुआ रोपना जरूरी हो जाता है। वैसाख में पानी से खेत भिगो-भिगोकर मड़ुआ के बीज उगाये जाते हैं। रोज पानी चाहिए उसके लिए। बित्ता-डेढ़ बित्ता का हो जाने पर मड़ुआ के पौधे उखाड़ लिए जाते हैं। फिर उन्हें जोती और भुरभुरी मिट्टी वाले तर खेतों में रोपते हैं। मड़ुआ के साँवले-सलोने पौधों से लहलहाते खेत तुमने कभी देखे हैं ? न देखें हों तो देख आना भैया, तबीयत हरी हो जायगी ! धान के हरे पौधों की अपनी अलग शोभा है तो साँवलिया बिहारी मड़ुआलाल की अलग।

घर के पिछवाड़े में थोड़ी जमीन पड़ती थी। इस बार मैंने खुद मलिकान के पोखरे से भर-भरकर घड़े ढोये। मेरा बाप भी इसी तरह पानी ढो-ढोकर मड़ुआ पटाता था। बहँगी और छिक्कों के सहारे पानी ढोने का मौका इससे पहले कभी मेरी जिनगी में नहीं आया था, फिर भी जिस जोश और उमंग से उस बार मड़ुआ की खेती मैंने की उसे देखकर लोग दंग रह गये। इधर क्या, थकावट मालूम पड़ी तो जरा बीड़ी टान ली। बीड़ी पीने का यह चस्का पटने में लगा था। थकान पर बीड़ी की एकाध कस खूब ठीक बैठती है भैया ! और फिर मेरा तो यह हाल है कि दो कस खींची और पट से बुता दी और फिर भैया उस अधजली बीड़ी को कान पर खोंस लिया। तीन बार में खतम करता था बीड़ी को मैं।

वह मेरी उपजाई हुई पहली फसल थी। डेढ़ कट्ठा खेत में छः पसेरी मड़ुआ हुए थे। कितना मीठा होता है अपनी मेहनत का फल, खुद के उपजाये हुए मड़ुओं की लाल रोटी खाकर पेट चाहे भर जाय, हियाव नहीं भरेगा तुम्हारा; हाँ !

मड़ुआ के बाद धान रोपने के दिन आये। मालिकों के खेतों में दिन-भर मैं धान रोपता रहता, घर का सारा काम माँ और रेवनी सँभालती। थका-माँदा, मेहनत से चूर-चूर साँझ को जब मैं लौटता तो घर में खाना तैयार पाता। दुपहर का खाना मालिकों की ओर से खेत में ही पहुँच जाता था—दाल-भात, अँचार।

धनरोपनी के दिनों में ये लोग खेत के मजदूरों को हमारे तरफ खाना भी खिला देते हैं। इसमें दया-माया की कोई बात नहीं, उनका अपना स्वारथ काम करता है। अपने-अपने खेत पहले आबाद करा लेने की फिकिर पड़ी रहती है। दूर-दूर से मजूर बुलवाये जाते हैं। बाबा, दादा, काका कहा जाता है। सूगा, राजा, मुन्ना की बोली दी जाती है। पूरी मजूरी और एक जून का भर पेट खाना देकर सब अपनी-अपनी खेती करते हैं। उस बार पहली दफे मैंने पूरी मजूरी पर धान रोपने का काम किया था। छोटी मलिकाइन कुछ दिनों के लिए मयके गई थीं। नौकरी छोड़कर मालिक घर बैठे थे। खेती का काम मलिकाइन का भाई देख रहा था। मालिक बाबू दिन-भर किताब और हारमुनियम में डूबे रहते।

माँ उनके यहाँ घरेलू काम पहले की ही भाँति अब भी किये जा रही थी—बरतन मांजना, पानी भरना, झाड़ू-बुहारी देना, लीपना-पोतना, चूल्हा जलाकर रसोई चढ़ा देना। यही कुल काम थे। काम जास्ती नहीं था, मगर लपटौनी बहुत बड़ी थी। लपटौनी का मतलब समझे भैया? नहीं समझा होगा तुमने, अरे भाई एक होता है काम लेना—चट से कहा पट से काम हो गया। दूसरी होती है घिचिर-पिचर। घिचिर-पिचिर का मतलब होता है खुद भी उलझन में पड़े रहना और दूसरों को भी उलझाये रखना। न अपने बखत की कदर न दूसरे के। देहात में जो बड़े लोग कहलाते हैं उनके यहाँ न काम की कीमत, न कमकर मजदूरों की। हमारे बाप-दादे दो-दो पहर बैठकर मालिकों की उँगलियाँ चटकाया करते थे। मलिकान के जरा-सी उमर के बच्चे के पैर धोने में उन्हें घण्टों लग जाता था। बूढ़े मालिक के लिए तमाकू चुनाते तो आधा पहर उसी में बीत जाता। सुना है, मेरा दादा बड़ी अच्छी खवासी करता था। अपने मालिक की धोती को वह इस तरह चुनियाता—ऐसी बारीकी और इतनी नफासत के साथ—कि कोई फूंक दे धोती को तो सर से उड़ जाय और आकर खाली फिर जैसी की तैसी बैठ जाय। मालिस वह इस तरह करता था कि पागल-से-पागल आदमी की आँखों पर नींद सवार हो जाती। छड़ी बनाने में दस कोस तक उसकी सोहरत थी। लेकिन भैया, उसकी हथेलियों का समूचा रस चाट-चाटकर मालिक के तलवे भले ही गुलाम बने रहे अपना बाल-बच्चा तो शायद ही कभी पूरी देह कपड़ा पहन सका या पूरा पेट खा पाया। तीन पुरखों का हाल तो मैं भी बता सकता हूँ। मालिकों की जूठन का गुन गाते, उनकी विकट गालियों को परेम-भाव से सुनते दादी को देखा। रात-दिन सेवा करते रहने पर भी पाव-आध पाव मुट्ठी के लिए माँ किस तरह रिरियाती फिरती थी, यह क्या भूलने की बात है? और अपने बचपन का थोड़ा-बहुत हाल मैं बता ही चुका। अब तुम्हीं बताओ कि हमारे तीन पुरखे भला किस काम आये? मालिकों के लिए जिये, मालिकों के लिए मरे। शहर में देखा है, कैसी फुरती से लोग काम करते हैं, कैसे एक-दूसरे की मेहनत और बखत का उन्हें ध्यान रहता है। ओह! तीन पुस्त मरने तो आदमी कुली-मजूर बनकर कलकत्ता-टाटानगर पहुँचा और वहीं बस

गया। उसके बाल-बच्चे पढ़-लिख गए हैं भैया, अच्छा पहनते-खाते हैं। कारीगर, मिस्त्री, फिटर या फोरमैन बन गए हैं। और सात पुस्त तक इस गाँव में हमें रहते हो गए, फटीचरी में कोई फर्क न पड़ा। दादी के मुँह से सुना है, हमारे पुरखा पहले पनिचोभ में बहियागिरी करते थे। मेरे परदादा के परदादा को वहीं के एक जमींदार ने दहेज में दामाद के साथ कर दिया था। तब से लेकर यह सातवाँ पुरखा चल रहा है। दुनिया बदली है, जहान बदला है। मालिकों की हालत बदली है। हमारी गुलामी पर काफी असर पड़ा है लेकिन अब भी मालिकों की रहन-सहन इस ढंग की रही कि रात-दिन हम उनके आगे-पीछे दुम हिलाते फिरते थे। काम उतना नहीं जितनी कि खुशामद। हमारे मुँह से दिन में पचास-पचास बार मालिक-मालिक, सरकार-सरकार, हुजूर-हुजूर सुनने में जाने बाबू लोगों को क्या रस आता! और माँ का तो कुछ पूछो ही नहीं, वह तो बात-बात में रट लगाये रहती—मलिकाइन-मलिकाइन, सरकार-सरकार। कलकतिया मालदह, किसुनभोग और बम्बई आम की एक फाँक के लिए वह घण्टों मलिकाइन के पैर दबाती रहती।

छोटे मालिक रँगीली तबियत के आदमी थे। चालिस को पार कर चुके थे। मोछ-दाढ़ी साफ। लाल-गुलाबी और गोल-मटोल चेहरा ऐसा खूबसूरत लगता था कि क्या कहूँ। सिर के बाल कारी-भुजंग थे, घुँघराले। चुटिया अलग से नहीं थी। शहर की हवा खाये हुए थे न? बी० ए० तक पढ़कर छोड़ दिया था। पहले कुछ साल सुपौल में मास्टरी करते रहे। बाद में राँची, हजारीबाग की तरफ किसी राजा के यहाँ मैनेजरी हाथ लगी। जब तक वहाँ रहे, पौबारह कटी। इधर दो-तीन महीने से घर बैठे थे। मलिकाइन थी नहीं, मन उदास था।

एक रोज माँ के साथ रेवनी भी गई काम पर। आटा पीसना था। माँ ने कहा—चल, दो हाथ लगा देगी तो जल्दी पीस लूँगी। मालिक मधुबनी जायेंगे, दिन को आम, दूध, और फुलका खाकर।

गई रेवनी साथ। दोनों माँ-बेटी आटा पीस चुकीं तो मालिक ने आवाज दी—बलचनमा की माँ, अरे लड़की तो तेरी बढ़कर ताड़ हुई जा रही है।

यह कहकर उन्होंने सिर से पैर तक रेवनी के समूचे बदन पर उड़ती निगाह मारी और नचाकर आँखें मींच लीं। सामने दूसरे घर के ओसारे पर पलँग पड़ी थी। गद्दा था, चादर थी। तकिया थी जिसके दूध जैसे दप-दप उजले खोल पर लाल-हरे धागों से कसीदा था—चोंच में चोंच भिड़ाये दो तोते। उसी पर केहुनी टिकाये मालिक बैठे थे।

आँख फाड़-फाड़कर उन्होंने रेवनी को देखा था। आटा पीस चुकने पर माँ से जब उन्होंने रेवनी की बात उठाई तो उसने कहा—बच्ची है बाबू अभी, क्या खा-पीकर ताड़ होगी?

इतना कहकर वह फिर किसी काम में लग गई। बड़ी जात वालों के सामने

हमारे घर की माँ-बहनें बहुत कम बोला करती हैं। और उसमें भी रिश्ता अगर मालिक और नौकरानी का रहा तो लिहाज और भी बढ़ जाता है। मगर भैया, बड़े आदमियों की चुलबुली तबियत को इतने में संतोष कहाँ। वे नाहक ही हमारे घरों की औरतों से बे-बात की बात करने का बहाना ढूँढ़ते हैं।

माँ के उस जवाब से छोटे मालिक की तबियत नहीं भरी। थोड़ी देर के बाद वह बोले—तू जाकर आग जला बलचनमा की माँ, रेवनी इधर आये और ज़रा पंखा झल दे। इतना कहकर मालिक ने ऐसी फुफकार छोड़ी मानो आग में पड़ी बैंगन हों। बतला ही चुका हूँ कि मेरी माँ को मालिकों की नीयत पर बड़ा भरोसा था। वह उन्हें देवताओं का अवतार समझती थी।

तो उसने आँख से रेवनी को इशारा किया—जाओ, झल दो पंखा।

पंखा नहीं था पंखी थी जो रेवनी के हाथ में थमा दी गई और वह निगाहें नीचे किए बिजनी चलाने लगी। पंखी में मूठ की जगह पतले बाँस की फोंफी होती है। गोल और चिकनी फोंफी के अन्दर पंखी की डंठल पड़ी रहती है। मूठ में लेकर ज़रा-सा हिलाओ कि पंखी मानो अपने आप चलने लगेगी—किर्र-किर्र खिर्र-खिर्र, किरिर-किरिर···बड़ी मीठी आवाज होती है भैया। पास बैठकर कोई पंखी चलाये और तुम लेटे-लेटे हवा खाते रहो तो तुम्हारी कसम भैया, पलकें न झिप जाएँ तो जो कहो।

रेवनी जब पंखी झल रही थी तो आहिस्ते से मालिक ने सिरहाने के अन्दर हाथ डाला और अठन्नी निकाली। पलँग के पावे का मत्था चिपटा था। उसी पर उन्होंने अठन्नी रख दी। रेवनी की आँख में लालच की लकीर नहीं खिंची, उसने अठन्नी की ओर देखा तक नहीं। पहले की तरह अडिग रहकर मालिक को हवा करती रही। मन में सोचा कि दुकान से कोई चीज-वस्तु मँगवाना चाहते हैं। इसी से चुपचाप रेवनी बिजनी झलती रही।

और इधर मालिक के मन में तो भैया, सैतान झिंगुर की तरह झनकार रहा था। वह सोच रहे होंगे, लड़की है कि खंभा है। न हिलती है न डुलती है। कैसी पत्थर है।

उन लोगों का ऐसा सोचना फाजिल नहीं था। क्योंकि जब वे नौजवान थे तो इसी गाँव में दुअन्नी के बदले जवान लड़की मिलती थी।

ख़ैर, रेवनी अडिग होकर मालिक को हवा कर रही थी।

फिर मालिक ने अठन्नी की तरफ इशारा करते हुए कहा—उठाती क्यों नहीं?

रेवनी ने एक नज़र अठन्नी की ओर डाली और फिर पंखी झलने लगी। ज़रा [illegible] मालिक से उसने कहा—कुछ मँगवाना है सरकार ? दुकान जाऊँ ?

कहते समय रेवनी की निगाहें नीचे की ओर थी। आँखों में विकार नहीं था। एक तो इस उमर में लड़कियाँ यों ही संकोची हुआ करती हैं भैया, और

हमारी बहन का तो हाल ही न पूछो। लड़कपन से ही वह शील-संकोच वाली थी। आँखें मिलाकर किसी से बातचीत करते कभी उसे देखा ही नहीं। यह सोचकर कि बनती है, मालिक मुस्कराये। सिर हिलाकर, भौहें तानकर आँखों को नचाया। वह हवा करती जा रही थी, सैतानी-खुरापात से बिल्कुल अनजान।

अपनी पहली उमर में खेले-कूदे हुए थे मालिक। ऐसे मौकों पर गुम-सुम खड़ी या ना-ना कहती बीसियों की उन्होंने कलाई पकड़ी थी। वह उनके लिए महज मामूली बात थी—खाँसने-छींकने की तरह भैया बिल्कुल मामूली बात।

रसोईघर के अन्दर उधर माँ हँसिया से लौकी चीर रही थी। जानते ही हो, बड़े आदमियों का आँगन कितना बड़ा होता है। चारों तरफ घर हुआ करते हैं, बीचों-बीच खुली जगह होती है और इस खाली जगह को ही आँगन कहते हैं। तालाब की तरह चौकोना घर-आँगन तुमने देखा होगा। आमने-सामने घरों के बीच कितनी दूर का फासला होता है। उस ओसारे पर कोई बात करेगा तो इधर वाले को कुछ भी सुनाई नहीं देगा।

इस ओसारे पर छः महीने का बच्चा गला फाड़-फाड़कर मर जायगा तो उस ओसारे पर बैठी माँ को पता न चलेगा। काज-परोजन के दिनों में पड़ोस के हजारों बाभन पाँती में बैठकर जीमते हैं। सूखने के लिए पचास-पचास मन धान फैला दिये जाते हैं। इतने-इतने बड़े आँगन होते हैं जमींदारों के।

तो भैया मालिक ने यही मौका देखा और चट से रेवनी की कलाई पकड़ ली। हाथ झटककर फुरती से रेवनी दो कदम पीछे हो गई मानो किसी ने सिर पर सूप-भर आग डाल दी है। पंखी हाथ से छूट गई थी। चीख के बदले हल्की हाय सुनकर मालिक ने इसे नाटक समझा और पलँग से उठकर आगे बढ़े।

मैयाँ रे मैयाँ—चिल्लाती हुई रेवनी भागी तो मालिक ने उलटे चिल्लाकर कहा—कहाँ गई री बलचनमा की माँ, तेरी लड़की को तो भूत लग गया है। एक हाथ में हसिया और दूसरे में छिली हुई लौकी की फाँक लिए माँ दच्छिन वाले घर से बाहर निकली तो रेवनी बेतहासा दौड़ी और उससे चिपट गई—गे माँ गे माँ! वह सैतान भी आँगन में कुछ दूर बढ़ आया था और सूखे गले से बुरी तरह खिलखिला रहा था।

मेरी माँ इस तरह हक्का-बक्का हो गई कि आँखें फाड़कर रेवनी की तरफ ताक-भर रही थी। इधर मालिक ने पैंतरा बदला। अपना दाहिना हाथ हिला-हिलाकर जोरों से चीखने लगे—होय्-होय्! बाप रे बाप! बर्रे ने काट खाया।

रेवनी को छोड़कर माँ दौड़ आई। इसी बीच मालिक ने बाँह पर अपने आप चिकोटी काट ली कि निशान निखर आवे। इसके बाद उन्होंने माँ से कहा—दो बूँद मिट्टी का तेल तो ले आओ।

हमारे यहाँ बर्रे काटने पर मिट्टी का तेल लगाते हैं! घर में मिट्टी का तेल

था नहीं। यह बात मालिक को मालूम थी। इसलिए माँ से उन्होंने कहा—दौड़ो, कहीं से बूँद-भर मिट्टी का तेल तो लाओ।

उधर दछिनवरिया ओसारे पर बैठकर रेवनी सिसक रही थी। आँगन फिर सूना पड़ गया क्योंकि माँ मिट्टी का तेल लाने चली गई थी। नजदीक आकर—मालिक ने रेवनी से कहा—पगली कहीं की ! आखिर हुआ है क्या तुझे ? मैंने तो यों ही ज़रा छू दिया था और तू करनपिसाची खेलने लगी ! तेरी जितनी उमर में ही तेरी माँ का गौना हुआ था। और इसी तरह पचीसों बार मैंने उसका हाथ पकड़ा होगा…

झूठ—गुस्से से तुनककर रेवनी ने जवाब दिया—झूठ बोलते हैं आप ! इतना कहकर उठ खड़ी हुई। दोनों हाथ फैलाकर आगे से मालिक ने उसे घेरना चाहा। रेवनी की भवें इस बार तन गईं, चेहरे पर घिन छा गया। हिम्मत बाँधकर उसने कहा—यह क्या हो गया है आज आपको मालिक ?…

सरकार…सरकार…! मालिक ऐसी हँसी हँसे कि रेवनी का होश गुम हो गया। गुस्सा, नाराजी और बरजोरी की यह खिलखिलाहट पन्द्रह साल की उस अबोध लड़की के लिए बिलकुल नई चीज थी भैया; एकदम नई चीज।

डर के मारे उसका कलेजा काँपने लगा, काँपने लगा जैसे कि केले का नया चिकना पत्ता बयार की हलकी से हलकी सिहकी पाकर काँप उठता है। थोड़ी देर के लिए बिचारी का होश गुम हो गया। अचेत-जैसी हो गई। मगर रही खड़ी ही।

एकाएक रेवनी के अन्दर बिजली-जैसी गुस्से की लहर दौड़ गई। उसका अंग-अंग मानो झनझना उठा। आँखों में लाली चढ़ आई। सीना धड़कने लगा। होंठ फड़कने लगे।

मालिक अपनी धुन में मस्त थे। उस राच्छस ने तय कर लिया था कि आज इस छोकड़ी को अछूती न छोड़ूँगा। बहुत दिनों से उसकी आँखें मेरी बहन पर लगी हुई थीं। वह मौका खोज रहा था। और दैव की इच्छा, आज सैतान को यह मौका हाथ लगा था। एक साधु के मुँह से मैंने एक बड़ा ही अच्छा पद सुना था भैया। लेकिन अब याद नहीं है। उस पद का मतलब यही था कि कामिनी और कंचन के पीछे किसी का मन जब खिंचता है तो उस पर सौ बोतल दारू का नशा चढ़ जाता है। सो हमारे छोटे मालिक पर भैया उस दिन सौ बोतल दारू का नशा चढ़ा गया था। अपना होश-हवास वह खो बैठे थे।

आखिर उन्होंने रेवनी को जबरन जमीन पर गिरा दिया और खुद उसके बदन पर काबू पाने की कोशिश करने लगे। पन्द्रह साल की वह असहाय लड़की अपनी सम्पूर्ण ताकत बटोरकर उस पस्त हालत में भी मुकाबिला करने लगी। कुत्ते और बिल्ली की लड़ाई कभी तुमने देखी है भैया ? वही हाल था। मेरी बहन ने हार नहीं मानी। उसने मालिक की कलाई पर इतने जोर से दाँत गड़ा दिए कि हुजूर अचेत हो गये और रेवनी बिजली की फुर्ती से उठकर भाग आई।

इसके वाद जो ववंडर उठा उसने मेरी जिनगी के वहाव को ही मोड़ दिया।

वात यों हुई कि छोटे मालिक विल्कुल आग-ववूला हो गये। मिट्टी का तेल लेकर माँ जव उनके पास पहुँची तो उस वेचारी की पीठ पर उन्होंने कसकर चार लात जमायीं। मेरी माँ रोई नहीं। ऐंचकर रह गयी। रेवनी को जव उसने वहाँ न देखा तो किसी भारी अन्देशा से उसका सिर चकराने लगा। छोटे मालिक के इस राच्छसी स्वभाव को वह न जानती हो, ऐसी वात नहीं थी। वह सव जानती थी। वेचारी का चेहरा सफेद पड़ गया। आतंक के मारे आँखों के आँसू सूख गये। आँगन को सूना पाकर मालिक ने पीछे उसे पानी भरने की रस्सी से हाथ-पीठ कसके पलँग से बाँध दिया। अव वह फूट-फूटकर रोने लगी तो मालिक ने गुर्राकर कहा—वोल साली, अपनी वेटी को यहाँ ले आयेगी कि नहीं ? वोल।

वह वेचारी क्या जवाव देती ! अपनी जान के डर से लोग क्या नहीं वक जाते हैं। मगर मेरी माँ वड़ी दिलेर थी। हमारी दादी की तरह वात-वात में दाँत निपोड़ना उसने नहीं सीखा था। तवीयत की झगड़ालू न होने पर भी अपनी आन-वान की वह वहुत पक्की थी।

उस रोज वैसी हालत में भी मालिक हमारी माँ से किसी तरह का वचन न ले सके। वड़ी पिटाई पड़ी थी उस पर, आह-ऊह करके, हाय राम-हाय राम, करके हमारी माँ ने सारा दरद, सारी पीर निकाली। घड़ों आँसू वहाये, फिर भी उस वहादुर औरत ने इस शर्त पर मालिक की कैद से छूटना न चाहा कि रेवनी को ले आएगी। ना, पीछे उसने आँसू-भरी आँखों से रो-रोकर वताया था—ववुआ-वालचन ! मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं !

अपनी माँ के मुंह से ऐसी भारी वात सुनकर मेरी छाती वाँसों उछलने लगी। वहुत वड़े भागमंत को ही ऐसी माँ मिलती है भैया। मैंने भी यह ठान लिया कि चाहे उजड़ जाना परे, चाहे जहल-दामुल हो, चाहे फाँसी चढ़ूँ मगर कभी जालिम के सामने सिर नहीं झुकाऊँगा।

मैं उस रोज घर पर नहीं था, वाहर गया हुआ था। दूर नहीं, दो-अढ़ाई कोस पर। वात यह थी कि महपूरा के खान वहादुर सदुल्ला खाँ कुस्ती के वड़े शौकीन थे। नवावी खानदान के थे। वहुत वड़ी जमींदारी थी। इलाके-भर में यही दो खानदान थे जो सैकड़ों साल से राज करते चले आ रहे थे। एक खानदान यही हमारे मालिकों का था, और दूसरा खान वहादुर का। हमारे मालिकों की जमींदारियाँ वहुत सारी विक चुकी थीं। दस ही पाँच हजार सालाना आमदनी के मौजे वच रहे थे। यह मामूली जमींदारी भी कई पट्टियों में वँटकर छोटी से छोटी हो गई थीं। सोलह आने की सरकार छोटी-वड़ी पट्टियों में वँटते-वँटते इकन्नी, अधन्नी, पैसा, पाँच कौड़ी, दो कौड़ी और आधी कौड़ी तक की हो

गई थी। हमारे मलिकान की ऐसी एक पट्टी के बाबू का नाम पञ्चकौड़ी बाबू था। एक दूसरी पट्टी के किन्हीं बाबू का नाम तिनकौड़ी बाबू था। मगर नवाबी खानदान की जमींदारी अभी तक बरकरार थी। पुरानी रोबदाब महपूरा वालों का भी अब नहीं रह गया था। फिर भी पचास-साठ हजार रुपयों की वसूल-तहसील वाली जमींदारी का रोब जैसा होना चाहिए सो तो था ही।

खान बहादुर को कुश्ती लड़ाने का बड़ा शौक था। दो पहलवान तो उन्होंने खुद ही पाल रखे थे। उनका कहना था कि हाथियों के बदले पहलवान पालना चाहिए. सवारी का काम तो बग्घी-टमटम से भी चला लिया जा सकता है मगर अखाड़े में जब दो पैंतरेबाज पट्ठे आपस में गुथते हैं फिर जो मजा देखने वालों को मिलता है. वह भला हाथी पालने से क्या खाक मिलेगा।

तो मैं उस रोज महपूरा गया था दंगल देखने। लौटा तो शाम हो चुकी थी। गांव के बाहर ही चुन्नी मिला। यह मेरा हमजोली था। उसी ने हमको पहले टोका—कौन ? बालचन ?

पानी का नाला था। उसने लाठी घोंपकर उसके सिरे के सहारे छलांग मार-कर मैं बाहर टप आया और जवाब दिया—हां चुन्नी, देर हो गई। महपूरा से आ रहा हूं।

"खूब कुश्ती देखी होगी ! कै जोड़े थे।"

मैंने आगे बढ़कर कहा—मीता; तू तो गया ही नहीं। तुझे तो न अपनी भैंस से फुरसत मिलती है न मेहरिया से। भैंस खोलता है तो मेहरिया बंधी रहती है। मेहरिया को चराता है तो भैंस बंधी रहती है।

मुझे हंसी आ गई। जोर से भभाकर मैं हंसा, लेकिन जवाब में चुन्नी चुप रहा। मैंने सोचा—अंधेरा है; चुन्नी मुसका रहा है। फिर पूछा—बोलते नहीं ? भाभी ने दुलत्ती झाड़ी है ? चोट लगी हो तो चलो मैं मालिश कर दूंगा। पटने से सीख आया हूं।

अब हम एक-दूसरे के करीब पहुंच गये थे। झांककर मैंने देखा। चुन्नी का चेहरा बड़ा उदास था। खुले होंठों से सफेद दांत भी उदासी का ही सबूत दे रहे थे। लाठी को बगल में दबाकर दोनों हाथों से मैंने चुन्नी के कंधे झकझोरे और कहा—क्या बात है ? इतनी देर से तुम चुप क्यों हो। कोई नई बात तो नहीं हुई है ?

अब भी चुन्नी कुछ नहीं बोला। धीरे से मेरे हाथों को अपने कंधों से छुड़ाते हुए वह बोला—कुछ नहीं।

इतना कहकर चार कदम आगे बढ़कर चुन्नी फिर ठिठक गया। खटका तो मेरे मन में पहले ही हो गया था, अब सन्देह पक्का हो गया कि हो न हो टोल-पड़ोस में कोई खराब बात जरूर हुई है। अब मेरी भी चुहल-बाजी खतम हो गई और किसी खतरे का अन्देशा कांटा बनकर मन को बेधने लगा। चार कदम मैं भी आगे बढ़कर चुन्नी के आगे खड़ा हो गया और बोला—मेरी कसम ! बोलो क्या हुआ है, भैंस तो तुम्हारी किसी के खेत में नहीं चली गयी थी ? मलिकान के किसी

छोकरे ने तो कोई बात नहीं कह दी ?

अब भी चुन्नी चुप ही रहा। सिर्फ मेरा हाथ पकड़कर वहीं पगडंडी के किनारे पोखर के भिंडे पर धम्म से बैठ गया। मैं भी बैठा। मन मेरा भी भारी हो चुका था।

थोड़ी देर हम दोनों चुप रहे, फिर चुन्नी बोला, फुसफुसाकर – तुम घर न जाओ।

क्यों ?—आँखें फाड़कर और दम साधकर मैं उसकी ओर देखने लगा। वह संक्षेप में दिन वाली सारी बात मुझे बतला गया और फिर कंधा पकड़कर कहने लगा—बालचन्द, आज दिन-भर छोटे मालिक के हरवाह-चरवाह तुम्हें खोजते फिरे हैं, पचीसों आदमियों से उन्होंने तुम्हारे बारे में पूछा है कहाँ गया बलचनमा। भाई, थोड़ी देर यहाँ तू बैठ, मैं झाड़ा फिर कर आता हूँ फिर तुझे अपने यहाँ ले चलूंगा।

मेरे पैरों के नीचे से मिट्टी खिसकने लगी। आँखों के आगे अँधेरा छा गया। मैं गूंगा बन गया। मुझे उसी हालत में छोड़कर चुन्नी दीसा फिरने लगा। घुटनों पर कपार रखकर मैं गुमसुम उसी तरह बैठा रह गया। मेरे मन में किसिम-किसिम के भाव उठ रहे थे। एक मन तो यह होता था कि पघरिया हाँसू लेकर दोपहर रात में जाऊँ और छोटे मालिक का गला काट आऊँ। दूसरा मन यह होता था कि मालिक के कागजातों के उन बण्डलों को उड़ा लाऊँ जिनमें हजारों की लेन-देन का तमस्सुक और सैकड़ों दस्तावेज रक्खे हुए हैं। तीसरी बात जो मन में उठ रही थी वह यही कि माँ-बहन को लेकर रातोरात पटना भाग जाऊँ। चौथी बात यह भी मन में बड़े जोर से उठी कि उलटे वहीं से दरभङ्गा चला जाऊँ। अकेले वहाँ जाकर फूल बाबू से छोटे मालिक की करतूत बतला दूँ। इस तरह किसिम-किसिम की बातें मेरे मन में उठ रही थीं। ऐसे तूफान में मैं कभी नहीं पड़ा था। भैया, छोटे मालिक के बारे में ऊँचा विचार तो मेरा कभी नहीं रहा, लेकिन आदमी ऐसा राकस होगा, यह तो मैंने सपने में भी नहीं सोचा था।

चुन्नी इतने में दीसा फिरकर पोखर में पानी छूने आया। आवाज आयी—छपर-छपर-छप्प—छपर-छपर-छप्प।

इस आवाज से मुझे कुछ होश हुआ और मैं सँभला, आखिर चुन्नी से भी पूछ लूं। अकेले दिमाग कुछ काम नहीं कर रहा था। मन बवंडर का तिनका बन रहा था।

हाथ-पैर धोकर, कुल्ला करके चुन्नी ऊपर आया पोखर के भिंडे पर, जहाँ मैं बैठा हुआ था। मेरा कंधा हिलाकर उसने कहा – पगलई से तो कुछ होगा नहीं, ठण्डा मन से सोच-विचार कर और दोस्त-मीत से सलाह-राय लेकर तब तय करना चाहिए कि इस राच्छस को हम किस तरह से सजा दें ?

चुन्नी की यह बात मुझे वजनदार मालूम हुई। दोस्त-मीत-हीत बन्धु तुम्हें

सब जगह मिलेंगे भैया ? जहाँ अपनी अकिल काम न करे वहाँ हीत-मीत से राय लेनी ही चाहिए। एक आदमी की अकिल से दस आदमियों की मिली-जुली अकिल लाख गुना अच्छी है। मुझे उस वखत कुछ नहीं सूझ रहा था। चारों ओर घुप अँधेरा नजर आ रहा था। कोंढ़-करेज थर-थर काँप रहा था। ऐसी हालत में चुन्नी हमारा सहारा हुआ और मैं उठकर खड़ा हुआ।

वह बोला—जा, तू भी घाट पर ! हाथ-मुँह धो आ। मुँह-हाथ-गोड़ धोने से थकान भी मिटेगी और मन भी हलका होगा।

लाठी उसे थमाकर मैं पोखर के घाट की ओर बढ़ा। नीचे घुटना-भर पानी में उतरकर हाथ-मुंह धोए। खखारकर गला साफ किया। रगड़-रगड़कर घुटने और पैर धोये। आँख-नाक, कपार, कान, कनपट्टी, गरदन, बगल पर भींगे हाथ फेरे और बाहर निकल आया। चुन्नी तब तक खड़ा ही था। फिर हम दोनों आगे बढ़े गाँव की ओर। वह आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे।

चुन्नी मुझे सीधे नहीं ले आया। मलिकान की पट्टियों से फरक-फरक गोसाईं जी के भीठे खेतों की मेड़ पर से तीरी अमात के घर के पिछवाड़े होते हुए वह मुझे अपने यहाँ ले आया। भैया, तुम भी तो देहात के ही रहने वाले हो। जानते ही हो कि गाँव के लोग साँझ-सकारे खा-पीकर सो जाते हैं। बूढ़-पुरनियाँ तो रात में बड़ी देर तक खाँसते-खोंसते रहते हैं या फिर अँधेरे में ही अपने बीते दिनों की याद में विभोर होकर बतियाते-बड़बड़ाते रहते हैं। दिन की कड़ी मेहनत से चूर-चूर जवान और अधेड़ लोग बहुत पहले ही सो जाते हैं। खेती का मौसम न रहा तो बेकारी में सोते-ऊँघते दिन बीतता है और तब भी रात को जल्दी नहीं सोते। लोरिक, बिरहा, सल्हेस या कबीर के भजन गुनगुनाते रहते हैं या फिर किसी चौपाई पर, पुवाल के बीड़ों पर बैठे हुए उन्हें तुम खैनी मलते और चिलम फूंकते पाओगे। औरतें देर तक जगी रहती हैं और तड़के उठ जाती हैं।

चुन्नी का बाप मनियार मंडल मामूली ढंग का खेतिहर था। अपनी पहली उमर में सात साल तक ढाका के किसी चटकल में मजूरी करके काफी रुपैया चुन्नी की माँ को उसने भेजा था। चुन्नी की माँ जिसे हम छोटी उमर से ही धन्नी चाची कहने के आदी हो गये थे, बड़ी लछमिनियाँ थी। अपने घर वाले की कमाई से धीरे-धीरे उसने तीन बीघा खेत ले लिये थे। अब ये लोग छोटी जात वालों में हैसियत वाले माने जाते थे। माने ही नहीं जाते थे, हैसियत भी थी। दो भैंसें थी, एक जोड़ा बैलों का था, आँगन में चारों ओर घर थे। कमाने-धमाने वाले तीन समर्थ जवान थे। मजबूत काठी की दो कमासुत जनाना थी। बेर-बखत पर सलाह देने के लिए बूढ़ा था। लछमिनियाँ बूढ़ी थी। हमारे यहाँ ऐसे परिवार को भरा-पूरा परिवार कहते हैं।

उस रात कहीं बिरादरी का भोज था। चुन्नी के दोनों भाई और बुढ़ऊ पुत बाल-बच्चों को साथ लेकर पत्तल गरमाने गए थे। रसोई का झंझट न रहने से चुन्नी-माय भी पड़ोस के आंगन में गप्पें लड़ाने गयी थी। दरवाजे पर भैंस और

वैल वंधे थे। वैठक खाली थी। घर सूना था।

ऐसे समय में पैर मारकर हम दोनों उस आँगन में घुसे। चुन्नी ने अपने पुवरिया घर का केवाड़ा खोलकर कहा—आराम कर, मैं खाने का इन्तजाम करता हूँ और तुम्हारी माँ की खवर भी लिए आता हूँ।

चुन्नी चला गया। मैंने अपनी लाठी कोने में भीत के सहारे खड़ी कर दी। वनियाइन निकालकर अरगनी में टाँग दी। धोती का फेंटा ज़रा ढीला कर लिया और विछी हुई सितलपाटी पर अँधेरे में लेट गया।

वड़ी भूख लगी थी भैया, मगर जो कुछ हुआ था उसके आगे भूख साली सूखकर अँतड़ी के किसी कोने में समा गई थी। दादी ने एक वार कहा था—वहुत जास्ती खुशी हो तव भी भूख मिट जाती है, जास्ती रोग-विरोग हो तव भी भूख मिट जाती है। सो उस दिन मेरी भूख उड़ गई थी। मैं वार-वार अकेले उस अँधेरे में यही सोचता था कि छोटे मालिक से डटकर मोर्चा लिए बिना निस्तार नहीं : साफ़-साफ़ वात थी। या तो तुम अपनी वहन को उस जालिम के हवाले कर दो या फिर मुसीवतों का पहाड़ खुशी-खुशी सिर पर उठा लो। दो ही वात थी, तीसरा रास्ता नहीं था। मैंने मन-ही-मन अपनी ओर से पक्का कर लिया कि कैद काटूँगा, फाँसी चढ़ूँगा, गाँव से उजड़ जाऊँगा मगर इस शैतान के आगे सपने में भी सिर नहीं झुकाऊँगा। जोश में आकर भैया, मैं उठकर वैठ गया। कमर सीधी कर ली। उस घुप्प-अँधेरे में भी अपने दुश्मन की परछाहीं में साफ़-साफ़ देखने लगा। उस राक्षस को ललकारते हुए मैं वोल उठा—वेशक ! मैं गरीव हूँ। तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है, खानदान है, वाप-दादे का नाम है, अड़ोस-पड़ोस की पहचान है, जिला-जवार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध में लगा दूँगा। माँ और वहन को जहर दे दूँगा लेकिन उन्हें तू अपनी रखेली वनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा······

मैं वैठा नहीं रह सका। अन्दर से निकलकर आँगन में घूम-फेर करने लगा। तुमने कलकत्ते का चिड़ियाघर देखा है भैया ? वहाँ जिस पिंजड़े में शेर रहता है वह देखा होगा। शेर जव नाराज रहता है, गुस्से से उसकी आँखें लाल रहती हैं और वह पिंजड़ा में वन्द रहता है तो क्या करता है ? यही कि अपने पिंजड़े में पाँच कदम इधर-पाँच कदम उधर, पाँच कदम इधर-पाँच कदम उधर, किसी भाँति अपनी नाराजी की आँच को चहलकदमी करके पचाता है। सो भैया, मैं भी अपने गुस्से की आँच को चुन्नी के उस छोटे से आँगन में फेरा लगाकर पचाने लगा।

अरे, तुम चक्कर लगा रहे हो—चुन्नी की आवाज आयी तो मेरा ध्यान टूटा। उसके एक हाथ में एक रोटी थी, दूसरे में कटोरा। मेरे कुछ पूछने से पहले ही वह वोला—रेवनी सो गई है और चाची (मेरी माँ) लेटी पड़ी है। मैंने उन्हें समझा-वुझा दिया है। तुम्हारे वारे में निश्चिन्त कर दिया है। लो पीढ़ा पर वैठ जाओ, खा लो। मैं डोल लेकर ताजा पानी भर लाता हूँ।

मैं नहीं बैठता तो चुन्नी ने हाथ पकड़कर बैठा दिया। रोटी का बड़ा-सा टुकड़ा तोड़कर तरकारी वाले कटोरे में उसे डुबाकर चुन्नी ने मेरे मुंह में कोंच दिया। मिरचा मैं बचपन से ही थोड़ा कम खाता हूँ मगर भिंडी की उस तरकारी में बनाने वाली ने न जाने कितना मिरचा झोंक दिया था! मिर्च के तीखे-तीते स्वाद ने मेरा नशा तोड़ दिया। नशा ही कह लो भैया, क्योंकि मन की बेचैनी, दिमाग की परेशानी, अन्दर की बेकली भी आदमी को उसी तरह बेहोश कर देती है जिस तरह दारू और ताड़ी।

तो तरकारी के कड़ुएपन से मेरा ध्यान टूटा, मैंने पूछा—अरे तुम क्या खाओगे?

मैं तो खाकर गया था पोखर की ओर। छोटी भैंस की तबियत खराब है। सरदी हो गई है। इसलिए बिरादरी के भोज में न जा सका। खाना दिन का ही रक्खा हुआ था। तुम्हारे लिए रामचरन चाचा के यहाँ से रोटियाँ ले आया हूँ। उनके यहाँ बुढ़िया के पथ-पानी के लिए बराबर आग जलती ही रहती है।

चुन्नी ताजा पानी ले आया था। रोटी जौ की थी। भिंडी की तरकारी और जौ की रोटी बड़ी अच्छी लगती है, लेकिन उस रोज तो मेरी जीभ ही पथरा गई थी। जैसे-तैसे निगलकर भर छाँक पानी पिया और बाहर जाकर पेशाब कर आया। मैं चाहता था चुन्नी से बातें करना, लेकिन उसे किसी जरूरी काम से बभनटोली जाना था। उसने कहा—अभी आराम करो। तड़के हम उठेंगे और तब बातचीत होगी।

मैं देर तक गुन-धुन में पड़ा रहा। किसिम-किसिम की बातें सोचता रहा और उसी सोच-फिकिर में पता नहीं कब नींद आ गयी।

चार

चुन्नी ने अगले रोज तड़के ही मुझे उठाया और बताया कि फूल बाबू से काम सधेगा, छोटे मालिक उन्हीं से दबेंगे।

चुन्नी की यह सलाह अच्छी जँची। चुपचाप मैं लहेरिया सराय पहुँचा, ट्रेन मौके पर मिल गई थी। लोगों से पूछ-पाछकर बरहमपुरा आया, आसरम गाँव के बाहर ही था। पहुँचने में तनिक भी दिक्कत नहीं हुई।

दोपहर का वक्त था। आसरम की अँगनाई में आम के एक बड़े पेड़ के नीचे कंबल की आसनी डालकर फूल बाबू पलथी मारे हुए थे। मगन होकर चरखा कात रहे थे।

फूल बाबू का पैर पकड़कर मैं रोने लगा।

एकाएक अपने पैर पकड़कर मुझे जो उन्होंने रोते पाया तो बायें हाथ की

पूनी का तार बीच में ही टूट गया और दाहिना हाथ चरखे की मूठ से यों ही अलग हो गया। चरखे का तूमा रफ्तार वन्द होने से धीरे-धीरे रुक गया। सामने कते हुए सूतों के तीन-चार लच्छे, आठ-दस पूनियाँ एक चँगेरी में रक्खी हुई थीं।

फूल वावू के दाढ़ी-मूछ वढ़ी हुई थी। वाल भी वढ़े हुए थे। वदन पर कमीज या वनियाइन कुछ नहीं था। खद्दर के पचहत्थी टुकड़े से धोती का काम तो भला क्या चलेगा, हाँ, घुटनों तक लपेटकर किसी तरह लाज-सरम का परदा उससे जरूर हो जायगा। वावू भैया लोगों को कहीं मैंने आज तक इस तरह फकीरी भेख में नहीं देखा था। फूल वावू ने कमर में खादी का टुकड़ा लपेट रक्खा था और देह पर सूत के नाम पर सिरिफ सफेद जनेऊ-भर देखा। इस रूप में मुझे फूल वावू महतमा जैसे लगे। अव तो खैर वैरागी-वरहमचारी लोगों को विना पिछुआ के धोती लपेटे काफी देख चुका हूँ। अपने जनकपुर को ही ले लो। चोरौत है, मटिहानी है, महंतों के और भी वड़े-वड़े अखाड़े अपने मुलुक में मौजूद हैं। वहाँ तुम, भैया, वैरागियों की पलटन पाओगे। वारीक महीन मलमल की धोती को वैरागी लोग जिस तरह गले से लपेटकर कमर में डालते हैं उनकी वोली में उसे क्या कहते हैं, जानते हो? नहीं न जानते हो। अरे भैया, अपने इस पहनावे को वैरागी लोग वरहमगाँती कहते हैं।

तो आसरम में पहुँचकर फूल वावू को मैंने उस भेख में जो देखा तो भीतर की सारी सरधा उमड़ आई। ऐसे तो पहले ही पहल जव उन्हें उस वार मलिकाइन के यहाँ देखा था तभी मेरा मन उनमें गड़ गया था। वाद में चार-छै महीने उन्होंने मुझे अपने साथ पटना में रक्खा। वड़े परेम से रखते थे, जैसे वाप वेटे को रखता है और अव इस भेख में उनको देखकर मेरे मन को ऐसा लगा कि यही फूल वावू मेरा उद्धार करें तो करें नहीं तो छोटे मालिक के परकोप से छुटकारा पाने का और कोई रास्ता नहीं है।

सो, मैं लुद्द से उनके पैर दोनों छानकर धरती पर पड़ गया और सुसुक-सुसुककर रोने लगा।

फूल वावू ने मुझे उठा लिया। वार-वार पूछने लगे कि क्या हुआ है वालू? कौन-सा संकट तुझ पर है! माँ तो नहीं वीमार है वालचन, तेरी वहन को तो नहीं कुछ हो गया वालो?

मेरा हिचकना वन्द ही नहीं हो रहा था। वड़ी देर तक वह मेरे देह पर हाथ फेरते रहे। अँगुलियों से कई वार आँखों के आँसू पोछे।

मेरा यह हाल देखकर फूल वावू का चेहरा एकाएक सपेता मालदह जैसा हो गया। उसी दिन मुझे पहले-पहल यह वात मालूम हुई कि दिल भरा हो, भारी ठेस लगी हो तो खूव रोओ। इससे मन हलका होता है। वहुत आँसू वहाने पर मेरा भी मन जव हलका हुआ तव जाकर हिचकी वन्द हुई।

फूल वावू वहाँ से उठे, खादी की लच्छियों और पूनियों वाली टोकरी खुद

उठा लिया। आसानी और चरखा मैंने ले लिया। वह आगे-आगे, मैं पीछे-पीछे। दोनों जने उस कुटिया में आये जहाँ फूल बाबू रहते थे।

फूल बाबू ने मन-ही-मन सोचा होगा—चलो, खायेगा-पियेगा, इधर-उधर की बातें करेगा, घूम-घामकर आश्रम की चीज-वस्त देखेगा। मन हलका होगा। तब अपने सब बात बता देगा।

बता ही चुका हूँ कि फूल बाबू का सुभाव बड़ा मीठा था, उनकी बातों से मधु टपकती थी। उनकी आँखों से मानो दूध की ठण्डी धार फुहारा बनकर निकलती थी। देखने में भी खासा खूबसूरत थे।

अपनी कुटिया में जब वह पहुँचे तो दिन का एगारह बज चुका था। वह काठ के बकस में सूतों की लच्छियाँ सँभालने लगे। मैं चारों ओर देख रहा था। यह कुटिया एक बहुत बड़े और लम्बे फूसघर का छोटा-सा कमरा था। बाँस के झाझनों की पतली दीवारें एक कमरे को दूसरे कमरे से अलग किये हुए थीं। खंभे सीसम के थे। बरेड़ी में लम्बा, पतले साखू का इस्तेमाल किया गया था। ऊपर छप्पर घने चौकोर फूसों से छवाये गये थे। काटकर झाझन की दीवार में चौकोर खिड़कियाँ बनाई हुई थीं। बरंडे की बाँस की बातियों से बनी बढ़ियाँ जाफरी से बीच-बीच में घेर दिया गया था। बाँस की ऐसी कारीगरी इससे पहले मैंने कभी नहीं देखी थी। फूल बाबू के कमरे में समान मामूली था। बस एक तखतपोस। लकड़ी का एक बकसा। सामने दो-दो ईंटें डालकर लकड़ी का तखत रखा था, उस पर दस-बारह मोटी-मझोल पोथियाँ रक्खी हुई थीं। एक कोने में मिट्टी का घड़ा पानी से भरा रक्खा हुआ था। छोटा-सा कलगइयाँ लोटा भी। छोरों पर डोरी बाँधकर अरगनी के नाम पर बाँस का लट्ठा लटक रहा था। उस पर पचहत्थी खद्दर और छोटा-सा अँगोछा सूख रहा था। शीशा में मढ़े हुए तीन फोटो और लटक रहे थे। उनकी ओर आँख गड़ाये मुझे पाया तो फूल बाबू अपनी गरदन सहलाते हुए बोले—महात्मा गाँधी हैं।

महातमा जी का नाम सुना तो मैंने जरूर था और सुना भी था ऐसे कि सरकार बहादुर से अगर कोई लोहा ले सकता है तो गाँधी महतमा ही ले सकते हैं। अँग्रेज बहादुर की उन्होंने नाक में कौड़ी बाँध दी है। सरकार हैरान-हैरान है। गाँधी को पकड़ना और पानी में आग लगाना दोनों मुश्किल है। महतमा जी को अकसर लोग जहलखाना में डाल देते हैं लेकिन, भैया, अगले ही रोज उनको दूसरी जगह खड़ाऊँ पहनकर टहलते हुए देखकर सरकार बहादुर के पेट का पानी हिलने लगता है। बम्बई में पकड़कर बन्द किया तो महतमा जी कलकत्ते में दिखाई पड़े। अहमदाबाद में पकड़ा तो मद्रास में मीटिंग करते नजर आये। मनियार चाचा के मुंह से सुना था कि गाँधी महतमा को पूना के जेलर ने नाराज होकर कोल्हू में जोत दिया, दो मन सरसों पेरने को कहा। जेलर ने सोचा होगा कि दुबला-पतला कमजोर आदमी है, कोल्हू में क्या बहेगा, माफीनामा लिखकर बैठ जायगा! मगर भैया, मनियार चाचा ने बतलाया कि गाँधी महतमा के हाथ

लगते ही आपे आप दोनों मन सरसों करुआ तेल में वदल गया। मनियार चाचा वतलाते थे—काला पहाड़ जैसे दो वड़े-वड़े वैताल गांधी महतमा के दासोदास वनकर साथ चलते हैं, उन्हीं वैतालों का यह खेल था···इस तरह की अजीव वातों के साथ गाँधी महतमा का नाम जव हमारे जिला-जवार में फैला तव मेरे कान में इनका नाम पड़ा। मैं सोचता था कि कैसे होंगे गाँधी महतमा। मगर समझ में कुछ आता नहीं था। सोच-सोचकर रह जाता था। सो, आज फोटो में देखा तो मन को तसल्ली हुई। सिर के वाल उठे हुए। कान छोटे-छोटे और उठे हुए। कपार वड़ा। चेहरा नीचे की ओर होता गया है। अरे, यही महतमा गाँधी हैं यह तो विलकुल हमारे चुम्मन वावा की तरह लगते हैं।

दूसरा फोटो रोव-दाव का था। वढ़िया अंगा पहिने, सिर पर पगड़ी डाले। वड़ी-वड़ी मूंछें। तेज तर्रार आँखें।—यह कौन हैं ? मैंने फूल वावू से पूछा।

जवाव मिला लोकमान तिलक।

तो यह भी काँगरेस के भारी अपसर हैं ?

नहीं, हैं नहीं, इनका सुरगवास हो चुका है लेकिन वहुत वड़े लीडर थे।

तीसरे फोटो की ओर हाथ दिखलाकर फूल वावू ने कहा—और यह तो अपने यहाँ के राजिन्दरवावू हैं।

अपने यहाँ के, दरभंगा के ?

फूल वावू ने हंसकर कहा—दुत-पागल कहीं का ! अपने यहाँ का मतलव सिरिफ अपना ही गांव और जिला नहीं होता है। इसका मतलव होता है अपना परांत, अपनी कमिशनरी, अपना जिला, अपना इलाका, अपना देश। इस भारत मुलुक के छोटे-वड़े नौ सूवे हैं। हम लोग जहाँ रहते हैं वह सूवा विहार कहलाता है। इसके अन्दर उड़ीसा भी सामिल है। छोटा नागपुर भी सामिल है। भोजपुरी इलाका सामिल है। अपना तिरहुत है। मगह का इलाका है। राजिन्दर वावू छपरा के रहने वाले हैं और गांधी महतमा के वहुत वड़े चेला हैं। आला दरजे के वकील थे। वड़ी अच्छी प्रैकटीस थी। सैंकड़ों मोकिल थे। खानदानी रोव-दाव था। जमींदारी ठाट-वाट था। सव छोड़-छाड़कर गांधी महतमा के पीछे फकीर हो गये हैं।

फूल वावू ऐसे तो कम वोलते थे मगर कभी-कभी जैसे वोतल का काग खुल जाता है उसी तरह उनके मुंह का भी काग खुल जाता और तव भैया उनसे दुनियाँ-भर की अल्लम-गल्लम सुन लो। ऐसे मौके पर कुछ और पूछना आग में घी डालना होता था। इसीलिए मैं चुप रहा।

वह वोलते ही रहे कि इतने में घण्टी वजी। मैं चौंक गया। फूल वावू ने कहा—खाने का वुलावा है। 'विझनो' समझो। हमारे मलिकान में भोज-भात होता ही रहता था। टोल-पड़ोस और कभी-कभी समूचे गांव के वाभन देवता नोता खाने आते थे। वूढ़े, वच्चे, जवान सव आ चुके होते तो कोई घरवैया आकर जोरों

से यह आवाज लगाता कि 'विझओ हो, विझओ हो।' सो विझओ का मतलब मुझे मालूम था लेकिन खाने के बुलावा के लिए घण्टी बजाकर यह विझओ करना मेरे लिए बिल्कुल नई बात थी।

मालिक ने कहा—चल साथ खायेंगे। यहाँ ऊँच-नीच का झंझट नहीं है। गाँधी महतमा को अपना गुरु मानने वाले आश्रम के लोग न तो छूत-छात मानते हैं न ऊँच-नीच।

सच बतलाता हूँ भैया, फूल बाबू की यह बात सुनकर मुझे बड़ा अचंभा हुआ, भीतर-भीतर हँसी आयी। ऊँच-नीच का भेद सदा से चला आया है, सदा रहेगा। चार आदमियों के मानने से क्या आता-जाता है।

फूल बाबू ने कहा कि लोटा ले ले और जल्दी चल।

आसरम का रसोईघर दूसरे छोर पर पिछवारे की ओर था। दो छप्परों वाला छोटा-सा घर। झाझन का टाट। सीसम के दो खम्भे। बड़ेरी पर टिके हुए छप्पर, पीछे की ओर धुआँ निकालने के लिए जाफरीदार जँगला था। खाने के लिए एक छप्पर वाली लम्बी एक चारी थी। ताड़ के पत्तों की छोटी-छोटी आसनियाँ वहाँ बिछी हुई थीं एक ही कतार में मालिक जाकर बैठ गये। और भी दस-बारह बाबू लोग थे। अपने जैसा मैं अकेला था। कई लोगों ने हमारे बाबू से पूछा—बुलाने आया है? फूल बाबू, उस बेचारी को आप नाहक सता रहे हैं!

मैं समझ गया। यह इशारा बाबू लोगों का किसके तरफ था। सो समझे भैया? यह इशारा था फूल बाबू की जनाना की तरफ। उन्हें फूल बाबू ने मायके में छोड़ रक्खा था। खुद आसरम में बैरागी जीवन बिता रहे थे।

फूल बाबू ने कहा उन लोगों से—आप लोग यों ही अललटप्पू मारते हैं। यह मेरे घर से नहीं फूफी के यहाँ से आया है। उन्हीं का बहिया है।

एक दूसरे बाबू ने हँसते हुए कहा—तो आपके लिए कोई दूसरी लड़की ठीक की जा रही है?

इस पर सभी बाबू-भैया खिल-खिलाकर हँस पड़े।

सामने पुरैन का पत्ता परोसा जा चुका था। पानी भर-भर के गिलासें रक्खी जा चुकी थीं। बाबाजी महाराज अब भात परोस रहे थे। मैंने देखा, उजले धुले खद्दर के कपड़े पहने हुए चिक्कन-चुनमुन चेहरा-मोहरा वाले उन बाबू लोगों के सामने रसोइया कराकुल जैसा लग रहा था। पतली-पतली टाँग। लम्बी देह। धँसी आँखें! सूखा चेहरा। कमर में उनने मैली धोती लपेट रक्खी थी। जनेऊ भी मैला था। छाती के हाड़ दिखाई दे रहे थे।

मैंने सोचा मुलुक से अंग्रेज बहादुर चला जाएगा, फिर यही बाबू-भैया लोग अपसर बनेंगे और तब इस बाबाजी महाराज का भी उद्धार हो जायगा। इसके हाड़ों पर मांस चढ़ेगा। चेहरे पर चिकनई आवेगी। बूढ़ा-सूगा हो जाने पर पढ़-गुन तो यह क्या सकेगा मगर बाकी आराम-सुभिस्ता इस रसोइया को भी मिलेगा। सोराज होने पर क्या होगा? यह बात मैंने एक बार पटना में

महेन वावू से पूछा था। उन्होंने क्या जवाव दिया था भैया, क्या वताऊँ? महेन वावू ने यही कहा था कि सोराज होने पर सवके दिन लौटेंगे, सवका भाग चमकेगा। हमारा भी, तुम्हारा भी।

पत्तल में भात परोसा गया। पीतल की कटोरी में अरहर की दाल। विना मिरचाई की तरकारी थी आलू की। एक-एक फाँक प्याज मिला था।

वावू लोग खाते समय वोलते-वतियाते रहे। मेरा तो मिजाज ही ठीक नहीं था, किसी तरह दस कौर मार लिए और हाथ रोककर वैठ रहा। देखा, किसी ने पत्तल में जूठा नहीं छोड़ा है। उठते समय पत्तल को लपेटकर सव वाहर निकले और उसे एक वड़ी टोकरी में डाल दिया। हाथ-मुंह धोने के लिए कोई खास जगह नहीं थी, खुला मैदान था।

खाकर फूल वावू और मैं उसी कमरे में आए। फूल वावू विना विस्तर के तखतपोश पर लेट गये और मुझे वैठने को कहा।

फूल वावू को सुपारी का कतरा और छोटी इलाइची खाने का शौक था लेकिन इस आश्रम में आकर तो उन्होंने यह भी छोड़ दिया था। इधर-उधर आँख मारकर कुटिया में मैंने देखा जूते भी नहीं पाये, हाँ खड़ाऊँ जरूर थे। तव मुझे फूल वावू की पटना वाली पहली जिनगी याद आई। किसिम-किसिम की वनियाइन, किसिम-किसिम का कमीज-कुरता, पाँच-पाँच छै-छै कोट, तीन-तीन जोड़ा जूता, चार जोड़ी धोती, दो तौलिया, दो छोटे अँगोछे, दूध-सी धुली हुई शानदार मसहरी, विस्तरे में गयावाला सफेद कंवल, खूवसूरत शतरंजी, तोसक, उलेंच, तीन गो तकिया। हमारे फूल वावू राजा की तरह रहते थे, अव फकीर हो गये हैं। मन में भारी कचोट हुआ मगर साथ-साथ सर्धा भी वढ़ने लगी थी।

थोड़ी देर वाद फूल वावू ने मुझसे पूछा कि क्यों आया है।

फिर तो मैंने एक-एक करके सारी वात उन्हें वता दी। अन्त में पूछा—छोटे मालिक ने थाना में रिपोर्ट करवायी है, मुझ पर चोरी का इलजाम लगाया है। दरोगा तो नहीं मानेगा। या तो घूस लेगा या फिर वात को आगे वढ़ा देगा। इससे मेरा निस्तार कैसे होगा?

इतनी सारी वात सुन लेने पर भी फूल वावू के मुंह से एक आखर नहीं फूटा। हमारी सारी वात को वह पी गये।

मैंने सोचा कि छोटे मालिक इनके फूफा लगते हैं, यह अगर सिफारिस कर देंगे तो छोटे मालिक का मन शायद नरम हो जायगा। शायद थाना में जो वात मालिक ने रिपोर्ट करवाई है वह खतम हो जाय। फूल वावू पुर्जा लिखकर मुझे दे देंगे या किसी दूसरे आदमी को मालिक के पास भेजेंगे? कैसा भी हो, काम तो मेरा हो ही जायगा।

मगर फूल वावू तो अगम कुआँ वन गये, जिसमें झाँकने से भी डर लगता है।

मैंने सोचा—आज वावू सोच-साचकर कोई वात करेंगे, सुवह जव मैं

जाने लगूँगा तो पुरजी जरूर देंगे। मैंने वहुत-सी वातें सोच रखी थीं। अगर फूल वावू चाहेंगे तो मैं सात पुश्त का अपना डीह छोड़कर उन्हीं की गुलामी करूँगा। फूल वावू का मन होगा तो रेवनी का गौना चटपट कराकर अपनी माँ के साथ मैं पटना चला जाऊँगा, वहाँ रिक्सा खींचकर या दीघाघाट पर जहाज का माल ढोकर—माँ की और अपनी जिन्दगी गुदस्त करूँगा। नहीं, अगर फूल वावू की यही राय होगी कि कटिहार या सिलीगुड़ी, जलपाईगुड़ी जाकर चटकल में मजूरी करूँ तो वैसा भी करूँगा ही; इस तरह वहुत-सी वातें सोचकर मैं आसरम पहुँचा था। मुझे यह भी भरोसा था कि फूल वावू जव गाँधी महतमा के चेला वन गये हैं तो हमारे मालिक को इस जोर-जुलुम के लिए दो वात वह जरूर कहेंगे। गाँधी महतमा न वड़े लाट से डरते हैं न छोटे लाट से, न सरकार से न अमला से। गरीवों का पच्छ लेते हैं। फूल वावू उन्हीं गाँधी महतमा के चेला होकर मेरे लिए क्या इतना भी नहीं करेंगे कि अपने फूफा-फूफी को जरा समझा दें?

उस रोज फिर फुल वावू ने मेरे सामने मुँह नहीं खोला। मैं वड़ी देर तक सोता रहा। जेठ का महीना था। आसरम एक वड़े कलमवाग के वीचों-वीच होने से ठंडा था। कुटिया के वाहर वरंडे में एक चटाई पड़ी थी, टूटी-फूटी-सी। उस पर मैं चित्त होकर लेटा सो तभी नींद टूटी जव गोसैयाँ लुक-झुकरा रहा था, शाम होने ही वाली थी।

आँख मलते-मलते उठा और फूल वावू की कुटिया के नजदीक पहुँचा। साँकल चढ़ी थी, दोनों पट वन्द थे। फिर मैं कमरा खोलकर अन्दर नहीं गया। इधर-उधर टहलता रहा।

इतने में फिर घंटी वजी।

यह क्या है?

देखा कि एक चौमुहाँ दालान में वावू-भैया लोग इकट्ठे हो रहे हैं। मैं भी उधर ही आया।

दालान वड़ा नहीं था। वल्कि उसे दालान न कहकर मंडप कहो तो अच्छा। चौकोना मण्डप, कमर-भर ऊँचा। ऊपर चढ़ने के लिए चार ईंटें रखकर सादी सीढ़ियाँ वनी हुई थीं। खजूर के पत्तों की वनी वड़ी-सी चटाई विछी हुई थी, हँसली की शकल में लोग वैठ गये। वावू भैया थे। हमारी छोटी मलिकाइन-जैसा चेहरा-मोहरा वाली एक जनानी भी थी। पश्छिम की ओर कम्वल की एक चितकवरी आसनी रक्खी थी। उस पर अधेड़ उमर वाले धोती-धारी एक वावू वैठ गये। इसके वाद सव एक आवाज में शिलोक पढ़ने लगे। मेरी हिम्मत नहीं हुई कि मंडप में जाकर वैठूँ। नीचे ही अलग खड़ा रहा। थोड़ी देर वाद जो जनानी थी उसने भजन गाना शुरू किया। वाकी वावू-भैया उसके गाए पदों को दुहराने लगे।

जास्ती कुछ न समझने पर भी इतना तो मैं समझ ही गया कि गाँधी महतमा के पूजा-पाट का यही ढङ्ग है। हमारे फूल वावू भी मगन होकर भजन गा रहे थे।

उमेद थी कि रात को, खाने के वाद फूल वावू कुछ वोलेंगे। लेकिन नहीं बोले, तो कछमछाकर मगर तनिक नरमी से मैंने पूछा—सरकार, हमारा निस्तार कैसे होगा।

इस पर थोड़ी देर गुम रहकर वावू वोले—मुझे तो अव गाँव-घर से भी कोई तालुक नहीं रहा। माँ और वावूजी भी अव मुझसे हार मान वैठे हैं। पहले चिट्ठी लिखकर वात-विचार पूछते थे। जव मेरी ओर से लगातार उन्होंने उदासी देखी तो अव उस तरह की वात चिट्ठी में नहीं लिखते हैं। पीसी के यहाँ दो साल से मैं नहीं गया हूँ। पीसा से भेंट-मुलाकात किये तीन वरस हो गये हैं। वालचन, अव तू ही वता कि ऐसी हालत में मेरी किसी वात का तुम्हारे मालिक पर कितना असर पड़ेगा?

अन्हेरी रात थी। दूसरी कुटियों से खाँसने-खखारने की आवाज उठती थी तो पहली रात का हलका सन्नाटा फट जाता था। आस-पास की वस्तियों से कुत्तों के भूकने की आवाज साफ-साफ आ रही थी। रात अधिक नहीं, डेढ़ पहर वीती होगी। मगर आसरम में रहने वालों के लिए दिन को सोना मना था। नींद की झोंक से गर्मी के दिनों में आसरम के वावू भैया कैसे मोरचा लेते थे? जानते हो भैया।

होता ऐसा था कि कोई-कोई सोराजी वावू चरखा चलाकर दुपहरिया खेपते थे। कोई वावू लम्वे वरंडे पर टहल-घूमकर अपनी नींद को पचाते थे। कोई-कोई वावू दो-तीन जने मिलकर गीता या रामाएन ले वैठते थे। एक गो वावू साहव ऐसे थे कि छोटी-छोटी सीसी में से दवाई का सरिसवा दाना निकालते और गिन-गिनकर उसी सीसी में फिर उन दानों को रखते जाते। यह भी आलस-ऊँघ को पचाने का एक तरीका था।

मतलव यह है कि दिन-भर पलकों पर आसरम में कड़ा पहरा रहता था। इसी से साँझ सकाल हो खा-पी चुकने के वाद भैया लोग अपने-अपने विस्तर पर ढेर हो जाते थे। विहान को, विलकुल तड़के घंटी वजती थी। उठना लाजमी होता था।

मैंने सोचा—अभी मालिक को सोने देना चाहिए, भोर होने पर वाकी वात हो जायगी। मगर फूल वावू ने यह कहकर तभी वात खतम कर दी कि तुम्हारा तो आपस का झगड़ा है, वहिया-महतो का। इसका निवटारा भी तुम्हीं दोनों कर लोगे। इसमें मेरी कोई जरूरत नहीं। जा, जाकर अपने मालिक के ही पैर पकड़। वह तुझे माफ कर देंगे।

फूल वावू से मुझे इस वात की उमेद नहीं थी। भरोसा था कि वह मेरे वचाव का कोई न कोई रास्ता जरूर निकालेंगे।

कैसे धोखे में मैं पड़ा हुआ था! मेरा सारा मोह क्षण-भर में फट गया। साफ-साफ दीखने लगा कि वावू-भैया लोग वहीं तक हमारा पछ लेंगे जहाँ तक उनका अपना मतलव रहेगा। देखो न, फूल वावू एक छोटी-सी पुर्जी अपने

फूफा के नाम मुझे दे देते तो इसमें उनके महतमापन का क्या विगड़ता। अँधेरा था, सूझ नहीं रहा था। लेकिन मुझे साफ-साफ दिखाई पड़ा कि फूल वावू का माथा भारी हो उठा है और तकिए पर एक ओर लुढ़क गया है। अरे भैया, फूफा और सर वेटा का रिस्ता वाप-वेटा का रिस्ता समझो। इस रिस्ते में उस छोटी-सी पुरजी से खरोच न पड़ जाती! सोराजी हो गए थे तो क्या, थे तो आखिर वावू-भैया ही न! गरीव-गुरवा का दुःख ये लोग क्या जानें।

सच जानो भैया, उस वखत मेरे मन यह वात वैठ गयी कि जैसे अंग्रेज वहादुर से सोराज लेने के लिए वावू भैया लोग एक हो रहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा रहे हैं उसी तरह जन-वनिहार, कुली-मजदूर और वहिया-खवास लोगों को अपने हक के लिए वावू-भैया से लड़ना पड़ेगा।

फूल वावू से रत्ती-भर भरोसा नहीं रहा। थोड़ी देर अँधेरे में मैं वैठा रहा, फिर वाहर जाकर वरंडे पर उसी टूटी चटाई की ओर वढ़ा। अंधेरा था, निपट अँधेरा। पैर से टटोलकर चटाई मिली और उस पर लेट गया उसके वाद कव नींद आ गई और कैसे भोर हो गया पता नहीं।

आँख मलकर उठा और फूल वावू के कमरे की ओर वढ़ा, तो देखा जंजीर चढ़ी हुई है, किवाड़ वन्द था। वावू नहाने गए होंगे। मैं भी पोखर की ओर वढ़ा।

यहाँ जरा आसरम के वारे में तुम्हें वता दूँ।

यह आसरम दस वीघा जमीन के हाते में फैला हुआ था। साकीन वरहमपुरा, थाना लहेरिया सराय, जिला दरभङ्गा। यहाँ के वहुत वड़े जमींदार वावू शुभंकर ठाकुर भुंइहार खानदान के थे। अच्छे जमींदारों में इनकी गिनती थी। अस्सी-नव्वे हजार की मालगुजारी असूल होती थी। डेढ़ हजार वीघा धनहर खेत अपने जोत में था। वीजू और कलमी आमों के वाग पचीसों वीघा तक फैले हुए थे। करजान था, खढ़ोर थी। गाय-वैल, घोड़ा, भैंस के चरने लायक पचासों वीघा जङ्गल था। आठ-दस छोटे-वड़े पोखर थे। गुमाश्ता, वराहिल-अमला-फैला, नौकर-चाकर, देवानजी-मुनशीजी सव थे।

वूढ़ा मालिक इलाका-भर में राजा वावू कहलाते थे। दो वेटे थे। एक हीराजी, दूसरे मानिक जी। हीराजी का दूसरा नाम था किशुन वल्लभ नारायण ठाकुर। मानिक वावू का नाम था राधावल्लभ नारायण ठाकुर।

मानिक जी पढ़ने में वड़े तेज थे। कलकत्ते में रहकर वी० ए० तक पढ़े थे। उसके वाद गाँधी जी की लहर में हमारे फूल वावू की तरह मानिक जी भी वह गए। जज-वालिस्टर न वनकर अपने जिला के लीडर वन गए। अपना दरवारी नाम छोड़कर वह सीधे राधा वावू कहलाते थे। वड़े पक्के कांग्रेसी थे। ऐसे पक्के कि वाप और वड़े भाई से झगड़ा कर आसरम के लिए इतना वड़ा अहाता राधा वावू ने दफान लिया था। वही इस आसरम के सर्वेसर्वा थे। उनके पीछे सोराजी वावुओं की छोटी-सी पलटन थी। शुरू-शुरू में साहखरची ने इस जिले में गाँधी

महतमा के कामों को आगे वढ़ाने में काफी मदद पहुँचाई। उसके वाद वाप और वड़े भाई ने इस्टेट से एक पैसा भी देना इनकार कर दिया। इससे नाराज होकर राधा वावू ने घर वालों से असहयोग कर लिया।

असहयोग क्या होता है भैया ?

गाँधी महतमा ने यह तरीका निकाला था कि दुश्मन अगर ताकतवर हो तो तुम लाठी से उसका मुकावला नहीं कर सकते, हाँ, उससे वोल-चाल वन्द कर दो, उसके किसी काम में मदद न पहुँचाओ। दुश्मन दच्छिन की ओर मुँह करके खड़ा रहे तो तुम पीठ फेरकर अपना मुँह उत्तर तरफ कर लो। सहयोग माने साथ देना, साथ जुड़ जाना।

सो, भैया राधा वावू ने अपने घरवालों से असहयोग कर लिया था। यहाँ तक कि वाल-वच्चे ननिहाल में रहते थे। जनानी उनकी नैहर में रहने लगी। भगवान के परताप से ससुर भी उनके वहुत वड़े जमींदार थे। और भैया, राजा अपने वाल-वच्चों की शादी करता है तो राजा के ही खानदान में करता है न ? राधा वावू को नगद पचास हजार तिलक चढ़ा था। हाथी, घोड़ा, पालकी, खवास, जमीन-जजात दहेज में मिला था। राधा वावू जव सोराजी वने तो उनके वीवी-वच्चे को संभालने में ससुराल की दौलत ने वड़ी मदद पहुँचाई। जिले में दो-तीन वावू भैया ने अपनी-अपनी जनानी को परदे से वाहर निकाला था। उन्हीं में से एक थे राधा वावू। वूढ़े मालिक ने अपनी पतोहु की वेपर्दगी के वारे में जव सुना तो उनका दिमाग पथरा गया, आँख चुन्हिया गयी। उन्होंने राधा वावू को कहलवा दिया कि ड्योढ़ी के अन्दर पैर न रखे। वाप ही ने असहयोग की शुरुआत की थी, वेटे ने असहयोग की हद कर दी। राधा वावू की माँ मरी तव भी उन्होंने घर वालों का साथ नहीं दिया। लोग कहते थे कि राधा वावू अकरी हो गए हैं। नास्तिक हो गए हैं। माँ के मरने पर न वाल कटाये न अशौच माना। आसरम का सारा काम-काज पहले की तरह करते रहे। जव उनकी माँ मरी थीं उन दिनों थाना मधेपुर-फुलपरास की ओर जोरों की वाढ़ आयी हुई थी। लोग-वाग, माल-मवेशी सवका वुरा हाल था। राधा वावू चार ठो डेंगी लेकर उस इलाके में अपने साथियों के साथ रिलीफ का काम कर रहे थे।

शाम को, मंडप में अलग आसनी पर वैठकर जो वावू पूजा-पाठ कर रहे थे और पीछे मगन हो-होकर भजन गा रहे थे वही थे राधा वावू।

पोखर की ओर जाते वखत उन्हीं राधा वावू से मेरी भेंट हो गयी। रुककर उन्होंने पूछा—धानुक है कि ग्वाला ?

ग्वाला हूँ सरकार ? मैं वोला।

वह चार कदम आगे चले गए। मैं गर्दन टेढ़ी करके उनकी ओर देखता रहा। एकाएक रुककर राधा वावू ने पीछे से मेरी ओर देखा और कहा—आसरम में रहेगा ? तुझे अपने साथ रखूँगा, कुछ पढ़-लिख भी जायगा। दस-पाँच रुपये ऊपर से दे दूँगा, घर भेज दिया करना।

मैंने कुछ कहा नहीं, गुमसुम रहा। उँगलियाँ से उँगलियाँ फोड़ने की कोशिश कर रहा था।

राधा वावू विल्कुल नजदीक आ गए। मेरे कँधे पर अपना हाथ रखा तो वड़ा अच्छा लगा। नहाकर आए थे, हथेयी हेमाल हो रही थी! मैं सोकर उठा था। रात-भर की गर्मी वदन पर तैर रही थी। कँधे पर उनका ठण्डा हाथ मुझे वड़ा अच्छा लग रहा था! एक नजर उनकी ओर देखकर अपनी पपनी फिर मैंने नीचे गिरा ली।

क्या वात है?—वावू वोले।

मैं फिर चुप रहा।

अव की और करीव आकर उन्होंने मेरी ठुड्ढी उठायी। शरम और झिझक-भरी मेरी आँखों में अपनी आँखें डालकर वह वोले—नहीं रहेगा आसरम में?

सिर हिलाकर मैंने मंजूरी वता दी तो उन्होंने छोड़ दिया। फिर कहा—जा नहा आ; मैं फूल वावू से वातें कर लूंगा।

मैं पोखर के भिड़े पर पहुंचा। दो पुश्त पुराना पोखर था। हरियर कचोर पानी। चारों ओर सीमिट का पक्का घाट। भिडे पर तीन तरफ कलमी आमों के पेड़, एक ओर सीसम की सुन्दर कतारें देखकर कुछ देर तक वहाँ मन गड़ा रहा।

भिडे से नीचे उतरकर खेत में दीसा फिरा, पोखर के एक कोने में जहाँ पैरों के निशान वने हुए थे आकर छोंच किया।

पक्के घाट पर आकर हाथ मटिआये। आम का पल्ली तोड़कर दतवन की, उसे चीरकर जिभिया वनायी और जीभ को साफ किया।

कपड़े मेरे पास मामूली थे। आठ हाथ की मैली पुरानी धोती थी। वदन पर वनियाइन, दो हाथ का गमछा। धोती फेरकर पहनने के लिए रख ली। डराँडोर के सहारे गमछा को कमर से लपेटकर पोखर में नहाने उतरा। कहावत है 'आन गामक पोखरि अपना गामक गाछी' याने अपने गाँव का वाग और दूसरे गाँव का पोखर डरावना होता है। मुझे भी पानी में जाते हुए कुछ डर लगा। मगर मैं तैरना तो जानता ही था, डर काहे का? हाँ, उन वड़े-वड़े पोखरों या झीलों से जरूर डरना चाहिए, जिनमें गोह, वोंच, घड़ियाल, सौंस या वड़े-वड़े रेहु-भून्ना और भाकुर माछ हुआ करते हैं। यह गाँव नदी के किनारे न होने से पोखर में गोह या घड़ियाल हो ही नहीं सकता था, सो वेफिकर होकर वड़ी देर तक पानी में वोहियाता रहा। तैरना और वोहियाना दो अलग वातें हैं भैया! हाथ-पैर मारते जाओ तो तैरना हुआ। ऐसा अक्सर अथाह पानी में किया जाता है। गरमी के दिनों में तरावट का मजा लेने के लिए लोग देर तक थाह पानी में अपने को डाले रहते हैं; समूचा धड़ पानी के अन्दर होता है, सिर ऊपर रहता है। इसी को वोहियाना कहते हैं; समझा भैया!

मन जव तिरपित हो गया, देह जव हेमाल हो गया, तव वाहर निकला। जल्दी-जल्दी धोती पहनकर गमछा फींचा और ऊपर आये।

मुझे तो हो रहा था कि आसरम में रह जाऊँ मगर माँ और बहन को उस हालत में छोड़ देना बुरा लग रहा था। दूसरी बात यह भी थी कि छोटे मालिक ने थाने में चोरी की रिपोर्ट कर दिया था। मुझे लगता था कि चार-छः महीने जेल में सज़ा काटनी पड़ेगी।

नहाने से देह तो ठंडा हुआ। लेकिन मन को फिकिर फिर गरमाने लगी। भारी पैरों से मैं आसरम लौटा और फूल बाबू के कमरे के अन्दर आया। वह पिनसिल से कुछ लिख रहे थे। मुझे हूँकारी भरकर इशारा किया कि पास आकर बैठ जा।

मैं बैठ गया। लिखाई खतम करके बोले—राधा बाबू मुझे तेरे बारे में बतला रहे थे। वह तुझे अपने पास रखना चाहते हैं। क्यों नहीं रह जाता है?

मेरी गर्दन तो फँसी हुई है—मैंने कहा—जेहल होगा कि जुर्माना पता नहीं।

बाबू बोले—कुछ नहीं होगा, तू राधा बाबू के पास रह जा। सारी बात ठीक कर ली जायगी।

मुझे बड़ा अचरज हुआ, कैसे सारी बात ठीक कर ली जायगी। कैसे कोई छोटे मालिक पर अंकुस देगा।

फिर मन-ही-मन मैंने यह तय किया कि हो न हो राधा बाबू ने फूल बाबू से सारी बात न सही थोड़ी बात तो जरूरी मालूम कर ली है और वही कोई ब्योंत लगायेंगे। नहीं तो फूल बाबू से क्या होगा? यह तो अपने ही भारी दब्बू हैं।

बात भी यही थी भैया! राधा बाबू नामी सोराजी थे। हमारे यहाँ के बड़े मालिक से राधा बाबू का कोई रिस्ता भी लगता था। उन्होंने एक खत तो बड़े मालिक के लड़के के नाम से भेजा और दूसरा खत दरोगा जी के नाम। दरोगा जी एक बार एस० पी० की कड़ी निगाह से राधा बाबू की मेहरबानी से बचे थे और तब से दरोगा जी के दिल में राधा बाबू के लिए बड़ी इज्जत पैदा हुई। कहने का मतलब यह है कि मेरा मामला खतम हो गया। सजा-वजा नहीं हुई, न जरिमाना हुआ। बात जहाँ की तहाँ दब गयी। छोटे मालिक इसके बाद गाँव से चले गये।

छोटे मालिक की यह करतूत छिपी न रह सकी। हमारी बहन पर जो उन्होंने हमला किया था यह बात धीरे-धीरे समूचे गाँव में फैल गयी। बाबू भैया लोग अन्दर-अन्दर एक-दूसरे पर शह चलाते रहते हैं। बिरादरी की दुश्मनी बड़ी खतरनाक होती है। हमारे मालिकों में भी आपस का दाँव-पेंच चलता था। एक-दूसरे की कमजोरी का फायदा उठाने की कोशिश में बाबू भैया अपनी सारी अकिल लगा देते थे। कहते हैं कि सतरंज खेलने वाले को आगे की दस-दस चाल सोचकर रख देनी पड़ती है। बाबू भैया आपस में एक-दूसरे को मात करने के लिए सतरंज की ही भाँति शह पर शह सोचते रहते हैं।

सो छोटे मालिक पर जब मलिकान के छोटे-बड़े बाबू लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगे तो तत्काल गाँव से टल जाने में ही अपनी भलाई मालूम हुई। रेवनी पर, मेरी माँ पर और मुझ पर जो खीझ थी उसे उन्होंने जुगताकर मन की किसी गाँठ में बाँध लिया और कलकत्ते की ओर चले गए।

मैं राधा बाबू के पास रहने लगा। सबसे पहला काम उन्होंने जो किया सो यही कि मेरे लिए नीले रंग का नेकर सिलवा दिया, खाकी रंग की हाफ कमीज और सफेद टोपी। सब खद्दर का। पहनकर जब मैं तैयार हुआ तो कहा—कोई पूछे तो यह मत कहना कि आसरम का नौकर हूँ।

तो क्या कहूँगा?

कहना कि कांग्रेस का भोलंटियर हूँ। समझा।

मैंने सिर हिला दिया।

अब फूल बाबू से मेरा कोई लाग-भाग नहीं रहा। राधा बाबू ही मेरे मालिक थे।

मेरी उमर सत्रह पार कर रही थी। मशें भींग रही थीं। देखने में खूबसूरत नहीं था तो बदसूरत भी नहीं था। बता ही चुका हूँ मेरे बाप-दादे अच्छी काठी के मजबूत आदमी थे। चौड़ी छाती, बड़ा कपार, भारी चेहरा, तगड़ी डील। सोटे हुए हाथ-पैर वाले। मेरी माँ भी ठिगनी या नाटे कद की औरत नहीं थीं। कुछ साँवली जरूर रहीं मुदा चेहरा-मोहरा, साँचा-ढाँचा बड़ा अच्छा था। थोड़ी ही उमर का था मैं, तभी बाबू मर गया। घर पर मुसीबत का पहाड़ गिर पड़ने से हमारी गिरस्ती चौपट हो गयी थी। दादी और माँ ने न जाने कितनी कठिनाई से हम दोनों भाई-बहनों को पाल-पोसकर चेतन बनाया था। न जाने कै घड़ा आँसू से हमारा बचपन सींचा गया था।

राधा बाबू आसरम के महंथ थे। बहुत पढ़े-लिखे थे। भागलपुर और कलकत्ता में रहकर अपनी पढ़ाई उन्होंने पूरी की थी। पूरी क्या की थी, पार पहुँचते-पहुँचते किनारा छोड़ दिया था। थोड़ा-सा और पढ़ते तो—परफेसर हो जाते। धन-दौलत की तो कोई कमी थी नहीं, बिलेंत भी जा सकते थे और बलिस्टर भी हो सकते थे। लेकिन बीच में ही दिमाग बदल गया। कहते हैं, बूढ़ा मालिक राधा बाबू से बड़ी आस रखते थे। उनका खयाल था कि मानिकजी चाहे कलट्टर बनें, चाहें एस० डी० ओ० इससे छोटा हाकिम भला क्या होंगे। फिर बूढ़ा मालिक सपनाते रहे होंगे कि मानिक जब कलट्टर बनकर अपने जिला में आवेंगे तो इस खानदान का रोबदाब कितना बढ़ जायगा। जिला-भर के बड़े-बड़े आदमी मानिकजी के सामने हाथ जोड़े खड़े होंगे। बड़े-बड़े बाबू-बबुआन मानिकजी से हाथ मिलाने में अपना अहोभाग्य समझेंगे। खरोड़े खानदान के भारी-भारी राजा-राजकुमार आदर और जतन से मानिक जी को भेंट-सौगात भेजेंगे। महाराज खुद भी मानिकजी का आदर-सम्मान करेंगे।

यह सब सोचते-सोचते राधा बाबू के बाप बूढ़ा मालिक चौधरी शुभंकर ठाकुर

इतना मगन हो जाते कि कलट्टर की कलट्टरी भूलकर उनके लिए बपौती-विरासत-जैसी दिखाई देने लगती थी।

तनिक सोचो भैया कि राधा बाबू ने एकाएक पढ़ाई छोड़कर अपने बूढ़े बाप के आस-भरोस पर कितना भारी बज्जर गिराया ?

राधा बाबू के ससुर भी बहुत बड़े जमींदार थे। अपने दामाद के बारे में उन्होंने भी बड़ी-बड़ी उमेद लगा रखी होगी सो वह बेचारे भी चितंग होकर गिरे होंगे।

राधा बाबू डेढ़ साल की सजा काट आए थे। पटना कम्प जेल में उनको रखा गया था। जब महतमा गाँधी का लाट बहादुर इरविन से बुझारत हो गई तो मुलुक-भर में सभी जेलों से सोराजी कैदी छोड़ दिए गए। फूल बाबू तभी जेल से छूटकर आए थे। राधा बाबू भी तभी छूटे थे।

आसरम में बाबू भैया और नौकर-चाकर मिलाकर बीस जने थे।

महतमा जी का हुकुम नहीं था कि सोराजी लोग आसरम में किसी को नौकर-चाकर के तौर पर रक्खें। फिर भी आसरम में हम चार जने थे जो नौकर ही थे। कहने को भोलंटियर कह लो, सेवक कह लो, लेकिन थे तो हम नौकर ही। एक का नाम था रूप लाल; दूसरे का नाम था छट्ठू, तीसरा था मंगल, चौथा मैं था। रूपललवा, छठुआ, मंगला, बलचनमा। हम चारों अलग-अलग बिरादरी के थे। रूपललवा धानुक था। छठुआ था मलाह। मंगला पासी था। मैं ग्वाला। इसके अलावा परगना बछौर के एक मिसिरजी थे, वह खाना बनाने का काम करते थे।

मिसिर जी को खाना-पीना देकर ऊपर से बारह रुपैया तलब मिलता था। मेरा तलब ठीक नहीं था। कभी सात, कभी आठ, कभी दस। राधा बाबू मौजी जीव थे। मुझ पर सिनेह भी उनका भारी था। खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता, अच्छी तरह मिलता था। अपना खास भोलंटियर बनाकर वह मुझे रखे हुए थे। टूर में जहाँ जाते थे, मैं भी जाता था। राधा बाबू को मेरा बड़ा ध्यान रहता था। लोग उन्हें देवता की तरह मानते। चढ़ावा उनको जो मिलता था, सो थोड़ा-बहुत मैं भी पाता था।

रूपललवा बुतात छोड़कर आठ रुपया दरमाहा पाता था। छठुआ आठ। मंगला का तलब छः रुपया था।

रूपललवा के जिम्मे आसरम की खेती-बाड़ी का काम था। छठुआ आस-पास के गाँवों से अनाज बटोरकर लाता था। मंगला आसरम का चपरासी था। झाड़ू देना, घड़ों में पानी भर के रखना, डाक लाना-ले जाना, बीमार हो जाने पर बाबू भैया का पथ-पानी करना यही सब मंगला का काम था।

ऐसे तो राधा बाबू ने मुझे और आसरम-भर के लोगों से यही कह रखा था कि छः रुपया महीना मिलेगा। मगर देते वखत बाबू हमेशा कुछ जास्ती ही देते थे। ऐसा क्यों होता था ?

वात यह थी भैया कि राधा वावू राजा खानदान के थे। पढ़ाई करते समय स्टेट का पैसा फूँकते रहे और अव पवलिक का। चन्दा आसरम में काफी आता था। कोई उनसे हिसाव लेने वाला नहीं था। जैसी मरजी आई वैसे खरच किया। मुझे भी उसी झोंक में कभी सात, कभी आठ, कभी दस और एक आध दफे तो वारह रुपैया मेरे हाथों में उन्होंने थमा दिया था। अलावा इसके मेला-ठेला, हाट-वाजार, पवनी-तिहार के मौकों पर इकन्नी, दुअन्नी, चौअन्नी, देते ही रहते थे।

नये मालिक से मेरी अच्छी पटती थी। फूल वावू के तरफ से जो उदासी मन को घेरे हुई थी वह अव धीरे-धीरे फटने लगी। आसरम का हवा-पानी, वोल-चाल, रंग-ढंग मुझे अच्छा लगता था। यहाँ दो-चार वावू भइया ऐसे भी थे जो भीतर से गरीवों का दुःख-दर्द समझते थे। वातचीत से उनके मुँह से मलिकाना वू-वास नहीं आता था। राधा वावू तक काफी नरमी से वोलते वतियाते थे। हाँ, कभी-कभी नाक-भौं चढ़ाकर वह अपना रोव जरूर परगट करते थे। मगर उनका गुस्सा, उनकी नराजी आश्रम के लोगों के लिए वैसे ही थी जैसे किसी अच्छे खानदान के ईमानदार मुखिया की होती है।

पाँच

हमारी विरादरी में शादी कच्ची उमर में हो जाती है। शादी न कहकर उसे सगाई कहना ही ठीक होगा। छः वर्ष की उमर ही में शादी हो गई थी और तो कुछ याद न रहा। लेकिन वरात में सिंगा वजाने वालों का नजारा कभी नहीं भूलेगा। वड़े मालिक के यहाँ से पालकी मँगनी की गयी थी। कनेर के फूल से थोड़ा-वहुत सजाकर मुझे उस पर वैठाया गया। वरात में दस-वारह जने गए थे। पीले रंग की धोती, धारीदार हरा-सा कुरता। माथे पर जरी गोटे वाली टोपी। पैर खाली। मुझे सव कुछ याद नहीं है लेकिन केला और लाई खाना अच्छी तरह याद है। अपने मन से पके हुए केले देखने में पीले और खाने में खूव मीठे लगे थे। फरही के लड्डू को हमारे यहाँ लाई कहते हैं। वच्चे उन्हें खूव पसन्द करते हैं। शादी के सिलसिले में मुझे तीन रोज माँ से और दादी से अलग रहना पड़ा, क्योंकि जहाँ शादी तय हुई थी, वह गाँव हमारे गाँव से वारह कोस दच्छिन पड़ता था। वरात में हमारे तरफ लोग औरतों को नहीं ले जाते हैं। सुना है, पश्चिम में ऐसा रिवाज है। उतनी छोटी उमर में इससे पहले मैं अपने घर से वाहर नहीं निकला था। हमारी दुलहिन की उमर रही होगी यही कोई तीन-चार साल की। हम दोनों ही इतने छोटे और नादान थे कि सिवाय धूमधाम के, सिवाय भोज-भात के, सिवाय वाजा-गाजा के और कुछ याद नहीं है। हाँ, यह भी याद है

कि हम दोनों पालकी में बैठे उस गाँव के बड़े-बड़े बाबू लोगों के यहाँ बिलाकी माँगने गये थे। आज तक मैंने तुम्हें अपनी शादी के बारे में नहीं बताया था। मगर आज तो बताना ही पड़ा। सतरह साल की उमर हो चुकी थी। माँ पिछले साल से ही जोर डालती आ रही थी कि गौना करा लाऊँ। और सच पूछो तो इसीलिए मेरी मैया अपनी लड़की के गोने की ओर से उदास थी। वह सोचती थी कि घर में पहले वहू आ ले, लड़की का गौना पीछे होगा।

यह तो बीच में मालिक से खट-पट हो गई, इसी से गौना रुका रहा। नहीं तो अब तक हो गया होता।

शादी और गौने के बीच के ये एगारह साल हमारे लिए खाने-खेलने के दिन थे। इस बीच में कभी ससुराल नहीं गया। गौना से पहले ससुराल जाना हमारी बिरादरी का कायदा नहीं है। और भी कई बातों में हम लोगों का शादी-ब्याह बड़ी जात वालों के शादी-ब्याह से अलग किसिम का होता है। एक तो बिना जनेऊ हुए उनकी शादी नहीं होती, दूसरी बात यह थी कि शादी और गौना के बीच-बीच में भी वे लोग ससुराल जा-जाकर रह आते हैं।

मतलब यह कि माँ के जोर डालने से मुझे खुद भी गौना के लिए तैयार होना पड़ा। छोटी मलिकाइन ने अम्मा को बोल-भरोस देकर मना लिया था। मालिक मलिकाइन से डरते थे और हमारी बहिन के इस मामले से तो मालिक बाबू अपनी जनाना को मुँह दिखाने के काबिल नहीं रह गये थे। बहुत दिनों तक चिट्ठी-पत्री बन्द थी। बहुत दिनों तक मालिक घर नहीं आये।

मालिक बाबू के घर नहीं आने से हमारी छोटी मलिकाइन का कुछ नहीं बिगड़ता। वह खुद ही सात मरदों की एक मरद थीं। जरूरत पड़ने पर उनके भाई भी घोड़ा पर चढ़कर पहुँच जाते थे। हरवाहा था। चरवाहा था। खेतों में खटने के लिए रात-दिन तैयार बनिहारों की भी कमी नहीं थी। खानदानी रोब-दाब था। सोना के टुकड़े-जैसे सैकड़ों बीघा धनहर खेत थे। बाग-बगीचा, गाछी-बिरछी, झार-झंखार पोखर-पनिघट सब संपदा थीं। चार जोड़े बैल थे। गुजराती नसल की दो भैंसें थीं। नौकर-चाकर, बहिया-खवास सब थे। छोटी मलिकाइन घर-गिरस्थी का बड़ा अच्छा इन्तजाम करती थीं। यह गुण उनका नैहर का था। फूल बाबू के बाप भी खूब चतुर गृहस्थ थे। बड़ घर की जनानी बड़ी अकल वाली होती हैं। हवेली और ड्योढ़ी से बाहर पैर नहीं रखती हैं, ससुर-भैंसुर, गुमस्ता-बराहिल, भंडारी-पुजारी, मुनसी जी-देवान जी। सीधे वह किसी से बात नहीं करतीं। या तो लौंडी से कहलवाती हैं या फिर चिक या परदा के आड़ से खम्भा या कि देवाल को सम्बोधित करके अपना काम चलाती हैं। कोई काम छोटी मलिकाइन का रुका नहीं रहता था। मालिक घर में रहें या न रहें, मलिकाइन खुद ही गिरिस्ती का सारा काम सँभालती थीं।

यह जनानी बड़ी चालाक थी। दबकर, झुककर, तनकर या ऐंठकर जैसे भी हो अपना मतलब पूरा करने में ओस्ताद थी। सच समझो भैया, अगर वह

सुनाई पड़े।

ऐसे ही लीडर के साथ मेरा भाग जुड़ गया था।

और भैया, जब ऐसी बात थी तब फिकिर काहे की? सोच-संकोच कैसा? भीतर-ही-भीतर मुझमें एक तरह की उमंग भर गई। मैंने गिरह बाँध लिया कि गौना करा ही लाऊँगा।

दूसरे दिन माँ से पूछा—साइत-मुहूरत पुछवाया है?

सिलौट पर वह हल्दी पीस रही थी। लोढ़ी चलने की घिसिर-घिसिर आवाज में पहिली खेप उसे मेरी बात नहीं सुनाई पड़ी। दूसरी बार मैं तनिक जोर से बोला तो बीच ही में लोढ़ी रोककर माँ ने कहा—तेरा मन हो तो साइत मुहूरत की क्या!

किससे पूछेगी?

डीह टोल जाकर वैदिक जी से पूछ आऊँगी। तू तो यों ही मेरे साथ खिलवाड़ कर रहा है। कब तक मेरे मन की टोह लेता रहेगा?

माँ की यह बात सुनकर मुझे साफ-साफ झलक गया कि दूसरे के घर की गभरू जवान बेटी को अपनी बहू बना लेने और और साथ रखने के लिए यह बेचैन है, अपनी रूखी-सूखी जिनगी में हेर-फेर कौन नहीं चाहता? बारहो महीना जाड़ा ही पड़ता रहे तो कैसा लगेगा। कभी रात न हो, सुबह-शाम न हो, हर हमेशा दुपहरिया ही तपती रहे तो कैसा लगेगा?

कहने का मतलब यह है कि क्या जिनगी, क्या जहान, क्या जुग, क्या जमाना सभी में फेर-फार चलती रहती है? हेर-फेर का यह चक्कर घूमता ही रहता है?

मुझे तैयार होना पड़ा? मेरे मुंह से गौने की बात सुनकर वड़ी खुश हुई।

यह आसिन का महीना था। उस साल भदई खूब हुई थी। आठ मन मड़ुआ अपनी बटाई के खेतों में मुझे भी हुआ था। दो-अढ़ाई मन धान की भी उमेद थी। अगहन में गौना का दिन होगा, यह हम जानते थे।

माँ की राय थी कि धनकटनी के दिनों में आसरम से महीने-भर की छुट्टी ले लूं। माँ, रेवनी और मैं तीनों जने मिलकर मलिकान के खेतों में धान काटेंगे। मजूरी में जो धान मिलेगा उससे दो-ढाई महीना का गिरस्ती का खर्चा जरूर निकल आवेगा।

अलावा इसके, मेरा अपना भी मन था कि धान काटने के दिनों में इस बार परदेश में नहीं रहना चाहिए। खेत में काम करने के लिए सच पूछो तो मेरा मन तरसता रहता था। कमर में अँगोछा लपेटकर या फिर लँगोट ही कसकर जब मैं खेत में धान रोपने उतरता हूँ तो दो बोतल दारू का नशा सिर पर सवार हो जाता है। लगता है ऐसा कि संसार में कुछ नहीं है। मैं हूँ और खेत है। मेरे हाथ हैं और धान के छोटे-छोटे, हरे-हरे, भले-भले मनमोहक पौधे हैं। कई बार जोतकर तैयार हुए खेत में मेरे ऐसे और भी कितने धान के पौधे जमाते हैं। मगर मुझे दूसरों का ख्याल नहीं रहता है। पनियाये हुए चास में धान के

पौधे रोपते समय छुप-छुप, सुप-सुप आवाज उठती रहती है। यह आवाज इन कानों के लिए सुरैया के तान से भी मीठी है। हमारे जिला-जवार में नामी-नामी गवैया हैं। उनका सुर हवा के पंखों पर जब थिरकने लगता है तब सुनने वाला मगन होकर आँख मूँद लेता है। बाबू घराने की औरतें महीन गले से जब मलार और बटगवनी या समदाउन का तान अलापती हैं तो गाय-बैल भी चरना छोड़कर इधर-उधर ताकते रह जाते हैं। धान रोपते समय छुप-छुप, सुप-सुप की जो आवाज आती रहती है उससे बढ़कर कोई दूसरी तान मेरे लिए मीठी नहीं होती। इसी तरह धान काटते वखत हँसिया से जो खप-खप की आवाज आती है, अपने कानों को उसके आगे बाकी सारा तान-तमूड़ा बेकार लगता है। अगर ये खेत, ये चास अपनी ही मिलकियत के होते तो फिर छुप-छुप, खप-खप की आवाज सौगुनी मीठी लगती।

सो, भैया भीतर ही भीतर मैंने ही पक्का कर लिया कि अगहन-पूस गाँव में ही बितावेंगे। गौना भी होगा। धनकटनी भी होगी, आना चोठी घर-गिरस्ती का रस भी मिलेगा।

मड़ुआ की रोटी देखने में भी अच्छी लगती है, खाने में भी अच्छी लगती है। रंग बैंगनी होता है। मगर स्वाद सोंधी और मीठी होती है। मजूर-बनिहार लोगों का खास खाना हमारे यहाँ यही मड़ुआ की रोटी ठहरा। जिसके पास भैंस या गाय हुई वह दूध के साथ भी मड़ुआ की रोटी खाता है। मामूली मजदूर नमक, करुआ तेल और हरी मिरचाई के सहारे रोटी खाते हैं। बरसात के दिनों में तिरहुत का मुलुक किसिम-किसिम की तरकारी का बगीचा बन जाता है। गरीब से गरीब, लाचार से लाचार आदमी अपने मड़ैया के पिछवाड़े या अगल-बगल झिंगनी, रामझिमनी, ठरिया, गेनहारी, पोरो, घेरा, करैल, ओल, अरकोंछ, तेकुना, खम्हाउर, हल्दी, अदरख, मिरचाई, बैंगन, कदीमा, कुम्हर, सजमन लगा लेता है। बाबू-भैया के पोखरों से छिप-छिपकर मछरी भी मार लाते हैं। मछरी का हमारे तरफ बड़ा महातम है। बरसात के दिनों में ऐसा कौन अभागल होगा, जो जल-सीम का भोग नहीं लगाता है।

जलसीम, समझा भैया? नहीं न?

बैरागियों को भरमाने के लिए चतुर-चालाक बाबू-भैया लोगों में से कभी किसी ने मछरी को सीधे मछरी न कहकर जलसीम यानी पानी के अन्दर पैदा होने वाला सेम कह दिया होगा। तब से जलसीम चालू हो गया।

नदी-नाला, डबरा-पोखर कहाँ नहीं मिलेगा? हमारे तिरहुत में पानी का अकाल नहीं बराबर समझो। गाँव-गाँव में पोखर, गली-गली में डबरा, जवार-जवार में धार; कहीं-कहीं समुन्दर जैसे बड़े-बड़े पोखर देखने को मिलेंगे। ऐसे पोखरे को दैत का खोदा पोखर कहते हैं। दैत का खोदा इसलिए कि बूढ़-पुरनिया लोगों को भी उसके खोदने वालों का पता नहीं। मुदा मैंने राधा बाबू के मुँह से सुना है कि पुराने जमाने में किसी-किसी राजा का मिजाज जब सनकता था तो

जर-जवार के लोगों को वेगारी में लगाकर वड़ा-वड़ा पोखरा खुदवाता था। ऐसे पोखर का नाम 'शिव-सागर', 'गंगासागर' जैसा हुआ करता था। सुना है कि राजा सगर के साठ हजार वेटों ने खोद-खोदकर समुन्दर को तैयार किया था। सो, भैया जहाँ कहीं भी तुम वड़ा-वड़ा पोखरा देखते हो, सव धरती मैया के हजारों वेटों के हाथ से खुदा हुआ है। दूसरों की मेहनत से खोदे हुए पोखर का नाम रखते वखत अव भी मालिक लोग उसमें अपने माई वाप का नाम जोड़ देते हैं। इसी तरह सेठ लोग चावल, चीनी मिल का नाम अपने वाप-भाई के नाम पर रखते हैं।

जलसीम से तरकारी का काम चलता है। भुइयाँ-मुसहर भी आसानी से सेर-आध सेर छोटी मछलियाँ डवरे से छाँक लाते हैं। आग में भूनकर विना नमक भी मछरी खाओ तो बुरी नहीं लगेगी। गरीव-गुरवा लोग महँगी-अकाल के जमाने में महीनों मछरी पर गुजार देते हैं। महंथ वैरागी किसके-किसके गले में कंठी वाँधते फिरेंगे। कोठी-वखारी में धान-चाउर भरा हो, वाग-वगीचे में तर-तरकारी, फल-फूल लगा हो तभी कंठी की इज्जत वची रहती है। गरीवों के गले में चार दिन भी कंठी सही-सलामत वंधी नहीं रह सकती।

मतलव यह कि वाहर मजूरी करने वाला भी साल-छः महीने घर पर विता सकता है। तन्दुरुस्ती दुरुस्त रहे तो सव ठीक है। मैंने सोचा—औरतिया भी तो कुछ-न-कुछ करती ही रहेगी। खेत में गोवर डाल आवेगी, घर का काम-काज करेगी। झाड़ू-वुहारी, चक्की-चूल्हा, उखल-ढेंकी, रस-रसोई सव कुछ करेगी। माँ को तभी आराम मिलेगा। दम मारने की तनिक फुरसत मिलेगी। रेवनी की जुदाई अम्मा को नहीं अखरेगी क्योंकि पतोहू नगीच में रहेगी। मैं छः महीना घर रहूँगा, छः महीना वाहर रहूँगा।

आसिन, कातिक, अगहन, पूस और माघ। अभी पाँच महीना वाकी था। छ पंचे तीस। तीस रुपैया हुआ। कुछ ऊपर से मालिक भी देंगे हो। कुछ पहले का जमा है। मिला-जुलकर काम चल जायगा।

वात विलकुल पक्की हो गई। गौना होगा ही। मगर अगहन में नहीं माघ में होगा। और जव होना ही है तो जैसे अगहन वैसे माघ। चार महीना कसकर घर रहूँगा। चैत में ओरहा खाकर गाँव छोड़ूँगा। नहीं तो यह भी हो सकता है कि वैसाख में मड़ुआ की पटौनी करके छोड़ूँगा।

इस तरह सोचता हुआ मैं आश्रम लौट आया।

राधा वावू जेल से छूट आए थे। गाँधी महतमा के हुकुम से खद्दर और चरखा का प्रचार करते फिरते थे। मधुवनी में वावू-भैया का जुटान था। आस-पास के इलाकों में हजारों चरखा चलाने लगे, सैंकड़ों जवान जगह-जगह कते हुए सूतों की लच्छियों का हिसाव लेते थे। वदले में कातने वाली औरतें पैसा भी पातीं थीं और कपड़ों का भी अच्छा इन्तजाम था। राधा वावू इलाके-इलाके में घूम-घूमकर काम देखते थे।

जहाँ-जहाँ जाते, मुझे भी साथ लिए फिरते। मेरा काम था, वावू के कपड़े साफ करना, कागज-पत्तर सरियाकर रखना, किसी के पास भेजें तो वहाँ से हो आना, कभी पैदल चले हों तो पैर-डाँड़ चाँप देना और सामान की खबरगीरी रखना। डूटी कभी-कभी कड़ी हो जाती थी। यह तव होता जवकि वाहर से कोई लीडर आये रहते। लीडर के आने पर उन्हें लेकर इलाकों में घूमना पड़ता। कभी टमटम से कभी वैलगाड़ी। पर एकाध वार राधा वावू मोटर गाड़ी का भी जोगार कर लेते थे।

मेरी डूटी इसलिए वढ़ जाती थी कि वहुत से सोराजी वावू इकट्ठे हो जाते थे। राधा वावू का टहलुआ होने की वजह से सभी सोराजी वावू मुझे अपना-अपना टहलुआ समझते थे। पचीस फरमाइस पूरा करते-करते मैं परेशान हो जाता। लीडरों में से जो जितने वड़े खानदान के होते उनकी आवाज से उतनी ही मलिकाना गन्ध आती। सभी राधा वावू के तरह संत-महतमा तो थे नहीं। उनकी अपनी-अपनी आदत थी, अपना-अपना स्वभाव था, अपनी-अपनी रुझान थी। किसी को चुनियायी हुई धोती चाहिए तो किसी के वदन में घंटा-भर मालिश होनी चाहिए। सोते वखत पैर चँपवाना किन्हीं वावू के लिए जरूरी था तो किन्हीं को साहुड़ का दतवन चाहिए। कोई पान के पीछे पागल थे तो किन्हीं को वढ़िया सिगरेट चाहिए। किन्हीं को उँगली मसलवाने का सौख था, तो किन्हीं के माथे पर जवाकुसुम का तेल सोते वखत मलना ही पड़ेगा। दो वावू ऐसे भी थे जो अपना चरखा साथ लिए रहते। वही सूट-केशी चरखा जिसको यरवदा चक्र कहते हैं। यह चरखा हमारे राधा वावू के पास भी था। मगर वावू जव टूर में निकलते तव चरखा साथ नहीं लेते। आसरम में रहते वखत ही राधा वावू चरखा चलाते थे। कभी-कभी ऐसा होता कि वावू लोग खुद वड़े लीडर के साथ मोटर गाड़ी में लटककर चले जाते और उनका चरखा मुझे ढोना पड़ता। एक वार ऐसा हुआ कि समस्तीपुर के किसी वावू का चरखा इसी आपा-धापी में पीछे छूट गया। सुवह-शाम प्रार्थना के वाद वह १५ मिनट चरखा चलाते थे। मगर उस रोज संयोग से उनका चरखा पीछे रह गया था। वावू मुंह फुलाकर वैठ गए—न पानी पीयेंगे न खायेंगे। मुझको तो भैया वड़ा रस आ रहा था वावू के इस नाटक में। आखिर वड़े मुश्किल से वावू को मनाया गया और संतरा, वेदाना खाने को राजी हुए। राधा वावू मुझको डाँटने लगे। क्यों श्रीपति वावू का चरखा छोड़ आया?

इस तरह लीडरों के जुटान में डर के मारे मैं सिक-सिक करता रहता कि कुछ भूल-चूक न हो जाय, वावू नराज न हो जायँ। मगर जानते हो भैया, राधा वावू अपने नुकसान के लिए मुझे थोड़े डाँटते? नहीं। राधा वावू का स्वभाव तेज जरूर था लेकिन मेरे लिए नहीं। मुझे तो वह वहुत मानते थे। अकेले में कभी-कभी नरमी से मेरे कान-नाक मलते थे, कभी ठुड्ढी छू लेते थे; कभी पीठ थपथपाते थे। लेटते वखत जो मैं उनके नजदीक वैठा रहता तो अपनी

टाँग मेरी गोद में या जंघे पर डाल देते और घर-गिरस्ती की वात पूछते। एक-एक करके मेरे घर की सारी वातें मालूम कर ली थीं। मेरे दुख-सुख का खयाल रखते थे। वह नहीं चाहते थे कि मैं मैला या ओछा कपड़ा पहनूं। एक वार आसिन में घर से लौटकर जव आसरम पहुँचा तो उन्होंने मुझे धोती खरीद दी, कमीज वनवा दिया, चप्पल ले दिए। एक दिन राधा वावू ने मुझसे कहा—खवास की तरह नहीं आदमी की तरह रहना होगा; टहलुआ वनाकर नहीं, साथी वनाकर तुझे मैं रखना चाहता हूँ।

पहले मैं उन्हें वात-वात में जी सरकार, जी सरकार कहा करता था मुदा वावू ने एक रोज जोर से डाँटा। तव से खाली जी-जी कहने लगा। यह तो हुई राधा वावू की वात। लेकिन दूसरे सोराजी वावुओं में से सैकड़े में नव्वे ऐसे ही मिले हैं, जिनको 'जी सरकार' कहलाने में वड़ा निम्मन वुझाता है। न कहो तो गुर्रा-गुर्राकर ताकते रहेंगे। जिनगी-भर जिनके कान 'मालिक-मालिक', 'सरकार-सरकार', 'हजूर-हजूर', सुनते आए हैं उनके लिए इन शव्दों का वड़ा महातम है। विना छौंकी दाल की तरह विना जी-हुजूरी की वात उनको पसन्द नहीं पड़ती। पच्छिम के मुलुक हैं गुजरात, राजपूताना, पंजाव। एकाध दफे पच्छिम के सोराजी वावू से मेरी मुलाकात हुई है। उनको दो-चार वार मैंने सरकार-सरकार, हजूर-हजूर कहा तो वड़े भड़के भैया। कहने लगे—कैसा वदजवान छोकरा है। वात-वात में हजूर-हजूर, सरकार-सरकार करता है। वेटे, हजूरों और सरकारों के खिलाफ तो हमारी जद्दोजहद चल रही है, फिर मुझे गालियाँ देता है। मैंने वड़ी मुश्किल से उन्हें समझाया कि हमारे यहाँ वावू भैया लोग 'हजूर सरकार' के वगैर वात ही नहीं सुनते—यह जानकर पच्छिम के सोराजी वावू की आँख दुगुनी हो गयी और जीभ झट से निकल आई, ऐसी वात है। धत् तेरी की! मैंने कहा—जी हजूर, जी हजूर, हमारे यहाँ यही रिवाज है।

लीडरों की जुटान डेढ़-दो महीने पर होती थी। तव मेरा काम वढ़ जाता था, वता ही चुका हूँ। वाकी मौज थी। राधा वावू कुरता, कमीज, गंजी वनियाइन नहीं पहनते थे। सिला हुआ कोई कपड़ा नहीं। कभी तीन गज की, कभी चार गज की धोती पहनते थे। वदन पर छोटी-सी चादर रहती थी। जाड़े के दिनों में काश्मीरी लोई ओढ़ते थे। एकाध पल्ला अंडी का भी रहता था। मतलव यह कि धुलने वाले कपड़ों की गिनती चार से ज्यादा कभी नहीं हुई। देशी कपड़ा और देशी सावुन तिस पर से देशी हाथ। जहाँ चार चोट मारते थे कि कपड़ा साफ हो जाता था। सफेद खद्दर, साला मैला भी जल्दी होता है और साफ भी जल्दी। चार-चार रोज पर राधा वावू के कपड़े मैं साफ करता था। सुना कि पहले अपना कपड़ा वह आप साफ करते थे। मगर वाद में काम वहुत वढ़ जाने से यह जिद उनको छोड़नी पड़ी। खाना वह उसी तरह का खाते थे जैसे आसरम के वाकी लोग। महतमा जी के यहाँ से टमाटर और पियाज खाना सीख आये थे, सो आसरम के वाग में खूव टमाटर लगा हुआ था। पियाज भी वहाँ उपजता

था। मौसम में चार ठो पियाज और आठ ठो टमाटर खाते थे हमरे राधा बाबू। पियाज तो मैं भी खाता था मगर तैयार टमाटर जब-जब मैंने खाने की कोशिश की, तब-तब फेल हो गया। ऐसा महकता था मानो सरकारी अस्पताल के कम्पोटर का कमरा हो। तरकारी में डालकर पचासों दफे टमाटर मैंने खाया होगा मगर आम के तरह पका टमाटर चूसना मुझसे कभी नहीं सपरा। आसरम में माछ-मछरी खाना मना था। मुझे महीने में एकाध दफे मछरी मिल जाती थी। कैसे मिलती थी? छट्ठू भाई मलाह थे। उनकी चाची का नैहर पास ही एक गाँव में पड़ता था। छट्ठू जाते ही रहते थे। पुरइनी के पत्ते में लपेटकर मेरे लिए दो-चार कुटिया मछरी लाते थे। मैं आड़ में ले जाकर जलसीम का भोग लगाता था। एक बार राधा बाबू ने कहा—अरे, तेरे मुँह से तो मछरी का गंध आता है। मैंने माथा झुका लिया तो बोले थे—कोई हर्ज नहीं, हम वैष्णव हैं तो इससे क्या सारी दुनिया कंठी बाँध लेगी? यह कहकर मुस्करा पड़े। पीछे कहा—मछरी खाने के बाद एकाध बीड़ा पान खा लेना चाहिए। इससे मछरी की महक मर जाती है।

हम तो भुच्च गँवार ठहरे। हमें क्या मालूम कि किसकी महक कैसे मरती है। फिर भी हमारे राधा बाबू बड़े अच्छे आदमी थे। खुले मिजाज के। कभी उन्होंने मुझे मना नहीं किया, मैं बीड़ी पीता था, मछरी खाता था। कभी उन्होंने मना नहीं किया।

अगहन में उनके साले आये। साथ आदमी था। धान का चिउड़ा, पकवान, गुड़, अचार, आँवला का मुरब्बा। दो टोकड़ी सनेसा ले आये थे। लोगों ने खूब खाया। चार दिन रहने के बाद लौटे तो मुझे भी साथ लेते गये। मालूम हुआ, मलिकिनी आनेवाली हैं। मालिक के दू गो बेटा हैं, ऊ भी आयेंगे। बोझा-मोटा ढोने के लिए एक आदमी उधर से भी आवेगा और मैं भी रहूँगा।

अभी तक मलिकिनी का मैंने नाम ही सुना था, दरसन तो किया था नहीं। इसी से मेरे मन से हुद-हुदी बैठ गयी। अगर हमारी छोटी मलिकाइन की तरह ये मलिकिनी भी हुईं तो चार ही रोज में आसरम छोड़कर भागना पड़ेगा। नहीं, अगर फूल बाबू की माँ-जैसी होंगी तब तो निरबाह होगा।

इस तरह सोचता-विचारता मैं कुटुम से साथ हो गया। लहेरिया सराय से समस्तीपुर। वहाँ से पहलेजा। पहलेजा से महेन्दरू। फिर पटना जक्सन।

आज तक मैं बड़की गाड़ी पर नहीं चढ़ा था। तब तक पटना जक्सन का यह नया बिल्डिंग नहीं बना था। अब तो खैर बहुत बड़ा बिल्डिंग है। पहले इससे छोटा था। बाहर भी इतनी बढ़िया सिलमिट वाली चिकनी सड़क नहीं थी। लेकिन गाड़ी तो बड़ी ही ठहरी। मैं पहले सोचता था कि बड़ी गाड़ी का टिकट भी बड़ा होता होगा, तास की तरह। मगर नहीं, टिकट में कुछ फरक नहीं। हाँ, टिकट कटाने में वैसी धक्का-मुक्की नहीं, जैसे कि हराही (दरभंगा जक्सन) में होता है।

गया जाने वाले हम तीन जने थे। कुटुम, उनका नौकर और मैं। कुटुम ठहरे जमींदार के बेटा। गाड़ी में साथ कैसे बैठेंगे। इण्टर का टिकट लिया। बाकी दो टिकट तीसरे दर्जे के थे।

गया लैन की गाड़ी तीसरे लाटफारम से सटकर लगती है। पहला, दूसरा लाटफारम मेन-लाइन के लिए हैं। पूरब की ओर जाओगे तो सीधे हवड़ा पहुँचोगे। पश्छिम की ओर जाओगे तो लखनऊ, दिल्ली। बड़ी-बड़ी इन्जन, बड़ा-बड़ा। आने-जाने के लिए खुशफैल रास्ता। बड़े फाटक। सब कुछ बड़ा। कुली भी पक्की बोली बोलते थे। बीड़ी-सिगरेट बेचने वाले भी काहे-कुहे करते थे। साहबी ठाठ में कोट, पैण्ट पहने हुए पचासों आदमी। कोई जमशेदपुर जा रहा था कोई धनबाद। कोई हजारीबाग जा रहा था तो कोई चाइबासा।

बड़ी लाइन की गाड़ी के आगे छोटी लाइन की मधुबनी, झंझारपुर वाली गाड़ी बकरी-जैसी लगती है। पटना के तरफ शहरूपन भी ज्यादा है। उधर जिसको रखना कहेंगे, इधर उसको हम धरना कहेंगे। उधर के लोग साफ जबान बोलते हैं। यहाँ गाड़ी में बाबू लोगों के मुँह से 'किहिस-दिहिस' निकलता है, तो उधर तुम लोगों के मुंह से 'किया-दिया' सुनोगे। अकास-पताल का फरक पड़ जाता है, भइया।

रात का बखत था। गाड़ी पर बैठते ही मुझे नींद आ गई।

गया पहुँचने पर ही नींद टूटी। वहाँ से दूसरी गाड़ी पकड़कर नवादा पहुँचे, नवादा से आधा कोस पड़ता है मोहनपुर। दूर से ही कोठा चमक उठा। कुटुम के लिए टमटम आया था। वह उसी पर चढ़कर गए। हम दोनों जने पाँव-पैदल।

राधा बाबू के ससुर लखपती जमींदार थे। दो पट्टियों में इस्टेट बंटा हुआ था। उपज और आमदनी ही बटती थी, जायदाद-जमीन इकट्ठी ही थी। हाथी भी था। मोटर भी थी। टमटम भी थी, बग्गी भी थी। खड़खड़िया-पालकी भी थी। पक्का बैठकखाना था। कुरसी, आराम कुरसी, कोच, बेंच, टेबुल, सब कुछ था। नौकरों के लिए कच्ची ईंट की दो-तीन कोठरियाँ उस तरफ बनाई गई थीं जिधर गाय-भैंस रहने की जगह थी। मुझे टिकाने के लिए कुटुम का नौकर उसी कोठरी में ले गया।

दस नांदों की लम्बी कतार। दोनों ओर बंधे हुए बीस भैंसे। भैंसा को इधर वाले 'पाड़ा' कहते हैं। उन्हीं से उधर हल जोते जाते हैं मगर राधा बाबू के ससुर का एक भी भैंसा ऐसा नहीं था जिसके पीठ और कमर की हड्डी झकझक न करती हो? बीस-बीस गो भैंसा, उनके खिलाने का कोई ठिकाना नहीं। सभी रोते रहते थे। सभी की आंखों में मैंने कीचड़ देखा। पेट और रांदों में अठगोरवा कीड़ा बजबज करता था। सच जान लो भैया। बहुत बड़ा कुकरम किया होगा तभी जमींदार के यहाँ भैंसा होकर जनम लिया होगा उन्होंने। मरना न जीना, हुलहुक करना। मैंने एक आदमी से पूछा—ये कमजोर किस तरह हल खींचते हैं? उसने कहा—खेती के मौसम में इन्हें थोड़ा बहुत खाने को दिया जाता है,

जब खेती हो गयी तो सत राम ! लार-पुआर, घास-भूसी को अमला लोग छिपा-छिपाकर बेचते रहते हैं। किराये पर मकान उठाने वालों को जितनी ममता अपने मकानों के प्रति होती है, उससे भी कम ममता जमींदारों को अपने माल-मवेशियों की तरफ हुआ करती है। नौकर-चाकर, अमला-फैला बहुत मामूली तनख्वाह पाते हैं। उन दिनों किसी की तनख्वाह दो रुपये माहवार थी, किसी की चार, किसी की सात। दस से ऊपर किसी की नहीं।

भैया, तुम पूछोगे कि इतनी कम तनख्वाह में जमींदार के नौकरों की दुनिया-जहान कैसे चलती होगी ?

जवाब टेढ़ा नहीं, बिल्कुल सीधा है। अमला लोग तनख्वाह की कमी लूट-पाट से पूरा करते थे। रैयत को लूटने में जमींदार के नौकर-चाकर किसी बात की परवाह नहीं करते। हरी-बेगारी से लेकर कोहड़ा-कद्दू तक रैयत की एक-एक चीज पर मालिकों का एकछत्र अधिकार रहा है। इसमें सरकार बहादुर अपनी पुलिस, पलटन से जमींदारों की मदद करती है। नौकर-चाकर लूट-पाटकर छीन-झपटकर निर्वाह करते हैं। जमींदार का भी खजाना भरते हैं और अपना भी घर भरते हैं। जमींदारों के अमला लोगों का सब जगह यही हाल है।

कुटुम्ब के दरवाजे पर ठाट-बाट की कमी नहीं थी। हाल में दू गो आराम-कुर्सी, चार गो मामूली कुर्सी, एक ठो गोल मेज पड़े थे। मोटे गद्दे का एक भारी-भरकम कोच पड़ा था। सिर टेकने की जगह तेल से काला और चिकना पड़ गया था। कोच की बाहों पर जहाँ-तहाँ चूना और सुँघनी के दाग पड़े थे। जरूर ही बैठने वाले सुँघनी के शौकीन होंगे, पान खा चुकने पर ऊपर से और चूना खाते होंगे।

दूसरी ओर बैठक में दो बड़े-बड़े तख्तपोश पड़े थे। उनमें कहीं-कहीं कील उभरी हुई थी। शतरंज के खाने चाकू से खरोंचकर कभी किसी ने बनाये थे, यह निशान भी मौजूद था। तख्तपोश के नीचे मकड़ों ने जाले लगा रक्खे थे, जरूर ही झाड़ देने वाला लापरवाह या अहदी होगा। बक्सर-डुमरांव की ओर के दो मेहमान टिके हुए थे।

राधा बाबू के साले को मेरे बारे में अच्छी तरह मालूम था। अपनी आँखों से देख चुके थे। इसलिए मेरे साथ मामूली मजदूर का-सा बरताव नहीं किया। खास टहलुआ की तरह मुझे भितरिया समझा गया।

मलिकिनी दो ही भाई-बहन थीं। नाम था लवंगलता। भाई का नाम बाबू कामेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह था। सरकारी अफसर बाबू के०पी०एन० सिनहा कहा करते थे। हमारी मलिकाइन दुलार के मारे बबुनी कहलाती थीं। उनका रहना नैहर ही होता था। राधा बाबू ठहरे सोराजी, अपने घर वालों से मनमुटाव चल रहा था। बाल-बच्चों को ससुराल ही में छोड़े हुए थे। यहाँ भी किसी चीज की कमी नहीं थी। लाख से ऊपर की जमीन-जायदाद थी। पच्चीस-तीस हजार का लहना था। हजारों मन की उपज थी। पुश्त-दर-पुश्त से आयी हुई खानदानी इज्जत थी।

बाबू कामेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह कालेज की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाये थे। बाप को आसाम के जंगलों में हाथी फँसाने का शौक था। इस शौक के चलते बेचारे की जान भी गयी। कहते हैं, एक बार छोटे लाट साहब के कोई दोस्त विलायत से आये। उन्हें हाथियों के बारे में बड़ी दिलचस्पी थी। कैसे आसाम के जंगलों में हाथी पकड़े जाते हैं? कैसे उन्हें पालतू बनाया जाता है? कैसे वे फिर बिकने के लिए हरिहर-क्षेत्तर तक लाये जाते हैं? यह सब लाट बहादुर के दोस्त साहब अपने तजुर्बे से जानना चाहते थे। इसी सिलसिले में राय बहादुर जानकी नाथ कुँवर को छोटे लाट साहब ने आसाम भेजा था। डिब्बोई के पास जंगल में कैम्प डाला गया था। हाथी पकड़ने वाले पहाड़ियों की असावधानी से हाथी का एक झुण्ड कैम्प पर टूट पड़ा। साहब बहादुर ने पेड़ पर चढ़कर अपनी जान बचाई। मगर राय बहादुर एक बिगड़ैल दंतार हाथी के गुस्से के शिकार हो गए। उनकी लाश तक घर न पहुँच सकी थी।

तभी १६ वर्ष की उमर में बाबू कामेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह के कंधों पर स्टेट का भार पड़ा था। बाबू के न रहने से चाचा की नियत बदलने लगी, मगर माँ की होशियारी की वजह से इनको नुकसान नहीं उठाना पड़ा। बाबू साहब की माँ बड़ी अकलमन्द मसोमात थीं। उन्हीं की अकिल का परताप कहो कि इस्टेट तरक्की करता गया।

अपनी नई मलिकाइन को इससे पहले मैंने नहीं देखा था। लम्बी डील-डौल, चौड़ा मुँह, बड़ा कपार, फैली हुई आँखें, औसत दर्जे की नाक, पतले ओठ, सुराही-जैसी गर्दन। रंग गेहुँआ था। हाथ-पैर बड़े-बड़े थे। धानी रंग की तीन पढ़िया साड़ी पहने हुई थीं। बोलने से पहले आँखें फैलाकर माथा नचाने की आदत थी। याद है, मुझे देखकर उन्होंने गहराई से माथा हिलाया था और जरा देर के लिए मेरी ओर देखती रह गई थीं। पैर छूकर मैंने प्रणाम किया तो मुस्करा उठीं। दाड़िम के दानों-जैसे उनके दांत पान की हल्की लाली के कारण खूब खिल रहे थे। कुछ बोला नहीं था। थोड़ी देर हवेली में बैठकर मैं बाहर आ गया।

कातिक का महीना था। जाड़े की शुरुआत। सुबह चावल की फरही, नमक, हरी मिर्च। यह रहा नास्ता। उसके बाद मैं बाबू साहब की धोती में साबुन लगाता रहा। फिर अपने मालिक के छोटे बच्चे के साथ तास खेलकर जान-पहचान बढ़ाई। बच्चे उनके तीन थे। एक लड़की, दो लड़के। लड़की नौ साल की। बच्चे सात और पाँच साल के, लड़कों का चेहरा बाप से मिलता था लड़की का नहीं। बड़े घर के बच्चे तुनुक-मिजाज तो होते ही हैं। घमंड, फरेब और झूठ—यह बड़ी आसानी से उनके अन्दर जड़ कर जाते हैं। मचलना, रूठना, खिदकना, रंज होना—यह सब वे माँ-बाप से ही सीखते हैं। अच्छाई जो कुछ सीखते हैं उनमें से ज्यादा हिस्सा नौकर-चाकर और गरीब पड़ोसियों की देन रहती है।

हमारे मालिक के बच्चे बराबर ननिहाल में रहते आए थे। बाप, चाचा की सोहबत उन्हें नहीं मिली थी। ननिहाल के नौकर-चाकर उनकी ओर एक अजीब

तरह की लापरवाही बरतते थे। नतीजा यह था कि वे नौकरों के बच्चों से हिल-मिलकर खेलते थे। अम्मा जी अपना वखत पूजा-पाठ और कथा-पुराण सुनने में विताती थीं। हवेली के कामों की देखभाल वावू साहव के ममेरे भाई साहव करते थे। हमारी मलिकाइन को किताव पढ़ने का भारी चाव था। किस्सा-कहानी की पोथियाँ खूव पढ़ती थीं। वच्चों की देखभाल नौड़ी करती थी।

मुझे मालूम हुआ कि मलिकाइन भी अव आश्रम में ही रहेंगी। वच्चे भी अव वहीं रहकर पढ़ेंगे। यह जानकर मुझे वड़ी खुशी हुई।

इसमें खुश होने की क्या वात थी भैया!

समझा नहीं? वात यह थी कि आश्रम मर्दों से भरा था। एक देवी थीं। कभी रहतीं, कभी नहीं रहतीं। और अव राधा वावू का परिवार वरावर आश्रम में रहेगा। जनानी और वच्चों की वात सुनने को मिलेगी, उनका चेहरा देखने को मिलेगा। आसरम जहलखाना-जैसा नहीं लगेगा। घर-जैसा मालूम होगा।

खाने गया तो थाली में दो तरह के भात दिखाई पड़े। वावू लोगों के लिए महीन चावल का खुशवूदार भात होता है। जूठन में वच रहने पर खुशवूदार महीन चावल का भात नौकर-चाकर की किस्मत में जाता है। मैं देखते ही समझ गया कि राधा वावू के साले का जूठन है। वता ही चुका हूँ पहले कि उन दिनों वावू-भैया का जूठन हम वड़े चाव से खाते थे। या यों कहो कि अच्छी चीज जो भी खाते थे वह जूठन ही होती थी। नौकरों के लिए मोटे चावल का जो भात वना था, उसमें धान के छिलके और कंकड़ थे। हाय रे तिरहुत! क्या मजाल कि तिरहुतिया चावल में एक भी कंकड़ तुम निकालो। यह कंकड़-वंकड़ गंगा के उत्तर तरफ जाने की हिम्मत नहीं करेंगे। खैर, खाना कोई खराव नहीं था। मगर वैंगन की भुजिया इस वात का गवाह थी कि हवेली में कंजूसी का राज है। वूंद-भर तेल डालोगे और चाहोगे कि अच्छी भुजिया वन जाय तो यह कैसे होगा? अँचार अलवत्ता अच्छा था। थाली देखने में कठौती-जैसी थी। हमारे इलाके के वड़े घरों में थालियाँ वड़ी अच्छी और मोटे किनारे वाली होती हैं। ऐसा नहीं कि देखने पर परात याद जाये।

खा चुकने पर मलिकाइन के इशारे से रसोइया ने ज़रा-सा दही दिया। यह उनकी मेहरवानगी थी। मालिक लोगों के कहने के मुताविक "नौकर, चाकर, टहलू और खवास को दही खाने का हक नहीं है।" फिर जो थोड़ा-सा दही मिला इससे मुझे वड़ी खुशी हुई। खुशी इसलिए नहीं हुई कि दही मिला। खुशी की वजह थी कि मलिकाइन को मेरा ख्याल था। मलिकाइन के मन के किसी कोने में मैं जरूर वैठ चुका था। इस वात से यह साफ हो गया कि आगे भी मलिकाइन मेरा ख्याल रखेंगी।

खाने के वाद, हाथ धोकर जव मैं लोटा रखने आँगन में गया तो सरौते से सुपारी कतरती हुई मलिकाइन वोलीं—पुराना स्वीटर है, जास्ती पुराना नहीं, दो साल का पुराना। तेरे देह में अँटे तो पहन ले।

उन्होंने सरौता वाले हाथ को उठाकर अन्दर ट्रंक की ओर इशारा किया। उस पर कपड़ों का गट्ठर पड़ा था। उसी गट्ठर पर वह स्वीटर भी था। मैंने जाकर उसे उठा लिया। मलिकाइन ने आँखें नचाकर पहनने का इशारा किया तो मैंने उसे पहन लिया। विना वाँह का वह स्वीटर मेरे वदन पर चुस्त होकर वैठा। मलिकाइन के वदन का होगा, यह सोचकर मुझे खुशी हुई।

एक कुर्त्ता भी सिलवा दूँगी—वह वोलीं। अहसान के वोझ से मेरी गर्दन झुक गई। मन ने कहा—जिएँ जुग-जुग हमारी यह मलिकाइन। सिनेह से भरी निगाह में ऐसा ही जादू होता है भैया। वाल-वच्चों वाली का दिल वड़ा ही मुलायम होता है। हमारी छोटी मलिकाइन ने कसाई का दिल पाया था। वह तुम्हें अमिरती भी देतीं तो उसमें करैले का स्वाद लगता।

पलथी मारकर वैठ जाना और पान का डव्वा खोलना और फिर कायदे से वीड़े लगाना, दो वीड़े मलिकाइन पहले अपने मुँह में डालतीं, वाद को मेहमान के लिए या किसी और के लिए। भाई मौजूद होते तो पहले उन्हीं को। आखिर में अलग से एक पत्ती का छोटा-सा वीड़ा वह मेरे लिए भी लगातीं। चाँदी की डिविया से वनारसी सुर्ती निकालतीं और मुँह में चुटकी-भर डाल लेतीं। इसमें दूसरा कोई साझीदार नहीं था। वावू कामेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह सुर्ती नहीं खाते थे।

कामेन्द्र वावू का ससुराल छपरा के देहात में था। ससुर नेता थे, लड़की को गाँधी जी के आश्रम में रखकर पढ़ा-लिखा रहे थे। आगे चलकर उन्हें लीडरानी वनना था। उनका एक फोटो कामेन्द्र वावू के रहने के कमरे में था। सूखा चेहरा, धँसी आँखें, पिचके गाल। सामने चरखा पड़ा था। नाम था कनक किशोरी।

राधा वावू और कामेन्द्र वावू के शील-स्वभाव में वड़ा ही अन्तर नजर आया मुझे। एक को फकीरी पसन्द थी तो दूसरे को अमीरी। हमारी मलिकिनी भी अपने भाई की तरह थीं। राधा वावू की फकीरी उन्हें पसन्द नहीं थी। आश्रम का जीवन भी उन्हें पसन्द नहीं था। मगर कई साल दोनों एक-दूसरे से अलग रहे थे। अव कुछ दिनों तक साथ रहने का मन हुआ।

रिस्ते के एक भाई के साथ हमारी यह नई मलिकाइन वरहमपुरा आ गईं। मैं तो खैर साथ था ही। राधा वावू के परिवार के आ जाने से मेरी खुशी का ठिकाना न था। खुशी यही कि आश्रम मुझे हमेशा सूखा-सूखा-सा लगता था। कहने को वहाँ हरियाली काफी थी, वाग-वगीचे का क्या कहना है? लेकिन खाली हरियाली से क्या अगर मन उदास रहा? और मन की उदासी को भगाने के लिए मुसकुराते चेहरों की जरूरत पड़ती है। जरूरत पड़ती है किलकारियाँ भरते वच्चों की। निगाहों से ममता टपकाने वाली माँ-वहनें, मिठास-भरी वोलियों वाली भाभियाँ, दिल-दिमाग को गुद-गुदाकर मन को गर्क कर देने वाले हमदर्द साथी—यह सव न हुआ तो खाली हरियाली, खाली घर-आँगन, खाली वाँस-काठ किस काम के? आश्रम की जिन्दगी वेहद रूखी-सूखी थी, वतना ही चुका

हूँ। वहाँ मिठास बूँद-भर थी तो चिड़चिड़ापन घड़ों था ! मैं तो भैया, थोड़े ही दिनों में ऊब गया था। वह तो खैर समझो कि राधा बाबू घूमते-फिरते रहते थे और बन्दा उनके साथ रहता था। अब तीन बच्चे, मलिकाइन—और एक नौकरानी ये पाँच प्राणी उदासी को मेरे पास फटकने तक न देंगे, यही सोचकर मैं खुश हो रहा था।

आश्रम के अन्दर ही अलग बाँस-फूँस के दो मकान थे, रसोई के लिए एक मड़इया थी साथ। जाफरी और सरपत के ठाट से आँगन घिरा हुआ था। आँगन के बीचोबीच आम का एक भारी पेड़ बड़ा ही सुहावना लगता था। मकान के दो-दो कमरे थे। तीन-एक तख्तपोश रहे होंगे। एक परिवार के लिए काफी था।

मलिकाइन को भी जगह पसन्द आयी। हाँ, उन्होंने घरेलू सुभीते की निगाह से वहाँ कुछ और सुधार किए। रसोई वाली मड़इया में धुआँ निकलने की खिड़की लगवाई। घड़े रखने के लिए लंबोतरी चबूतरा बनवाया। पाखाना और नहाने की जगह, बर्तन-बासन माँजने की जगह, ईंधन और लकड़ी के लिए मचान···सब की जरूरत पड़ती है भैया ! राधा बाबू आश्रम में अकेले रहते थे तो न अलग क्वाटर की जरूरत थी न दूसरे खटरागों की। मुदा अब गिरस्ती का सुभीता तो देखना ही था न ?

आश्रम में चाय पीना मना था, मगर मलिकाइन नहीं मानती थीं। रोज तो नहीं, कभी-कभी बड़े प्रेम से चाय बनाया करतीं। दूध और चीनी उसमें खूब डालती थीं। पटने में फूल बाबू के साथ रहते बखत चाय बनाना मैं जान गया था। वह भी चाय में दूध-चीनी काफी डलवाते थे। महेन बाबू के यहाँ जो चाय बनती वह मुझे कभी पसन्द नहीं आयी। जास्ती मीठा होने पर महेन बाबू चाय को होंठ लगाते ही छोड़ देते थे। कहते—क्या शर्बत बना लाया है, शू: ! जानते हो भैया, चाय के असली पियक्कड़ कैसे चाय पसन्द करते हैं ? पानी को खूब खलबला लो और पीछे कटेली में पत्ती डाल दो। थोड़ी देर इसी तरह छोड़ दो। फिर कप या गिलास में छान लो। उसमें छोटी चम्मच से डेढ़-दो चम्मच दूध और उतना ही चीनी डालो। मिलाने पर गूलर के रंग की चाय तैयार हो जायगी। बड़े-बड़े दिमाग वाले बाबू लोग इसी किसिम की चाय पसन्द करते हैं। यहाँ हमारी मलिकाइन जो चाय बनाती थीं वह तो भैया सोलह आना शर्बत होती थी। पूस की सुबह-शाम को जब ठण्डी हवा चलती थी या बच्चों को सर्दी-जुखाम हो जाता था तो वह चाय जरूर बनातीं। उनको पान का भी बड़ा शौक था।

आश्रम के बाहर, बस्ती के इसी तरफ एक स्कूल था। अपर प्राइमरी स्कूल। राधा बाबू के बाप ने खुलवाया था। उसमें चार मास्टर थे। पढ़ने वाले लड़कों की कमी नहीं थी। आसपास के गाँव से आकर सत्तर के लगभग विद्यार्थी वहाँ पढ़ते थे। खास इस गाँव के भी बीस-एक लड़के रहे होंगे। स्कूल का मकान खपरैल का था, तीन रूम थे। भीतें मजबूत और मोटी। दो बिना बाहों की

कुर्सियाँ, एक स्टूल, एक छोटी चौकी। सामने लम्बी फुलवाड़ी। उसी के बीचो-बीच स्कूल में आने के लिए मेहरावदार रास्ता। गेंदा के लाल-पीले फूल वहाँ इतने अधिक खिले हुए थे कि कुछ मत पूछो। स्कूल ऊँची जमीन पर था, हमारे आश्रम से स्कूल ही नहीं फुलवाड़ी तक दिखलाई पड़ती थी : मालिक ने अपने बच्चों के नाम इसी स्कूल में लिखवा दिए, लड़की का भी। लड़कियाँ वहाँ तीन ही चार आती थीं। तुमसे क्या छिपा है भैया, हमारे तरफ जनाना लोग पढ़ी-लिखी नहीं होती हैं। अव दरभंगा, मधुवनी-जैसे शहरों में मास्टरानी-डाक्टरनी दिखाई पड़ती हैं। देहात में कहीं-कहीं लड़कियों का स्कूल देखोगे···मगर भैया, इतना से क्या होता जाता है? जव लड़कियाँ भी लड़कों की तरह पढ़ी-लिखी होने लगेंगी तभी इस मुल्क का उद्धार होगा। अभी तो वावू-भैया लड़कियों को मतलव-भर पढ़ने देते हैं। पढ़ता सुग्गा गाहक को अपनी ओर खींचता है, पढ़ती लड़की काविल दूल्हे को अपनी ओर खींचती हैं। इससे वाप का काम हलका होता है। शादी हुई कि पढ़ाई वन्द। वाप भी आँख मूंद लेता है, ससुर भी। कहीं-कहीं ऐसा नहीं भी होता होगा। खैर, राधा वावू कांग्रेसी थे, उनकी नजरों में लड़का-लड़की दोनों वरावर थे। वच्ची पढ़ेगी नहीं तो करेगी क्या—एक रोज मलिकाइन से उन्होंने कहा—तुम पढ़ी-लिखी होतीं तो मैं दुगना काम कर दिखाता!

इस पर मलिकाइन आँखें नचाकर वोलीं—ना भाई, तुम्हारा यह काम तुम्हीं को मुवारक! मैं अपढ़ ही भली हूँ···लँगोटी लगा लो और जटा वढ़ा लो, वाज आई मैं तुम्हारे इस चर्खे से! तुम्हें तो औरत होकर जनम लेना था, वड़ा ही किरोध होता है मुझे विधाता पर—

मालिक हँसने लगे। थोड़ी देर वाद वोले—समझोगी क्या? जिसके खान-दान में हाथियों का कारोवार होता रहा हो उसकी अकिल वारीक हो ही नहीं सकती···

इस पर मलिकाइन ने हाथ चमकाकर कहा—रहने भी दो, मैं भी तुम्हारा वाप-दादे के वारे में कहूँ तो कैसे लगेगा? कौन मना करता है? लड़की तुम्हारी; स्कूल तुम्हारा। जितनी मर्जी उतना पढ़ा देना, हुआ न?

राधा वावू चुप हो गए।

अव वह मुझसे भी पढ़ने को कहने लगे थे। कहते पहले भी रहे लेकिन इधर वल्कि जोर डालने लगे। मलिकाइन नहीं चाहती थीं कि मैं अच्छर वाचूँ या गिनती-पहाड़ा याद करूँ। एक वार ननद मिलने आयी तो उसने मेरे वारे में पूछ दिया। मैं वहीं आड़ में वैठा तिपहरी को जरा दम मार रहा था। मलिकाइन मेरी परसंसा कर चुकने के वाद वोलीं—तुम्हारे भाई साहव ने वलचनमा का दिमाग खराव कर दिया है। कलमुंहा खड़ी लेकर वैठता है और समूचा पहाड़ा लिख लेता है!

इस पर ननद ने कहा था—ऐसा! मैं भाई जी को मना कर दूंगी। नौकर-

चाकर जितना नासमझ रहे उतना अच्छा भाभी ! हमारे अजिया ससुर का कहना था कि छोटी जात वालों को जो एक आखर भी ज्ञान देता है उसका अपना ही तेज घटता है; और जो कोई शूद्र को समूची पोथी पढ़ा दे उसके पित्तर स्वर्ग छोड़कर नरक में रहने को मजबूर होती हैं।

मलिकाइन ने इसी बात के दुनियादारी पहलू को छुआ और बोलीं—वह तो खैर ऊपर की चीज हुई, असल मुसीबत यह होती है कि पढ़-लिखकर नौकर तुम्हारी बटलोई रगड़ने को बैठा नहीं रह जायगा। और फिर इन्हें पढ़ाने-लिखाने से फायदा ही क्या ?

अच्छा !—मैं मन-ही-मन बोला—तो यह बात है ? इसी से तुम मुझे खड़िया नहीं खरीद देती हो ? देख लेना महतमाइन, कैसे मैं नहीं पढ़ता हूँ।...

मुझे बड़ा अपसोच हुआ, मलिकाइन की नियत यों बुरी नहीं मालूम हुई थी और खाना वह कभी खराब नहीं खिलाती रहीं। तो, भैया बात यह है कि चोला जितनी आसानी से बदलता है उतनी आसानी से आदमी का खयाल नहीं बदला करता।

राधा बाबू ने जाने कितना मनाया, कितना समझाया तब जाकर तो वह खद्दर पहनने को राजी हुईं। जो कपड़ा वह पहनती थीं वह महीन से महीन सूतों की बनावट का होता था। छपउआ साड़ी, छींट का ब्लाउज। ब्लाउज समझा तुमने ? अरे, वही आँगी। नए फैसन की चोली समझो। तितलियों की तरह उनकी गेहुँआ सूरत पर हरे छींटों का ब्लाउज और लाल फूल व भूरी छोपे वाली साड़ी बहुत अच्छी लगती थी। वह बड़े बाप की बेटी थी, मोटा-झोटा कपड़ा भला काहे पहनतीं ? महीन खद्दर भी जो वह पहनती थी सो मानो अपने घर वालों पर भारी एहसान लादती थीं। राधा बाबू ठहरे नामी लीडर और उनकी आँगन वाली भला खादी न पहने ! बच्चों के लिए, लेकिन वह एक रोज लड़ पड़ीं—इनको मैं किसी भी हालत में मोटिया कपड़ा नहीं पहनने दूंगी। बड़े होकर चाहे जो पहनें-ओढ़ें, अभी से क्यों जुलाहों का बाना धरेंगे ?

भरी सभा में अँग्रेज सरकार को ललकारने वाले हमारे राधा बाबू अपनी घर वाली की टेढ़ी भौंहों से बुरी तरह घबराते थे। बाबू का बाहर तो खूब चलता था, घर में नहीं चल पाता था। यहाँ मलिकाइन ही दहला होती थीं, मालिक हमेशा नहला रहे थे।

उनका आपस में जो चलता रहा हो, मुझ पर बुरी निगाह नहीं थी उनकी। मलिकाइन को मेरा किताब छूना या खड़ी पकड़ना असहाज था लेकिन दूसरी बातों में वह कभी मुझे नहीं टोकती थीं। मलिक तो खैर हरफनमौला थे ही !

गौना का दिन नजदीक आ गया। राधा बाबू ने पचास रुपया नगद दिया। लहेरिया सराय के एक बनिये से दो साड़ियाँ जनानी और दो मर्दानी दिला दीं। मैं मगन हो गया। खुशी के मारे देर तक मुंह खुला रहा। आखिर मालिक—

मलिकाइन के पैर छूकर और बच्चों को दुलारकर तीन रोज पूस बीते में अपने घर के लिए चला।

छह

धान की कटाई जहाँ-तहाँ शुरू हो गई थी। बल्कि आधी फसल कट भी चुकी थी। राँगी धान सब धानों से पहले तैयार होता है।

पकी पीली फसलों से समूचा बाध ऐसा बुझाता था मानो सुनहली मिट्टी से पुता हुआ भारी मैदान हो। मेंड़ों की चौकोर लकीरें धान के शीशों से ढँकी पड़ी थीं। बीच-बीच में अगोरने वालों की झोंपड़ियाँ भूरे पाल वाली नावों की तरह लगती थीं। सारे खेतों पर अनपुर्ना भवानी के असिरबाद पकी फसलों की सकल में छाये हुए थे। लोगों की खुशी का न ओर था न छोर। सभी के मुंह पर मुस्कान, सभी की आँखों में कामयाबी की झलक। जिनकी अपनी फसलें थीं वे भी खुश थे, जिनके नहीं थीं वे भी खुश थे। गिरहथ, बनिहार, जन-जनी, कल्लर-भिखमंगा सभी के चेहरों पर आशा की रौनक थी। फसलें हुई हैं तो मजूरी भी मिलेगी, बनिहारी भी। भिगमंगों को भीख भी मिलेगी, ब्राह्मन देवता को दान भी मिलेगा। और गिरस्तों का क्या कहना? मूँड़न, छेदन और सुन्नत से लेकर सराध और चलीसा तक सब काम इन्हीं फसलों के भरोसे चलता है। अच्छी फसलें देखकर महाजन को भी कर्जा देने में उत्साह होता है। पुजारी मन्दिरों में दिल से घण्टी बजाते और मन से आरती उतारते हैं। फसल अच्छी दिखायी दी तो मिन्नत-मनौती में भी सुभीता रहता है। काली माई को छागर की जोड़ी, बरहम बाबा को फूल-छत्र, पित्तरों की गया का पिंड, बाबा कुसेसरनाथ को घी-दूध—यह सब तुम तभी करोगे जबकि खेती सुतरेगी। समय-समय पर बादल न बरसे और बाढ़ नहीं आवे तब तो ठीक है, नहीं तो खेती हुई चौपट और खेती चौपट हुई तो लोगों के गाल चुकट जाएँगे, आँखें धँसकर अनगढ़ दिया बन जाएँगी।

इस बार लेकिन कमला मैया की किरपा हुई थी, जहाँ देखो वहीं लछमी महारानी धान के रंग-बिरंगे शीशों पर छाई हुई थी। हाट-बाजार में इनी से अनाज का भाव काफी नीचे उतर आया था। दो रुपैया मन धान और तीन रुपैया मन चाउर था। मकई सवा रुपैये और मड़ुआ डेढ़ रुपैये मन था।

हमने पहले ही पक्का कर लिया था कि भर पूस धनकटनी करेंगे। धान काटने की मजूरी से इतना अन्न हो जायगा कि चार महीने का दुतान चलेगा। मगर माँ कातिक में पड़ी बीमार, पैंतीस जून उनने कुछ नहीं खाया था। काफी कमजोर हो गई थी। गाँव के बैद जी ने बुखार को और लम्बा कर दिया था। यह तो खैर हुआ कि संजोग से फूल बाबू आ गए और छोटी मलिकाइन की मेहरबानी

हुई। एक बोतल अलवर टोनी उन लोगों ने मँगवा दिया था, थोड़ा-बहुत पथ-पानी का भी इन्तजाम कर दिया।···

रेवनी से मैंने पूछा—तुझे इतना भी नहीं फुरा कि भैया को एं गो पोसकाट लिखवाकर भेज देती !

मैया ने मना कर रखा था—वह बोली।

मुझे रेवनी की अकिल पर तरस आई। इसमें भला अम्मा को पूछने की क्या बात थी ? चार अच्छर किसी से लिखवा लेती और टीसन पर ढोल टँगा रहता है उसमें डाल आती पोसकाट ! यह तो ससुराल में अपने नैहर का नाम हँसावेगी, हे भगवान !

मगर कसूर रेवनी का नहीं था। पीछे मालूम हुआ कि लिखने वाला नहीं मिला। छोटे मालिक से वह लिखवाती तो कैसे ? बल्ली बाबू का छोटा भाई पढ़ाई छोड़कर घर बैठा हुआ था। उससे लिखवा सकती थी लेकिन रेवनी की हिम्मत नहीं हुई वहाँ जाने की। वह लड़का थोड़ा बदनाम था और उन लोगों का मकान गाँव से ज़रा हटकर, बाँसों की लम्बी झुरमुटों की आड़ में पड़ता था। उधर जाते हुए रेवनी ही नहीं, गाँव की कोई भी बहू-बेटी काँप उठती थी। बाँसों का वह छोटा-सा जंगल लुच्चों के लिए बाग था। कई तरह की खट्टी-मीठी कहानियाँ उस झुरमुट के बारे में मैं बचपन से ही सुनता आया था। अच्छा हुआ, रेवनी उधर नहीं गई चिट्ठी लिखवाने।

माँ अब भी कमजोर थी फिर भी धनकटनी में वह हमारा हाथ बटाना चाहती थी। मैंने समझाया—मर जाएगी, बेटा-बेटी और पतोहू कोई नहीं काम आवेगा। आप भला तो जहान भला ! बड़ी मुश्किल से उसने माना, फुच्ची-भर गाय का दूध रोज लेने लगी।

हम दोनों भाई-बहन मालिकों के खेतों में जाकर धान काटते थे। रात का रखा हुआ खाना सुबह-अँधेरे हाथ-मुँह धोकर खा लेते थे। मैं जब तक हुक्का पी लेता था तब तक रेवनी बर्तन-बासन माँजकर चूल्हा-चौका कर लेती थी। फिर कमर में हँसिया खोंसकर हम खेतों की ओर चल देते। अगले रोज किस खेत में फसल कटेगी सो पिछली शाम को ही गिरहथ बता देता था। मर्द-मेहरारू, जवान-बूढ़े सभी ठीक बखत पर खेत में पहुँच जाते थे। एक कतार में होकर बनिहार धान काटना शुरू कर देते हैं। निचले खेतों में धान के पौधे पाँच-पाँच छः-छः हाथ होते थे, उनके सिरिफ शीश छीप लिए जाते थे। हमारी तरफ ऐसे निचले खेत कम थे ! यहाँ तो भैया हम जड़ से काटते थे। काटते समय खप-खप, खुप-खुप की आवाज उठती रहती थी। यह आवाज कानों में बड़ी मीठी लगती थी।

पहर-डेढ़ पहर तक तो हम सारी सुध-बुध खोकर धान काटते रहते ! हँसी-खुशी की आवाज, गाने की आवाज और खेत-खेत घूमकर लाई-मूढ़ी बेचने वालों की आवाज, सारंगीबाजों की भरथरी विलाप···कैसे दुपहरी के बाद तिपहरी

आ जाती, पता ही नहीं चलता। माँ, खाना और पानी लिए आती तो घड़ी-भर के लिए हँसिये को आराम मिलता। मेंड़ पर नहीं, खेत ही में वैठकर हम खाते। धान-खेतों में कटी फसलों की खूंटियाँ मुलायम ही होती हैं। तुम्हारे मुलुक में गेहूँ, जौ, ज्वार-वाजरा होता है, उनकी खूंटियाँ कड़ी होती हैं। उन पर इस तरह वैठा-लेटा नहीं जा सकता।

वड़े-वड़े मालिक खुद खेतों में नहीं आते थे। वराहिल, गुमस्ता या कोई दूसरा नौकर-चाकर धनकटनी की देखभाल करता। मझोले मालिक और गिरहथ लोग खुद आते थे। छोटे-छोटे किसान और मामूली खेतिहर वड़ी मुस्तैदी से मजदूरों से काम लिया करते। खेत-मजदूरों के अपने भी तो खेत हुआ करते थे जिनकी फसल वे खुद काट लेते वे! मेरे भी चार कट्ठा खेत थे जिसमें धान था। अपनी फसल हमने आप काट ली थी।

वत्तीस वोझों की मजूरी एक वोझ धान होती थी। खास मजूरों को मालिक लोग कुछ ज्यादा मजूरी देते थे। उस साल हमने वीस-वाईस रोज फसल काटी थी। मजूरी में छः मन धान हुआ था। वह तीन महीने के गुजारे के लिए काफी था। माँ वीमार न पड़ती तो दो-तीन मन और होता। अपनी जमीन में छः मन धान हुआ था। दो-तीन कट्ठा खेत में रवी की भी फसल थी, जौ, चना और खेसाड़ी।

खलिहान मालिकों के वड़े-वड़े थे। सधारन गिरहथ का खलिहान भी सधारन ही हुआ करता था। तिपहरी के वाद धान के वोझ खेतों से खलिहान आने लगते थे। पहर-भर तो खाली ढुलाई में लग जाती थी। खलिहान कभी खेत के नजदीक होता है तो कभी दूर। फसल के वोझ एक पर एक रखते जाओ और टाल वनता जायगा। टाल या खोप इतना-इतना वड़ा हो जाता है कि गर्दन टूट जायगी ऊपर ताकोगे तो, हाँ, हमारी वस्ती में ऐसे गृहस्थ चार ही पाँच थे जिनकी उपज हजार मन से जास्ती थी—वड़े मालिक, मझले मालिक, छोटे मालिक और वल्ली वावू। मझले मालिक की उपज ढाई हजार मन की, वल्ली वावू की डेढ़ हजार मन की। वाकी हजार मन वाले थे। यह हुई सिर्फ धान की उपज की वात, रव्वी और भदई की उपज इससे अलग थी। सौ-डेढ़ सौ मन वह भी हो जाती थी।

खलिहानों में दंवरी का काम माघ-फागुन तक चलता रहता। फागुन में रवी की फसल तैयार होने लगती। सरसों, तीसी, खेसाड़ी, चना···चैत में जौ, गेहूँ, मसुरी वगैरह।

हमने अपना धान झाड़-पीटकर तैयार किया। खेत-मजदूरों के पास कहाँ खेत और कहाँ खलिहान, कहाँ वैल और कहाँ हर-फार? मनियार चाचा के यहाँ से वड़ी ओखली ले आये और उसी के कमर पर सारा धान हमने झाड़ डाला। तुम्हारे तरफ तो ऐसा नहीं होता है न? ओखल को लेटा देते हैं, झाड़नेवाले धान के पौधों को उस पर जोर-जोर से पटकते हैं। ठीक उसी तरह जैसे धोवी पत्थर

या लकड़ी पर कपड़े को पटकता है; शीश से झड़-झड़कर धान से दाने नीचे गिरते जाते हैं। झाड़े हुए पौधों को अलग रखते जाओ और दाना झाड़ते जाओ। लेकिन इस तरह सैकड़ों मन धान नहीं झाड़ा जाता, यह तो दो-चार मन धान वालों का ढंग है।

मिला-जुलाकर देखा तो छः महीने का खर्चा घर में मौजूद था चार पराती खाने वाले भी तो होंगे। कौन, दस रोज तो रह गये थे गौने के।

माँ जल्दी अच्छी हो गई। लेव-मूँदकर उसने घर के टाट को चिकना बना दिया। अलग एक सात हाथ का छप्पर डलवा लिया मैंने। उसका भी रुख आँगन की ही ओर था। आँगन के बाहर घर के सामने दूब थी, उसे छील-छालकर साफ कर लिया।

डोरा-सिंदूर और सगून का समान लेकर चुन्नी मेरे ससुराल गया और गौने के लिए उन लोगों को राजी कर आया। यह एक किसिम की रसमअदाई थी।

मेरी सास को मरे पाँच-सात साल हो गये थे। ससुर के तरफ से गौने का इशारा पिछले साल ही मिल चुका था। माघ सुदी पंचमी का दिन, गौने की मुहूरत तय हुआ। चुन्नी की माँ, उसकी घरवाली, भौजी और माँ-बहू सबका अवर्जात बढ़ गया। कोई वरी के लिए वेसन पीसने बैठती तो कोई पुती-लिपी घर की टाटों में हाथी-घोड़ा आँकने लगती। तेल में सेंदूर घोला गया और उससे कई जगह पेड़-पौधे आँके गये। मैं देख-देखकर हँसता था। धनवन्ती चाची ने मुझे हँसते देखकर कहा—तुम्हें क्यों पसन्द आवेंगे भैया? दरभंगा-पटना घूमे हुए हो, हम तो जाहिल-चपाट ठहरीं। हमें क्या पता कि फूल-पत्ती कैसे आँकी जाती है। अपनी घरवाली को पटना ले जाना; सीख आएगी···

धनवन्ती चाची जब हँसती थी तो घर-आँगन उसके ठहाके से गूंज उठते। उस वखत मेरी लाज-शरम उसके ठहाके की भरी आवाज में दब गई। चुन्नी की घरवाली भी मुसका रही थी। चुन्नी मुझसे चार महीने बड़ा था। उसकी जनानी मुझको जब-तब छेड़ती ही रहती। पिछली होली में भर लोटा अबीर उसने मेरी नई बनियाइन पर उड़ेल दी और देर तक हो-हो करती रही, तो मैंने क्या यों ही छोड़ दिया? थोड़ी देर बाद अबीर ले आया कि रानी जी मसाला पीस रही थीं, झपाटे से जाकर दबोच डाला और गालों पर आधा पाव अबीर मसल दिया; घड़ी-भर 'मइयो-बप्पो' करती रहीं! समझ गईं कि बालचन्द को छेड़ने का कैसा फल मिलता है।

यह कोसी-किनारे की लड़की थी। साँवली सूरत हो, आँख-नाक अच्छी हो, चेहरे का काट ठिकाने का हो तो ऐसी जनाना खूबसूरत ही कहलायगी भैया, नहीं कहलायगी? उस पर तन्दुरुस्ती अच्छी हो तो क्या कहना! गोद में उसके एक ढाई साल की लड़की थी। मनियार चाचा का मनोरथ था कि पोते का मुँह देखकर मरें। रोज बेचारे नहाकर उस बूढ़े पीपल की जड़ों में लोटा-भर अछिजल

इसीलिए डालते थे। मगर यह अपने वस की बात तो थी नहीं ?

गौने से दो रोज पहले ही मामा आ पहुंचे। तैयारी सब पूरी हो चुकी थी। घर-आँगन की जिम्मेवारी माँ पर थी। नगदी का इंतिजाम मैंने कर ही लिया था। हाँ, साड़ी एक खंड और मँगवानी पड़ी।

मुझे याद नहीं था कि जिससे कभी शादी हुई उसकी शकल-सूरत कैसी है। दो-एक दफे दिमाग ने कोशिश की याद को सही लकीरों पर लाने की मगर कुछ फल नहीं निकला भैया। फिर तंग आकर मैंने कहा—छोड़ो भी, अपने ही कौन मैं राजा नल हूँ कि उसे दमयंती होना ही चाहिए!

बाढ़ की नदी में तैरते वक्त जैसे कोई थककर आँखें मूंद ले और थोड़ी देर के लिए देह को छोड़ दे, उसी तरह मैं अपने को चिन्ता की धार में छोड़ देता कि चट से नींद आ जाती···

मामा, चुन्नी और मैं—तीन जने गये गौना कराने। पैदल ही जाना पड़ा, उस ओर रेल नहीं गई है। वहेड़ी से दो कोस और दच्छिन-पच्छिम। गाँव का नाम सितलपट्टी था। बस्ती कोई बड़ी नहीं, निहायत मामूली। चार-छै घर राजपूत, पच्चीस-तीस घर ग्वाले और पचास-एक घर जुलाहे थे। गाँव से कोस-भर पच्छिम जीवछ नदी का छाड़न था, बरसात में उसके जरिये कमला का पानी यहाँ की फसलों को दो-चार दिनों के लिए डुबा जाता था। उससे नुकसान नहीं, गिरहथों को फायदा ही था। राजपूत मझोले ढंग के काश्तकार थे, छोटे-छोटे खेतिहर। जमींदारी शुंभा ड्योढ़ी के राजपूत जमींदारों की थी। खेत-मजूर हो चाहे खेतिहर, सधारन गिरहथ हो चाहे काश्तकार—सितलपट्टी वालों की जिनगी उतनी कठोर नहीं थी जितनी हमारे गाँव वालों की। इसकी दूसरी वजह यह भी थी कि वहाँ के जुलाहे खेती के अलावा अपना वखत तानी-भरनी और करघों के सहारे गुजारते थे। उनके टोले में दस करघे चल रहे थे। दरभंगा-समस्तीपुर से सूत लाकर वे चादर, अँगोछा, तहमद-लुंगी, चारखाना, वगैरह तैयार करके पास-पड़ोस के हाटों पह और नजदीकी बाजारों में बेच आते। बीसों जवान जुलाहे ढाका और कलकत्ते रहकर अपने गाँव की खुशहाली को बढ़ा रहे थे। सच पूछो तो इन जुलाहों ने उस बस्ती का ढांचा ही बदल रखा था।

वहाँ हम एक दिन और एक रात-भर रहे। हमारी बिरादरी वालों ने वहाँ एक साधू को पाल रखा था। वह अपर पास करके पहले कांग्रेस का भोलंटियर और बाद में रमता जोगी बन गया था। अब उमर तीस के लगभग रही होगी। यादव महासभा का भी परचार करता था। सितलपट्टी में उसकी फूफी रहती थी, निपूती होने से माइनजन को अपना डीह-डाबर सौंप गई थी। वही मकान बाबा जोगादास का आश्रम बन गया। इनका नाम पहले कारी राउत था। उन्होंने हम तीनों को उस शाम को भंग पिला दिया। मुझे कुछ भी नहीं मालूम कि उस रात ससुराल की औरतों ने मुझसे क्या-क्या रस्म अदा करवाई!

सुबह गौने का महूरत था। महफा और चार कहार उन्हीं लोगों ने ठीक कर रखे थे। औरतों ने रो-रोकर आसमान को माथे पर उठा लिया। गौने वाली का तो मानो कण्ठ ही फूट गया था। पीली साड़ी और लाल चोली। पीठ की ओर से साड़ी पर हथेलियों के लाल-लाल थप्पे पड़े हुए थे। तलवों में महावर के नाम पर लाल रंग अपनी गहरी लाली खिला रहा था। आँचल में धान-दूब-पान की पत्ती और सावित सुपारी और हलदी बँधी थी। हथेलियों में मेंहदी का निशान दिखाई पड़ा।

रस्म के तौर पर थोड़ी दूर तक महफे में मुझे भी रहना पड़ा। गाँव के वाहर मैं उतर गया। दो आदमियों का बोझ चार वेचारे कैसे ढो पाते? और शरम के मारे उसकी गर्दन भी तो टूट गई होती! अरे हँसते हो! नई-नवेली का शील-संकोच से तुम्हारा भी तो पाला पड़ा ही होगा, या कि नहीं पड़ा? झूठ मत बोलो भैया!

वहू का अपना भाई नहीं था, चचेरा भाई साथ हुआ। दही, पकवान, केरा और समधिन के लिए साड़ी लहठी··· एक आदमी छीकों पर यह सब लिए हुए था, पटई के सहारे। वीच में दो वार पर्दा उठाकर महफे में झाँका, एक दफे नजर मिलते ही मुस्कुरा पड़ी और दूसरी दफे नींद में मगन थी वेचारी। पहले-पहल यहीं मैंने उसकी झलक पाई। अरे देखा तो रात को भी होगा ही लेकिन साले ने जाने भंग में क्या मिला दिया था, सुध-वुध विलकुल खो गई थी! अभी मगर होश में था। आहा! वुचुवा की मैया का वह चेहरा आज तक नहीं भूल पाया हूँ भैया! वह भी क्या भूलने की चीज है? गोल मुँह, वदामी आँख, छोटी नाक, पत्तर-सा कपार, सुनहले वाल, पतले होंठ, तनिक-सी ठुड्डी, सुरेव गर्दन—बड़ी भली लगी वह। पहली झाँकी में ही इस मन में धँस गई, सच कहता हूँ भैया! माँग में सेंदूर की घनी लकीर, कपार पर चमकी के खुदिया दानों से सिंगार किया हुआ था। गले में सुन्दर हँसली थी। वाँहों में वाजूबन्द, कलाइयों में लाख की चूड़ियाँ। पैरों में गिलट के कड़े। दाहिने हाथ की दो अँगुलियों में पीतल की अँगूठियाँ···माँ नहीं थी तो क्या, वाप ने सँवारने में कोई कसर नहीं रखी। मामूली खेतिहर था वेचारा। मैं ही कौन-सा नवाव का नाती था? सच पूछो तो मुझसे मेरे ससुर की हैसियत कई गुनी अच्छी थी।

जाड़े का दिन यों ही छोटा होता है। हम पहले से भी थके-माँदे थे ही, उस रोज तो और भी चूर-चूर हो गये। कहार तो मानो दौड़ते ही चलते हैं। नई-नवेली वहू-वेटी अगर पालकी में सवार रही फिर तो उनके पैरों में पंख ही लग जाते हैं। मैंने और चुन्नी ने कहारों को मना कर दिया—रफ्तार इतनी तेज मत करो, मामा वेचारे तुम लोगों के साथ कव तक दौड़ सकेंगे?

इस पर अधेड़ उम्र का एक कहरिया तुनुककर वोला—मैं तो पहले से ही जानता था, इसी से चौठी-भर चढ़ा आया हूँ···हूँ। अव क्या कछुए की चाल चलें हम?

मामा ने डपटकर कहा—खच्चर कहीं के ! छोटी जात वालों की अकिल भी छोटी ही होती है। चल, जितनी तेजी से चलना हो,···छोड़ दे बलचंद, दौड़ें ससुर !

कहारों में से जो सबसे कम उमिर का था वह काफी कटमस्त और खुश-मिजाज था। ज़रा रुखाई से उसने कहा—तो गालियाँ दोगे तुम ?

बाकी कहारों ने हमारे तरफ घूरते रहकर उसके गुस्से पर और शान चढ़ा दिया।

मामा के देह पर पैर से लेकर माथे तक बुढ़ौती छाई हुई थी। बाल अच्छी तरह सफेद हो चुके थे। इस वक्त वह हथेली पर खैनी मल रहे थे। ग्वाले को एक तो गुस्सा आता नहीं और कहीं आ गया तो परलय मच जाता है भैया। सो, मामा भी बमक उठे और छाती तानकर उस जवान कहार को उन्होंने ललकारा; आगे बढ़ते हुए बोले—तो क्या कर लेगा हमारा ?

पहले कहार ने उस जवान को जवाब देने से रोक दिया। चुन्नी ने इधर मामा को सँभाला। बीच-बचाव करते हुए मैं बोला—इसमें नाराजी की भला बात ही क्या थी ? कैसे भी हम चलें, साँझ से पहले ही घर पहुँच जाएँगे···

इतना कहकर कहारों की ओर नजर मारी। मामा की तरफ देखकर बोला—ये बेचारे कहाँ तेज चल रहे हैं ? अपनी असल चाल अगर ये लोग दिखावें तो आल्हा-ऊदल के घोड़े भी इनका मुकाबला नहीं कर सकेंगे।

दोनों ओर का गुस्सा ठण्डा पड़ गया। मैंने पेड़ की आड़ में मामा से अलग ले जाकर उस नौजवान कहार को समझा-बुझा दिया कि तुम लोग अपनी चाल में भी चल सकते हो लेकिन डेढ़-डेढ़ दो-दो कोस पर हमसे मिल लिया करना, बस ?

इस पर उसने खुश होकर कहा था—हाँ मालिक, कंधे पर भारी बोझ हो तो फिर फुर्ती ही फुर्ती चाहिए। वैसी हालत में तनिक भी सुस्ती कोख-करेज को खखोड़-खखोड़कर खा जाती है।

कैसी बात कही थी उसने ? थी न लाख रुपैया की बात ?

आधा रास्ता पार करने पर हम घड़ी-भर के लिए खाने को रुके। सड़क के किनारे ही इनारा था। कलमी आमों का बड़ा बगीचा। पीपल का भारी पेड़। देवी का मंडिल। स्कूल का खपरैल मकान। इंजन की सीटी सुनाई पड़ी।

हम तीनों चिउड़ा भिगो रहे थे कि फिर सीटी सुनाई पड़ी। अब की मामा ने पत्तल से हाथ उठाकर पूछा—कौन टीसन है यह बालचन्द ?

सकुरी—मैंने कहा। चुन्नी ने मुंह खोला—जहाँ बैठे हो मामा, यह कौन गाँव है, जानते हो ?

अपनी अनजानपन जतलाने के लिए मामा ने मुंह बा दिया। चुन्नी ने उठकर दही परोसा। गठरी में नमक खोजते हुए वह बोला—यह दरभंगा है मामा, कई बार आया हूँ मैं इधर; बड़े मालिक की मुटमैंसी इस गाँव में भी है और नेहरा में

भी। यहाँ के सरसुती लोग और नेहरा के चउधरी लोग मुलुक-भर में नामी हैं।

मैंने पहला कौर निगलते हुए कहा—मैं भी इधर से गुजरा हूँ चुन्नी।

भक् तू कब इधर आया ?—वह डपट बैठा तो मैंने कहा—

बाबा कुसेस्सरनाथ का दरसन करने जो जाते हैं वह किधर से जाते हैं ?

अब चुन्नी को कबूल करना पड़ा—हाँ, इधर से ही कुसेस्सरधाम का रास्ता गया है।

हम चारों ने चूड़ा-दही खाया। कहारों ने सूखा ही चिउड़ा फाँक लिया। हम मामा के अधीन थे, और वह इसके लिए कतई राजी नहीं हुए कि थोड़ा दही कहारों को भी दिया जाय।

सवार को भी वही खिलाया गया हमारी निगाह बचाकर। वह ज़रा देर के लिए पालकी से निकली भी। इधर हम हुक्का गुड़गुड़ाते रहे। मामा ने हुक्का साथ ले लिया था। खैनी उन्हें उतनी प्यारी नहीं थी जितना प्यारा हुक्का था। कहते थे—बाँभनों की सोहबत से ही सुर्ती खाने की लत पड़ी, मार साली के, मुँह गन्धा देती है !

दहउरा से डोली उठी तो एकदम पंडौल चली गई। कौन, डेढ़ ही कोस तो पड़ता था। मामा भी टनमना गये थे। राज के सर्कल के नगीच सड़क के किनारे-किनारे बड़े-बड़े छायादार पेड़ थे, मामा वहीं लुद् से बैठ गये तो हमें भी बैठना पड़ा वर्ना हम जरा आगे चलकर हाट की गाछी में बैठकर सुस्ताने वाले थे।

चुन्नी गये, मामा के लिए वहीं पानी ले आये। अब की खैनी का लम्बर था। हथेली पर तम्बाकू-चूना ठोका गया। थोड़ी देर में सुर्ती तैयार हुई तो चुन्नी और मामा ने उसे अपने-अपने होंठ तले दबाया और चल पड़े। मैं बीड़ी का भगत ठहरा, एक फूंककर आधा टुकड़ा दूसरी का भी खतम कर चुका तब उठकर विदा हुआ। रास्ते में एक-दो बार उस जवान को भी मैंने बीड़ी दी थी, बिल्कुल स्वारथ भी किस काम का भैया ? सस्ती-महँगी और खुली-तंगी तो जिनगी-भर साथ चलेगी। जीना है संग्राम बन्दे, जीना है संग्राम ! सुना है न कभी ?

एक जगह सड़क बेहद खराब थी। वहाँ सवारी को डोली से उतर जाना पड़ा था। डिस्टिक बोड का पुल जाने, कब से टूटा पड़ा था। उस साल की बरसात में उस जगह सड़क पर कई गड्ढे पड़ गये थे मगर अब तक मरम्मत नहीं हुई थी। वहाँ आते ही सभी को सवारी छोड़नी पड़ती। मैंने मन में ठान् लिया कि राधा बाबू से कहूँगा, बोड के चेरमेन उनके दोस्त हैं।

राम-राम करके आगे बढ़े। रझमा के पास एक जगह आम के बौरों की खुशबू का ऐसा झोंका आया कि तबीयत मस्त हो गई। माघ बीस रोज बीत चुका था। आम के मजरने का समय आ गया था। कहते हैं आम का बौर चूस-चूसकर ही कोयल अपनी तान को तीखी बनाती है। खुशबू का वह झोंका लगा तो मामा तक अपनी लाठी टेककर खड़े हो गये। चुन्नी बोला—साला पेड़ ! मानो चिढ़कर बौराया है, ऐसी मस्त खुशबू तो यार कहीं नहीं मिली थी आज तक !

पास के मेंड़ पर एक आदमी खड़ा था। एक हाथ में दो गन्ने; दूसरे में ताजी खोंटी हुई मटर के साग की मूँड़ियाँ! वह गुनगुना रहा था।

सखि हे मजरल आमक बाग ?
कुहू-कुहू चिकरए कोइलिया
झींगुर गावए फाग !
कन्त हमर परदेस बसइ छथि
बिसरि राग-अनुराग !
विधि भेल वाम, सील भेल वैरी
फूटि गेल ई भाग !
सखि है मजरल आमक बाग……

मैं समूचा गाना सुन लेना चाहता था। मगर चुन्नी से नहीं रहा गया, उसने बीच में ही टोक दिया—खूब मजरा है, कौन आम है बाबू ?

कपुरिया के दो पेड़ हैं, वही अबकी बौराये हैं—जवाब मिला।

जभी तो—मैं और चुन्नी साथ ही बोल पड़े।

मामा ने धीमी आवाज में कहा—कपुरिया आम खाने में भी ऐसा ही गमकता है। बाबू, यह किसकी बगिया है ?

शकल-सूरत तो नहीं, लेकिन कपार का लाल टीका और छाती पर के सफ़ेद [illegible]ना रहे थे कि वह बराहमन है। ये लोग सीदे-साधे सबद को चिबा-चिबाकर [illegible]ने उसने कहा—बाबू छत्रमणि ठाकुर की।

[illegible] दिया—छतरमइन ठाकुर ! बड़े अकवाली आदमी होंगे।

[illegible] अपने तो ठाकुर परतापी थे ही मुदा लड़िका दोनों

[illegible]ड़ये भी मामा, डोली बहुत आगे निकल गई। पकने लगेगा [illegible]गुठली ले जाइयेगा, चलिए ?

[illegible], दो-चार गो आम ही मिल जाएँगे—बराहमन देवता बोले—[illegible], असाढ़ में…तुम लोग कौन आश्रम हो ?

[illegible]शी—चलते-चलते चुन्नी के मुंह से निकला।

[illegible]धर मैया और रेवनी और टोल-पड़ोस के मर्द-मेहरारू हमारा बाट जोह[illegible]। दाल-भात, चार तरकारियाँ, बड़ी, अचार, नींबू और आँवले की चटनी… [illegible] कुछ तैयार था। दुलहिन के लिए खीर बना था।

डोली पर गुलाबी रंग की साड़ी लपेटी हुई थी। छोकड़ों ने दूर से ही देख [illegible]या। गाँव के बाहर पोखर के भिडे पर रेवनी और चुन्नी की भाभी वगैरह [illegible]यानी के लिए खड़ी हो गई।

मुझे लाज लगी। मामा से बोला—तुम चलो मामा, मैं दिसा-फराकत से [illegible]बट के अभी आया……

चुन्नी ने मुस्कराकर नजर मारी। यग ही जानै यग की भाषा ! मैंने उसे

इशारे से ही डाँट दिया। शरमाये को और शरमाकर क्या फायदा ! मगर ऐसे भी लोग होते हैं जिनको भिगोये पर पानी उलीचने में मजा आता है। मामा आगे बढ़े तो चुन्नी के कानों में मैंने कहा—बड़ी लाज लग रही यरवा, क्यों तू मेरे पीछे पड़ा है हाथ धो के ?

ऐसे मौके पर सबका यही हाल होता है—चुन्नी ने हँसकर कहा और अपने दाहिने हाथ से मेरे बाएँ गाल पर एक चपत मार दी...वह भी गाँव की ओर चला गया।

लेकिन नहीं, रिवाज के मुताबिक दुलहा और दुलहिन दोनों को एक डोली पर सवार होकर आँगन में दाखिल होना चाहिए।

मालिक की हवेली से दच्छिन बाग था, उससे दच्छिन रास्ता। पच्छिम की ओर हमारे घर थे। बाग के पास मुझे डोली पर सवार हो जाना पड़ा, वह घूँघट डाले हुए थी। उसकी हथेली पर अपनी अँगुली से गोदकर मैंने छेड़ने की कोशिश की लेकिन वह तो जरा भी नहीं शुगबुगाई, कठुआ गई थी।

सभी उम्र की औरतें गीत गाने लगीं। मोटी और महीन, शंख-जैसी भोंपू आवाजें सब मिलके एक अजीब समाँ बाँध रही थीं।

आँगन की मुहानी पर पालकी रखी गयी और कहारों को फुर्सत मिली। देखा तेल-बाती डालकर कछुए के खप्पर का दिया बना लिया गया है। परछन की वही चीज अब तक मुझे याद है ! हम दोनों से माथे पर धान छींटकर मुँह, बाहों, छाती और घुटनों से दही छुआकर चुमावन किया गया; बस !

देर तक जनी-जात गाती रहीं। मुझे छुट्टी मिल गई थी। कुछ खाकर हम सभी सो गये, मामा शायद देर तक जागते रहे थे। कहारों के लिए चुन्नी ने अपना बथान दे दिया, पुआरा बिछाकर उन्होंने वहीं आसन जमाया। ऊपर छप्पर तो थे ही। मेहमान दोनों नई मड़इया में ठहराये गये। टिकिया, हुक्का और पीने की तम्बाकू का इन्तजाम था ही। आवभगत का भार था चुन्नी के छोटे भाई पर। गारजियन का काम मनियर चाचा कर रहे थे ! ऐसा लगता था कि समूची बिरादरी मेरे ही कामों में जुटी हुई थी। नौजवान भाई मेहमानों को चींथ रहे थे—साले, जुलाहे की औलाद हो ! तुम्हारी नानी हमारे ही पड़ोस की थी... मुशहड़ हमारे पड़ोसी हैं......

मेहमान तो गूँगा पड़ गया, साथ जो आदमी आया था वह बोला—तभी तो आप लोगों की साँस से डोंका की बू आ रही है...

उनका यह सब चलता रहा और इधर एक ओर खजूर की पठिया पर मैं सो गया।

जाने कितनी रात गये, रेवनी ने झकझोरकर मेरी नींद तोड़ दी। शराबी की तरह गुर्राकर मैंने उसकी कलाई पकड़ ली और कहा—क्या है ?

भीतर चलो भैया !—बाँह पकड़कर उठाते हुए वह बोली—माँ बुलाती हैं, उठो, जल्दी चलो।

नींद का झोंका आया तो मैं फिर ढेर हो गया। रेवनी हारकर वापस चली गई। थोड़ी देर बाद माँ आई और पीठ पर हलका चाँटा लगाकर बोली—उठ रे वाली, उठ, भीतर चल !

चिकोटी काटकर, कान में तिनके से सिहरन पैदा करके माँ ने आखिर मुझे उठा ही दिया। अकास में चनरमा नहीं थे। आज पंचमी थी न? पाँच ही घड़ी अँजोरिया रही होगी…

कितनी रात बीती ?—माँ से पूछा और जँभाई ली। माँ मुझे आगे ढकेलती हुई बोली—दो पहर रात बीत गई बेटा ! मुझे पिछली दो रातों में नींद ही नहीं आई, पलकों पर पनसेरी पड़ी है मानो; चल सो जा ! हम भी सो जायेंगे…

घर के अन्दर ढकेल दिया मैया ने। पुआल की सेजावट पर बोरी बिछी थी। दुलहिन दुबककर एक ओर हो गई थी और सोने का बहाना किए हुए थी। फटक ढकेलकर अन्दर से मैंने घर को बन्द कर लिया।

ढिबरी आले में जल रही थी, लौ काफी तेज थी। किरासन की भभक से दिमाग भारी हो उठा। रानी जी से इतना भी नहीं हुआ कि बाती तनिक कम कर देतीं !

फिर बेचारी पर दया आ गई—फँसाकर लाई गई चिड़िया ही तो है ! पराये घर में क्या छुए, क्या न छुए ! किससे क्या कहे, किधर कैसे देखे ! महीना-दो महीना तो बेचारी को अपना बथान पहचानने में लग जायगा……

खुद ही मैंने ढिबरी आले से उतार ली और उसका मुंह खोला। बत्ती पर उँगली डालते ही घुप ! बुत गई साली, धत् तेरी !

जो सोने का नाटक रचे हुए थी, उससे नहीं रहा गया। खिल-खिलाकर हंस पड़ी……

ढिबरी छोड़कर मैं बिस्तरे की ओर लपका, ठिकियाकर उसे बाँहों में कस लिया तो मेरा मुंह उसकी कनपटी पर पड़ा। उतावले में फुसफुसाकर मैं बोला—तरीका तो तुमने यह अच्छा निकाला लेकिन इतने जोर से खिलखिलाना ठीक नहीं था, मैया और रेवनी क्या कहती होंगी अपने मन में ?

मुझे अँधेरे में अनुभव हुआ कि बेचारी लजाकर काठ हो गई है। चुम्मा लेते हुए मैंने कहा—खैर, कोई बात नहीं है। अच्छा, दियासलाई कहाँ है, बताओ ?

वह उठी। सिरहाने से माचिस निकालकर चुपचाप जलाया, ढिबरी की बाती से तीली को छुआकर फिर उसे बुताकर अलग फेंक दिया…माँ को मद्धिम करके ढिबरी को आले पर रख रही थी तो देखा, चेहरा भारी हो आया था। मिट्टी से रगड़कर जब अपनी उँगलियाँ मैं साफ कर चुका तब उठकर उसे अपने पास बैठाया।

फिकिर काहे की ?—मैं बोला—अपने घर में ये दो ही परानी तो हैं, बाकी मैं हूँ और अब तुम आई हो। तुम्हारी खिलखिलाहट सुनकर माँ बड़ी खुश हुई

होंगी, आज उसके मन पर से चिन्ता का सिल उतर गया होगा। देखना, बुढ़िया को आज से अच्छी नींद आएगी, रही रेवनी सो वह बड़ी सुधंग है। वह तुम्हारे इस डोंठपने का कहीं भी जिकिर नहीं करेगी।

अब उसके चेहरे की सात्विक सूरत लौट आई थी। बात-बात का फरक है भैया, एक बात आदमी को रुला देती है और दूसरी बात उसे हँसा देती है। सोलह-सत्रह की उमर, मेहरारू की जात और ससुराल की पहली रात—लाज और डर का भला क्या पूछना!

मैंने कहा—घर का नाम तो बताओ।

फिर लजा गई। दुबारा पूछा सो आहिस्ता से बोली—सुगनी!

सूगा तो तुम हो ही—ठोढ़ी उठाकर उसके मुँह को अपने तरफ करके मैं बोला—बड़ा अच्छा नाम है। मैं भी इसी नाम से तुम्हें पुकारूँगा।

इनकार तौर पर उसने माथा हिलाया।

क्यों?—मैंने पूछा।

कपड़े से एक खूंट को अँगूठे में लपेटती हुई बोली—यह मेरा नइहर नहीं है, यहाँ उस नाम से बुलाओगे तो सब मुझे चिढ़ायेंगे।

तो अकेले में सुगनी कहके बुलाऊँगा, है न मन्जूर?

अबकी उसने मुस्कुराते होंठों और नाचती नजरों से मंजूरी का इशारा किया।

इसी बीच कई बार जँभाई ले चुकी थी। मैंने कहा—सो जाओ और हाँ··· यह रहा तुम्हारा मुँह-बजावन······

पाँच रुपैया अंटी से निकालकर उसके हाथ पर मैंने धर दिया। जो रस्म नइहर में नहीं पूरी हुई, वह आखिर यहाँ पूरी हुई। उस रात बाबा जोगादास ने भंग पिलाकर मति-गति मेरी हर ली थी। इसीलिए यह रुपया माँ ने मुझे दिया था।

बाप ने सुगनी को रजाई दी थी; हम वही ओढ़ के सो गये। बेचारी को नींद भी आ रही थी और बात-बात में लजा जाती थी सो अलग। मैंने उसे सो जाने दिया। हमारी साझी जिन्दगी का यह पहला ही मौका था। वह मुझे काफी शर्मीली और ठण्डी मालूम हुई। बिना माँ के पाँच-सात साल बेचारी ने न जाने कैसे काटे थे।

सात

गौना के बाद मैंने तय किया गाँव नहीं छोड़ेंगे और दूर-दराज जाकर चाकरी भी नहीं करेंगे। तुम कहोगे, नई मेहरिया का मोह हो गया! हाँ, भैया, सो तो था ही। झूठ काहे कहूँ, जनानी मुझे बड़ी गुनमन्ती मिली।

जब से वह आई, कैसे वखत बीतने लगा कुछ पता नहीं चलता था। अगले वैशाख में हमने रेवनी को विदा कर दिया, माँ को कचोट जरूर हुआ मगर रास्ता भी तो दूसरा नहीं था। आदमी मेरी बहन को भी अच्छा ही मिला था। वह पटना के एक होटल में काम करता था। पुरानी और बढ़िया नौकरी थी। खा-पीकर पाँच रुपैया महीना ऊपर पाता था, रेवनी बहुत रोई थी, माँ भी। धन्नो चाची ने समझाया—जभी लड़की होकर पैदा हुई तभी न पराये करम के साथ तेरी नसीब जुड़ गई! कै रोज नइहर रहेगी।

सुगनी माँ को इतना आराम पहुँचाने लगी कि कुछ मत पूछो। घर के अन्दर का कोई काम वह बुढ़िया को नहीं करने देती थी। दुपहरिया में खाने के बाद और रात को सोते वखत सुगनी मलसी में तेल लेकर अम्मा के पायताने बैठ जाती, लगती गोड़-डाँड़ चाँपने। कुआँ पर जाकर नहला देती थी। राख-गोबर खेत में डालना होता तो खुद ही डाल आती। माँ का काम था—मलिकाइन के यहाँ जाकर छोटा-मोटा काम कर देना, दूकान से सौदा-सुलुफ कर लाना, खेत से साग-छीमी तोड़ लाना, मुझे मजूरी करते वखत कलेवा पहुँचा आना।

वह भी सुगनी को बहुत मानने लगी। पैसा-कौड़ी खुद नहीं रखती थी। मलिकाइन के यहाँ खाने-पीने की कोई निम्मन चीज-वस्त हाथ लगती तो अकेले कभी नहीं खाती। कनिआ (बहू) वखत पर खाय, वखत पर सोए, मैया को इसका भारी ध्यान रहता।

अपने खेतों में हम सभी काम करने जाते थे। पहले कुछ दिनों तक माँ ने सुगनी को खेत में नहीं जाने दिया, पीछे मगर वह मान गई। गरीबों के यहाँ भैया यह सब चोंचले-नखरे नहीं चलते। बहू हो चाहे बेटी, खेत में काम करने जाना पड़ेगा, पानी भरना होगा; माल-मवेशी चराने होंगे। सिंगार-पटार में बर्बाद करने लायक वखत गरीब घर की जनानी को कहाँ से मिलेगा भैया? बड़ी जात वाले चाहे कितना ही गरीब हों, उनके घर की औरतें रोजी-धंधा के कामों में मर्दों का हाथ नहीं बटा सकतीं। उनके यहाँ औरतें निकम्मी-निठल्ली बैठी रहती हैं। जितना ही बड़ा खानदान होगा, औरतों में उतना जास्ती निठल्लापन पाओगे। हमारी औरतें मेहनत-मजूरी का दाना खाती हैं। अपनी माँ-बहनों और बहू-बेटियों के हाथ-पैर हमारे यहाँ सिरिफ छूने-मसलने या नाचने-थिरकने का सामान नहीं हुआ करते; हमारी जिन्दगी का सहारा हैं वे हाथ-पैर। क्या मैं झूठ कहता हूँ भाई?

रेवनी ससुराल रहने लगी तो अपनी तीनों बकरियाँ मैंने बेच डालीं, दस रुपये मिले। चरवाहा न हो तो जान की बवाल हो जाती है माल-मवेशी। बकरी तो साली और भी परेशान कर देती हैं। मझले मालिक की गालियाँ सुननी पड़ी थीं एक बार—अब कौन रेवनी थी जो उन पर नजर रखती? दो बकरे थे, सो गुरुओं महाराज को बलि चढ़े। मनौती थी।

उस साल रबी की फसल भी खूब हुई थी। आम भी अच्छे फरे थे। कलमी

बाबू कई बगीचों के मालिक थे। उनसे एक छोटे बाग की रखवाली का काम मुझे मिल गया। दिन को मैया भी अगोरती, रात को मगर मुझे ही वहाँ मचान पर सोना पड़ता। पचीस-तीस पेड़ थे, उनमें खट्टे दो ही तीन रहे होंगे, बाकी सभी पेड़ों के आम बड़े मीठे, रसदार और गूदादार निकले। हमने खाया भी खूब, बेचा भी काफी। मैया ने अमावट भी खूब डाला। तिहाई हिस्सा मिलता था। पाँच हजार से कम आम हमारे हिस्से नहीं पड़े होंगे, दो हिस्से मालिक के हुए। रात को लगभग एक महीना मैं बाग में ही सोया। आस-पास बाग थे जिनमें मेरी ही तरह पचीसों रखवाले रात-दिन मौजूद रहते थे। सुगनी का मन कभी-कभी ऊबता था लेकिन थी तो आखिर कमाऊ जनानी। दिन-भर डट के काम करती और रात-भर तान के सोती। एक रात मैंने रामखेलावन को अपने बदले बाग में रख दिया, खुद आकर घर में सोया।

दोनों परानी मिलकर उस बार हमने अपने खेत में मड़ुआ भी ढ़ाई-तीन मन उपजा लिया।

धान रोपने का मौसम आया। मैं दो मजूरों का काम करने लगा। याने दो मजूर जितना काम करते उतना मैं अकेले कर लिया करता था। आठ सेर धान मजूरी मिलती थी, एक आदमी का खाना भी घर आता था। चालीस रोज में मैंने अस्सी मजदूरों का काम किया। माँ मना करती ही रह गई—अरे बीमार पड़ेगा! काहे इतना खटता है बेटा?

जवाब में मैं तनिक हँस देता और बीड़ी टानता हुआ आँगन से निकल जाता।

भादों, आसिन, कातिक और आधा अगहन—साढ़े तीन महीने वहाँ कोई काम नहीं रहता। इन दिनों कोई पूरब निकल जाता, सिलीगुड़ी, दिनाजपुर, ढाका की ओर। कोई कलकत्ते के तरफ चला जाता, कोई घर पर ही बैठा रहता—ऐसे लोग मोथी की चटाई बुनते, सन-साबे या मूँज की डोरी बाँटते या फिर मछली फँसाने के लिए टापी, गाँजा वगैरह तैयार करते हैं।

लेकिन मैं कहीं नहीं जाता। बीड़ी पीता रहता और बाघगोटी खेला करता। ईमानदार और मजबूत काठी का था, इसी से महीना पीछू पाँच-सात मजूरियाँ भी मुझे मिल ही जातीं। मेरी शोहरत थी कि बलचनमा खूब मन लगाकर काम करता है। एक मजूरी में वह सवा मजूर की मेहनत करता है। कितने ही लोग ताना मारते थे—गधा है, अकिल छू नहीं गया! उस जनम में तेली का बैल रहा होगा! अच्छा भाई, मैं बैल ही सही, गधा ही सही! बेइमान तो नहीं हूँ, कामचोर तो नहीं हूँ, कोढ़ी तो नहीं हूँ···असल बात यह थी भैया कि काम करते वखत मैं किसी भी किसिम की चिचिर-फिचिर या ढिलाई का कायल नहीं था। जिस मुस्तैदी से अपना काम करता उसी मुस्तैदी से दूसरे का भी।

दूसरी ओर मजूरी में अगर कोई खराब अनाज देता तो फौरन मैं उसे वापस कर आता। गाली मुझे बिल्कुल बर्दास्त नहीं होती। झूट-मूठ की जी-हजूरी मेरे

लिए जहर-माहुर था···

लेकिन कभी-कभी झुकना भी पड़ता ही है। अभी वह जमाना कहाँ आया है कि खाली ईमानदारी से सारा काम निकल आये। चालाक और चाँई लोगों की चालबाजियों से बचने के लिए चौकस रहना जरूरी हो जाता है भैया !

भात-रोटी-चवेना···निर्वाह एक तरह से हो ही रहा था। माँ भी खुश थी, सुगनी भी मस्त रहती थी और मैं भी मगन रहता।

इस तरह हमारी गिरस्ती के तीन साल कटे। बीच में एक दफे बाढ़ आई। लेकिन फसिल को नुकसान नहीं पहुँचा। भूचाल आई, गाँधी महतमा आये और राधा बाबू सोसलिस्ट हो गये। मेरे लिए यह तीनों बातें नई थीं। भूचाल बड़े जोर की आई थी। माघ का महीना था, अढ़ाई पहर दिन बीतने पर गड़गड़ाहट सुनाई पड़ी। मैं चुन्नी की बैठक में लेटा हुआ था कि एकाएक छप्पर मचमचा उठे, भीत समेत दालान हिलने लगी। चुन्नी भी लेटा हुआ था। हम दोनों बातचीत कर रहे थे। दालान के हिलने का अंदाज मुझे तो बिल्कुल ही नहीं हुआ लेकिन चुन्नी 'बाप-बाप' करता हुआ उठ खड़ा हुआ। उधर बड़े-बूढ़े मनियार चाचा धूप सेंक रहे थे, वह भी चिल्लाकर आँगन की ओर भागे।

क्या है जी ?—मैंने उठकर चुन्नी से पूछा तो वह मुँह बनाकर बोला, क्या है ! क्या है ! देखता नहीं है ? धरती डोल रही है, बाहर निकल बेवकूफ कहीं के।

बैठक से कूदकर हम बाहर आ गये। चुन्नी अपने घर की ओर दौड़ा और मैं अपने घर की ओर।

सुगनी अन्दर सोई हुई थी, माँ ने उसे जगाकर बाहर निकाल लिया था। पन्द्रह-बीस मिनट के लगभग धरती उसी तरह डोलती रही। हाथी पर चढ़े हो कभी ? नहीं ? अरे, रेलगाड़ी पर तो खूब चढ़े हो न ? सोनपुर जो रेलगाड़ी पहलेजाघाट तक जाती है वह किस तरह हिलती-डोलती चलती है ? बस, वही समझ लो ! उससे कुछ अधिक ही भैया।

माँ और सुगनी की ओर से निफिकिर होकर मैं फिर मनियार चाचा के मकान के तरफ दौड़ा। उनके दो घर भीतों वाले थे, दो जगह भीतों में हल्की दरारें पड़ गईं। बरेरी तनिक अलग हो गई थी एक भीत के माथे पर से। बस, मनियार चाचा का इतना ही नोकसान हुआ था।

खैर, भगवान मालिक हैं सबके !—मेरे मुँह से निकला कि उधर से रामखेलावन का छोटा भाई सुबधा दौड़ा आया। हाँफते-हाँफते वह बोला—बालो भाई, मँझले मालिक का इनारा पानी फेंक रहा है, बलुआ पानी ! और मालिकों के कई मकान गिर पड़े हैं, शायद कोई दब भी गया है···

मैं और चुन्नी दौड़े मालिकों की हवेलियों की तरफ। पहले बड़ी तरफ गये। वहाँ हाहाकार मची हुई थी। डिप्टी साहब की नई-नवेली औरत दुतल्ले के नीचे सो रही थी। उसी साल गौना हुआ था। नींद टूटी तो बाहर जबर्दस्ती के नाना की आहट सुनकर अन्दर ही रह गई। ईंट की पुरानी दीवाल भहराकर गिरी तो

वेचारी दब मरी। लोग अब मलवा हटा रहे थे। थोड़ी ही देर में उसके अचेतन देह को वाहर निकाला गया और तुलसी-चवूतरे के नगीच उत्तर सिरहाने लाश लेटा दी गई। जयमँगला और उसकी माँ गला फाड़-फाड़कर और छाती पीट-पीटकर रोने लगीं, वाकी लोग बुत वने खड़े रहे।

महपूरा के खान वहादुर का भी मकान गिर पड़ा था। बल्ली बावू का भोटिया घोड़ा दव गया। गोसाई पोखर के उत्तर थोड़ी दूर हटकर जो मैदान है उसमें भारी दरार पड़ गई, उसमें तीरी अमात की वछिया धँस के दव मरी थी।

हमारे जवार में लोगों का काफी हर्जा हुआ। दस कोस पच्छिम, सीतामढ़ी के तरफ तो मानो पर्लय मच गया। सैकड़ों जान-माल वर्वाद हुए, पक्के मकानों की वस्तियाँ पहपट पड़ गई। सरकारी बँगले, पोस्टाफिस, थाना, कचहरी, जहल, असपताल, इसकूल वेकार हो गये। सड़कें फट गईं, जगह-जगह पानी और वालू पट गया। रेलवी लैन अलग-अलग किसी काम की न रहीं। तार के खंभे झूलने लगे। दस-पंद्रह रोज के लिए सरकार की मानो नाड़ी ही डूव गई! जो जहाँ था सो वहीं कैद हो रहा। देवी-देवता के मंडिल तक नहीं साबित वचे भैया! और क्या वताऊँ? इधर सीतामढ़ी और उधर मुंगेर—इन्हीं जगहों पर जास्ती धक्का पड़ा?

पीछे सरकार भी सँभलकर खड़ी हुई, लीडर लोग भी दौड़े। रजिंदर वावू की रिहाई हुई। जवाहरलाल तक भोलंटियर वनके सीतामढ़ी आ धमके। वम्वई के सेठों ने खैराती होटल खोल दिए आकर। कांग्रेस ने चन्दे के लिए अपील निकाली तो तीस-चालीस लाख रुपैया इकट्ठा हो गया।

पीने के पानी का सवाद सैकड़ों जगह विगड़ गया था। अजीव वदवू आती थी। होंठों से पहले साली नाक ही जवाव दे देती! जंगली गड्ढों में भर चौमासा घास-फूस, डंठल-टहनी, लत्ती-पत्ती जाने क्या-क्या सड़ती रहती हैं, उनके करीव से गुजरोगे तो नाक मूंद लेना होगा···जूट और सन के पौधों को पानी में डाल देते हैं, कुछ दिनों वाद निकालते हैं तो वहाँ भी वड़ी विकट वदवू उठती है··· भूचाल ने जिन कुओं को खराव कर दिया उनका भी पानी कुछ वैसा ही गन्धाता था। हाय-हाय मच गई! सवसे जरूरी काम कुआँ सुखाना हो गया।

कांग्रेस ने रिलीफ फण्ड खोला। उसकी तरफ से कुएँ खुदवाने के लिए लाखों की रकम वाँटी गई। हमारे इलाके में रकम वाँटने का काम फूल वावू के हाथों से हुआ। इधर के गाँवों के लिए उन्हीं को अफसर वनाकर भेजा गया था। रामपुर भारी और नामवर गाँव ठहरा। वाल-वच्चा, औरत-मर्द, धनी-गरीव कुल मिलाकर दो हजार आदमी वसते थे। लेकिन भुंइकम्प से इस वस्ती का एक भी कुआँ खराव नहीं हुआ था कुल वीस कुएँ थे। चमारों और मुसलमानों के कुएँ अलग थे ही। सुना कि रिपोट माँगी गई थी, छोटे मालिक और वल्ली वावू ने मुंशी विपिनविहारी लाल दास से राय-वात करके जिला कांग्रेस कमेटी को लिख दिया

था : चार कुएँ खराब हो गए हैं और बीस-एक परिवार ऐसे भी होंगे जिन्हें थोड़ी बहुत मदद मिलनी चाहिए क्योंकि अपने गिरे-पड़े मकानों को फिर खड़े करने की ताकत बेचारों में नहीं है···

फूल बाबू मधुवनी से टमटम पर आये, सीधे जाकर अपने फूफा के घर उतरे। बता ही चुका हूँ, हमारे छोटे मालिक उनके फूफा लगते थे।

एक ही रोज वह हमारी बस्ती में रहे थे। मैं जान-बूझकर उनसे नहीं मिला। मालिकों के यहाँ और बभनटोली में एक चक्कर लगाया था उन्होंने, साथ में दो भोलंटियर रहे।

जानते हो, उस रोज से फूल बाबू हमारी बस्ती में क्या कुछ कर आए थे ?

रिलीफ फण्ड की ओर से भगवान जाने कितनी रकम इस गाँव के लिए उन्हें मिली थी। लेकिन कुछ दिनों बाद मुंशी जी के लड़के से जो मुझे मालूम हुआ वही तुम्हें बता देता हूँ। इससे तुम्हें इतना अन्दाज जरूर होगा कि लाखों की वह रकम लोगों में किस तरह बँटी होगी। लो सुन लो भैया :—

१.	बबुअन पाठक	के नाम पर	६०)	की रकम लिखी थी	३०)	मिले
२.	दामो ठाकुर	,,	४०)	,,	२०)	,,
३.	मोसम्मात जानकी	,,	३०)	,,	१५)	,,
४.	तारानंद झा	,,	३०)	,,	१५)	,,
५.	खोंखाई मिसर	,,	२५)	,,	१०)	,,
६.	चतुरानन चौधरी	,,	४०)	,,	२०)	,,
७.	पचकौड़ी झा	,,	२५)	,,	१०)	,,
८.	जैवल्लभ मल्लिक	,,	२५)	,,	१०)	,,
९.	बंभोले झा	,,	२५)	,,	१०)	,,
१०.	बचबे मिसर	,,	२५)	,,	१०)	,,
११.	मनियार गोप	,,	२५)	,,	८)	,,
१२.	छकौड़ी गोप	,,	२५)	,,	८)	,,
१३.	कपिसेलर मंडड़	,,	२५)	,,	८)	,,
१४.	तीरी अमात	,,	२०)	,,	६)	,,
१५.	कल्लर केवल	,,	२०)	,,	६)	,,
१६.	मोसंमात कुंती	,,	१५)	,,	३)	,,
१७.	बुद्धू चमार	,,	१५)	,,	३)	,,
१८.	शेख अब्दुल	,,	२५)	,,	८)	,,
१९.	करीमबख्श	,,	१५)	,,	३)	,,
२०.	मोसंमात हमीदा	,,	१५)	,,	३)	,,

समझा भैया, बीस आदमियों के नाम सवा पाँच सौ रुपये की खैरात लिखी गई लेकिन लोगों को मिले सिरिफ दो सौ छः रुपये ! कुएँ सुधारने के नाम पर एक हजार रुपैया मिला। एक-एक को अलग-अलग बुलाकर बस्ती बाबू और

दासजी ने रुपये बाँटे। लोगों ने अकासी आमदनी समझकर दसखत कर दिया, अँगूठे की छाप दे दी। जिसका जैसा मुँह, जिसकी जैसी आवाज, उसको उतनी ही रकम मिली। हमारे मनियार चाचा ने चुपचाप ली थी, चुन्नी खैराती रकम लेने के खिलाफ अपनी राय परगट कर चुका था। मालिक मेरी माँ को भी पाँच रुपये देना चाहते थे, पूछने आई तो मैंने उसे डाँट दिया। मोसंमात कुन्ती जुगल कामति की विधवा औरत थी, उसे भी खैरात मिली थी। पूछने पर बोली—बबुआ वालो, भुइकंप यह क्या हुआ, बड़े लोगों के लिए आमदनी का एगो अउर रास्ता निकल आया······

हँसिया था हाथ में, घास काटने जा रही थी। नगीच आकर मेरे कान की तरफ मुँह करके वह फुसफुसाई—ये लोग जुलुम करते हैं बेटा, देते हैं दो और कागज पर चढ़ाते हैं दस! इमान-धरम इनका सब डूब गया, तेल जरे तेली का और फटे मशालची का! छोटे मालिक का सरबेटा आया था असफर बनके खैरात बाटने। हो न हो; हजार-पाँच सौ उसने जरूर मार लिया होगा···पता लगाना बेटा; मेरे नाम के रुपैया चढ़ा है।

चाची तुमको मिला कितना?

हलके हाथ से छाती ठोंक के कुन्ती बोली—हाय गोसइयाँ तीन ही तो मिले हैं!

मुझे तब तक कोई खास बात खैरात के बारे में कहाँ मालूम हो सकी थी! सिर हिलाता हुआ मैं उस अनाथ औरत की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। छन-भर बाद बोला—जाने दो चाची, क्या होगा अब पता लगाकर? राकस के पेट में जो गया सो गया।

फूल बाबू पर इसके बाद मुझे और असर्धा हो गई। कांग्रेस के बारे में सोचने लगा कि स्वराज मिलने पर बाबू-भैया लोग आपस में ही दही-मछली बाँट लेंगे, जो लोग आज मालिक बने बैठे हैं आगे भी तर माल वही उड़ावेंगे। हम लोगों के हिस्से सीठी ही सीठी पड़ेगी।

राधा बाबू पर सर्धा बढ़ गई क्योंकि वह सोसलिस्ट हो गये थे। बरहमपुरा जाकर मैं चार रोज उनके साथ इस बीच भी रह आया था। उतने बड़े लीडर से बातचीत तो भला मैं क्या करता, मगर देखा कि अब वह धोती-कमीज पहनने लगे थे, दाढ़ी तीसरे दिन पर बनाने लगे थे। सुना कि आसरम छोड़कर शहर में डेरा जमावेंगे। रूपलाल कुछ समझदार था, अब वही राधा बाबू के साथ रहता। उससे मालूम हुआ कि कांग्रेस के अन्दर ही इन लोगों का एक अलग दल बन गया है। इस दल में बूढ़े लीडर नहीं हैं, सभी जवान हैं। गाँधी महतमा से किस बात में सोसलिस्टों का मेल नहीं खाता है अँग्रेज राज न कांग्रेस चाहती है, न सोसलिस्ट ही चाहते हैं। लेकिन गाँधी महतमा कल-कारखाना के खिलाफ हैं। वह इसके भी खिलाफ हैं कि सेठों-जमींदारों-राजाओं-महाराजों से जमीन-जायदाद और धन-सम्पदा छीनकर उसे लोगों में बाँट दिया जाय। बूँद-भर भी

लोहू नहीं वहाना चाहिए। मार खाना ठीक, मारना ठीक नहीं। लवकर-दवकर अपनी वात मनवाना चाहिए। सचाई पर रहोगे और अपनी माँग पर अड़े रहोगे तो एक दिन जालिम का भी दिल जरूर पसीजेगा...गाँधी महातमा नोकसान किसी का नहीं चाहते, न गरीव का और न अमीर का। वह अँग्रेज से भी कड़ाई का वर्ताव नहीं रखते। उनका कहना है कि एक न एक दिन अँग्रेजों की मति फिर जायगी तव वे आप यह मुलुक छोड़कर चल देंगे उनको जास्ती परेशान मत करो!

इस पर भैया, सोसलिस्टों का क्या कहना था? उनका कहना यही था कि दो-चार साधू-महातमा के गिड़गिड़ाने से अँग्रेजों का दिल नहीं वदलेगा। समूची जनता आपस के भेद-भाव भुलाकर उठ खड़ी होगी, तभी अँग्रेज भागेगा। समूची जनता कैसे आपस का भेद-भाव भूलेगी, कैसे एक होगी? लोगों को जव विसवास हो जायगा कि जमींदार-महाजन की फाजिल धन-सम्पदा उन्हीं में वँट जायगी, रोजी-रोटी का सवाल हल होगा, वच्चों की पढ़ाई-लिखाई...वुढ़ापे की वेफिक्री...खान-पान और रहन-सहन का ठौर-ठिकाना...दवा-दारू, पथ-पानी का इन्तजाम...यह सव सभी के लिए सुलभ होगा, दरभंगा के महराज हों चाहे पटना के लाट साहव—मुफत का खाना किसी को नहीं मिलेगा...सव काम करेगा, सव दाम पावेगा...लूल-अपंग, वूढ़-वेकार सवकी जिम्मेदारी सरकार को उठानी पड़ेगी, पैसे के वल पर कोई किसी को वँधुआ गुलाम नहीं वना सकेगा—

मैं वोला—ठीक तो कहते हैं सोसलिस्ट भाई, जिसका हर-फार उसकी धरती! जिसकी हुनर और जिसका हाथ उसी का कल-कारखाना!

रुपलाल—हाँ वालचन्द, कमाने वाला खायेगा...इसके चलते जो कुछ हो!

सोसलिस्टों के वारे में उस रोज जितना कुछ मुझे मालूम हुआ, अभी उतने से ही मेरा दिल उछलने लगा। भैया! कहो न कैसी अच्छी वात थी? फूल वावू पटना में एक वार नमक वनाते वखत खूव पिटाये थे, तव भी गांधी महतमा के पंथ की वह वात मेरी समझ में नहीं आई थी। इस तरह तो तुम पिटाते-पिटाते वेदम हो जाओगे, एक भी काम नहीं होगा।

राधा वावू की रहन-सहन, वात-विचार में वह जो फेर-फार हुआ इससे उनकी स्त्री भी तिरपित मालूम हुई। घर आने लगा तो वावू ने कहा—क्या करता रहता है गांव में वैठकर?

वाएँ हाथ की उँगलियों से मेरे दाहिने कान को वह हौले-हौले मसलने लगे। मैं सकुचाकर खड़ा हो गया। छन-भर वाद वह फिर वोले—दो महीने वाद मैं महपूरा आने वाला हूँ, खवर कर दूँ तो जरूर मिलना।

इशारे से मैंने 'हाँ' कहा और चला आया।

उसी महीने में गांधी महतमा की अवाई हुई। मैं, चुन्नी और रामदेलावन उनका दरसन करने मधुवनी पहुँचे थे। भारी मेला जुट गया। पचास हजार लोग आये थे महतमा को देखने। फूल-फल, केला, अररनेवा हाथ का कता हुआ सूत,

खुशबूदार धान की वालियों के गुच्छे, लौकी, बैंगन···चढ़ाने के लिए न जाने कितनी किसिम की चीज-वस्त लोग ले आये थे। खद्दर-भंडार के पास वाले मैदान में ऊँची जगह बनाई गई थी, उसी पर गाँधी जी बैठे हुए थे। हम सीसम के पेड़ पर चढ़े तभी उनको भर आँख देख पाये। रमखेलौना पेड़ पर चढ़ना नहीं जानता, वह यों ही उचक-उचक के अपने आप खीझता रहा, साथ ही कोसता भी। मगर इसमें हमारा क्या कसूर था? पल्थी लगाये बैठे थे महतमा, उनकी बोली हमारे कानों तक नहीं पहुँच रही थी। हाँ, दाहिना हाथ उठा-उठाकर बार-बार कुछ समझा रहे थे, यह साफ लौक रहा था।

घर लौटते-लौटते रात हो गई थी। माँ खा-पीकर सो चुकी थी, सुगनी मेरा बाट जोह रही थी। ऐसा ही होता था। लाख समझाने-बुझाने पर भी उसे मैं इस बात के लिए राजी कहाँ कर सका कि खाने-पीने में मेरा इन्तिजार न करे। जड़ काला तो वह था ही, भात ठिठुरकर चावल के दाने हो गये!

खा-पीकर निचेन हुआ तो सुगनी को थोड़ा गाँधी महातमा के बारे में समझा दिया। जोरू न ठहरी! कौड़ी-भर भी नई बात मालूम हो उसमें से जरा-सी खोंटकर बेचारी के कान में जरूर डाल देनी चाहिए, क्यों राय है तुम्हारी?

अगले बैसाख में छोटी मलिकाइन के लड़के का जनेऊ हुआ। काफी भोज-भात, खूब रमन-चमन। मैंने और कल्लर ने मिलकर आम का एक पेड़ काटा, उसके दो तने थे। फाड़कर हमने चैलियों का ढेर लगा दिया। बीस-पचीस मन से कम का तो वह क्या रहा होगा? मालिक का घराना था, काज परोजन के दिन थे! मालिक ने मुझसे अकेले में माफी माँग ली थी। उस साल मेरी बहन के साथ वैसा सलूक करके उन्होंने हमारे मन को हमेशा के लिए फाड़ दिया था, किस मुँह से उस शख्स ने फिर मुझसे माफी माँगी। मैं तो भैया दंग रह गया! मलिकाइन पर मुझे उतना गुस्सा कभी नहीं आया जितना इस पतीत पर···उपनैन के रोज मुझे गुलाबी रंग में रंगी हुई दो धोतियाँ मिलीं मलिकाइन के हाथों से, माँ को बारह हाथ की साड़ी मिली। सोलह ठो तो छागर ही बलि चढ़े थे, चार खस्सी पीटे गये थे। चार रोज तक हवेली मसुआइन महकती रही। भगवती की पिंडी के सामने देवाल पर खून के फव्वारों की निशानी हवेली के अन्दर तुम अब भी देखोगे। हमारे तिरहुतिया बराहमन, औकात रही तो, लड़के का जनेऊ बड़ी धूम से करते हैं। ढोल-ढाक, रशनचौकी नटुआ-रंडी का नाच, कीर्तन, थिएटर, भेड़ों की लड़ाई-जैसा पण्डितों का सासतरार्थ···क्या नहीं होता? सब होता है भैया! तमाम रिश्तेदार बुलाये जाते हैं, नाते की औरतों का भी लिआवन होता है। गाँव की और कभी-कभी पड़ोसी गाँवों की बिरादरी को जिवाया जाता है। छोटी जात वालों की तकदीर में उनका जूठन और बचा हुआ या बासी ही पड़ता है। यहाँ भी वही हुआ भैया!

फूल बाबू अब भारी लीडर हो गये थे, साइकिल से आये, मंड़वा पर थोड़ी देर बैठकर जनेउआ का रसम-रेवाज देखते रहे और उठे तो घेर-घेर के मलिकाइन

ने नाश्ता कराया। फिर वह फौरन चल पड़े। उनकी माँ का लिआवन हुआ था; वह पाँच-छः रोज रही थीं।

कुछ और खेत मैंने बटाई पर ले लिया। फूदन मिसर की विधवा जानकी ने अपनी उपजाऊ जमीन का एक टुकड़ा मुझे बटाई पर दे दिया। यह चार कट्ठा था। जबसे मिसिर मरे तभी से छकौड़ी चाचा इस खेत को उपजाता आया था। सूखा हो चाहे महीनों मेघ बरसे, यह जमीन कभी धोखा नहीं देती थी। फी कट्ठा मन-भर धान तो होता ही, समय-साल अगर अच्छा हुआ तो फिर पूछो ही मत। फिर तो आठ मन से कम उपजता ही नहीं। मगर पिछले दो-तीन वर्षों से यह छकौड़ी चाचा से सँभल नहीं रहा था। दो जवान लड़के बंगाल में नौकरी पर थे, काम चलाने लायक रुपैया भेजते रहते। अपनी उमर सत्तर पार कर आई थी। बेचारे ने कई बार बाट-घाट पर राह छेककर मुझसे जब कहा तो मैं राजी हो गया। बात यह थी कि मेरा बाप गाढ़े वखत पर छकौड़ी के काम आया था। गाय बँधी थी। सावन का महीना रात का वक्त। करैत आकर बेचारी को डस गया। जहर रग-रग में फैलने लगा, गाय रँभा-रँभा उठती थी। छकौड़ी ताड़ी पीकर उस रोज बेहोश पड़ा था। औरत बाल-बच्चे लेकर नइहर गई हुई थी, माँ के सराध में···सुबह होते-होते अभागी जीव के प्रान डूब गये, छकौड़ी को गोवध का परासचित लगा—वही पण्डित बबुअन झा ने पचास रुपये लिए तब जाकर पतिया लिखा था। सिमरिया घाट जाना पड़ा, मय चोटी के बाल काटने पड़े, बालू-गोबर निगलना पड़ा, दान-दच्छिना करनी पड़ी। घर लौटकर सतनरायन भगवान की कथा सुनी बिरादरी को और समाज को तब जाकर छकौड़ी का छुआ हुआ पान-पर्साद गरहाज हुआ! और भैया, मेरा बाप ऐन मौके पर सौ ठो रुपया नहीं दिये होता तो छकौड़ी चाचा रामपुर छोड़-छाड़ के भाग गये होते। बाबू मेरा ढाका से दो साल पर आया हुआ था। छकौड़ी आकर उसके पैरों पर गिर पड़ा और रोता हुआ बोला—लालचन, जो चाहे सो लिखवा लेना लेकिन 'ना' मत करो; भीत से टकराकर कपार फोड़ लूँगा और मर जाऊँगा तेरे ही सामने। चलके इस पाप से मेरा उद्धार कर दे लालो!···बाबू चुपचाप भीतर आया, सौ ठो रुपैया लेकर उसके हाथ पर धर दिया—दादी के मुँह से यह सब मैंने सुना था। सो, छकौड़ी ने अब उसी उपकार का बदला चुकाकर अपने सिर को हलका कर लिया। यों वह कर्जा उसने मेरे बाबू के जीते जी ही चुका दिया था।

पाँच कट्ठा खेत दामो ठाकुर के मेरे पास यों ही आ गये। बटाई भी लोग उसी खेतिहार को देना पसन्द करते हैं जो मेहनती और ईमानदार हो। ठाकुर गाँव में अब साल-पीछे छः महीना भी नहीं रहते। घरवाली नइहर गई थी, वहाँ हैजा फैला तो उसी की लपेट में आ गई बेचारी। दस साल की एक लड़की थी, उसे कहाँ-कहाँ लिए फिरते? हारकर उसको भी ननिहाल में छोड़ आये। जमीन-जाल मामूली ही था। यही पाँच कट्ठा-भिट्ठा खेत, घर आँगन, बाड़ी बंसवार,

कलकतिया के छः-सात पेड़, बस। लोग कहते हैं, ठाकुर दारू भी पीते थे। मैंने नहीं देखा कभी, हाँ भंग व जरूर पीते रहे। एक बार क्या, दिन में दो-दो बार!

नहाते वखत, जँभाई लेते वखत, भेंट-मुलाकात के वखत, अहल-भोरे नींद टूटते वखत उनके मुँह से "तारा-तारा जगदम्बा, जगत्तारिणी, माँ-माँ" यही निकला करता था।

मुझ पर खूब खुश थे। पीछे चलकर अपने घर-आँगन की निगरानी का भार मुझको सौंप दिया। बाहर से आते तो मेरे लिए कमीज-कुर्ता या बनियान जरूर लाते। एक बार मैंने कहा—यह क्या देते हैं मालिक, धोती दीजिए!

पहनी हुई को छूकर बोले—गाढ़े रंग की यह तो तुझे पसन्द आवेगी नहीं तो फिर सादी निकालकर रखूँगा, ले लेना कल।

अगले दिन फस्ट किलास की एक धोती ठाकुर ने दी तो मेरी बाछें खिल गईं, मन-ही-मन बोला—एँ, ऐसी बढ़िया धोती पहन के तू निकलेगा!

उन्होंने मुझे छूट दे रखी थी—चाहे जितने बाँस काट लेना मुदा अपने ही मतलब के, न दूसरों के लिए और न बेचने के लिए। मैं भी साल-भर में मुश्किल से चार-पाँच से जास्ती बाँस काटता रहा होऊँगा।

उपज का अपना हिस्सा वह नगदी ही लेना पसन्द करते थे।

राधा बाबू की खबर लेकर एक रोज़ महपूरा से एक बूढ़ा पासी आया तो मैं वहाँ गया। उस बस्ती के डाक्टर रहमान इलाके-भर में मशहूर थे। कांग्रेस की तरफ से जेल भी हो आये थे। राधा बाबू उन्हीं के यहाँ ठहरे थे।

जमींदार खानबहादुर सादुल्ला खाँ थे। रैयत हिन्दू-मुसलाम सभी जात की थी। आठ-दस मौजे की मालगुजारी आती थी। वह खुद ढाई-तीन सौ बीघा ही रखे हुए थे, बाकी हजारों बीघा जमीन मनखप लगी हुई थी। मनखप समझा भया? नहीं? अरे भाई, उपज का सोलहवाँ-बीसवाँ या दसवाँ हिस्सा मालिक वसूल करता है, जिन्सी लगान के तौर पर; एक मन बीघा, दो मन बीघा या तीन मन...उतना अनाज या उतने की रकम जाकर मालिक के यहाँ जमा कर दो।

महपूरा के छोटी औकात के तीन सौ खेतिहर खानबहादुर की हजार बीघा जमीन पुश्त-दर पुश्त से मनहुंडा जोतते आये थे। अब कांग्रेसी अमल आने वाला था। तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थीं। खानबहादुर पहले से ही चौकस हो गये। वह इस कोशिश में लगे कि एक की जोत का खेत दूसरे के नाम बन्दोबस्त होता चला जाय। गुपचुप चार-छः बन्दोबस्तियाँ हो भी चुकी थीं।

खेतिहरों में कुनमुनाहट आई। उनके तरफ से डाक्टर रहमान जिला के कांग्रेसी लीडरों के पास पहुँचे। लेकिन महतमा जी के चेला लोग उल्टे रहमान साहब को ही सांती और संतोष का शर्बत पिलाकर चुप बैठे रहे। मगर खानबहादुर नहीं बैठे रहे, भीतर-ही-भीतर जमींदारी दाँव-पेंच उनका बढ़ता

ही गया। गरीब किसानों की यह जमीन अपने-अपने नाम चुपचाप लिखा कौन रहे थे ? बड़े-मझले किसान जो अक्सर हमारे तरफ के वराहमन, भुइंहार, शेख और सूँड़ी-महाजन होते हैं—यही हड़पना चाहते थे गरीबों के मुट्ठी-दो मुट्ठी भात को ! डाक्टर रहमान कब तक बैठे रहते, गरीब लोग उन्हें कैसे बैठने देते ? राधा बाबू के साथ उनकी पटना-कैंप जेल की दोस्ती थी, पहुँचे सीधे उनके पास। उस दिनों सोसलिस्टों में बड़ी गर्मी थी भैया ! वे जो कुछ कहते, उसे करने की भी कोशिश उनकी ओर से होती थी। मजूरों की हड़ताल हो, चाहे किसानों का आन्दोलन—सोसलिस्ट भाई उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लेते थे। सो, राधा बाबू ने डाक्टर रहमान की बातें मन लगाकर सुनीं और खानबहादुर के खिलाफ लड़ाई छेड़ने का रास्ता बता दिया। किसानों का संगटन, अखबारों से जमींदार की जालिमाना हरकतों का पर्चार कम से कम पचास भोलंटियरों की बहाली, बीस-पच्चीस मन अनाज और सौ ठो रुपैया, इलाके-भर के किसानों की एक भारी मीटिंग…

डाक्टर रहमान महपूरा लौट आये और किसानों को सब कुछ समझा दिया। लोग फौरन राजी हो गये। उस जालिम जमींदार का मुकाबला अकेले तो कोई नहीं कर सकता था ? उसके पीठ पर थाने के दरोगा साहब थे, दरभङ्गा के कलक्टर साहब थे; इलाके-भर के जमींदार, पण्डित और मौलवी सब खानबहादुर के पच्छ में थे। पच्छिम के दस लठैत जवान, नेपाल के पांच खुखरी-बहादुर… बड़ा ताकतवर था खानबहादुर ? अकेले कौन उससे भिड़ता ? लेकिन सौ ठो खाली लाठी एक जगह हो जाय तो उसका एक भारी बोझ बन जाता है ! अपनी-अपनी धरती की हिफाजत के लिए किसान एक होने लगे। पहले उनकी तरफ से रहमान साहब जमींदार को कई बार समझा चुके थे, अब और कोई रास्ता नहीं था। रैयत लोगों ने तय कर लिया कि लाश गिरे तो गिरे, मगर अपने खेत दूसरों के दखल में नहीं जाने देंगे।

किसानों की ओर से काफी तैयारी हो चुकी थी, इलाके-भर में नोटिस बंटी थी। राधा बाबू मिटिंग से दो रोज पहले ही आ डटे थे।

मुझे देखते ही वह बोले—अब की मुझे भी जेल की खिचड़ी खानी होगी !

इतना कहकर बाबू मुसकुराये और नजर मारकर एक नाटे-गोरे आदमी का ध्यान मेरी ओर खींचा। फिर बोले—यह रहा बलचनमा, रहमान साहब, लिख लीजिये इसका भी नाम भोलंटियरों में।

खादी का सफेद पैंजामा, चारखाना कमीज। मूंछ थी, दाढ़ी साफ। बाल अँगूठिया थे। उस वक्त उनके हाथ में बधना था, पैखाना जा रहे होंगे। भरी-पूरी खिलखिलाहट से आस-पास को गुंजाकर वह बोले—क्यों रे, लिख लूं नाम ?

कह तो दिया एक बार—चश्मा खोलकर उसे हाथ में लेते हुए राधा बाबू ने कहा—जाइए, पाखाना से हो आइए, तब।

कलकतिया के छः-सात पेड़, बस। लोग कहते हैं, ठाकुर दारू भी पीते थे। मैंने नहीं देखा कभी, हाँ भंग व जरूर पीते रहे। एक बार क्या, दिन में दो-दो बार!

नहाते वखत, जँभाई लेते वखत, भेंट-मुलाकात के वखत, अहल-भोरे नींद टूटते वखत उनके मुँह से "तारा-तारा जगदम्बा, जगत्तारिणी, माँ-माँ" यही निकला करता था।

मुझ पर खूब खुश थे। पीछे चलकर अपने घर-आँगन की निगरानी का भार मुझको सौंप दिया। बाहर से आते तो मेरे लिए कमीज-कुर्ता या बनियान जरूर लाते। एक बार मैंने कहा—यह क्या देते हैं मालिक, धोती दीजिए!

पहनी हुई को छूकर बोले—गाढ़े रंग की यह तो तुझे पसन्द आवेगी नहीं तो फिर सादी निकालकर रखूँगा, ले लेना कल।

अगले दिन फस्ट किलास की एक धोती ठाकुर ने दी तो मेरी बाछें खिल गईं, मन-ही-मन बोला—एँ, ऐसी बढ़िया धोती पहन के तू निकलेगा!

उन्होंने मुझे छूट दे रखी थी—चाहे जितने बाँस काट लेना मुदा अपने ही मतलब के, न दूसरों के लिए और न बेचने के लिए। मैं भी साल-भर में मुश्किल से चार-पाँच से जास्ती बाँस काटता रहा होऊँगा।

उपज का अपना हिस्सा वह नगदी ही लेना पसन्द करते थे।

राधा बाबू की खबर लेकर एक रोज़ महपूरा से एक बूढ़ा पासी आया तो मैं वहाँ गया। उस बस्ती के डाक्टर रहमान इलाके-भर में मशहूर थे। कांग्रेस की तरफ से जेल भी हो आये थे। राधा बाबू उन्हीं के यहाँ ठहरे थे।

जमींदार खानबहादुर सादुल्ला खाँ थे। रैयत हिन्दू-मुसलाम सभी जात की थी। आठ-दस मौजे की मालगुजारी आती थी। वह खुद ढाई-तीन सौ बीघा ही रखे हुए थे, बाकी हजारों बीघा जमीन मनखप लगी हुई थी। मनखप समझा भया? नहीं? अरे भाई, उपज का सोलहवाँ-बीसवाँ या दसवाँ हिस्सा मालिक वसूल करता है, जिन्सी लगान के तौर पर; एक मन बीघा, दो मन बीघा या तीन मन···उतना अनाज या उतने की रकम जाकर मालिक के यहाँ जमा कर दो।

महपूरा के छोटी औकात के तीन सौ खेतिहर खानबहादुर की हजार बीघा जमीन पुश्त-दर पुश्त से मनहुंडा जोतते आये थे। अब कांग्रेसी अमल आने वाला था। तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थीं। खानबहादुर पहले से ही चौकस हो गये। वह इस कोशिश में लगे कि एक की जोत का खेत दूसरे के नाम बन्दोबस्त होता चला जाय। गुपचुप चार-छः बन्दोबस्तियाँ हो भी चुकी थीं।

खेतिहरों में कुनमुनाहट आई। उनके तरफ से डाक्टर रहमान जिला के कांग्रेसी लीडरों के पास पहुँचे। लेकिन महतमा जी के चेला लोग उल्टे रहमान साहब को ही शांती और संतोख का शर्बत पिलाकर चुप बैठे रहे। मगर खानबहादुर नहीं बैठे रहे, भीतर-ही-भीतर जमींदारी दाँव-पेंच उनका बढ़ता

ही गया। गरीब किसानों की यह जमीन अपने-अपने नाम चुपचाप लिखा कौन रहे थे? बड़े-मझले किसान जो अक्सर हमारे तरफ के बराहमन, भुइहार, शेख और सूँड़ी-महाजन होते हैं—यही हड़पना चाहते थे गरीबों के मुट्ठी-दो मुट्ठी भात को! डाक्टर रहमान कब तक बैठे रहते, गरीब लोग उन्हें कैसे बैठने देते? राधा बाबू के साथ उनकी पटना-कैंप जेल की दोस्ती थी, पहुँचे सीधे उनके पास। उन दिनों सोसलिस्टों में बड़ी गर्मी थी भैया! वे जो कुछ कहते, उसे करने की भी कोशिश उनकी ओर से होती थी। मजूरों की हड़ताल हो, चाहे किसानों का आन्दोलन—सोसलिस्ट भाई उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लेते थे। सो, राधा बाबू ने डाक्टर रहमान की बातें मन लगाकर सुनीं और खानबहादुर के खिलाफ लड़ाई छेड़ने का रास्ता बता दिया। किसानों का संगठन, अखबारों से जमींदार की जालिमाना हरकतों का पर्चार कम से कम पचास भोलंटियरों की बहाली, बीस-पच्चीस मन अनाज और सौ ठो रुपैया, इलाके-भर के किसानों की एक भारी मीटिंग···

डाक्टर रहमान महपूरा लौट आये और किसानों को सब कुछ समझा दिया। लोग फ़ौरन राजी हो गये। उस जालिम जमींदार का मुकाबला अकेले तो कोई नहीं कर सकता था? उसके पीठ पर थाने के दरोगा साहब थे, दरभङ्गा के कलक्टर साहब थे; इलाके-भर के जमींदार, पण्डित और मौलवी सब खानबहादुर के पच्छ में थे। पच्छिम के दस लठैत जवान, नेपाल के पाँच खुखरी-बहादुर··· बड़ा ताकतवर था खानबहादुर? अकेले कौन उससे भिड़ता? लेकिन सौ ठो साली लाठी एक जगह हो जाय तो उसका एक भारी बोझ बन जाता है! अपनी-अपनी धरती की हिफाजत के लिए किसान एक होने लगे। पहले उनकी तरफ से रहमान साहब जमींदार को कई बार समझा चुके थे, अब और कोई रास्ता नहीं था। रैयत लोगों ने तय कर लिया कि लाश गिरे तो गिरे, मगर अपने खेत दूसरों के दखल में नहीं जाने देंगे।

किसानों की ओर से काफी तैयारी हो चुकी थी, इलाके-भर में नोटिस बंटी थी। राधा बाबू मिटिंग से दो रोज पहले ही आ डटे थे।

मुझे देखते ही वह बोले—अब की मुझे भी जेल की खिचड़ी खानी होगी!

इतना कहकर बाबू मुसकुराये और नजर मारकर एक नाटे-गोरे आदमी का ध्यान मेरी ओर खींचा। फिर बोले—यह रहा बलचनमा, रहमान साहब, लिख लीजिये इसका भी नाम भोलंटियरों में।

खादी का सफेद पैंजामा, चारखाना कमीज। मूँछ थी, दाढ़ी साफ। बाल अँगूठिया थे। उस वक्त उनके हाथ में बधना था, पैखाना जा रहे होंगे। भरी-पूरी खिलखिलाहट से आस-पास को गुंजाकर वह बोले—क्यों रे, लिख लूँ नाम?

कह तो दिया एक बार—चश्मा खोलकर उसे हाथ में लेते हुए राधा बाबू ने कहा—जाइए, पाखाना से हो आइए, तब।

धोती के छोर से उन्होंने चश्मा को साफ किया, उसे नाक पर बैठाते हुए बोले—तीन रोज अभी यहाँ तुझे साथ रखूँगा, फिर छुट्ठी। जा, आश्रम देख आ।

तो क्या यहाँ भी आसरम है! मैं चौंककर इधर-उधर ताकने लगा। पास-पड़ोस में साफ-सूफ मकान थे। छोटे-छोटे। घूरों पर दो-तीन जगह मुर्गे दिखाई दिये, दो-एक मुर्गी भी थीं। जरा हटकर भीत के आड़ में काले रंग की कुतिया पीली हड्डी चबा रही थी। बथान पर चार तन्दुरुस्त बैल काठ की लम्बी नाँद में मुँह डाले सानी-भूसी खा रहे थे। दूसरी ओर भूरे रंग की नाटी घोड़ी बँधी हुई थी। भूसी के ढेर, दो ठो हल। बैठक में दो कुर्सियाँ, एक तख्तपोश। एक मामूली आलमारी, बन्द। आले पर दवा की गोलियों से भरी कुछ शीशियाँ, रबड़ की नली और सफेद डब्बा खूँटी मे टँगा था। भैया; आखिर डाक्टर का बैठक-खाना ठहरा न? अपना-अपना औजार किसके घर नहीं होता?

जो मुझे घर से बुला लाया था, वही ले गया अब आसरम की ओर। गाँव के बिल्कुल बाहर, बगीचे के पास।

दूर से ही देखा, बाँस की छिपाठी पर लाल झण्डा फहरा रहा है। नगीज जाकर नजर ऊपर की तो लाल झण्डे पर दो औजारों के निशान दिखाई पड़े—एक निशान था हँसुआ का, दूसरा हथौड़े का···हँसुआ के सूने पेट पर हथौड़े का माथा!

आसरम क्या था, फूस-घास की टेपरेली मड़इया थी! खाकी जँघिया और लाल हाफ-कमीज पहने दो नौजवान अन्दर बैठे थे। ईंटों का चूल्हा, मिट्टी की हाँड़ी। रसोई बोल रही थी खुद-बुद, खद-बद खुद-बुद, खद-बद बूढ़े रहमान बाप की बिना ब्याही बेटियों की तरह आम, को सूखी टहनियाँ फटे-सूखे बाँस के साथ जल रही थीं, उनका धुंआ भी उतना ही कड़वा था।

भोलंटियर भाइयों से देर तक मैं बातें करता रहा। उनसे मैं जल्दी ही हिल-मिल गया। वे रोजी-रोटी की लड़ाई के बहादुर सिपाही थे। सोसलिल्ट पार्टी ने उन्हें दरभङ्गा से भेजा। मेरी ही भाँति वह भी गरीब माँ-बाप के बेटा थे। एक बराहमन था, दूसरा ग्वाला। उमर भी उनकी मेरी जितनी थी। उनके यहाँ जात-पात का कोई फरक नहीं था। एक का नाम था दिनेश, दूसरे का सुरजा। दिनेश ने मुझे चूड़ा फाँकने को दिया और कहा—भूख लगी होगी कामरेड, डाल लो तब तक पेट में कुछ।

कामरेड!—यह तो मैंने कभी सुना ही नहीं था! लाज के मारे उस रोज तो इसका मतलब मैं मालूम नहीं कर सका लेकिन दो दिन बाद मालूम हो गया। कामरेड का मतलब है लड़ाई का साथी। एक ही मोर्चे के दो फौजी जवान एक-दूसरे को कामरेड कहकर बुलाते हैं। अपने हक के लिए लड़ने वाले हम गरीबों के लिए कामरेड से जास्ती प्यारा कोई लबज है नहीं।

थोड़ी देर बाद लौटकर मैं राधा बाबू के पास आ गया, उनकी धोती और कमीज को साबुन लगाकर कचार दिया। बाहर कपड़े फैलाते ही उधर खाना

हाजिर। बरह्मपुरा आसरम में कई महीने रह चुका था, मुसलमानों का छुआ खाना खाने में परहेज-उरहेज नहीं था लेकिन इतना डर जरूर लग रहा था कि बिरादरी का कोई देख लेगा तो यह खबर गाँव-घर पहुँच जायगी; नाहक बखेड़ा खड़ा होगा। इसी से थाली उठाकर बैठक खाने के अन्दर वाले रूम में चला गया, वहीं खा लिया। खेसाड़ी की दाल और भात था, तरकारी थी झिगनी की। भैया मुसलमानों के यहाँ जैसा बढ़िया खाना बनता है वैसा बढ़िया और कहीं नहीं। बाजी तो नहीं बदोगे?

माँ को खबर करने को छुट्ठी माँगी तो बाबू ने हँसकर कहा—हाँ रे, जानता हूँ तू किसको खबर करने जाना चाहता है।

मैं लजा गया और निगाहें नीची कर चल पड़ा अपने गाँव की ओर।

आठ

मीटिंग में चार सौ करीब लोग आये थे। आसरम के पास वाले मैदान में सभा नहीं हो सकी, बाग में भी नहीं। खानबहादुर के मनेजर ने ऐन मौके पर वहाँ अपने लठैतों को तैनात कर दिया था। अब क्या हो? क्या मीटिंग नहीं होगी? नहीं, मीटिंग हुई और शानदार मीटिंग हुई!

अधेड़ उमर के एक आदमी ने लोगों से ललकारकर कहा—वह रहा मेरा खेत, पाँच कट्ठे का टुकड़ा है। उसमें मड़ुआ के पौधे लहलहा रहे हैं···आओ भाइयों, वहीं मीटिंग होगी; आओ, मड़ुआ काटकर घड़ी-आध घड़ी में जगह बना लेते हैं···

बिजली की फुर्ती से वह आगे बढ़ा। देखते-देखते बस्ती से बीस-पचीस हँसियाँ मँगा ली गईं और लोग पौधे काटने लगे। किसानों में भारी जोश उमड़ा आधा घण्टे के अन्दर समूचा खेत साफ हो गया। बीचों-बीच तख्तपोश डालकर लीडरों के लिए जगह बना ली गई और मीटिंग का काम शुरू हुआ।

भैया, कौन वह आदमी जिसने अपनी हरी-भरी फसल बर्बाद करके मीटिंग के लिए जगह बना दी।

उसका नाम लतीफ था। मेहनती, गरीब और ईमानदार। कुल डेढ़ बीघा जमीन उसकी जोत में थी। बड़े-बड़े नेताओं के त्याग-तपस्या की कहानियाँ तुमने सुनी होंगी, लेकिन महपूरा के उस गरीब किसान के इस त्याग को भला कौन-सा दर्जा दोगे! हरी फसल काटते वक्त मेरी तो भैया आँखें छलछला आईं! मैं सपने में भी इस किसिम की बात नहीं सोच सकता था।

लीडर पाँच-छः आये थे। पटने से स्वामी जी, गया से शर्मा जी, मुजफ्फरपुर से मिसिर जी, कहीं के एक और बाबू थे, समस्तीपुर के गंगा बाबू और राधा

बाबू। स्वामी जी नाटे कद के जरा साँवले आदमी थे, कपड़े गेरुआ रंग में रंगे हुए। बोलते थे तो ऐसा बुझाता था मानो भाड़ में मकई का लावा फुट रहा हो! खाना-पीना फल और दूध, बस। उनके लिए गाय का पाँच सेर दूध, पके केलों की समूची घौद और भर टोकरी संतोला-लेंबू आया था। खाते भी खूब थे, भोगिन्दर समझ लो! खाने बैठे तो एक ही बार में इतना संतोला खा गये कि सामने में सीठी और छिलका का ढेर लग गया, भर छाती! मुदा, मीटिंग में स्वामी जी दहाड़े भी खूब! मय खानबहादुर, मय दरोगा जी, मय एस० डी० ओ०, मय कलट्टर उन्होंने सबको ललकारा। महाराज बहादुरों को ऐसा रगड़ा, ऐसा रगड़ा कि क्या बताऊँ! सरकार की भी खूब छीछालेदर की स्वामीजी ने! पटना से दो ठो अफसर रिपोर्ट लेने आए थे, वे स्वामी जी के लेकचर का एक-एक अच्छर लिख रहे थे—खानबहादुर की डेवढ़ी से उनके लिए टेबुल-कुर्सी आई थी। उन्हीं के लिए क्यों, दो कुर्सी और एक टूल और भी तो मँगवाई गई थी! कुर्सियों पर एस० डी० ओ० और डिप्टी मजिस्ट्रेट बैठे थे, टूल पर खजौली के दरोगा जी।

स्वामी जी ने किसानों से कहा—"बाहरी लीडरों के भरोसे मत रहिए, अपना नेता आप खुद बनिए। मँगनी और उधार के बाहरी नेता बहुत देखे, मगर कुछ हुआ-हवाया नहीं। माना कि नेता पढ़े-लिखे होते हैं और आप अपढ़-अनजान हैं, लेकिन गेहूँ-चावल, दूध-घी, तिलहन-कपास सब कुछ आप ही पैदा करते हैं, लीडर लोग तो आपकी ही कमाई का हलवा खाकर लेक्चर देने आते हैं और अपने दिमाग व पेट की बदहजमी मिटाते हैं। आप अपनी अकल से इतना तो जानते ही हैं कि लेक्चर चाहे लाख दे जाय, उससे न एक दाना चावल पैदा होता है, न गेहूँ और न घी-दूध ही! लेक्चर सुनके भूख-प्यास नहीं मिटती। आप लोग लीडरों से लाख दर्जे अच्छे हैं। आप सब कुछ पैदा करते हैं तो अपना लीडर भी अपने ही यहाँ पैदा कीजिए। जो आपका आदमी होगा वही आपकी तकलीफों को समझेगा, जाके पाँव न फटी बिवाई सो क्या जाने पीर पराई!··· कांग्रेस आपका दुःख-दर्द क्या समझेगी? वह खादी पहनाकर और गले में माला डालकर जमींदारों को जेल भेजने का नाटक करती है। पीछे जेल से निकले वही जमींदार कांग्रेसी आप लोगों को शान्ति और सन्तोष का सबक सिखाते फिरते हैं···खबरदार! भाइयों, ऐसे लीडरों के फेर में कभी मत पड़ना···आप अकेले नहीं हैं, करोड़ों की तादाद है आपकी। आप जब उठ खड़े होंगे और एक कंठ होकर हुंकार करेंगे तो जालिम जमींदारों का कलेजा दहलने लगेगा। ये हैं ही कितने, दाल में नमक के बराबर! अपने बल पर नहीं, सरकारी अफसरों के बल पर ही जुल्म करते हैं। आप सिर्फ तीन काम कीजिये—संगठित होकर एक हो जाइए, जान जाय तो जाय मगर जमीन नहीं छोड़िये और अदालत-कचहरी के इर्द-गिर्द कभी मत जाइए···किसान सभा आपकी मदद करेगी, बाहर के किसान लीडर आपके बीच आते-जाते रहेंगे। किसान भाइयो, अब आप जग गये

हैं। खानबहादुर हो, चाहे महाराज बहादुर कोई आपका हक नहीं छीन पाएगा। आप अपनी ताकत को पहचानिए, बोलिए सब मिलकर इन्क़िलाब—"

जिंदाबाद !—लोगों ने मिलकर आवाज लगाई। सबके चेहरों पर तेज छा रहा था, आँखें चमक रही थीं। स्वामी देर तक बोले थे, किसानों ने दम साधकर सुना।

खानबहादुर के मैनेजर ने लोगों के बीच चार-छै बदमाशों को बैठा रखा था। शुरू-शुरू में उन्होंने 'महत्मा गाँधी की जय', 'भारत माता की जय' और 'स्वामीजी बैठ जाइये' वग़ैरह कुछ आवाजें लगाईं तो किसानों को बड़ा गुस्सा आया, बाँह पकड़-पकड़कर उन्होंने गुण्डों को बैठा दिया। लोगों की नराजी और कड़ा रुख देखकर फिर उनकी हिम्मत ही नहीं हुई।

स्वामी जी के बाद शर्मा जी उठे, गया वाले। लम्बा कद, साँवली सूरत। बेतरतीब बाल। बदन पर कमीज कुर्ता या गंजी कुछ नहीं था। ढाई-तीन गज का कपड़ा कमर से लपेटे थे। उन्होंने कहा—

रहिमन चाक कुम्हार के माँगे दिया न देय
बिल में डंडा डाल के जो चाहे गढ़ि लेय

"किसान भाइयो, माँगने से कुछ नहीं मिलेगा। अपनी ताकत से ही अपना हक आप पा सकते हैं। आपकी ताकत क्या है ? एका है आपकी ताकत, संगठन। घर में रोते-रोते अकेले हाय-हाय करते-करते हजारों साल गुजर गये। सरकार को आपकी रत्ती-भर भी पर्वाह नहीं है। वह आप लोगों से नहीं, चोर-डाकुओं से घबड़ाती है। उन्हें पक्के मकानों (जेलों) में हिफाजत से रखती है। खाने-पीने का, पहनने-ओढ़ने का, दवा-दारू का उनके लिए सारा इन्तजाम सरकार करती है। मगर गेहूँ, बासमती पैदा करके ग़ैरों को लुटाने वाले आप खुद भूखों मरते हैं, सरकार को आपकी ज़रा भी फ़िक्र नहीं ! वह मानो खुद इशारा करती है—किसानो, चोरी करो और डाके डालो तभी तुम्हारा गुजर होगा···"

शर्मा जी ने समझाते हुए कहा—"जमींदार बड़ा पर्पची, बड़ा जालिम होता है। अउअल तो पहले वह तुम्हारे अन्दर आपस ही में फूट डालने की कोशिश करता होगा, नहीं, तुम सभी एक ओर मजबूत होकर अपनी जमीन पर डटे ही रह गये तो वह पैसे के बल से तंग करेगा। अफ़सरों से मिलकर वह तुम लोगों को जेल भेजने की कोशिश करेगा···सम्मन, नोटिस, वारंट, सजा—सब हो सकता है। मगर खबरदार, अपने खेतों से न हटना। भुलावे में न पड़ना और कचहरी जाने की गलती न करना। पुलिस और हाकिमों से साफ कह देना कि इन्हीं खेतों को जेल बना दीजिए, हम पड़े रहेंगे, भागेंगे नहीं। उस जेल में ले चलना है तो सबको ले चलिए···बाल-बच्चे, जवान-बूढ़े, मर्द-औरत, गाय-बैल, भेड़-बकरी, कुत्ता-बिल्ली, चूल्हा-चक्की···हमारी सभी चीजें साथ जायँगी तभी हम जेल जा सकते हैं नहीं तो टस से मस नहीं होंगे···जो करना हो, यहीं कीजिए ! और अगर पुलिस वाले खामखाम पकड़ना ही चाहें तो बूढ़े-बच्चे, मर्द-औरत एक-दूसरे को

अच्छी तरह पकड़ के पड़ जाना होगा। सैकड़ों आदमियों को ले जाने के लिए हजारों सिपाही और पचीसों लारियाँ चाहिए···फिर देखना कौन तुम लोगों को कैसे कहाँ ले जाता है ! अगर तुमने मेरी ये बातें मान लीं और डटे रहने का निश्चय कर लिया तो फिर तुम्हारे खेतों पर से तुम्हें हटाने वाली कोई ताकत इस दुनिया में नहीं है। जमींदार, सरकार, पुलिस, गुण्डे···सभी थक के बैठ जायेंगे !"

इसके बाद नारे लगे—कमानेवाला खायेगा···इसके चलते जो कुछ हो। इन्किलाब···जिंदाबाद। जमीन किसकी···जोते-बोए उसकी। अँग्रेजी राज··· नाश हो। जमींदारी पर्था···नाश हो। किसान सभा जिंदाबाद। लाल झंडा··· जिंदाबाद। इन्किलाब···जिन्दाबाद।

फिर बाकी लीडर बोले। अंत में डाक्टर रहमान ने महपूरा के जमींदार खानबहादुर सादुल्ला खाँ को आगाह करते हुए कहा कि वह अपनी जालिमाना हरकतों से बाज नहीं आवेंगे तो इलाके का एक-एक किसान आगे बढ़ेगा और उनका होस दुरुस्त कर देगा···दरोगा और एस० डी० ओ० से भी डाक्टर साहब ने कहा—एक बूंद भी खून गिरा तो उसकी जिम्मेवारी आप पर होगी। किसानों को धमकाने से पहले आप खानबहादुर के लठैतों को रोकिए जो खुलेआम गालियाँ बकते घूमते हैं।

राधा बाबू रहमान साहब से पहले ही जिला के अफसरों को फटकार चुके थे। तीन घण्टे तक सभा चलती रही। खतम होने से पहले एक नौजवान ने गाना गया—

दुर्दिनमा केलक हरान
रे, फिकिरिया मारलक जान !
करजा करिके खेती केलूं, मरि गेलइ सब धान—रे फिकि०
बैल बेचि रजवा के देलूं, छोड़ए नहि बइमान
जमींदार के जूलुम रोकऽ, चेतऽ भाइ किसान—रे फिकि०

गाँव को गरमाकर लीडर लोग अगले ही रोज चले गये।

मेरी भी बस्ती के पन्द्रह-बीस किसान सभा देखने आये थे। किसान सभा की गर्मी रामपुर के लोगों में भी कुछ आने लगी। मुंशी जी का लड़का थोड़ी-बहुत अंग्रेजी पढ़-लिखकर बेकार बैठा था। वह भी लीडरों का लेक्चर सुन आया और राधा बाबू से कुछ बात भी उसने की थी।

महपूरा के किसानों ने भीतर ही भीतर तय किया था कि जिन्होंने अपने नाम से खेत लिखा लिया है वे खेतों को आबाद करें तो करने दो, लेकिन फसल हमीं काटेंगे। लेकिन जमींदार की ओर से किसी किसान का खेत आबाद नहीं किया गया। लोग समझ गए कि वह फसल पर ही धावा मारना चाहता है।

हमारी बस्ती के भी मालिकों के कान खड़े हो गये। इक्का-दुक्का यहाँ भी हेर-फेर शुरू हुआ। सर्वे के वखत मालिक के परदादे ने और बल्ली बाबू के दादा ने

किसानों की जोत की हजारों बीघा जमीन को बकाश्त के तौर पर दर्ज करा दिया था। समझदार किसान दस-पाँच ही थे जिनका काश्तकारी हक सर्वे में कायम रहा था। आम किसान लगान देते आए थे लेकिन रसीद लेने की जरूरत उन्होंने कभी नहीं समझी। बात उठती तो कहते—मालिक बइमानी थोड़े ही करेंगे ?

पाँच-एक सौ बीघा जमीन छोटी जात वालों के पास ऐसी भी थी जिसका दर मनहुंडा था। फी बीघा धान दो मन, रबी-खरीफ एक मन। रसीद इसकी भी नहीं मिलती थी। अलावा इसके, किसान हजारों बीघा बटाई भी जोतते आ रहे थे।

मालिक लोग सूर-दर-सूद में बेचारे किसानों को काफी लूटते थे। अनाज का डेवढ़ा-सवाया जमराज की तरह असूलते थे। मगर अब किसान महपूरा की ओर नजर लगाये हुए थे और मालिकों की भी निगाह उधर ही थी।

अगले अगहन में फसल की जो छीना-झपटी हुई उसमें एक किसान की लास गिरी थी। गँड़ासा जिसने मारा था वह खानबहादुर का कोचवान ही था। पुलिस टुकुर-टुकुर ताकती रही और हत्यारा लापता हो गया। उल्टे दफा १४४ को तोड़ने के नाम पर दो-ढाई दर्जन किसानों की गिरफ्तारी हुई। उन पर कई तरह के मुकदमे चलाए गए। फसल लेकिन किसानों के घर पहुँच गई थी।

धान काटने के दिन थे, इसी से मैं मसोस के रह गया। नहीं तो चार-छः रोज महपूरा रहकर किसानों का साथ देता। और संजोग देखो भैया कि उसी माघ में सुगनी के बच्ची पैदा हुई!

चमारिन और नाइन को इनाम-तिनाम देने में, छट्ठी और पड़ोसिन को तेल-सेंदुर देने में पन्द्रह एक रुपये लगे होंगे। ज्यादा खरचने की हमारी औकात कहाँ थी ?

बच्ची पैदा होने से माँ तनिक उदास हो गई लेकिन मनियार चाचा ने कहा—हमारी बिरादरी बराहमन की, भुंइहार-राजपूत की नहीं है कि लड़की के माँग में सेंदूर पड़ना मुश्किल हो जाएगा। काहे की सोच, काहे की फिकिर? एक रेवनी गई तो दूसरी रेवनी आ पहुँची !

यह बोलते हुए चाचा आँगन आए। सुगनी धूप सेक रही थी चिलका को लिए हुए। खखास सुनते ही उसने घूंघट को तनिक सरका लिया था। बुढ़ऊ आगे आकर बोले—दुर्गा भवानी का दरसन करने आया हूँ।

माँ ओसारे पर धान उबाल रही थी। चट से वह सुगनी के नगीच उठ आई और बच्ची को अपने हाथों में लेकर मनियार चाचा के सामने कर दिया, अपना मुंह फेरे ही रही क्योंकि बाबू मेरा उमर में मनियार चाचा से साल-भर छोटा था।

बच्ची के कपाल पर अठन्नी साट दी चाचा ने और कहा—चेहरा-मोहरा बिलकुल बालो-जैसा है! टिट् टिट् टिट् टी···

बच्ची ने लेकिन बुढ़ऊ की उस टिटकारी के जवाब में कोई इशारा नहीं

दिया—न पुतली हिली, न होंठ ही फड़के ! बोल तो खैर बेचारी क्या पाती ?

माँ के सामने उसे मैंने भर-आँख कभी नहीं देखा ? लाज लगती थी। अकेले में लेकिन देर तक उसे देखता रहता। कैसी अच्छी लगती थी ! तलवे गुलाबी कमल-जैसे लगते थे, उन्हें मैं अपने होंठों से, नाक से, पलकों से, कपार से हलके दबाया करता—इससे भारी संतोष होता था। छाती में या कि कपार में कभी चंदन घिस के लगाया है तुमने ? हाँ, तो बस समझ लो कि उसी किसिम की तरावट—उससे कुछ जास्ती ही कहो—बच्ची को छूने से मिलती थी। संतान कोई मामूली चीज नहीं होती भैया ! जिसके यह चीज नहीं, ठूँठ से बत्तर समझो उसकी जिनगी को, हाँ !

किसी ने बता दिया होगा, एक दफे पँवारा गाने वाले पँवरिया आए, दो जने थे। उनकी ढोलक सुराहीनुमा था। पहर-भर वे सोहर वगैरह गाते रहे। डेढ़ रुपैया और दो सेर धान लिया तभी उठे, बड़े लगार होते हैं ये लोग भी ! बाबू लोगों की हवेली से तो न जाने कितना सामान उठा ले जाते हैं।

एक रोज सुबह-सुबह आँख मलता हुआ उठकर बाहर निकला तो रामखेलावन से टकरा गया। वह बोला—चल भाई कमीज पहन ले !

मैं कुछ समझ ही नहीं पाया। पूछा—क्या है रे ?

अरे, जुलुम हो गया !

बता भी कुछ तो !—मैं चिढ़कर बोला तो उसने फुसफुसाकर कान में कहा—जमंगला को वह लहेरियागंज वाला दर्जीवा उड़ा ले भागा !

अचरज के मारे मैंने मुँह बा दिया, अभी चार ही पाँच रोज पहले मैंने उसे पोखर पर खड़ी देखा था। आखिर ऐसा हुआ कैसे ?

चल, रास्ते में बताऊँगा—रामखेलावन ने कहा।

कमीज पहनकर दोहर कंधे पर डालकर मैं घर से बाहर निकला। हाथ में लाठी थी। मालूम हुआ कि पहले लहेरियागंज, फिर मधुबनी, दरभंगा और जयनगर तक जाना पड़ेगा···

रास्ते में रामखेलावन से जो कुछ मालूम हुआ, बता दूँ ? तो, लो सुनो—

हमारे बड़े मालिक बाबू गौरीशंकर चौधरी के लड़के और लड़की यही जयमंगला। बूढ़े मालिक का कई साल पहले ही सुरगवास हो चुका था। बड़ा लड़का ओकील और छोटा डिप्टी मजिस्ट्रेट। लड़की जब से मसोमात हुई तब से माँ के पास रही। साँवली सूरत, बड़ी-बड़ी आँखें, गोल-मटोल चेहरा। देखने में काफी अच्छी थी। उमर रही होगी चौबीस-पच्चीस की।

लहेरियागंज का एक नौजवान दर्जी हवेली के सारे कपड़े सीता था। गठीला और खूबसूरत मुसलमान। उसका मामा मधुबनी बाजार में सिलाई की दूकान किये हुए था। बूढ़े मालिक उसी से अपने कपड़े सिलवाते थे। हुनर सीखकर भांजा जब तैयार हुआ तो जनानी कपड़ों का नाप लेने के लिए हवेली के अन्दर आने-जाने लगा। इधर दो-तीन साल से अलग मसीन लेकर वह लहेरियागंज में

रहने लगा था। बीच में दो-तीन बार ऐसा हुआ कि कपड़े कई किसिम के और काफी सिलवाने पड़े, कुछ कपड़े कीमती भी थे। नया दर्जी सिलाई बड़ी अच्छी करता था, छोटा था तभी से मलिकाइन उसे जानती थीं। तो, बैठक में ही अलग एक कोठरी के अंदर दर्जी को सिलाई करने का हुकुम मिला। चार-चार, छः-छः रोज दो-तीन बार वह मालिक के यहाँ रह चुका था। मसीन आती थी और जाती थी। दर्जी को मजूरी भी मिलती, खाना भी मिलता और नास्ता-पानी भी··· इसी बीच दोनों की नजरें चार हो गईं, दो दिलों ने मिलने का अपना रास्ता भी निकाल लिया। बाहर किसी को कुछ मालूम नहीं, अंदर-अंदर कड़ाही में गुड़ पगता रहा। अब की बार दर्जी आया तो साल रफू करने के बहाने यों ही आया, मसीन लाने की फिर जरूरत ही क्या थी? दो दिन रह के रात को गायब हो गया, जयमंगला भी गायब थी! खानदान की नाक कट गई भैया!

अब हम लाठी लेकर लैला-मजनू को खोजने निकले। लहेरियागंज में जो कमरा दर्जी ने किराये पर ले रखा था उसे वह दो महीने पहले ही छोड़ चुका था। मधुबनी में उसके मामा से पूछा तो उस बुड्ढे ने ठुड्डी की छँटी-खिचड़ी दाढ़ी पर बारी-बारी से दोनों हाथ फेरा, फिर कान छुए और बोला—तो···बा! तो···बा! यह क्या सुनाने आया है मुझे? या इलाही!

कुछ रुककर उसने पैर से एक जूती निकाल ली, जूती उठाकर हाथ को इस तरह घुमाने लगा मानो किसी को पीटने वाला हो। फिर गुस्से की आवाज में चिल्लाया—साले की खाल उधेड़ लूँगा, आवारा कहीं का, दो-तीन महीने से गायब है, मसीन बेचकर खा गया है···

हम वहाँ से हट गये। गिलेसन घूमते हुए टीसन पर आए। सेर-तीन एक चिउड़ा दिया था मलिकाइन ने, रामखेलावन उसी को खोल के खाने लगा और मैं भी। बड़ी भूख लगी थी। थोड़ा-थोड़ा फाँक चुकने पर नमक और हरी मिर्च की सुध आई! खाकर टीसन के बाहर से पानी पी आए।

थोड़ी देर में गाड़ी आई। अब तक हमने टिकट नहीं कटाया था। एकाएक मुझे सूझा कि नाहक ही कहाँ भटकते फिरेंगे। जयमंगला यों ही नहीं निकली थी, पाँच हजार का गहना भी अपने साथ लेकर उड़ी थी। चोंच में जिनके धान के शीश या गेहूँ की बालें हों उस उड़ते जोड़े का पीछा भला कौन कर पाएगा? छोड़ो भी।

समूचा दिन और समूची रात हमने मधुबनी में काट दी, सवेरे घर पहुँचे। रामखेलावन गया, बड़ी मलिकाइन को ताक-हेर का नतीजा बता आया।

झूठ क्यों कहूँ, मुझे कोई खास तकलीफ नहीं थी। बदन में ताकत थी, कसकर काम करता था। पन्द्रह कट्ठा के लगभग जमीन आ गई थी मेरे हाथ पर, अपना पाँच कट्ठा अलग था। संतोखी माँ मिली थी, फरमाइस पूरा करने वाली घरवाली मिली थी, हिलती-डुलती, बोलती-चालती, सोने की मूरत-जैसी बच्ची मिली थी। और क्या चाहिए? मगर एक बात जरूर थी भैया, कभी-कभी पैसे की तंगी बुरी

तरह खलती थी। पाँच रुपैया भी हर महीना कहीं से आ जाता, फिर तो वालचन्द राउत घटेसर राजा हो जाते। झूठ कहता हूँ भैया समांङ दुरुस्त रहे, काम-काज मिलता जाय, पलिवार छोटा हो, नियत बिगड़े नहीं, दिल में दस-वीस के लिए जगह हो···और क्या चाहिए ? तो पैसों की तंगी कैसे मिट सकती थी भैया ?

एक तो मैंने तय किया कि अवकी गन्ने की खेती जरूर करेंगे दूसरी बात जो सोच-साच के पक्की की वह थी वड़े पत्तों वाली तमाकू की खेती करने के बारे में। मेरे घर से दच्छिन पचकौड़ी वावू की थोड़ी जमीन पड़ती थी, उसको उन्होंने वे-आबाद छोड़ रखा था। खाते-पीते आदमी थे, वेटा राज में तहसीलदास था। सतरंज खेलने का भारी सौख था। इसमें पंडित जी उनके जोड़ीदार थे, वही पंडित बौअन पाठक ?

पूछने पर पचकौड़ी वावू ने कहा—तमाकू नहीं, आलू उपजा सके तो ठीक है; नहीं तो नहीं।

अच्छा सरकार !—मैं लौट आया। कई दिनों तक सोचता रहा कि वह जमीन लूँ या नहीं लूँ। घर के विल्कुल करीव थी, मेरे लिए यही उसका भारी गुन था। भाँग और चकौढ़ के पौधे थे उसमें, दो-एक झाड़ धतूरा का रहा होगा। खैर, भैया तमाकू वाली वात उड़ गई। गन्ने की खेती जरूर करनी थी ! दामो ठाकुर वाला खेत था भी उसी के लायक !

पिछले साल एक वैल हाथ लगा था।

फूदन मिसिर की घरवाली के पास एक पुरानी गाय थी। सात वार तो मेरे ही होश में व्याई और तव मरी थी। अव उसकी निसानी के तौर पर बस यही एक वैल मिसराइन के घर रह गया था। इधर कई साल से वेचारी असक थी, वैल की सेवा उससे पार नहीं लगता था। हुआ यह कि चार दाँत का जवान जानवर वेहद कमजोर पड़ गया। चराने-चुगाने वाला वहाँ कोई था नहीं, दिन-रात गरीव खूँटे से वंधा रहता ! मोसंमात एक ही वार दिन में उसे खोला करती, सो भी इसलिए कि पास के तालाव से पानी पी आवे। दो मुट्ठी पुआल सवेरे और दो मुट्ठी साम को उसके आगे डाल दिया जाता यह पुआल खाते-खाते वेचारे की भूख भोथी पड़ गई थी···आँखों में कीचड़, कनपटियों के पास नीचे की ओर आँसू के निशान ! हाड़-पाँजर पर रोएँदार चमड़ी मढ़ के किसी नराज देवता ने मानो इस जीव को वीमार वैल की वेडौल और वदसूरत सकल दे दी हो ! खूँटे के इर्द-गिर्द थोड़ी जगह थी जो मूत-गोवर से हरदम गीली रहती, दूर से ही सड़े-सूखे गीले पुआल की अजीव गैंस तुम्हारी नाक को छेदती हुई अन्दर चली जाती ! तीन ओर फूस की झीनी टाट खड़ी थी। अपने थुथुन से उस गरीव ने जाने क्यों उस टाट में सामने छेद कर दिया था, ठीक उतना ही जितना कि सिर-भर निकलने को काफी हो। गले की रस्सी शायद सिर को और आगे जाने से रोकती थी। सो भैया मिसराइन का वह वीमार वैल टाट के उस छेद से सिर निकाले आने-जाने वालों की ओर एकटक ताकता रहता—वेवस और सूनी निगाह से ? वैसा

नजारा मैंने कहीं नहीं देखा···महीनों मैं वेचारे के वारे में सोचता रहा, वीच-वीच में जाकर देख आता था—वह जवरजस्ती जी रहा था। देहाती दुनिया की लाचारी का एक डरवाना साइनबोट-सा वह मुझे लगता रहा ! आखिर एक रोज ऐसा मालूम हुआ कि अब अगर उस वैल से आँखें चार हुईं तो माथा फट जायगा··· खचिया-भर घास लेकर शाम को वैल के पास पहुँचा, घास सामने डालकर उससे मैंने कहा—नहीं वेटा, मैं तुम्हें इस तरह मरने नहीं दूँगा। वस, वहुत हो चुका ! आज से मैं तेरा और तू मेरा···

वह धीरे-धीरे घास खाने लगा विना सिर उठाये खाता रहा। मैं मिसराइन के नगीच पहुँचा और पाँलगी की। वह आँगन में सितलपाटी विछाकर तकिया के सहारे लेटी हुई थीं। भादों की उमस थी। वाँस की खपच्चियों से वनी विजनी थी हाथ में। आहट पाते ही उठ वैठी और आवाज पहचानकर वोलीं—वलचनमा क्या है रे ?

कुछ नहीं मलिकनी घास लाया था थोड़ी—मैंने कहा।

'डाल दिया वैल के सामने ?'

'हाँ मलिकिनी, डाल दी।'

'अच्छा······'

'अच्छा नहीं मलिकिनी'—उसाँस लेकर मैं वोला—'यह वैल आज से मेरा हुआ······'

मोसंमात हँसने लगी। उनको लगा कि वलचनमा दिन-भर का थका है, हलकी-फुलकी वातें कर अपना जी वहलाने आया है। कुछ नहीं फुरा तो वैल ही की वात उठा दी।

विजनी की मूंठ से पीठ खुजलाती हुई वोलीं—दुर मुड़हा ! महीना-डेढ़ महीना भी यह वैल अव काट सकेगा ? मरेगा तो अगले जनम में तेरा ही हल वहेगा ! घास खिलाई है, याद नहीं रखेगा ? ही ही ही ही हुः हुः हुः हुः हुह होह······

ठहाका मार-मार करके हँसी मिसराइन, मैं मगर गुमसुम था। वह भी क्या हँसने की वात थी भैया ?

हँस-हँसकर जव हलकी हुई तो वोली—कौन ले जायगा इस वैल को ? चार रुपये की खाल तो निकलेगी, मैं वुधुआ को वुलवाने ही वाली हूँ। वह आकर खोल ले जाय इसे, जव तक जिए तव तक सवूर रखे, पीछे···

नहीं मलिकिनी, मैं इसे अभी खोल ले जाता हूँ—इतना कहकर मैं उठा तो वह मुंह लटकाकर वोलीं—कुछ हो गया इसे तो नाहक तुझे गउवध का परास-चित न लग जाय। वालो, मुझे तो वड़ा डर लगता है ?

डर काहे का मलिकिनी ?—मैंने कहा—भगवान करेंगे तो चार महीने में इसका ढाँचा ही वदल जायगा। आप कुछ फिकिर मत कीजिये···यह मुझे धोखा दे ही नहीं सकता।

इस पर वह बोली—सो तुम जानो !

कुछ रुककर कहा—कल सवेरे ले जाना, अभी रात को ठीक नहीं रहेगा।

मैंने कहा—अच्छा मलिकिनी !

उस रात को खुशी के मारे मुझे नींद नहीं आई थी। ऐसा लगता था कि बहुत बड़ा काम कर आया हूँ······

सवेरे ही अगले रोज बैल को अपने यहाँ ले आया था। महीने-भर की ही सेवा ने बेचारे की सूरत-सकल बदल दी ! दो महीने बाद तो वह मैदान में दौड़ने लग गया। भादों, आसिन, कातिक और अगहन···चार महीने बाद उसकी एकदम कायापलट हो गई। बराहमनी को कई आदमियों ने अकेले-अकेले समझाया—लौटा लीजिए अपना बैल; क्या वह बलचनमा के बाप का है ? चालीस-पचास रुपये से कम मत लेना हाँ······

मिसराइन ने किसी बात पर कान नहीं दिया, मुझसे एक रोज बोलीं—बालो, अब यह काम लेने लायक़ हो गया है। छकौड़ी ने मेरे खेत को तुम्हारे जिम्मे कर ही रखा है, यह बैल भी तुम्हीं रखो बाबू। मेरे यहाँ जाएगा तो फिर उसकी वही दसा होगी।

यह मोसंमात जानकी ही की दया थी कि तुम्हारे दोस्त बालचन्द राउत बैल वाले कहलाने लगे।

एक बैल रामखेलावन के भी पास था। मैंने उसी से अपनी भाँज भिड़ाई। हल उसका ही था। एक रोज वह जोतता था; दूसरे रोज मैं। हमारे पास अपनी जमीन तो मामूली ही थी। अक्सर हमारे हल-बैल दूसरों की जमीन में काम कर आते थे, इसके लिए चार आने रोज बतौर भाड़ा के मिलते थे।

गन्ने की खेती के लिए मुझे चुन्नी-जैसा अनुभवी गुरू मिल गया। चुन्नी हर साल चार-छै कट्ठा ऊख जरूर गोड़ता था। कुछ मिल में भेजता रैयाम और कुछ का गुड़ बना लेता डेड़-दो सौ नगद मिल ही जाते।

दामो ठाकुर वाली जमीन बुढ़िया पोखर के करीब पड़ती थी। आठ-दस बार जोत-जातकर मैंने खेत तैयार किया। दो बार पोखर से पानी लाना पड़ा करीन लगाकर। सूखने पर फिर जोता। ढेलों को भुरभुरा किया। तब जाकर सीधी लकीर में टुकड़े-टुकड़े करके ऊख को गोड़ते गए। मैं था, रामखेलावन और चुन्नी थे।

मिट्टी डालने के बाद, कतारों के बीच-बीच थोड़ा-थोड़ा पानी और डाला गया।

महीने-भर बाद पंपी निकली तो खुशी के मारे मैं नाच उठा। घर आकर बड़ी देर तक बच्ची से खेलता रहा। गन्ने की खेती यह जो मैंने शुरू की, इससे सुगनी भी फूली नहीं समाई। वह ठेठ क़िसान की बेटी थी। उसका मायका मेरे घर की तरह निपट उजाड़ नहीं था। भूल से भी जब कभी मैं बाहर जाकर नौकरी करने की बात उठाता तो उसकी भौंहें गुलेली की तरह तन जातीं ! और जब कभी मेरे मुँह से खेती-बाड़ी के बारे में कोई नई बात निकलती तो सुगनी का चेहरा थल

कमल-जैसा खिल उठता।

वैसाख आते-आते गन्ने के पौधे कमर तक लहराने लगे? इस साल सभी जगह गन्ने की खेती अच्छी थी। मौके-मौके पर वारिस होती रही; कोई रोग नहीं, न कोई कीड़ा।

मुंशी जी का लड़का मधुबनी-दरभंगा जाता ही आता रहता। अव की सावन में वह एक नई खबर लाया कि अगले साल कांग्रेसी लोग मिनिस्टर वन जाएँगे, अंग्रेजों की अमलदारी उठ जाएगी और जमींदारी भी नहीं रहने पाएगी······

ब्रजविहारी था उसका नाम, लेकिन दुलार से लोग वच्चू कहा करते थे। जिस रोज वह दरभंगे से आया था उसी शाम को मैं उससे मिला और पूछा—वच्चू, मजिस्टर-कलस्टर तो सभी की समझ में आता है, यह मलिस्टर क्या होता है?

मलिस्टर नहीं, मिनिस्टर!—वह हँसकर वोला—कानून-कायदा को अमल में लाने के लिए मामूली हाकिमों की देखभाल के लिए और मुलुक की सरकार को चलाने के लिए मेम्वर लोग अपने में जिन दस-पाँच आदमियों को मुखिया चुनते हैं वे ही मिनिस्टर कहलाते हैं। समूचा मुलुक भोट देकर लाखों-करोड़ों में से सैकड़ों को मेम्वर चुनते हैं। सैकड़ों मेम्वर अपने में से दस-वीस पर सारा काम चलाने की जिम्मेदारी सौंप देते हैं, फिर उन्हीं के आडर के मुताविक लोग सव कुछ करते हैं।

अव मेरी समझ में आ गया कि मिनिस्टर का क्या मतलव होगा। स्वामीजी ने कहा था कि जमींदार लोग कांग्रेसी वनके किसानों को ठगते-फिरते हैं। मेरा माथा ठनकने लगा कि ये ही जव मिनिस्टर हो जाएँगे तो गरीवों की भलाई होगी इनसे या कि वड़े-वड़े वावू लोगों की!

वच्चू से यह भी मालूम हुआ कि फूल वावू भी मेम्वरी के लिए खड़े होंगे, कांग्रेस इसी इलाके के लोगों से भोट दिलवाकर फूल वावू को असेम्वली का मेम्वर वनाना चाहती है।

मैं सोचने लगा, हो सकता है कि मेम्वर वन चुकने पर हमारी छोटी मलिकाइन के यही भतीजा वावू मिनिस्टर भी हो जाएँ; तव तो हुआ! भूचाल के वाद रिलीफ फण्ड का रुपैया लेकर यह वावू साहव हमारी वस्ती में जैसी खैरात वाँट गये थे तीसरे साल, सो तुम्हें वता ही चुका हूँ भैयन मेरे ऐसे मेम्वर से तो हमारे इलाके का वंटाधार हो जाएगा, पानी में आग लग जाएगी···

गाँव में एक-दो अखवार आने लगा था। पटना से सात-सात रोज पर निकलने वाला अखवार 'क्रान्ति' किसानों और मजदूरों के वारे में खुलकर लिखता था। उसकी पाँती-पाँती से असन्तोष की चिनगारी निकलती थी। दो रुपैया भेजकर उस अखवार को पहले वच्चू ने ही मँगवाना शुरू किया था। उसने वताया था कि महपूरा के किसानों की वातें 'क्रान्ति' में कई वार छप-छप चुकी हैं। कांग्रेसी अखवार या सेठों, जमींदारों के अखवार ऐसी खवरों को भूलकर भी नहीं

छापते थे।

'क्रान्ति' मंगलवार को निकलता था। हमारी बस्ती में बिरहस्पत और सोमवार दो बीटें थीं डाकपीन के आने की। बच्चू को यह अखबार बिरहस्पत को मिल जाता था। उस रोज शाम को उसकी बैठक में चौकड़ी जुटती। लालटेन जलाकर बच्चू हमें 'क्रान्ति' पढ़ के सुनाता। सुनने वालों में पाँच-छः जने तो हुआ ही करते—तारानन्द बाबू; बंभोल झा, रामखेलौना, तीरी अमात, कपिलेसर मड़र और मैं कभी-कभी चुन्नी भी उस चौकड़ी में शामिल हो जाता। तारानन्द मामूली गृहस्थ थे, कर्ज-वर्ज नहीं था। बंभोल झा को था पहलवानी का शौक—खाना अच्छा पकाते थे, खासकर गोस और मछरी। घर के गरीब थे, दरभंगा-मुजफ्फरपुर रह-रह के बीच-बीच में होटल की नौकरी और जमींदारों के यहाँ कुश्ती के दाँव-पेंच दिखा आते थे। तीरी, कपिलेसर और रामखेलावन मेरी ही तरह के आधा खेत-मजूर और आधा किसान थे। बच्चू के बाप मुंशी बिपिनबिहारी लाल दास मधुबनी इस्टेट में एकमंट थे, अच्छी आमदनी थी तो हमारी यह मण्डली मन लगाकर बच्चू के मुँह से उस अखबार की एक-एक पाँती को सुना करती···

कुछ दिनों बाद बच्चू कहीं से शायद रहमान साहब के पास से किसान सभा की रसीदें उठा लाया। इकन्नी दो और अधकट्टी लो, बस आज से तुम किसान सभा के मेम्बर बन गए।

अपने टोले-मुहल्ले में मैंने दस आदमियों को मेम्बर बनाया। मोसंमात कुन्ती ने सुना तो खुद आकर इकन्नी दे गई और रसीद ले गई, कहा था—बालो, देवता के पर्साद के लिए यह एक चुटकी पिसान गरीबिन का भी!

समूचे गाँव में पचास-एक मेम्बर बने होंगे। महपूरा के किसानों की लड़ाई का ही यह असर था। मालिकों और बड़े किसानों को छोड़कर बाकी सबकी दिलचस्पी थी पड़ोसी इलाके के उस आन्दोलन की ओर। मनियार चाचा से लेकर शेख अब्दुल तक, तारानन्द बाबू से लेकर तीरी अमात तक और फूदन मिसिर की विधवा से लेकर मोमिन मोसंमात हमीदा तक···सबने मेम्बरी की रसीद ली और एक-एक आना दिया।

मझले मालिक और बल्ली बाबू ने इसको अपने खिलाफ आंदोलन का ओनामासीधं समझा। थी भी बात ठीक ही। इन लोगों ने सूद-दर-सूद की लपेट में पड़कर गाँव की जनता तबाह हो गई थी। एक रुपैया साल-भर में डेढ़-पौने दो रुपैया और एक मन धान महीने-दो महीने बाद ही डेढ़ मन हो जाता था।

छोटे जमींदार तो और भी कसाई होते हैं, एक तो करैला फिर नीम पर चढ़ा हुआ! कुछ मत पूछो भैया! मझले मालिक भारी कंजूस थे, देखते तुम तो कह उठते हाय राम, मैली धोती, पीले दाँत···यही डेढ़ लाख रुपया का आदमी है?

हाँ भैया, यही डेढ़ लाख रुपये का मालिक है बाबू जसोंधर चौधरी···

और बल्ली बाबू की भी लगानी-भिड़ानी पचास हजार रुपये की थी। बाई

सौ वीघा खेत भी थे। मझले मालिक की अपनी खेती थी चार सौ वीघे की।

मालिकों की चारों पट्टियों की डेढ़ हजार वीघा काश्त जमीन वेनी पट्टी के नजदीक थी, जिसे वहाँ के किसान आवाद करते थे और इन लोगों को मालगुजारी मिलती थी। यहाँ अपने गाँव में सिर्फ डेढ़ सौ वीघा जमीन रैयत जोतते थे, मनहुंडा। दूसरी तरफ, छल-फरेव से छोटे किसानों की मौरूसी जमीन का काफी हिस्सा मझले मालिक ने पहले हड़प लिया था। वल्ली वावू की तो कुल जमीन की तीन-चौथाई ही वेईमानी का पर्साद थी। उनके परदादा भारी पंडित थे, पच्छिम की रियासतों से खूव कमा लाए थे। दादा की पाँच हजार की संपद पोते के अमल में आकर एक लाख की हो रही थी। दस-एक हजार की हैसियत ससुराल में भी हाथ लगी वल्ली वावू के, जनानी ऐसी कि अपने भागमंत माँ-वाप की एक ही वारिस।

सो, अव तक किसानों को कुछ सूझता नहीं था। वे यह वात सोच ही नहीं सकते थे कि मालिकों की नादिरशाही का मुकाविला किया जा सकता है। महपूरा के किसानों की लड़ाई से हमारी आँख खुल गई थी; हमने यह तय कर लिया कि आगे वित्ता-भर भी जमीन मालिकों को हड़पने नहीं देंगे।

गाँव से पच्छिम, विलकुल करीव, खेतों का एक वढ़िया टुकड़ा था, नव्वे वीघे का। इस जमीन में सव कुछ उपजता था। धान भी, मड़ुआ भी, सरसों भी; गन्ना भी, तीसी भी, अरहर भी, जौ-गहुम भी, उड़द भी, कुर्थी भी। यह जमीन तीस-एक मुसलमानों, ग्वालों और केवट लोगों के अधिकार में सैंकड़ों साल से थी मगर चालाकी से मालिक के परदादा ने इसे अपने नाम चढ़ा लिया।

उन तीसों किसानों के नाम एक रोज एकाएक अदालत का सम्मन आया तो गाँव-भर में विजली दौड़ गई। कागज देखने पर पता चला कि चार साल की वकाया मालगुजारी की नालिश ठोंक दी है मालिक ने।

परेशान करने का यह एक वहाना था, किसान मालगुजारी साल-साल देते आये थे।

हमारी राय हुई कि सम्मन ले लें मगर कचहरी जाय कोई नहीं।

अगले ही दिन वरहम-अस्थान में लोग जमा हुए। मैं महपूरा जाकर डाक्टर रहमान को बुला लाया''' पचास-एक किसानों ने मिलकर कसम खाई कि जमीन नहीं छोड़ेंगे, चाहे कुछ भी हो जाय! वच्चू को सिकरेटरी वनाया गया, मैं वना भोलंटियरों का मुखिया—फौज से पहले सर्दार ही चुना गया!

मालिकों को रुपैया का वल था, दारोगा, एस० डी० ओ० और कलक्टर का वल था। उन्होंने पहले ही ऐसी चाल चली कि किसान हिम्मत हारकर वैठ जायें।

फसल तैयार हुई तो उस पर दफा १४४ लग गई। दो लारी मलेटरी आई, जमीन के नजदीक वाले वगीचे में तम्वू तन गया। खेतों पर पहरा था।

इस मौके पर मोसम्मात हमीदा ने बड़ी बहादुरी दिखलाई। जिनकी यह जमीन थी उन्हीं किसानों के यहाँ से दस-पन्द्रह औरतों को बुला ले गई और चार कट्ठे की तैयार फसल धान काट लाई! जाड़े की रात लक्कड़ जल रहा था और ड्यूटी वाले दोनों सिपाही पेड़ से उठंगकर सो गये थे।

महपूरा में किसानों ने खुले-आम दिन-दहाड़े फसल काटनी चाही थी जिसमें एक आदमी का खून हो गया था। अपने यहाँ हमने पैंतरा बदल लिया। जमींदार और सरकारी अफसर दुरजोधन ठहरे, उनके जुधिस्ठिल नहीं पस्त कर सकते भैया! पिटाई पर पिटाई खाना और भेड़-बकरी की तरह पकड़ाकर जेल चले जाना बहादुरी नहीं है। ऐसी सिधाई से पूजा तुम्हारी हो तो जमीन सुई की नोक-भर भी नहीं मिलने की, हाँ!

दरोगा ने पड़ोस के मुसहड़ों को फसल काटने के लिए तैयार किया तो मैं, बच्चू, तीरी, अब्दुल वगैरह ने उन्हें हाथ जोड़कर समझाया। बड़े ही सीधे-साधे और ईमानदार होते हैं, हमारी बात मान गये और बोले—हमारे मुखिया से कल मालिक ने कहा, दो बीघा तुमको और बाकी आमदी को घर-पीछू दस-दस कट्ठा जमीन लिख देते हैं, जितने घर हो तुम लोग?···मुखिया ने साफ जवाब दे दिया—नहीं सरकार, दूसरों का पेट काटकर हमको मत दीजिये—हाँ, अपने खेतों में से देना चाहते हैं तब तो ठीक है···सो, कैसे हम तुम्हारी फसल काटेंगे?

मुसहड़ों के मुँह से हमदर्दी की यह बात सुनकर हमारा सीना चौड़ा हो गया भैया।

अफसर लोग सोच-विचार में पड़ गये। किसानों की फोड़ने की भी चाल चली जा रही थी। मालिकों की ओर से और बल्ली बाबू-जैसे बड़े किसानों की तरफ के भी किसानों पर दबाव डाला जा रहा था। मजिस्टर और एस० डी० ओ० तो बीच-बीच में आते ही रहते थे। मालिक अपना मुंशी वाला हिसाब भिड़ाये हुए थे। मलेटरी वालों से आखिर फसल कटवाकर कैंप के पास जमा किया गया।

माँ को और सुगनी को बारी-बारी से बुलवाकर छोटी मलिकाइन ने काफी डाँटा, आगाह कर दिया कि बलचनमा अपनी हरकतों से बाज न आया तो घर फुंकवा दूंगी······

एक दिन आँसू-भरी आँखें लेकर माँ मेरे नजदीक आ के बैठी। शाम का अँधेरा था, मैं पलानी में बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। पूछा—क्या है मैया?

वह बोली—मलिकाइन तुझ पर बहुत बिगड़ी हुई हैं, कहा है, संचमंच नहीं बैठेगा तो घर फुंकवा दूंगी!

घर फुंकवा देंगी—मैं कड़ककर बोला—उनके बाप का घर है? आ बैठ···· तू गई थी क्या करने?

: गोदी में गरमागरम मुंगरिया सो गई थी, मुंगिया मेरी मुन्नी ! अठारह महीने की बिटिया ! मेरी कड़क आवाज सुनते ही वह जग पड़ी और रोने लगी। हुक्के को मैंने खँभोली से टिका दिया। माँ वापस चली गई अन्दर तो अपने आप वड़वड़ाया—पगली कहीं की ! किसी का घर फूंक देना क्या इतना आसान है ! मेरा ही क्या जमींदार का वस चले तो वह सवके घर फूंक दे।

मुंगिया को ले जाकर अन्दर सुगनी के पास छोड़ दिया और लाठी उठाई, चल पड़ा आसरम की ओर। सुगनी ने चलते समय मना किया तो मैं बोला—दत्, तू इतना डरती है क्यों ?

आसरम वरहम-अस्थान के पास सिसवोनी के भीतर था। शेख अव्दुल को अपने मामा और ससुर शेख मकदम की विरासत में यह जमीन भी मिली थी, पन्द्रह कट्ठा थी। आसरम के लिए शेख ने समूची सिसवोनी सौंप दी, वच्चू और बंभोल झा ने वाँस दिये, चुन्नी ने वावजूद वाप की नाराजी के दो वोझ नार दिया। मैंने सावे की सेर-भर रस्सी दी थी।

हम वहाँ पारी-पारी से सोते थे। उस रात मेरा लम्वर था। वच्चू, वंभोल और शेख डेढ़ पहर तक रहे—वीच में अलाव था, सहन में चारों ओर वैठे किसान इसी तरह आसरम में रोज रात को देर-देर तक वात-विचार किया करते थे। उस रात एक नई खवर मिली थी—रैयाम कोठी की चीनी मिल के मनेजर पर अपने फुफा, छोटे मालिक के कहने से फूल वावू ने दवाव डाला है कि रामपुर के फलाँ-फलाँ किसान का गन्ना नहीं लीजियेगा···

हमारे लिए यह भारी मुसीवत आ रही थी। मेरी तरह वीसों की गन्ने की फसल तैयार खड़ी थी—काफी अच्छी फसल ! साल-भर से इस फसल की ओर हम आस लगाये हुए थे। एक-एक किसान ने मनों पसीना सुखाया तव आकर मीठी घास की ये रसभरी छड़ें तैयार हो सकी थीं। किसी को सौ, किसी को दो सौ और किसी-किसी को पाँच-पाँच सौ तक मिलने वाले थे, इन पैसों के वल पर जामिल जमींदार को हम अभी से अंगूठा दिखाने लगे थे। धान की सैकड़ों मन फसल मिलिटरी के कब्जे में थी और गन्ने की खड़ी खेती पर इस तरह का संकट मंड़रा रहा था···वे लोग चले गए थे, मुझे देर तक नींद नहीं आई। दो भोलंटियर—कभी-कभी तीन-चार, पांच तक तो वहाँ रात-दिन मुस्तैद रहते ही मगर हममें से एक का पारी-पारी से हर रात वहाँ रहना लाजमी था। ये दोनों स्वयंसेवक भाई देकुली से भेजे गये थे, वहाँ जमींदार के खिलाफ किसानों का वड़ा ही मजवूत मोर्चा था। यहाँ भी जोरदार आन्दोलन छिड़ने वाला था, इसी से किसान सभा की जिलाकौन्सिल ने शुरू में दो नौजवानों को हमारे वीच भेजा था। सीधा-सामान, साग-सब्जी, नोन-तेल, लकड़ी-फट्ठा, घी, हाँड़ी-घड़ा सव इंतिजाम आसरम में हमारी तरफ से रहता था। वे सुवह-साम हमारे नौजवानों के आगे-आगे नारे लगाते फिरते—गाँव के अन्दर भी और झगड़ा वाली जमीन के चौगिर्द भी। कभी-कभी पास-पड़ोस की वस्तियों में जाकर वे लोगों को यहाँ का हाल

समझा आते, साथ ही मुठिया अनाज वसूलते आते थे। हफ्ते में दो ही वार पड़ोस के गाँवों की ओर निकलते, फिर भी खूब पर्चार हो गया था···भोलंटियर भाई सो गये थे और मैं फिकिर से सो नहीं पा रहा था। पुआल के सजावट पर लेटा जरूर पड़ा था। महपूरा में एक किसान जान से मारा गया था, यहाँ भी किसी की लाश गिर सकती है—मैं सोचता रहा—किसी की क्या कितनों की लाश गिर सकती है। उनमें मैं भी हो सकता हूँ! हैजा-पलेग पकड़ता है तो उसमें आदमी तड़फड़ मर जाता है, विखधर साँप के काटने पर नाड़ी हमेशा के लिए डूब जाती है चौमासे में कोसी महरानी या कमला मैया रातोरात कितनों को अपने पेट में ले लेती हैं, विजलत्ता कौंधती है और वज्जर गिरता है तो उसमें भी कभी किसी की जान चली जाती है—वच्ची का गोल और हँसता चेहरा निगाह पर नाचने लगा···सुगनी की खिलखिलाहट कान में गूँज उठी···माँ की खुरदुरी हथेलियाँ इन गालों पर फिरती मालूम हुईं! सोचते-सोचते माथा झन-झन करने लगा तो मैं उठ गया। निमस्तीन की ऊपर वाली जेव में एक वीड़ी पड़ी थी, उसे निकाला और पलानी से वाहर आ वैठा—घूरे के पास। उँगली डालकर देखा तो अन्दर आग थी।

दो मुट्ठी पुआल विछावन से खींच लाया, घूरे से चिनगारी निकालकर फूँक-फाँक के पुआल को धधकाया। वीड़ी धराई। चिलम की तरह लम्बी-गहरी कश मारा कि तीन-चौथाई साफ······

अव ऊपर आसमान की ओर मुंह किया, एक वड़े-वूढ़े सीशम का सिर झुककर आगे वढ़ आया था—ठीक मेरे माथे पर। अँजोरिया का तेरस, रात की दुपहरी। गाँव-घर, खेत-वाग, वड़, पीपल, ताड़ सव झकाझक! सवे धुले हुए सभी उजले; सव साफ, सभी धौरे! थक-थका के वेसुध पड़ी धरती पर चन्दमा भर-भर सूप दूध उझिल रहे थे। वल्ली वावू का वैठक वाला नया खपड़ैल मकान हाल ही चुनेटा गया था, वह तो सवसे जास्ती सफेद लगता था। ऊपर मामूली खपड़ों की एक पाँत थी तो दूसरी थी सफेद खपड़ों की। उस मकान के छप्पर एक तो यों ही निगाह खींचते थे मगर इस वखत और भी गजव कर रहे थे। पास-पड़ोस में चार-छै कोस तक वैसा खूवसूरत मकान दूसरा नहीं था। मालिकों के भी मकान पड़ रहे थे। अपनी मड़ैया भला कैसे दीखती?···मझले मालिक और वल्ली वावू के मकानों के पास पुआल के वड़े-वड़े तीन-चार टाल थे, ताड़ जितनी ऊँचाई के गोल घर समझ लो! उनकी जमीन-जायदाद के सवसे वड़े गवाह यही थे, थे न?

जव-तव कुत्ते की अवाज रात के सन्नाटे से टकरा उठती तो मेरा मन अपनी खोली में लौट-लौट आता। वूढ़े सीसम के झुके सिरकी छाँह से दिल को एक किसिम की तसल्ली मिलती, लगता कि अपना ही कोई पुरखा मुझे असिरवाद दे रहा है—ऐन माथे पर झुककर! जिस नये रास्ते पर मैंने कदम वढ़ाया था वरावर उसी पर चलते जाने का इतना साफ इशारा पाकर और उसे अच्छी

तरह समझ लेने के बाद मेरी रीढ़ एकदक सीधी हो गई। मैंने अपने आप में एक अनूठी ताजगी महसूस की, उठकर झटके से खड़ा हो गया। सीना तन गया था। बाँहों को फैलाकर कुछ देर मैं अपनी परछाईं देखता रहा······

अब मत्था हल्का हो आया, पैर अपने आप आसरम की मड़ैया की ओर बढ़ गये। अन्दर आकर पुआल के उसी पंचायती बिछावन पर लेट गया, टटोलकर गँड़ासे को ठिकिया लिया। वह अपनी जगह पर उसी तरह पड़ा था···

आसरम में छिपाकर हम एक गँड़ासा रखते थे। मालिक की खूनी निगाहों से हम नावाकिफ नहीं थे। बच्चू, बंभोल, रामखेलावन अब्दुल और मैं—हम पाँचों को पुलिस भी फँसाना चाहती थी, मालिक भी हमें घायल करके अपंग बना डालने के मनसूबे बाँध रहे थे। चुनाव में कांग्रेस की भारी जीत हुई थी, अंग्रेजी हाकिमों के बदले अब स्वदेशी मिनिस्टरों की हकूमत कायम होने जा रही थी सन् सैंतीस (१९३७ ई०) के शुरू होते-होते कांग्रेसी जमींदारों के भाई-बन्द और सार-ससुर मूंछों पर ताव देने लग गये थे···कांग्रेसी राज जमींदारों का ही फायदा करेगा—स्वामी जी की यह बात हमारी रग-रग में समा गई थी। हम पुलिस को भी समझ रहे थे और जमींदार के लठैतों को भी—जमींदार की शह पाकर पुलिस वाले हमें तरह-तहर के मुकदमों में फँसाना चाहते थे। मालिकों की निगाह मुंशी की हिसाबी निगाह थी। जमाने की रफ्तार को परखने की अकिल उनमें आती ही कहाँ से? उनका खयाल था कि बस रामपुर में पाँच आदमी हैं जिनको काबू में करने की जरूरत है—नहीं आवें काबू में तो मार-पीट, जेल, खू···जैसे भी हो, अपनी राह के एक-एक काँटे को वह नेस्तनाबूत करना चाहते थे! रात-दिन आठों पहर अपन और अपनी जनता की निगरानी में हमारे तरफ से चौकसी रहती थी। यह गँड़ासा उसी चौकसी का एक सबूत था।

दोनों भोलंटियर बेखबर सोये पड़े थे, एक की नाक बज रही थी फों फर्र··· फर्र फों···फों फ्···

बाइ बाँह का सिरहाना बनाकर मैंने आँख बन्द कर ली।

नींद आ ही रही थी कि चोरबत्ती की तेज रोशनी आँखों पर पड़ी, मैं धड़ाफड़ाकर उठ बैठा। एक हाथ से गँड़ासा सँभालता हुआ कड़क आवाज में बोला—कौन?

तेरा बाप—जवाब में वैसी ही आवाज आई—मार साले को, लगा!

भोलंटियरों को झकझोरकर जगाने का वखत नहीं था। मैं गंड़ासा लिए बाहर लपका। दस हाथ की दूरी पर दो काले-कलूटे आदमी दिखाई पड़े—दोनों दो ओर तैयार खड़े थे। "चोर-चोर" "चो ो ो ऽ ऽ ऽ ऽ र र ओ-ओ-ओ-ओ···" और "दौड़ी ो ो ो ो ो ो ऽ ऽ ऽ ऽ र र ओ-ओ-ओ-ओ···" और "दौड़ो ो ो ो ो ो ऽ ऽ ऽ ऽ जोर-जोर से चिल्लाता हुआ मैं उनमें से एक की ओर दौड़ा तो दूसरे ने पीछे से मुझ पर मछली फँसाने वाला जाल फेंका। मैं उसी तरह हल्ला मचाता रहा। हाथ-पैर बुरी तरह जाल में उलझ गये थे, गँड़ासा बेकार था। इसके बाद

मुझ पर लाठी के चार भरपूर वार पड़े। गँड़ासा से जाल को जहाँ-तहाँ मैंने काट जरूर दिया था मगर उससे मुझे कोई मदद मिली हो सो बात नहीं।

इतने में मार की दूसरी दौड़ शुरू हुई। वे दो ही नहीं थे, उनके पीछे और भी कई आदमी थे जो पलानी के अन्दर घुस गये। इधर के एक मुँह से निकला—बलचनमा, माफी माँग चल के मालिक के यहाँ!

दूसरी आवाज आई—ना-ना-ना, ऐसा मत कर! चल के माफी माँगना ससुर मंजूर कर लेगा और पीछे निपत्ता हो जायगा साला!

मैंने कहा—तुम्हारा मैंने क्या बिगाड़ा है? तुम भी मेहनत-मजूरी करके पेट पालते हो और हम भी। जाल हटा लो, मुश्कें बाँधकर ले चलो जहाँ ले चलना है……

उन्हें शायद बोलना मना कर दिया गया। डील-डौल के काफी तगड़े और काला-भुजंग जवान थे। जाने क्या सोचकर मय जाल के मुझे बाँधने लगे। उनमें से एक का हाथ अपने मुँह के करीब पाकर मैंने उसकी कलाई पर दाँत धँसा दिये। 'बाप-बाप' करता हुआ वह वहीं ऐंठकर गिर पड़ा, फिर भी मैंने उसकी कलाई नहीं छोड़ी।

जिन्दगी अनमोल चीज है भैया मगर मौके की भी अपनी कीमत हुआ करती है। होती है कि नहीं होती है? कहो कि होती है!

उस वक्त मौत को सामने देखकर घिरनी की तरह मेरा दिमाग नाच रहा था…बेटी, औरत, माँ गन्ने की खड़ी फसल, पलानी के सोये हुए भोलंटियर कि जिनके मुँहों में शायद कपड़े ठूँस दिये गये हैं और कमाने वाला खायेगा, इससे चलते जो कुछ हो…"धरती किसकी? जोते-बोये उसकी!" किसान की आजादी आसमान से उतरकर नहीं आएगी, वह परगट होगी नीचे—जुती धरती के भुरभुरे ढेलों को फोड़कर…बुढ़ा सीसम अब भी झुककर मेरा कपार चूम रहा है…

कि इतने में आसरम के पिछवाड़े से दौड़कर एक और आदमी आया, उसके हाथ में नेपाली खुखरी थी।

मैं बँधा था और जाल में सभी अंग उलझे हुए थे। हाँ, दाँतों से एक की कलाई को चाँपे हुए था।

पहले ने अब मेरे सिर पर जोर से लाठी मारी—एक नहीं, दो बार…मैं बेहोश होकर जमीन पर लुढ़क गया।

०००

वरुण के बेटे

केले के मोटे-मोटे थम्भ, कटे हुए। सात-आठ रहे होंगे। छै-छै हाथ लम्बे। वे एक-दूसरे से सटाकर बाँधे गए थे। अच्छी-खासी नाव का काम दे रहे थे।

घुप्प अँधेरा। कड़ाके की सर्द।

नीचे अथाह पानी। ऊपर नक्षत्र-खचित नील आकाश।

परछाईं में तारे जँच नहीं पा रहे थे क्योंकि छोटी-बड़ी हिलकोरें पानी को चंचल किए हुए थीं। कदली-थम्भों की यह नाव पोखर की छाती पर हचकोले खा रही थी। बदन की समूची ताकत बाँहों में बटोरकर जाल फेंकते वक्त इसका आधा हिस्सा पानी के अन्दर धँस जाता था और तब उस अतिरिक्त दबाव से जल-राशि की मोटी-मोटी तरंग-मालाएँ एक के बाद एक मिनटों तक उमड़ती रहती थीं।

कोई मामूली तलइया या बागान के अन्दर का साधारण चभच्चा तो थी नहीं, वह तो अपने इलाके का प्रख्यात जलाशय 'गढ़-पोखर' था। आवाम की तीखी-खुरदरी जुबान पर घिसते-घिसते गढ़-पोखर अब 'गरोखर' हो गया था। चारों तरफ से भिण्ड, किनारों पर बड़े-बड़े कछार, बीच का पानी वाला बड़ा हिस्सा—कुल मिलाकर पचास एकड़ ज़मीन छेके हुए था गरोखर।

ज़रा दूर से देखने पर गरोखर की छाती पर सरकती-सी दो छायाएँ अँधेरे में काले पत्थर की लाट-सी लगती थीं। एक मानव-छाया खड़ी थी, दूसरी उकड़ूँ बैठी थी। थम्भों का पूला नाव बना हुआ मज़े में इधर-उधर डोल रहा था।

बीच-बीच में फुसफुसाहट…

—खुरखुन !

—हाँ ?

—कितनी हुई कुल ?

—पन्द्रह और सात।

वाज, पिच्च।
तैयारी। नाव हिलने लगी।

गिरा। यह मछलियों के लिए चारा डाला गया था।
न तिमिर की मोटी पर्त छेदकर पानी पर जमी थीं।
ल-वुल-वुलुव-वुव-वुव···बुलबुले, उनकी बुड़बुड़ाहट!

—भोला, र ...!

—उँ!

—देखता क्या है? फेंक जाल।

—उँ!!

वदन की समूची ताकत कलेजे में बटोरकर भोला ने बिजली की फुर्ती से बाँह घुमाई, मूठ खोलकर जाल पानी में फेंक दिया—झाााााप।

वायें हाथ की कलाई में काफी डोरी लपेट रखी थी, उसे भोला ने ढीली करके छोड़ दिया। इधर वाली छोर हाथ से बँधी थी।

अब ठिठुरन महसूस हुई तो अंजलि में मुँह की भाफ़ भरकर अँगुलियों को आपस में मसल लिया। छोटी लड़की सिलेविया सीने से चिपक के सोया करती है, अचानक उसका चेहरा-मोहरा आँखों में नाच उठा।

समेटते समय लगा कि जाल बेहद भारी हो उठा है।

साथी को सकते में जानकर खुरखुन वोला—सेंवार में तो नहीं उलझा है?

—सेंवार इधर कहाँ! और, मछलियाँ तो हो ही नहीं सकतीं!

—अच्छा, देखने दे!

—तो उतरो, धँसो अन्दर।

अधेड़ और नाटा खुरखुन चार अंगुल चौड़ी कौपीन कमर में डाले हुए था। पानी में उतरकर उसने गोता लगाया।

गरोखर तीन सौ साल पुराना जलाशय था। चारों ओर भिण्डों और कछारों का बुरा हाल था। वरसात के मौसम में पानी के साथ बहकर आनेवाली मिट्टी उसकी गहराई वरावर कम करती आई थी। फिर भी चौदह-पन्द्रह फुट का बाँस ही गरोखर की थाह ले सकता था।

भोला और खुरखुन की यह नाव गरोखर के ठीक वीचों-वीच नहीं थी। पच्छिम की तरफ जहाँ पानी दस फुट गहरा था, वहीं वे अपनी किस्मत आजमा रहे थे।

नाव से चार गज की दूरी पर खुरखुन पानी के अन्दर गया था। जाड़े के मौसम में रात के वक्त तालाव या झील का पानी अन्दर-अन्दर गुनगुना-सा लगता है। अन्दर जाकर पहले तो उसने जाल के सहारे मछलियाँ टटोलने की कोशिश की। तीन-चार मझोले आकार की मालूम हुईं। दम फूलने लगा तो ऊपर आ

गया, क्षण-भर साँस लेकर फिर डुबकी लगाई। अबकी ज़रा देर तक खुरखुन अन्दर रहा।

जाल की किनारी टटोलता हुआ अन्दर वह चक्कर मारने लगा— शी ई ई ई ई ई ई···बुआरी ने दाहिने पैर का अँगूठा काट खाया! यह सुसरी होती ही ऐसी है! पूस के पाले ने यों भी बोटी-बोटी को सुन्न कर दिया था। फू ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ···यह लो! अरे, जाल की किनारी तो यहाँ लकड़ी के ढोंके से उलझी पड़ी है!···

दम फूलने लगा तो खुरखुन फिर ऊपर आ गया।

—क्या है?

भोला उसी तरह जाल की डोरी को टाने हुए था। ढील नहीं दे रहा था। कि छोटी मछलियाँ कहीं खिसक न जाएँ। क्षण-भर बाद भोला ने फिर कहा— बोलते नहीं हो कुछ!

—ठहर!

खुरखुन अब तीसरी दफे पानी के भीतर गया।

जाल की किनारी के सहारे सर्र से लकड़ी के ढोंके तक पहुँचा।

टोह लेकर मालूम किया तो किनारी की लोहे वाली भारी-भारी गोटियों में से दो को ढोंके की दंतुर खोडर में फँसा पाया। अब क्या हो? तोड़े तो ये टूटने को नहीं? खुरखुन को भोला की चाकू याद आई। वह फिर ऊपर आया।

नाव पर अलग दूसरी खँचिया में भोला की आधी बाँह की सिकुड़ी-सिमटी कमीज़ पड़ी थी। उसी की पाकिट में चाकू था। भोला ने निकालकर दिया।

चाकू लेकर वह चौथी बार पानी के अन्दर गया और उलझे जाल को छुड़ा लिया। एक तो निकली, मगर दूसरी गोटी से हाथ धोना पड़ा।

इस धींगामुश्ती में मछलियाँ भी भाग गईं। चार-पाँच सेर वज़न का रोहू, उससे दुगुना एक भाकुर और डेढ़ गुनी मोदिनी। बस, तीन ही शिकार इस खेवे में आए। हाँ, एक कछुआ महाराज भी साथ थे।

डुबकियाँ लगाने में पानी के अन्दर खुरखुन के पन्द्रह-एक मिनट तो ज़रूर गुज़रे होंगे। कि इतने में कहीं से टिटहरी बोली—टिट्-टिहू-टिहूट्-टिट्-टिट्-टिट्···!!

मछलियों से भरा खाँचा हिलाकर खुरखुन बोला—उहुँ, अब बस कर आज! रहने दे भोला, टिटहरी रोती है कलमुँही।

देर भी तो काफी हो गई?—जाल झाड़ते-झाड़ते भोला ने कहा।

बीस फुट का लग्गा (बाँस) साथ था। खुरखुन ने उसे उठा लिया। अब उन्हें जल्दी घर पहुँचना था। वह फुर्ती से नाव खेने लगा। मन ही मन निश्चय किया कि अबकी गर्मियों में इस ढोंके को बाहर निकाल देगा। जाने कब का पड़ा है सुसरा···

जाल सँभाल-सँभालकर भोला उकड़ूँ बैठ गया था। उसका मुँह ऊपर को

उठा था, निगाहें आसमान पर टिकी थीं।

काले पाख की दशमी तिथि का अधूरा पीला-पीला चाँद निकल आया था। तारे अब भी ढीठ बने हुए थे। अपनी-अपनी शान में चमक रहे थे। गरोखर की हल्की-हल्की पतली-पतली भाप ऊपर उठकर पूस के उन कुहासों को घना बना रही थी।

भोला की तलहथी पर अब तम्बाकू और चूना थे। उन्हें मसल-मसलकर वह खैनी तैयार कर रहा था।

अँगूठा छोड़कर दाहिने हाथ की चारों अँगुलियों से भोला ने जब बायें हाथ पर की खैनी को ठोका तो अनायास उसकी नजरें हट आईं। सामने कछार करीब आ गई थी। डबल जूम खैनी खुरखुन को थमाकर बाकी खुद फाँक गया।

केले के थम्भों वाली वह नाव किनारे आ लगी।

मछलियों से भरे हुए दोनों खाँचे उतारे गए। नाव परे धकेल दी गई।

भोला ने अपनी सूखी धोती और हाफ कमीज़ पहन ली। खुरखुन ने सूखा गमछा और गोल-गर्दन वाली निमस्तीन।

खाँचे काफी वज़नदार हो गए थे। उन्हें टाँग-टूंगकर दोनों घर की तरफ चले।

मछुओं की बस्ती गरोखर से दूर नहीं थी। डेढ़-दो फलाँग का फासला रहा होगा। मलाही-गोंढ़ियारी गो कि अलग-अलग दो आबादियाँ थीं मगर दोनों नाम साथ चलते थे। बाँसों का पतला-सा एक जंगल और पुराने ज़माने की एक ऊजाड़-सी अमराई; मलाही और गोंढ़ियारी के बीच बस इतना ही व्यवधान था।

इधर से पहले मलाही पड़ती थी, बाद को गोंढ़ियारी।

भोला और खुरखुन बस्ती-मलाही के अन्दर घुसे तो दो-तीन कुत्ते झाँउ-झाँउ भाँउ-भाँउ करते सड़क पर निकल आए। कुछ दूर तक उन्होंने मछुओं का पीछा किया। गाँव के छोर पर सड़क के किनारे पक्का कुआँ था और पाकड़ के दो जवान पेड़ थे, खूब सुन्दर और छतनार! वहीं ज़रा हटकर किसानों का साझा खलिहान फैला पड़ा था। जीमड़ के खम्भे, बाँस की कैलियों के हातावार घिरावे; दर्म्यान उनके, छोटी-मंझोली-बड़ी परिधि वाले अनेकों खलिहान।

कई खलिहानों में धान की अगहनी फसलों के बोझ करीने से सजाकर रखे हुए थे। रात अभी ढाई पहर बीत चुकी थी तो भी दो-तीन खलिहानों से दंवरी पर जुते बैल हाँकने की ललकार बढ़-चढ़ के कानों में टकरा रही थी। आवारा कुत्तों की दुहरी-तिहरी आवाज़ निशा-शेष के ताज़ा-दम कंठों की किसानी ललकारों में जाने कहाँ खो गई थी!

भोला की तबीयत होती थी कि खलिहान के अन्दर जाकर ज़रा देर आग सेंकता चले, लेकिन खुरखुन की चुप्पा नस्ती उसकी इस इच्छा पर अन्त तक ब्रेक कसे रही।

और अब चार ही कदम तो आगे आना था!

गोंढ़ियारी। अपना गाँव।

आहट पाते ही गोला कूकुर अगवानी में निकल आया।

हल्की-मीठी गुर्राहट। स्वागत की सनातन अभिव्यक्ति।

धनुष की तरह झुकी एक बुढ़िया बाहर निकल आई।

मछलियों वाले खाँचे अन्दर बैठके में रखता हुआ खुरखुन बोला—मंझा, नींद नहीं आती तुमको ?

बुढ़िया को सूझता था कम। पूछा—भोलवा नहीं आया रे ? खुरखुन !

भोला ने नज़दीक आकर दादी के कंधे पर हाथ रखा—मंझा !

दादी ने पोते का हाथ-कपार छूकर देखा—हेमाल हो रहा है तेरा वदन ! चल, बोरसी लाती हूँ। सेंक ले हाथ-पैर !

खुरखुन ने खीसें निपोड़ते हुए कहा—मंझा, अगर तुम चाय पिला दो…

धत् तेरी !—भोला बोला—खुरखुन, पागल तो नहीं हो गए हो ? इसका तो जीभ का सवाद ही चौपट हो गया है ! नमक डालकर लाल चाय पीती है, सन्तरे के सूखे छिलके सिलेबिया से पिसवाकर उसमें नमक-मिर्च-तेल डालकर चटनी बनाती है और उस चटनी के सहारे भर-थाली भात खा जाती है…

बुढ़िया खुद भी हँसने लगी। ओसारे पर अँधेरा था फिर भी मंझा के सावित-सुफेद दाँत जगमगाकर दिखाई दे गए।

मंगला की माँ आकर बोरसी रख गई।

भोला ने माचिस से रगड़कर तीली को आले पर रखी ढिबरी से छुआ दिया। मटमैला आलोक बैठके में फैल गया।

मंझा, खुरखुन, भोला। बीड़ा ले-लेकर तीनों बोरसी के इर्द-गिर्द बैठ गए। बातें भी होती रहीं और हाथ-पैर भी सिकते रहे।

खुरखुन को ज़ोर की भूख लग आई थी। साँझ की दिया-बाती के बाद खाना खाया था ज़रूर लेकिन अब आठ-नौ घण्टे हो रहे थे। और यह समय करारी मशक्कत में बीता था। फिर यह भी तो था कि सुबह छै बजे चमुड़िया स्टेशन पहुँचकर माल बुक कराना था, दरभंगा जाने वाली ट्रेन पकड़नी थी। पेट में कुछ डाल देना आवश्यक प्रतीत हुआ खुरखुन को।

थोड़ी देर बाद खुरखुन बोला—ज़रा घर हो आऊँ। क्या पता, शाम तक हम लौटें या नहीं !

—अच्छा, जल्दी लौटना भला !

—हाँ, भइ, वहाँ रुकने की ज़रूरत ही नहीं होगी !

—तो मैं भी अपनी बिटिया की खोज-खबर ले आता हूँ।

भोला भी उठा, खुरखुन भी उठा।

मंझा ने छोटी-पतली टहनीनुमा लकड़ी से अन्दर की आग को थोड़ा-सा उकसा दिया और बोली—कोई फिक्र नहीं, मछलियों की रखवाली मैं करूँगी। जा जा, हो आ घर से !

खुरखुन का घर वहाँ से सौ कदम आगे था।

वह सीधे अन्दर आया। बाँस की चचरियों से बनी 'फट्टक' को भीतर धकेलने लगा तो स्त्री की निद्रालु आवाज़ आई—कौन ?

—उठ, ढिबरी जला ! मैं हूँ···

उधर ओरियानी में बँधी बकरी मिमियाई तो उसके तीनों पठरू अपनी-अपनी कच्ची आवाज़ में में-में कर उठे।

—च्चु च् च्चु च्चु च्चु च्चुऽऽ···

चुचकार-पुचकार के खुरखुन ने बकरी को स्वाभाविक तौर पर आश्वस्त किया तब तक भीतर की ढिबरी जल चुकी थी।

परिवार का मुखिया अन्दर आया।

पुआल बिछे थे कोने में, उन पर फटी-पुरानी बोरी बिछी थी। एक जवान लड़की और नंग-धड़ंग बच्चे बेतरतीब सोए पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी-गुदड़ी के दो-तीन छोटे-बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहाँ-तहाँ से ढक रहे थे। दूसरे कोने में चूल्हा-चौका। तीसरे में अनाज रखने के कूंड और कुठले। चौथा कोना खाली। छप्पर के बाँसों से दसियों छिक्के लटक रहे हैं। मछलियाँ पकड़ने और फँसाने के औज़ार भीत की खूँटियों से टंगे थे—गाँज, टापी, सहत, सरैला, किस्म-किस्म के डण्डे। जालों की कढ़ाई-बिनाई में काम आने वाले छोटे-बड़े सूए, शलाखें। जालों के अधूरे टुकड़े। घर-गिरस्ती की बाकी दसियों चीजें। यानी खुरखुन का समूचा संसार ही मानो तेरह फुट लम्बे और नौ फुट चौड़े घर में अटा पड़ा था। भीतें बीस साल पुरानी, फिर भी मज़बूत थीं।

खुरखुन अन्दर आया तो जंभाइयाँ लेती हुई पत्नी के पास बैठ गया। मछलियों के बारे में बताया और कहा—भूख लगी है।

—अब इस वक्त मैं क्या दूं तुम्हें ?

—बच्चों के लिए कुछ रखा होगा न ? उनके लिए सुबह में फिर कुछ तैयार कर लेना···और नहीं तो चावल ही कच्चे-फच्चे पाव-आधा सेर निकालो फाँक-फूंक लूंगा मधुरी की अम्माँ ! कड़ाके की भूख लगी है री !

पेट पर हाथ फेरकर गृहस्वामी अपनी विकराल क्षुधा की तरफ गृहलक्ष्मी का सारा का सारा ध्यान खींच लाया।

वह उठी और यह पीठ के बल सूखे पुआलों के उसी दरवेशी गलीचे पर लेट गया। थकान थी। जाड़ा था। चिन्ता थी। बोझ था। नींद के तो मानो पर ही तोड़ दिए हों। पलकों को मानो तन्द्रा की याद तक नहीं थी।

···मधुरी अबकी होली के दिन अठारहवें में प्रवेश करेगी। दूल्हा इकलौता है घर का। उसके माँ-बाप अपनी बहू को अब मायके नहीं रहने देना चाहते। माघ या फागुन तक लड़की को चाहे जैसे विदा करना होगा। कहाँ से जुटाएगा ? कौन देगा उधार ?

पाव-डेढ़-पाव भुंजिया चावल चंगेरी में लाकर मधुरी की अम्माँ ने सामने

रख दिया—लो, उठो भी !

नई फसल के कच्चे चावल थे।

खुरखुन ने उन्हें अँगोछे में बाँधकर पोटली-सी बना ली। अँगोछा गरोखर के पानी का भीगा अब भी सूखा नहीं था तो भी चावलों की पोटली को उसने पानी भरे डोल के अन्दर डुबो लिया। कच्चे चावलों से दाँत-मसूड़ों की वर्जिश नाहक कौन करवाए ! क्या है, घड़ी-आधी घड़ी का जलयोग पाकर नरम तो ये पड़ ही जाएँगे !

अपनी दोहर, लाठी और पाथेय की पोटली लिए गृहपति बाहर निकल आये तो पीछे से घर की मालकिन दालान तक आई।

चुपचाप खुरखुन भोला के बैठक में दाखिल हुआ तो मंझला अपने प्राइवेट हुक्का के लिए दूसरी टिकिया सुलगा रही थी।

भोला तैयार बैठा था। स्टेशन तक साथ चलने के लिए नीरस को ले लिया गया।

मछलियाँ लेकर तीनों चमुड़िया पहुँचे तो पाँच बज रहे थे।

स्टेशन मास्टर तो कंठीधारी वैष्णव कायस्थ था लेकिन टिकट बाबू था मछ-गिद्धा बंगाली। ताजा-ताजा ललमुँहा रेहू देखते ही उसकी जीभ से लार टपकने लगी। बुक करने में जान-बूझकर टाल-मटोल करने लगा तो भोला को टिकट बाबू की नीयत पर शक हुआ।

आखिर रेहू का ढाई-तीन सेर वज़न का बच्चा देना ही पड़ा, तब जाकर दोनों खाँचे बुक हो पाए और चालान की रसीद हासिल हुई।

गाड़ी आई तो 'ब्रेक-भान' में खाँचे डाल दिए गए। गार्ड नया-नया बहाल हुआ-सा लगता था। अपनी नीयत का पता अन्त तक नहीं लगने दिया !

ट्रेन वक्त पर खुली और नीरस वापस गया।

साढ़े नौ बजे माल दरभंगा जंक्शन पहुँचा।

स्टेशन से बाहर आकर रिक्शा किया। आगे बढ़ते चुंगी टैक्स अदा करना पड़ा। दस बजते-बजते 'बड़ी बाजार'।

गरोखर की मछलियाँ धड़ाधड़ बिकने लगीं, शाम तक बिकती रहीं। रेहू दो रुपये सेर। भाकुर, मोदनी और बुआरी डेढ़ रुपये सेर। रोज़ तो आती नहीं थीं, आती थीं कभी-कभी। गरोखर की इन मछलियों का स्वाद जिसने एक बार भी मालूम कर लिया वह भला इनका नाम सुनकर अपने को क्योंकर रोक पाता ?

लगभग दो बजे भोला नजदीक के होटल से खा आया। पीछे खुरखुन भी खाने गया। तीन बजे के करीब उन्होंने रेट घटा दिया। रेहू डेढ़ रुपये और बाकी मछलियाँ रुपये सेर। पाँच बजते-बजते खाँचे खाली हो गए।

औसत बिक्री फी मन साठ रुपये की हुई थी, यानी डेढ़ रुपये सेर। नकद रकम कुल दो सौ दस रुपये की आई थी।

खुरखुन को भोला नेपचास रुपये दिए। यह आमदनी का दसवाँ हिस्सा था ?

बाजार तक माल लाने और दो आदमियों के आने-जाने में, खाने-पीने में और पान-सिगरेट-तम्बाकू वगैरह में तीस-एक रुपये खर्च हुए थे, सो अलग।

वहीं बड़ी बाजार में खुरखुन ने भोलीराम मारवाड़ी की दूकान से सात रुपये की दो साड़ियाँ और तीन रुपये की छींट ले ली। जंगल के लिए अंग्रेजी-हिन्दी की गुटका डिक्शनरी और बजरंग मंडली के लिए भाखा टीकावाली रामायण खरीदी मिथिला बुकडीपो से। हस्ब-मामूल कुछ-एक सौदा-सुलुफ और भी। एक-आधा काम जिला-कचहरी से था, मगर उसके लिए कोई जल्दी नहीं थी।

पूरब की तरफ जाने वाली ट्रेन सात बजे छूटती थी।

खाली खाँचे और खरीदी हुई चीज़-वस्त लेकर वे टावर के पास आए।

टावर की बड़ी घड़ी की ओर हाथ उठाकर भोला ने मुस्कराते हुए पूछ दिया —कै बजे हैं, बताओ तो खुरखुन?

दाँत दिखा दिए खुरखुन ने तो?

—बताना होगा!

—बीच बाजार में इस तरह बेआबरू करता है भोलाइ, तू मुझे?

भोला ठहाके मार-मारके हँसने लगा। हँसी का वेग थमा तो बोला—अरे, छह बजे हैं! देखते नहीं कि घड़ी की दोनों सुइयाँ डण्डी की सिधाई में तन गई हैं? मोटी सुई नीचे की तरफ, पतली ऊपर की ओर। मोटी-पतली दोनों सुइयाँ ऊपर की तरफ साथ लग जाएँगी, बारह बजेंगे। समझे भइया?

खुरखुन की आँखों के कोए फैलकर मानो दुहरे हो गए। क्या पता उस बेचारे को घड़ी-फड़ी का! उसकी जानकारी में तो अँगूठे की छाप ही दस्तखत है।

सीधे-सादे, मेहनती और गरीब साथी से उसकी अज्ञानता के बारे में छेड़-खानी भोला ने जान-बूझकर नहीं की थी, यह परिहास सहज और अप्रत्याशित था। उपहास नहीं था यह।

एक घण्टा वक्त था अभी।

भोला की जेब में आज काफी रकम पड़ी थी। वह दरियादिल आदमी था। सामने दूकान में थालों के अन्दर मिठाइयाँ सजाई हुई थीं। पकौड़े की-सी नाक वाला कलूटा और तुंदियल हलवाई छोटी चौकी पर बैठकर रेजगारी गिनने में मशगूल था। छोकरे थे तीन-चार, वे ग्राहकों की फर्माइशें पूरी कर रहे थे।

—खुरखुन, आओ खा लें, फिर स्टेशन जाएँगे!

—खाँचे?

—ले आओ, दूकान के अन्दर काफी जगह है जो!

—हुँ।

और तब वे स्टूलों पर बैठ गए। बीच में हलका-छोटा टेबुल था। वहाँ एक भी कुर्सी या बड़ा टेबुल नहीं था, खुरदरे काठ की निहायत मामूली एक बेंच अवश्य थी।

पूड़ी-तरकारी-चटनी और इमर्ती-बालूशाही-गुलाबजामन-बर्फी-लड्डू···दोनों

जने चार रुपये का खाना खा गए। दूकान से बाहर आकर दो-दो बीड़े मीठे पान। देहाती दुनिया के लिए चिरपरिचित 'मोटर' सिगरेट फूंकते हुए दोनों जने रिक्शे पर सवार हुए, खाँचे खुरखुन थामे रहा।

पूस का सूरज पाँच-सवा पाँच बजे ही नजरों से ओझल हो जाता है। सात के घण्टे तो तब भींगी रात में बजते हैं। चमुड़िया की दो टिकटें बाहर मुसाफिरखाने की बुकिंग-आफिस से लेकर उन्होंने प्लेटफार्म वाला पुल पार किया और गाड़ी में जा बैठे।

भीड़ नहीं थी, लोग छिटपुट बैठे थे।

खुरखुन की तबीयत हुई चाय पीने की। भोला अपना मस्त था सिगरेट में।

खुरखुन ने इशारे से चाय वाले को नज़दीक बुलाया। दुअन्नी देकर दो सकोरे चाय ली उससे। एक अपने लिए, दूसरा भोला के लिए।

भोला हँसने लगा—पचमेर मिठाई से जी नहीं भरा ! अब गुड़ की इस गरम शरबत पर मन आके अटका है ? राम-राम ! ! मैं नहीं पीता तुम्हारी यह चाय···

वह चाय वाले को पुकारने लगा—ले जा रे अपनी चाय, नहीं चाहिए हमें तेरी यह लाल शरबत।

चाय वाला नहीं लौटा तो दूसरा सकोरा भी खुरखुन ने ही पिया।

भोला कुढ़कर बोला—इसी को कहते हैं कुत्ते की लत, समझा ?

खुरखुन दाँत निकाल-निकालकर मुस्कुराता रहा और एक हथेली पर दूसरे हाथ से खैनी मसलता रहा।

निर्मली के निकट ही मकर-संक्रान्ति के पवित्र क्षणों में कोसी के पश्चिमी तटबन्ध का शुभारंभ होने जा रहा था। बाँध के लिए मिट्टी काटने का श्रीगणेश बिहार के मुख्यमन्त्री करने वाले थे। जिला दरभंगा और जिला सहर्सा की ही जनता में नहीं, बल्कि समूचे बिहार में 'कोसीप्रोजेक्ट' की चर्चा चल पड़ी थी। केन्द्र और प्रदेश (बिहार) की सरकारों ने कोसी को नियन्त्रित करने की नीयत से एक वृहत्तम प्रतिष्ठान संघटित कर लिया था—'कोसी—एडमिनिस्ट्रेशन बोर्ड'। दर्जनों प्रख्यात इंजीनियर और दूसरे तजुर्बेकार उच्चाधिकारी इन कामों में लग चुके थे। लोहा-लक्कड़, सीमेण्ट-ओजार-मशीनरी के पुर्जे वगैरह ट्रकों में लद-लदकर फार्बिस गंज रेलवे स्टेशन से बीरपुर पहुँच रहे थे।

तो फिर यह अस्वाभाविक नहीं था कि पूरब की तरफ जाने वाली इस ट्रेन में बैठे पसिंजर कोसी-बाँध के बारे में बातें कर रहे थे। भोला से अभी उस रोज मझार घाट के घटवार ने खुद कहा था—सहनी, श्रमदान में नहीं चलोगे ? कहो तो जत्थे में नाम दे दूँ तुम्हारा भी। निषाद महासभा के जिला-सभापति फुलेना परसाद मांझी ने श्रमदानियों में अपना नाम लिखवाया है, यह भी घटवार से ही मालूम हुआ था। जो हो, ध्यान लगाकर भोला मुसाफिरों की बातें सुन रहा था।

गाड़ी खुली तो खुरखुन को नींद आने लगी। ककरहट्टी-हाल्ट पर दो पसिंजर उतर गए। अब उस बेंच पर खुरखुन अकेले था। लुढ़का दिया उसने अपने को

खाली सीटों पर। अगले ही क्षण नाक बजने लगी।

साढ़े दस चमुड़िया उतरे और दच्छिन की सीध में चल पड़े।

सिर पर खाँचे, हाथ में लाठी। कंधों पर तह की हुई दोहर। खुरखुन का बाकी तो ठीक था लेकिन फटी बिवाइयों वाले नंगे पैर ही उसे मौसम की याद दिला रहे थे।

भोला के पैरों में जूते थे और पाकिट में रकम थी। रामायण और गुटका कोश, दोनों को गमछे में लपेटकर बाँध रखा था। उन्हें वह हाथ से लटकाए आ रहा था।

चार मील का रास्ता! सड़क कच्ची थी। बीच में दो गाँव पड़ते थे, आगे बड़ा-सा एक पाँतर था फिर गरोखर।

दोनों घर पहुँचे और खा-पीकर सो गए।

दो

निचले मैदानों का पानी सूख चला था।

सूखते पानी को जगह-जगह मछुओं ने चिलमननुमा सिरकियों से घेर रखा था। बिसुनी, खुरखुन, नीरस, रंगलाल जैसे मछुओं के लिए निचले मैदानों वाला उथला-छिछला और घटता-बढ़ता यह पानी विधाता का वरदान ही था। भादों से लेकर ठेठ जेठ तक इस पानी से सैकड़ों मन मछलियाँ वे निकालते थे। बड़ी-बड़ी नहीं छोटी-छोटी मौसमी मछलियाँ। इच्चा, मारा, कतरा, पोठी, पोठा, टेंगरी, टेंगरा, गरई, गरचुन्नी, कवई, सिंगी, मंगुरी, अन्हई आदि।

मलाही-गोंढ़ियारी से मील-भर पूरब, यह एक भारी चौर था। उत्तर-दच्छिन लम्बाई में कुछ ज्यादा, पूरब-पच्छिम चौड़ाई से कुछ कम। डेढ़ कोस का यह अंचल 'धनहा चौर' कहलाता था। मंगलगढ़ के सिसौदिया राजाओं की जमींदारी थी पहले, अब जनाब अंचलाधिकारी साहब की खास निगरानी में आ गया था।

कोसी का जहरीला असर इन देहातों को वीरान बना चुका था। बाढ़, अकाल, मलेरिया के मारे लोग तबाह थे। कोसी जब पूरब की तरफ बीस-तीस कोस परे थी, उन दिनों धनहा चौर की चंदन-चिकनी माटी सोना उगलती। अब तो गाँव के गाँव उजाड़ पड़े थे। जिनमें सामर्थ्य थी वे पच्छिम हटकर दूर के अंचलों में जा बसे थे।

पहले इधर की मुख्य फसल थी अगहनी धान, अब कोई फसल 'मुख्य उपज' नहीं रह गई। बाढ़ का दौरा देर से आता तो मड़ुआ, मकई और मूँग की भदई फसलें थोड़ी-बहुत हो जातीं। कभी वर्षा की अति, कभी उसके अभाव की अति

—धान की फसलों के लिए दोनों ही स्थितियाँ घातक थीं।

मलाही-गोंढ़ियारी में मछुओं के तीस-पैंतीस परिवार थे। खाने वाले मुँहों की तादाद तेजी से बढ़ रही थी। भोला की श्रेणी के सम्पन्न-सुखी गृहपति इनमें दो ही तीन थे। अधिकतर मछुए खुरखुन की हैसियत के थे। वे पास-पड़ोस के इलाकों में पाँच-सात कोस तक और कभी-कभी दस-पन्द्रह कोस तक मछलियाँ पकड़ने निकल जाते थे। इधर के जितने भी पोखर थे, जितने भी ताल-तलइयाँ थीं, जितनी भी नदियाँ और झीलें थीं, पानी का जहाँ भी जमाव-टिकाव था—सारा का सारा उनका शिकारगाह था। मछलियाँ ही नहीं, सिंघाड़ा-तालमखाना-कमल और कुंई के फूल, कमलगट्टे, कमलनाल, कड़हड़, केसौर, सारुख-जैसी चीजें भी पानी से वे हासिल करते थे। पुरइन-पद्म के गोल-गोल चिकने-चिकने पत्तों की भी बाजारों में काफी खपत थीं। तालमखाना उपजाने के लिए हजारों की एडवान्स देकर ये लोग पोखर लेते थे ठेके पर। ठेके अक्सर सामूहिक हुआ करते।

गरज यह कि दुक्खम्-सुक्खम् चाहे जैसे इन मछुओं की दुनियादारी चल जाती थी। बच्चों के जरिये प्राइमरी शिक्षा भी परिवारों में प्रवेश पा रही थी। दो-तीन लड़के मिडिल पास कर चुके थे। भोला का छोटा लड़का दसवीं कक्षा में इम्तिहान देकर इस वर्ष ग्यारहवीं अर्थात् मैट्रिक फाइनल में आने वाला था। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने गोंढ़ियारी ओअर-प्राइमरी स्कूल को पिछले साल मान्यता दी थी। दो जवान गंगा में माल ढोने वाली जहाजी कम्पनी में खलासी की ड्यूटी पर असालतन हुए थे।

चिलमनों से घिरा हुआ 'धनहा चौर' का पानी छोटी मछलियों का अटूट खजाना था। पानी वाली सैकड़ों एकड़ जमीन घिरी थी। दो-दो तीन-तीन परिवारों ने मिल-जुलकर थोड़ी-थोड़ी दूर का हिस्सा अपने-अपने अधिकार में ले रखा था। फूस की दसियों अस्थायी झोपड़ियाँ चिलमनों से हटकर सूखी जमीन पर खड़ी थीं। रात को तो कम-सम, मगर दिन की मीठी धूप में झोपड़ियों का यह संसार मुखर हो उठता। लगता कि मौजे गोंढ़ियारी के मल्लाहों-मछुओं की आधी आबादी यहीं आ गई है।

जाल बुनते हुए या धागा बाँटते हुए अर्ध नग्न बूढ़े। हुक्का गुड़गुड़ाती या टिकिया सुलगाती हुई बुढ़ियाँ। कछारों में केंकड़े या कछुए खोजते हुए नंग-धड़ंग लड़के! जलते चूल्हों पर काली हाँडियाँ, करीब बैठकर हल्दी-लाल मिर्च पीसती हुई सयानी लड़कियाँ, फटी-मैली धोतियों वाली।

यह साधारण झाँकी थी उस दुनिया की। माघ का महीना, पहर-डेढ़ पहर दिन उठा था। खुरखुन की बड़ी लड़की मधुरी अपने तीन भाई-बहनों से उलझ रही थी—उलझने का कारण थीं मंगुरी मछलियाँ। सेर पाँच-एक आज हिस्से में पड़ी थीं।

छोटी मछलियों में तीन का बड़ा नाम है—सिंगी, मंगुरी और कवइ।

सिंगी और मंगुरी लोगों को बेहद रुचिकर लगती हैं। गाढ़े किरमिची

रंग की चिकनी, पतली और वित्ता-डेढ़ वित्ता लम्बी यह सिंगी और मंगुरी मछलियाँ आसिन से लेकर माघ-फागुन तक हाटों-वाजारों में अपनी शुहरत की धूम मचाए रहती हैं।

मधुरी के भाई-वहन मचल रहे थे कि एक-एक मंगुरी मिल जाए तो भूनकर खाएँ। मगर उसने पूरे परिवार की सुविधा का ख्याल किया।

—तीन तो आधा सेर होंगी मिलाकर!

—तो क्या होगा दिदिया?

—वाप रे, पाँच आना पैसा कुछ नहीं है तेरे लेखे?

अपने से छोटी वहन को मधुरी ने डाँटकर कहा और आँखें फाड़कर उसकी ओर देखने लगी।

तीरा मान लेगी वात तो भाई भी मान जाएगा और वह मान लेगा तो अपने से छोटी को मना लेगा। इसी से मधुरी सिर्फ वहन को डाँट रही थी। एक मंगुरी तो आखिर मिल ही रही थी उन्हें।

तीरा गुमसुम नाखून खोंटती रही।

मधुरी ने भाई को लक्ष्य करके एक मछली फेंक दी—ले, जा!

तीरा रूठकर कछार की ओर चली गई।

नीरस ने कल दो कछुए पकड़े थे। पाँच सेर गोश्त निकला। सेर-भर खुरखुन की घर वाली को मिला था। रात का खाना उसी गोश्त की तीमन के साथ हुआ। मधुरी ने जरा-सी तीमन वचा रखी थी और उसे वह यहाँ ले आई थी। परसों रंगलाल के लड़के ने तीन वड़ी-वड़ी अन्हइ मछलियाँ कछार के पाँक के भीतर से निकाली थीं, एक उनमें से वह स्वयं मधुरी को दे गया था। मधुरी ने उसे भी सँभालकर रख छोड़ा था, अभी पकाने वाली थी।

भाई आठ-नौ साल का था, मान गया और मंगुरी उठा ली।

कटे धानों की खूँटियाँ उखाड़-वटोरकर लड़कों ने उस ढेर में आग लगा दी थी। वहीं वे मछलियाँ भून रहे थे। मधुरी का भाई मंगुरी लेकर उधर ही वढ़ा। छोटी वहिन पीछे गई।

मधुरी ने अव तक चूल्हा नहीं सुलगाया था।

जाने क्यों, मंगल का मुखड़ा उसकी चेतना को आज वार-वार उकसा रहा था। वहुत-वहुत याद आ रही थी मंगल की। हाथ-पैर हिलाने-डुलाने को जी नहीं करता था। जी यही करता था कि वैठ जाए और वैठी-वैठी मंगल के वारे में सोचती रहे, वस सोचती ही रहे···

पन्द्रह दिन वाद मंगल की वहू आ जाएगी···

मधुरी का चिन्तन-चक्र घूमने लगा।

चाहने लगी कि ध्यान में सिर्फ मंगल ही आए, मंगल की वहू न आए ध्यान में। किन्तु अपरिचित-अकल्पित वह वहू लाख अवांछित हो, मधुरी की चेतना पर मानो वलपूर्वक हावी हो जाती थी!

पंक्तिवद्ध बीज थे मानो ! वैसे ही सुफेद, सावित और यकसाँ !

छ: साल की नंगी विटिया अव और करीव आ गई थी, आहिस्ते-आहिस्ते विलकुल करीव आकर वाप के वदन से सट गई। भुनी हुई मंगुरी का अद्धा खा आई थी। हाथ-मुँह काले हो रहे थे। नाकों में नेटा-पोटा, आँखों में कीचड़। धूल-भरा सिर, रूखे उलझे वाल। चूतड़ में और घुटनों पर घाव।

कड़ी मूँछ के छँटे वालों पर वच्ची ने हथेली रख दी तो खुरखुन ने वाईं वाँह फैलाकर उसे अपनी अँकवार में भर लिया।

उसे जल्दी थी, वच्ची के गालों और ठोड़ी पर हाथ फेरता हुआ खड़ा हो गया। वोला—छोड़, जाने दे ! वहुत सारे काम पड़े हैं···

मछलियाँ टाँगकर खुरखुन हाट की तरफ चला। चलते समय मधुरी से कहता गया कि मंगल के गौने को सत्रह-अठारह रोज रह गए हैं, मंझ्ला तुझे कई वार याद कर चुकी है, आज जरूर मिल आना।

माथा झुकाए मधुरी ने वाप की यह वात सुनी थी।

उसने तय कर लिया, आज वह मंझ्ला से मिल आएगी।

मंगल का खयाल भुलाकर मधुरी इधर-उधर के कामों में और वातचीत में उलझी रही। भाई-वहनों को खाना वनाकर खिलाया, खुद खाया। हँड़िया फिर उसी तरह अन्दर झोंपड़ी में टाँग दी। विसुनी वावा को टिकिया सुलगाकर दिया। वीच-वीच में मेंड़ से जा-जाकर मछलियों का भी अपना मोर्चा संभाल आयी थी।

धनहा चौर में आजकल कहीं भी अथाह पानी नहीं था।

वीचों-वीच एक-डेढ़ फर्लांग की लम्वाई और डेढ़-दो सौ गज की चौड़ाई में छाती-भर पानी था। जेठ आते-आते यह पानी कमर-भर रह जाता था। असाढ़ से लेकर कातिक-अगहन तक धनहा चौर का इतना भाग अथाह पानी की वजह से झील वना रहता था। शरद् ऋतु में खुलकर खिलने वाले नीले कमलों की वहार देखते ही वनती थी। हँसुली की-सी शकल वाली यह मनोरम झील ही धनहा चौर के यश में चार चांद लगाए हुए थी।

झीलवाला अंश चौर का दसवाँ हिस्सा था। वाकी हिस्सों में खेती भी होती थी, मछलियों का शिकार भी चलता रहता था। पानी के निकास की कोई राह नहीं थी। सूर्य-नारायण की कृपा से पूस-माघ तक जितनी दूर पानी सूख गया, खेती वहीं तक सीमित रह जाती थी। शेष रहता था पानी वाला भूखण्ड। उस तरफ मछुओं-मल्लाहों को छोड़कर और किसी की दिलचस्पी नहीं थी। सर्वे के पुराने कागजात पानी वाले इन क्षेत्रों को 'दहलान' (वाढ़-ग्रस्त) वताते आ रहे थे। पुराने-भू-स्वामियों ने मछुओं से दो-एक दफे 'जल-कर' वसूलने की तिकड़म भिड़ाई थी, लेकिन इसमें उन्हें कामयावी नहीं मिली तो झील की निकटवर्ती कछारें किस्तबन्दी ठेकों पर सस्ते-सस्ते उठा दी थीं।

भोला के पिता फउदार महतो ने वीस-पच्चीस वर्ष पहले पचास रुपये

सालाना शरह पर दस बीघा (तीन एकड़ से कुछ ज्यादा) कछार वन्दोवस्त ली थी। भागलपुर के एक अंग्रेज हाकिम को उसने डूबने से बचा लिया था, पुरस्कार के रूप में साहब ने राजा से यह जमीन दिलवाई थी। 1934 ई० में भूचाल क्या आई, फउदार का भाग जाग गया था। धरती डोली तो झील का पाट उथला हो गया। उस उथलेपन ने पहले की कछारों को ज़रा ऊपर कर दिया और अब वे उपजाऊ खेत बन गईं।

भोला का चाचा बिसुनी गरीब का गरीब रह गया। अपनी जाँगर ही उसकी असल जमा-पूंजी थी। यही हाल खुरखुन-रंगलाल-नीरस वगैरह सामान्य मछुओं का था। उनमें आपस का एका भी हद दर्जे का था। सभी परिवार दुख-सुख में साथ रहते थे!

घुटना-भर, जाँघ-भर और कमर-भर पानी धनहा चौर में यत्र-तत्र जगमगा रहा था। दूर-दूर सिरकियाँ खड़ी थीं। इधर की मछलियाँ उधर न चली जाएँ उधर की इधर न आ जाएँ, इसी से निश्चित फासलों पर पानी की हदबन्दी की गई थी।

बिसुनी, खुरखुन, रंगलाल, नीरस आदि ने मिलकर काफी दूर तक घेरा डाल रखा था। झील की एक फाँड़ी गोंढ़ियारी के सामने उत्तर की ओर काफी इधर बढ़ आई थी। अब कमर-भर पानी रह गया था। यह पानी चंचल नहीं, स्थिर था। बहता पानी होता तो पतली तीलियों से आढ़े-तिर्छे बनी हुई, बझाऊ-उलझाऊ किस्म की 'सरैला' लगाई गई होती। कभी-कभी हँकाई होती। मछलियों के झुण्ड अपनी हद में एक-तरफा बटुर आते फिर उन्हें गाँज से छाँक लिया जाता या टापी के सहारे पकड़ लिया जाता।

साझे के शिकार में डेढ़-दो सेर गरचुन्नी मछलियाँ आ गईं तो मधुरी ने बहन को पुकारा। वह अपने हिस्से के पानी में घुसकर इच्चा और मारा छाँक रही थी; हाथ में छोटा गाज था। वह तो नहीं आई, भाई नजदीक आया।

—मैं चली घर को, तू चलेगा?

—अभी नहीं! बहन के साथ आऊँगा।

—तो छोटी को ले जाती हूँ।

छोकरे को भला क्या एतराज होता?

नीरस की झोपड़ी के पास धूप में बैठकर लाई खा रही थी। मधुरी ने हाथ से घर की ओर चलने का संकेत किया तो दौड़ी आई।

भोला के खलिहान से ज़रा हटकर यह रास्ता था, पुराना बगीचा और नई अमराई में से होकर।

कोई कुछ गा रहा था। स्वर और अलाप मधुरी को परिचित-से लगे। उसका दिल धड़कने लगा···

अरे, यह तो चुल्हाई की तान है! "मछरिया···कबहूँ पकड़ में न आवे मछरिया ऽऽ···"

चुल्हाई ! रंगलाल का वड़ा लड़का !

मधुरी को कल खुद आकर 'अन्हई' मछली दे गया था। तीन थीं लेकिन उनमें जो वड़ी थी वही मधुरी को पकड़ा आया था चुल्हवा !

मंगल और चुल्हाई—दोनों मधुरी के लिए जान देते थे। उसकी तरफदारी यद्यपि चुल्हवा के नसीब में नहीं पड़ी। फिर भी पट्ठा मधुरी पर फिदा था।

वह इधर-उधर देखने लगी, चुल्हाई नज़र नहीं आ रहा था।

गले में मिठास गज़ब की थी। हलकी ट्यून में दिल का सारा दर्द उँडेलकर गा भी रहा था और खलिहान के आगे वाँसों के झुरमुट में पत्ते भी तोड़ रहा था।

मधुरी ने चाल धीमी कर ली। चुल्हाई के गाये पद अब साफ-साफ उसके कानों में पड़ रहे थे—

'कवहूँ पकड़ में न आवे मछरिया !
जुलमी मछरिया चलवल मछरिया !
कवहूँ पकड़ में न आवे मछरिया !
ताल में खेले, तलइया में खेले !
कुंइयाँ में डुवकी लगावे मछरिया !
कवहूँ पकड़ में न आवे मछरिया !
जुलमी मछरिया ! !
रात की वेरिया विल्कुल लपत्ता !
दिन में नजर मटकावे मछरिया !
कवहूँ पकड़ में न आवे मछरिया !
जुलमी मछरिया ! !........."

मधुरी की रफ्तार इतनी धीमी हो गई थी कि साथ चलने वाली छः-साला छोटी वहन सौ-एक कदम आगे निकल गई। मुड़-मुड़कर पीछे देख लेती थी। आगे कुत्ता दिखाई दिया तो डर गई, ज़ोरों से चीखी—दि-दि-या गे। गे दि-दि-या ऽऽऽ ! !

तव मधुरी का ध्यान टूटा और पैरों में फुर्ती आई।

घर पहुँची। माँ को मछलियाँ सौंपकर भोला की दादी से मिलने निकली।

नाक नुकीली। आँखें वड़ी-वड़ी। सूरत साँवली। होंठ पतले। दाँत छोटे-छोटे, हमवार और मोतियों-से चमकीले। कद मंझोला।—मधुरी अठारह साल की हो चुकी थी, मलाही-गोंढ़ियारी के युवक अपने गाँव की चार-पाँच सुन्दरियों में उसकी गणना करने लगे थे। मंगल और चुल्हाई के साथ मधुरी के स्नेह-सम्पर्क की अफवाहें दो-एक वार उड़ी थीं फिर आहिस्ते-आहिस्ते दव गई थीं। अव मंगल की वहू गौना कराकर लिवाई जा रही थी और मधुरी का भी गौना तय हो चुका था।

भोला का वैठकखाना खपड़ों से छाया हुआ था। दूर से ही जगमगा रहा था। अभी पिछले वर्ष ही वाहरी उठ-वैठ के लिए भोला ने यह घर तैयार करवाया था।

दीवारें कच्ची ईंटों की, छप्पर बाँस-फूस के। ऊपर खपरैल। पाँच सौ का खर्चा पड़ा तो पड़ा लेकिन बस्ती गोंढ़ियारी में यह एक शानदार बैठकखाना तैयार हो गया। मछुओं की समूची बिरादरी को इस पर गर्व था।

पीछे अन्दरवाले घर थे, सामने बड़ा-सा आँगन था—बाहरी सहन। सहन के बाईं ओर, छोर पर दो बैल बँधे थे जिनके सामने काठ को छोटी नाँद पड़ी थी। दाहिनी तरफ बाँस के दो खूँटों के सहारे एक पुरानी डोंगी आधी खड़ी थी, दो बढ़ई नीचे बैठे उसकी पेंदी की मरम्मत में लगे थे। बसूला, रुखान, रंदा, आरी, बर्मा, नाप-निशान के लिए कालिख पुती सुतरी, इंच, रेती, टाँगी, काठ का हथौड़ा'''कितने ही औज़ार इर्द-गिर्द बिखरे पड़े थे। रह-रहकर ठुक-ठुक की आवाज़ें निकल रही थीं। ज़रा हटकर रस्सी-समेत डोल रखा था, आसपास की हल्की भीगी धरती उसके चूते रहने का सबूत पेश कर रही थी। दिनांत की धूप सहन के पूर्वी छोर को छूने ही वाली थी। बैठक के बरामदे पर खंभेली से पीठ टिकाकर बिसुनी बैठा था और जाल बुन रहा था।

बाहर वाली अंगनाई पार करके, बैठकखाना के पास से होती हुई मधुरी भोला के परिवार में पहुँच गई।

कपड़े पर सूखे बड़े चिपके हुए थे, ओसारे पर बैठकर मंइआ उन्हें छुड़ा रही थी। सोलह-साला जिलेबिया चूल्हा सुलगाने की फिक्र में थी। मंगल की माँ के हाथों में तराजू और बटखरा था, चावल तोल रही थी। भोला और मंगल कहीं गए हुए थे। जंगल मधेपुर गया था फुटबाल-मैच देखने। छोटी लड़की सिलेबिया पड़ोस के बच्चों में खेलने गई थी।

मधुरी मंइआ के पास जा बैठी और बड़े छुड़ाने में हाथ बटाने लगी।

मंइआ ने गौर से मधुरी का चेहरा देखा। बोली—ताड़ होती जा रही दिन से दिन! क्यों री?

मधुरी संकोच के मारे झुक गई। मंगल की माँ ने उधर से कहा—इसका भी गौना बैसाख तक हो जाएगा।

इस चर्चा से जिलेबिया को गुदगुदी-सी महसूस हुई, जी में आया कि वह भी कुछ कहे। लेकिन माँ के डर से चुप रही। पर, दादी (मंइआ) के सामने अनाप-शनाप चाहे जो भी बक जाती, कोई बात नहीं।

अपने गौना के बारे में मधुरी अब और कुछ नहीं सुनना चाहती थी। चाहती थी मंगल की वहू के बारे में सुनना, बल्कि इसीलिए आई थी।

ससुराल में तेरे कौन-कौन हैं?—बुढ़िया ने पूछा और लगा कि अभी वह इस प्रकार की अपनी अनेक जिज्ञासाएँ मधुरी के शब्दों में पूरी करना चाहती है।

मंइआ का प्रश्न बेकार गया। मंगल की माँ का सारा ध्यान चावल तोलने में केन्द्रित था और मधुरी मौन थी।

कि जिलेबिया ने एक साधारण-सी बात कहकर प्रसंग ही बदल दिया। चूल्हा सुलग उठा तो वह बोली—पहले हमारी भाभी आ लेगी, मधुरी का गौना बाद

को होगा।

मधुरी ने चट से पूछा—तेरी भाभी के कितने भाई हैं जिलेबिया ?

—तीन।

—और बहनें ?

—भाभी को छोड़कर दो और हैं।

इस तरह के सावल-जवाब दस-पाँच और चले। फिर कुछ क्षण बाद, सुलगाई हुई टिकिया चढ़ाकर जिलेबिया मंझा को हुक्का थमा गई तो ध्वनि और स्फोट का श्रुतिमधुर सिलसिला चला—गुड़-गुड़-गुड़-गुड़-गुड़ुक्, गुड़-गुड़-गुड़-गुड़···

कपड़े से चिपके हुए सूखे बड़े अलग हो चुके थे। बड़ों से भरी चंगेरी जिलेबिया अन्दर रख आई तो मधुरी से सटकर बैठी।

मधुरी खिसककर मंझा के पीठ-पीछे उकड़ूँ बैठ गई।

बुढ़िया के बाल अब भी सारे के सारे सफेद नहीं हुए थे, रूखे-सूखे अवश्य थे। मधुरी ने बालों के जंगल में जूँ का शिकार शुरू कर दिया। एक-एक बाल की जड़ में अपनी ताज़ा और पैनी निगाहें फेंकने लगी। नज़रों की सफाई और उंगलियों की फुर्ती, जूँ की गिरफ्तारी के लिए बस और चाहिए ही क्या ? शिकार हाथ आने लगे और अंगूठों के नाखूनी पाटों पर टपाटप उनकी कचूमर निकलने लगी। बीच में एक बार अण्डों वाली बड़ी जूँ पकड़ में आई तो मधुरी का चेहरा चमक उठा और विस्मय में हल्की चीख निकली—गे मंझा ! कैसे-कैसा जानवर पाले हुए है तू ! तब जिलेबिया ने उस जूँ को अपने कब्जे में ले लिया।

ज़रा देर बाद मंझा के कंधे में अपनी ठुड्डी धंसाकर आहिस्ते से पूछा—किसलिए बुलाया था मुझे ?

बुढ़िया बोली—बहू आएगी, मेहमान आएंगे। मंगल की माँ अकेले क्या-क्या करेगी ? तुझको अभी से सब कुछ समझ-बूझ के रखना है, नहीं तो वखत पर मुँह बा देगी ! हाँ !

मंगल की माँ तौलने का काम खत्म कर चुकी थी। खड़ी हुई, नजदीक आई और हाथ चमकाकर कहा—तू तो अब आती ही नहीं ?

स्वरों में उपालंभ की फाँस थी। मधुरी ने उसे अनुभव किया। सचमुच वह पन्द्रह रोज़ बाद आज इधर आई थी। सफाई के तौर पर कुछ कहना जरूरी हो गया।

मंझा के बालों को छोड़ दिया। सामने आ गई और कहा—माँ की तबीयत ठीक नहीं थी, पिछले दिनों। घर की सारी जिम्मेदारी मेरे माथे आ पड़ी थी मंझा !

मंगल की माँ ने अपनी बेटी से कहा—देख क्या रही है मुलुर-मुलुर ! चावल उठाकर अन्दर रखेगी कि नहीं ?

फिर मधुरी की ओर देखकर बोली—देखती है मधुरी, सोलह साल की हो गई तो भी जिलेबिया के मगज में अपने आप कोई बात नहीं आती है ! पग-पग

पर भूँकना पड़ता है, तभी समझती है। हाय राम, ससुराल में कैसे इस भकोल का निबाह होगा ! ! ···

बाँह-समेत हाथ उठाकर मंझा बीच में ही टप्प से बोली—तू जब पीहर से पहले-पहल यहाँ आई थी तो दाल छौंकने तक का लूर नहीं था ! हूँ ! !

मंगल की माँ ने इस पर कहा—जिलेबिया ससुराल जाएगी तो दाल-भाजी बघारने के लिए तुम साथ जाना, हूँ !

मधुरी ने बीच-बचाव किया, बोली—नहीं काकी, जिलेबिया मछली अच्छा पकाती है ! मेरे सामने तुम इसको बेशऊर न कहना !

खेल-खेल में सिलेबिया को किसी ने कुढ़ा दिया था। रोती हुई आकर माँ के सामने खड़ी हो गई तो सबका ध्यान अपनी तरफ खींच लिया उसने।

तीन

गरोखर और उससे पच्छिम कोस-भर का इलाका देपुरा के मैथिल ज़मींदारों के अधिकार में था। कभी वे सचमुच 'बाबू साहेब' और 'सरकार' थे। तिरहुत के खानदानी शासक।

अब लेकिन ज़मींदारी-उन्मूलन कानून के मुताबिक रैयतों से ज़मीन का लगान या मालगुजारी वसूल-तहसील करने के हक़ों से मौकूफ हो चुके थे। व्यक्तिगत जोत की ज़मीन, बाग-बगीचे, कुआँ-चभच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम चढ़ी हुई जायदाद, चरागाह, परती-परांत, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि-जैसी कुछ-एक अचल सम्पत्तियों के मामले में ज़मींदारी-उन्मूलन कानून ने भू-स्वामियों को खुली छूट दे दी। नतीजा यह हुआ कि पोखरों और चरागाहों तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे—"आग लगते झोपड़ी जो निकले सो लाभ।"

गरोखर के भिण्डों पर बाग थे जिनमें आम, जामुन, कटहल, बड़हल, बेल, पितोझिया, मौलसिरी, नीम, पाकड़, सेमल, बरगद, पीपल और साहड़ के पुराने पेड़ थे। पिछले दो-तीन वर्षों के अन्दर दो-तिहाई वृक्षों का सफाया हो चुका था। कछार की ज़मीनें धड़ाधड़ आबाद हो गई थीं। गढ़पोखर की हद के अन्दर पानी के चारों ओर लहलहाती फसलें देखकर लोग कहा करते—दस-पाँच साल में अब गरोखर नहीं रहेगा, उथली-छिछली तलैया रह जाएगी यहाँ !

मलाही गाँव का मोहन माँझी लेकिन और ही सपने देख रहा था।

मोहन माँझी के स्वप्न थे कि गढ़पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चलकर और तब मलाही-गोंढ़ियारी के ये ग्रामांचल मछली-पालन-व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जाएँगे। वैज्ञानिक प्रणाली से यहाँ मछलियाँ पाली जाएँगी। पूस से लेकर जेठ तक प्रतिवर्ष अच्छी से अच्छी मछलियाँ अधिक से अधिक परिमाण में

हम निकाल ले सकेंगे। एक-एक सीजन में पचास-पचास हज़ार रुपयों तक की आय होगी। मलाही-गोंढ़ियारी का एक-एक परिवार गरोखर की वदौलत सुखी-सम्पन्न हो जाएगा। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदिनियों की खेती करेंगे। पक्की-ऊँची भिण्डों पर इकतल्ला सैनिटोरियम वनेगा, फिर दूर-पास के विश्रामार्थी आ-आकर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे…

मोहन माँझी पागल नहीं था, सपने ही नहीं देखा करता था। राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का एक अदना-सा सिपाही था वह। १५ अगस्त '४७ के पहले ही तीन वार जेल की सजाएँ भुगत आया था। खरी-खरी सुनाने को और सर्व-साधारण जनता का पक्ष लेकर चाहे जो-कुछ कर गुज़रने की लत पड़ गई थी। अव वह हँसिया-हथौड़ा-मार्का लाल झण्डा वाली किसान सभा का थाना-सभापति था। इससे पहले प्रजा समाजवादी पार्टी की जिला-कमेटी का सदस्य था। कम पढ़ा-लिखा होने पर भी समझ पैनी थी और ईमानदारी के तो भला क्या कहने !

आधा चैत वीत चला था।

रविवार होने से स्कूल में छुट्टी थी।

प्राइमरी स्कूल का यह भितहा मकान गांव के पूर्वी छोर पर था। तीन तरफ से घिरा, सामने खुला। अंगनई का अगला हिस्सा तग्गर-कनेर-वेला-हरसिंगार के झाड़ों से सरसब्ज़ था।

विरादरी के वालिग मेम्वरान जुटे थे—भोला, खुरखुन, विसुनी, रंगलाल, नीरस, नरायन, छीतन, वंसी, नवति, कल्लर, भोकर, नथुनी, नकछेदी, वीलट, भइयन, टुन्नी, जलधर, गगा, नंदे…वगैरह सारे के सारे थे। पचास-साठ जने होंगे। औरत एक भी नहीं थी। दस-पन्द्रह लड़के तमाशवीन वने किनारे-किनारे खड़े थे।

कभी शोरगुल वढ़ जाता और कभी एक ही आदमी कुछ कहता सुनाई देता। कुछ-एक की जीभ नहीं. हाथ ही सक्रिय थे। जाल विनने लायक मज़वूत धागा वांट रहा था कोई, कोई जाल विन रहा था। कोई टापी या गांज वनाने के लिए वांस की फट्ठी से खपच्चियां छील रहा था तो किसी के सामने मूंज पड़ी थी। खुरखुन की गोद में उसकी वही छः साला वेटी थी।

गोनड़ सवसे वूढ़ा था, तिरासी साल का।

भोला ने नाम पुकारकर पूछा—गोनड़ वावा, तुम्हारी क्या राय होती है ?

निकले हुए कान और पतली सफेद मूँछें, गोनड़ के चेहरे की यही विशेषता थी। सवकी निगाहें वुड्ढे पर जमी थीं। उसने आँखें मिचमिचाकर कहा—मैं क्या तीन त्रिभुवन से वाहर हूँ ? अरे, जो सवकी राय होगी वही राय मेरी होगी !

इतना कहकर गोनड़ ने माथा झुकाया और मैली धोती की खूंट से नाक पोंछी।

तो भी कुछ कहो न—पांच-सात आदमियों का समवेत स्वर।

बूढ़े ने जमात की तरफ देखा। उसकी अपनी पतली भौंहों वाली काली आँखें चमक रही थीं। दृढ़ता का भाव मुखमण्डल को दीप्त कर चुका था।

उसने गम्भीर लहजे में कहा—"यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में हम इसे छोड़ नहीं सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं, न कभी बिकेंगे। गरोखर का पानी मामूली पानी नहीं, वह तो हमारे शरीर का लहू है। जिनगी का निचोड़ है।"

गोनड़ इतना ही कहकर बैठ गया।

जमात में आज बड़ी सरगर्मी थी। सभी एकमत थे कि छोड़ा नहीं जाए। गढ़पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है। ज़मींदार जल-कर लेता था, हम देते थे। नया खरीददार दूसरे-तीसरे गाँव के मछुओं को मछलियाँ निकालने का ठेका देता चलेगा और हम अपने पुश्तैनी अधिकारों से वंचित होकर रुलते फिरेंगे, भला यह भी क्या मानने की बात है ?

नया खरीददार सतघरा के ज़मींदार थे। वे लोग गढ़पोखर की नये सिरे से बंदोवस्ती देकर ज्यादा से ज्यादा रकम बटोरना चाहते थे। उनमें से एक शासक-दल का पुराना और प्रतिष्ठित नेता भी था। पटना, दिल्ली और जिला-केन्द्र लहेरिया सराय के बड़े अधिकारियों से उनकी मिली-भगत थी। दफा १४४ के मुताबिक खट् से एक समन आ धमका था। तभी गोंढ़ियारी के मछुओं में यह सरगर्मी आई थी।

ऐसा एक भी दिन नहीं गुजरता जबकि गढ़पोखर से मछलियाँ न निकाली जाती हों।

इस तिपहर में भी दो नौजवान उत्तरवाली भिण्ड की ओर पानी में काँटे डाले बैठे थे। यों भी छोटी मछलियाँ निकालनेवालों के लिए रोक-टोक कम थी। बड़ी मछलियाँ निकालना मना था। बाढ़ और वर्षा के दिनों में यह प्रतिबन्ध काफी ढीला हो जाता था।

भोला, नकछेदी और गंगा सहनी ने पिछले वर्ष तीन हजार रुपये नकद गिनकर दो साल के लिए गरोखर का पट्टा लिखवाया था। मछलियाँ निकाले जाने पर आधा हिस्सा उनमें मछुओं की मजदूरी होती थी बाकी आधा हिस्सा भोला, नकछेदी और गंगा सहनी आपस में बराबर-बराबर बाँट लेते थे।

अब सतघरा के भूमिहार ज़मींदार गढ़पोखर के मामले में क्या रुख लेंगे, कहना असम्भव था। कई तरह की अफवाहें उड़ रही थीं और गोंढ़ियारी के मछुओं का मन अशान्त था।

बैठक अनियमित ढंग से ही थोड़ी देर तक चलती रही। बाद को लोग उठ-उठकर जाने लगे और स्कूली लड़के कबड्डी खेलने आ धमके।

भोला, खुरखुन, रंगलाल, नीरस आदि आठ-दस जने रह गए थे। मोथी की उस चटाई पर कोई पूरा लेट गया था, कोई आधा। नीरस बैठकर जाल बुन रहा था। खुरखुन बाँस की पतली चैली में से छील-छीलकर तीलियाँ तैयार कर रहा

था। सिलेबिया हुक्का भर लाई थी, भोला उसे गुड़गुड़ा रहा था। रंगलाल और नकछेदी लेटे-लेटे बातें कर रहे थे। उस बातचीत में सभी के दिल मानो पिरोए हुए थे।

गढ़पोखर की इधरवाली भिंड काफी ऊँची थी। गोंढ़ियारी का उत्तर-पूरबी कोनैला छोर उसे छूता था। गाँव से उत्तर सटकर पुरानी अमराई और अमराई से लगा हुआ था गरोखर का इधर वाला (दक्खिनी) भिण्डा। प्राइमरी स्कूल गाँव के उत्तर-पूरब, गरोखर की ऊँची भिण्ड के दक्खिनी ढलान पर, खड़ा अलग से ही जगमगा रहा था। स्कूल का पिछवाड़ा गाँव की तरफ और अगला हिस्सा पोखर की तरफ पड़ता था। चमुड़िया रेलवे-स्टेशन से आने वाली सड़क पूर्वी भिण्ड के पासापासी आकर ज़रा आगे बढ़ते ही 'धनहा चौर' के सम्मान में वा-अदब धनुषाकार हो गई थी; गोंढ़ियारी और मलाही को दाहिनी बगल से सहलाती हुई आधी मील चलकर वह फिर दक्षिण दिशा में सीधे मुड़ी थी। खूब चालू रास्ता था यह। पिछले पाँच-सात वर्षों में मिनिस्टरों-आफिसरों-नेताओं-ठेकेदारों की दूर दसगुनी बढ़ गई थी, अब जिला बोर्ड इस कच्ची सड़क को पक्की सड़क ही नहीं बल्कि 'पीच-रोड' बनाने पर तुला था। फूलपरास-बाजार से बिरौल होती हुई बहेड़ी और लहेरिया सराय तक पहुँचने वाली इस 'पक्की सड़क' को सन् '५६ के अन्त तक तैयार होना ही था।

स्कूल के बाएँ, छोटी मछलियाँ फाँसने वाले छोटे-हल्के जाल ऊँची भिण्ड पर सूख रहे थे···घुम-घुमाकर पानी में फेंके जाने वाले जाल थे ये—दोनही, पोठिया, मरइली, खपियार, घनी, सतोल, दुआली, ठेंठी···कई किस्में थीं छोटे जालों की।

ति-पहर की सेंती धूप उन्हें सुखाने को काफी थी। चार-पाँच कोस पच्छिम बहेड़ा से पूरब किसी गाँव की सूखती तलइया में इन जालों का इस्तेमाल किया गया था। अब आज ये सूख रहे थे।

सबकी नजर बचाकर मोहन माँझी आया और स्कूल के आँगन में खड़ा हो गया।

लड़के कबड्डी खेल रहे थे—चेत् कबड्डी चेत् कबड्डी चेत् कबड्डी चेत् कबड्डी···और मोहन माँझी के अन्दर बैठा हुआ नौजवान छलांग मारकर बाहर निकल भागा। जाकर वह खेलनेवालों में शामिल हो गया···चेत् कबड्डी ! चेत् कबड्डी ! !···

मगन होकर मोहन माँझी कबड्डी का खेल देखने लगा। थोड़ी देर के लिए भूल गया कि किस मतलब से यहाँ आया है।

ग्रीष्म के आरम्भ की झुलसी दूबों से ढका-ढका-सा स्कूल का आँगन निगाहों को अखर रहा था। बीचों-बीच सीधी-आड़ी रेखा थी, हल्के हाथों की छोटी खुरपी से दुधिया जमीन खुरच-खुरचकर बनाई हुई। खिलाड़ियों के दोनों दलों की दरम्यानी सीमा।

मोहन माँझी देर तक खड़ा रह जाता अगर सुर्ती थूकने न उठा होता भोला।

भोला देर तक खैनी की डवल जूम निचले होंठ से दबाए हुए था। छोटी तम्बाखू की यह तेज-कड़क पत्ती नीरस जाने कहाँ से लाया था ! सभी ने तारीफ की थी। बीड़ी-सिगरेट और जर्दा-किमाम के इस जमाने में छोटी तम्बाखू का महातम गो कि घट गया है तो भी गोंढ़ियारी के मछुए बड़ी तम्बाखू के नाम पर उत्साहित नहीं होते थे।

देर तक सुर्ती मुँह में रखे रहने के कारण भोला का माथा चकराने-सा लगा तो उठकर वह उसे थूकने आया।

थूककर लार की तार धोती की खूँट के सहारे पोंछने लगा। निगाहें सामने कबड्डी खेलने वालों से जा टकराईं। गाँव के ही लड़के थे। कुछ एक नौजवान तमाशाई भी थे, कुछ एक छोटे बच्चे। बाकी जो थे, सो मलाही के वही मोहन माँझी। माँझी को हमउम्र लोग 'नेताजी' कहते थे और उसने अनासक्ति दिखलाकर अपना यह नाम चालू हो जाने दिया था।

भोला और मोहन ने दर्जा दो साथ-साथ पास किया था। छः महीने की जेठाई-छोटाई थी। एकाएक वह दिखाई पड़ा तो भोला हुलास-भरी आवाज़ में बोला—"अरे, नेताजी ! कब से खड़े हो भाई ?"

सुपरिचित स्वर कानों से टकराए और मोहन माँझी के अन्दर का नौजवान गायब हो गया।

भोला आगे बढ़ आया। खुरखुन, रंगलाल, नीरस सभी उठ आए।

माँझी को स्कूल के अन्दर ले गए।

आधी बाँहों की कोकटी कमीज़। मामूली सूतों की मटमैली धोती। खाकी थैला बाँह से लटक रहा था। पैरों के नाखून बड़े-बड़े और बेकाबू। चेहरा गोल, पेशानी चौड़ी। लाल-लाल छोटी आँखों में काली पुतलियाँ खूब खुल नहीं पा रही थीं।

नेताजी जब कभी उनके बीच आ धमकता तो जीवन की सोई हुई ताजगी को जगा जाता।

खुद भी व्यक्ति-व्यक्ति की बातें ध्यान से सुनता। कभी-कभी शाम को आता और खाना भोला के साथ खाकर अपनी जाति के महान् पूर्वज जयसिंह और रन्नू सरदार की गाथाएँ रात-भर सुनता रह जाता।

बैठने पर थोड़ी देर तक जिला-जवार, देश-परदेश और समय-साल की चर्चाएँ चलीं। सतघरा के बबुआन गरोखर के पानी से बे-दखल करना चाहते हैं मलाही गोंढ़ियारी के मछुओं को, अब अदालती भूल-भुलइया में भटकाकर उन्हें बे-दम कर देना चाहते हैं···मोहन माँझी से यह सब छिपा नहीं था।

लड़कों की कबड्डी हो चुकी थी। दिन थोड़ा था। सूखते हुए जाल समेटे जा रहे थे।

भोला, खुरखुन आदि भी मोहन माँझी को आगे करके बैठकखाना में आ

पहुँचे।

धान के नारों की बिनी मोटी चटाइयाँ तीन-चार बिछी थीं। उन्हीं पर भाई लोग बैठ गए। अबकी नेताजी ने थैले से रसीदें निकाल लीं और किसान-सभा का मेम्बर बन जाने की अपील करते हुए उसके उद्देश्यों पर प्रवचन आरम्भ कर दिया।

बीच में ही खुरखुन ने कहा—"मगर हम तो किसान नहीं, मछुए हैं। किसान सभा-फिसान सभा का मेम्बर होने से हमें क्या! नेताजी, मछुआ-कछुआ सभा कोई कहीं हो तो मुझे बताना। उसका मेम्बर जरूर बन जाऊँगा।"

"मछुआ लोगों की सभा तो है ही"—भोला ने कहा—"अरे, वह निषाद महासभा है न खुरखुन भाई?"

—फुलेना परसाद वाली?

—तो और कौन-सी!

—फिर नेताजी की किसान-सभा का मेम्बर हम क्यों बनें?

भोला जवाब देने ही जा रहा था कि मोहन माँझी ने हाथ के इशारे से उसे रोक दिया, कहा—"मैं बताऊँ।"

इसी बीच जिलेबिया भर-चंगेरी भुने चिवड़े और मछली के तले खण्ड सामने रख गई। लेकिन अभ्यागत ने उधर ध्यान नहीं दिया। भोला ने ध्यान दिलाकर कहा—"नेताजी, यह भी चले और वह भी चले!"

रंगलाल चला गया था। खुरखुन और नीरस ने भोला की बात का समर्थन-अनुमोदन किया—"हाँ, नेताजी?"

"पाँच मिनट बाद,"—मोहन माँझी ने नाश्ते की चंगेरी बाईं तरफ सरका दी और बताना शुरू किया:

"भाइयो, किसान सभा देहातों में रहने वाले कुछ मेहनतकश लोगों का एकमात्र मिला-जुला सुदृढ़ संगठन है। हम लोग मछुआ हैं, निषाद भाई हैं। सहनी, मुखिया, खुनौट, सोरहिया, बाँतर, तीयर, जलुआ, माँझी; खानदानी उपाधि किसी की कुछ है तो किसी की कुछ। मगर हैं फिर भी सभी निषाद। किसी युग में हमारी संख्या थोड़ी थी। उन दिनों केवल नाव चलाना और मछलियाँ पकड़ना हमारे पेशे थे। अब हमारी बिरादरी खेती भी करती है, मज़दूरी भी। पढ़-लिखकर कुछ-एक भाई-बहन ऊँचे ओहदों पर भी पहुँच रहे हैं। समूचे भारत की बात छोड़ दें। बिहार की ही लीजिए। अपनी बिरादरी के सैकड़ों लड़के आम बिहारी लड़कों और दूसरे-दूसरे प्रदेश के प्रवासी लड़कों के साथ मिल-जुलकर स्कूलों-कालेजों में ज्ञान-विज्ञान हासिल कर रहे हैं। जात-पाँत की पुरानी दीवारें ढह रही हैं, नये प्रकार की विशाल बिरादरी उनका स्थान लेने आ रही है। एकता का यह आलोक देहातों में भी प्रवेश कर चुका है। जब ऐसी बात है तो नाहक हमारी बिरादरी के चन्द अगुआ निषादों के अलग संगठन का शंख फूंक रहे हैं। दो-चार स्वार्थी निषादों का इससे फायदा होगा, यह मैं मानता हूँ। मैथिली महा-

-सभा, राजपूत महासभा, यादव महासभा, दुसाध महासभा आदि जो भी साम्प्र-दायिक संगठन हैं सभी का वायकाट होना चाहिए। इन महासभाओं के नेता आम लोगों की एकता में दरार डालने का ही एकमात्र काम करते हैं। देहातों में रहने वाली सारी जनता का खेती-किसानी से थोड़ा-वहुत लगाव रहता ही है, तो जैसे कोई किसान सभा की मेम्वरी से इन्कार करेगा ? गढ़-पोखर हमारे हाथों से न निकले, इसके लिए हमें कोशिश करनी होगी। इस संघर्ष में निषाद महासभा, नहीं, किसान-सभा-जैसी जुझारू जमात ही हमारी सहायता कर सकती हैं···"

लगभग पन्द्रह मिनट तक मोहन मांझी वोले।

श्रोताओं ने वड़े गौर से प्रवचन सुना। वातें अपनी भाखा में यानी मैथिली में कही गई थीं और समझाने-बुझाने की नीयत से कही गई थीं, व्याख्यानबाजी का तूफानमेल नहीं छोड़ा गया था। कुल मिलाकर असर अच्छा ही पड़ा था।

—अच्छा, तो नाश्ता कर लो अव !

—हाँ, नेताजी !

भोला के स्वर से कई कंठों के स्वर आ मिले।

वरामदे के किनारे डोल में पानी था, लोटा था।

मोहन मांझी उठकर मुंह-हाथ धो आए तो भोला ने अपना अँगोछा आगे कर दिया —पोंछ लो !

हाथ-मुंह पोंछ-पांछकर मोहन आ वैठे और नाश्ता शुरू हुआ। चिवड़े भुने थे, उनमें अचार का मसालेदार तेल मिलाया हुआ था। नमक और हरी मिर्च अलग भी थी। वुआरी मछली के तले हुए आठ-दस खण्ड दूसरी छिपिया में थे।

वातें होती रहीं और नाश्ता भी चलता रहा।

मंगल ने आकर मोहन को 'पाँयलगी' की, चिवड़ा-मछली से भरे मुंह की दवी-सिकुड़ी आवाज में उसने कहा—"मस्त रह वेटा !"

भोला ने पूछा—"जंगला कहाँ गया है रे ?"

मंगल को मालूम नहीं था कि जंगल किधर गया है। वह चुप-चुप एक तरफ हटकर वैठ गया।

मंगल वीस साल का, जंगल सोलह साल का। भोला सहनी के दो लड़के थे। लड़कियाँ भी दो—जिलेवी और सिलेवी; वड़ी चौदह साल की, छोटी दस की।

खुरखुन खैनी मल रहा था, वोला—"आ-हा ! आप न हुए नेताजी, फागुन में अवकी हम मंगल की ससुराल गए। गौना था न इसका ! क्या मुल्क है वो भी !"

मोहन की समझ में नहीं आई वात तो भोला मुसकुराया।

नीरस ने कहा—"समझा नहीं नेताजी आपने ? मोरङ है न नेपाल का इलाका ! उधर की ही लड़की है !"

—अच्छा ! तो क्या देखा उधर ?

—लोग नहाते नहीं हैं, वदबू के मारे किसी के पास बैठना मुश्किल था।

—तो नेपाल नहीं, वे भोटिया होंगे !

—नहीं, नेपाल की बात है नेताजी !

—तो फिर जाड़ों का मौसम रहा होगा !

—नेताजी, आप तो लगे मंगल की ससुराल के लोगों का पच्छ लेने !

इस पर मोहन माँझी को हँसी आ गई तो सभी हँस पड़े। मंगल का अपना चेहरा भी चमकने लगा।

नाश्ता-पानी के बाद सुपारी का अद्धा थमा दिया भोला ने तो मोहन माँझी ने उसे मुंह में रख लिया और उठ खड़े हुए।

—अब आज जाने दो भोला !

—यह अपना घर होता तब न !

—नहीं, आज मलाही जाना जरूरी है मीता ! ···

५० रसीदों वाली मेम्बरी की एक छोटी वही मोहन माँझी से लेकर भोला ने मंगल को थमायी और कहा—"घर-घर से इकन्नी वसूल करके रसीद काट देना।" फिर मोहन की तरफ देखकर वह बोला—"परसों शाम तक तीन रुपइया दुइ आना पहुँचा देंगे।"

सिर हिलाकर माँझी ने अपनी मजूरी जतलाई।

और नेताजी बैठकखाना से नीचे उतरे।

भोला, खुरखुन और नीरस उन्हें गोंढ़ियारी की सीमा तक छोड़ आए।

चार

हिन्द हितकारी समाज की कोसी-शाखा के पदाधिकारी और दर्जनों प्रमुख कांग्रेसी जीपों में सवार हफ्तों घूमते फिरे थे, इन क्षेत्रों के गाँव-गाँव में श्रमदान का आह्वान गूँजा था। सभी वर्गों के लोग कोसी-बाँध की योजना के नाम पर उन्मुख-उत्सुक हुए थे।

मलाही-गोंढ़ियारी के बीस गरीब मछुए और दूसरी जातियों के मजदूर भुतहा-महादेव मठ पहुँचे और चार-छँ रोज बाद ही वापस भाग आए थे।

खाते-पीते परिवारों के शौकिया श्रमदानी सज्जनों की बात ही और थी। उनकी सुविधा के अनेक साधन कोसी-किनारे जुट गए थे। चाय-बिस्कुट, पान सिगरेट, शर्बत-मिठाई, पूड़ी-कचौड़ी, चूड़ा-दही, रेडियो-सिनेमा रिकार्ड, माइक-लाउडस्पीकर, अखबार और पत्र-पत्रिकाएँ···कैमरा वालों की भरमार थी ही, पास-पड़ोस के परिचित कांग्रेसी नेताओं की सिफारिश से वे पटना या दिल्ली से आए हुए ऊँचे पदाधिकारी के साथ भीड़ में खड़े हो जाते और फोटो खिंच जाती।

इन लोगों का श्रमदान क्या था, बैठे-ठाले का अच्छा-खासा मनोरंजन था। 'नेशनल कैडेट-कोर' की निगरानी में बीसियों हजार स्कूली-कालिजी लड़के कोसी के पूर्वीय और पश्चिमीय—दोनों तटबन्धों का निर्माण करने आए थे, उन्होंने अलबत्ता काफी काम किए थे। ठेकेदारों ने मजदूरों से करवाया था। पश्चिमी तटबंध का अब तक का अधिकांश काम इन्हीं के हाथों हुआ था। हिन्द हितकारी समाज वालों ने शौकिया श्रमदान तो लिया ही था, अलावा इसके, किनारे की ग्राम-पंचायतों के जिम्मे उन्होंने यह भार सौंपा था कि वे मजदूरों से काम लें और उन्हें मेहनताना दें। संगठन की ढीला-पोली से या स्वार्थियों के कुचक्र से हुआ ऐसा कि पंचायतों के अधीन काम करने वाले मजदूरों को कोसी-किनारे से भाग आना पड़ा।

वापस आने वालों में से टुन्नी, कल्लर, भोकर, नथुनी आदि थे।

खुरखुन ने अगले ही दिन पूछा—"बड़ी जल्दी भाग आए, क्या बात थी?"

"बात क्या रहेगी"—कल्लर ने कहा—"कुछ नहीं! दूर के ढोल सुहावन! बस, यही समझ लो खुरखुन काका!"

नथुनी नकियाकर बोलता था, बोला—"हाँ, हों! कमला मंइञा कीं दंयाँ से जैंसें-तैंसें घंर आँ गंएं···"

गोनड़ जाल की किनारी में लोहे की गोटियाँ कस रहा था। बीच गाँव के चौराहे पर प्रौढ़ पाकड़ की छाँह और बैशाख का महीना! लोग काम भी कर रहे थे, आराम भी। वक्त काटने में जीभों के सरौते भी खूब मदद पहुँचा रहे थे। टुन्नी मछलियाँ फँसाने की बड़ी-सी टभकी तैयार कर रहा था। बाँस की गोल चिकनी खपच्चियों में गोंढ़-लत्तो की आधी सूखी बेल उलझाता और कसता जा रहा था।

गोनड़ भभाकर हँस पड़ा, खीसें निकल आईं। टुन्नी से उसने कहा—"अरे वो बात तो बताई ही नहीं तुमने! ···"

कौन-सी—सभी ने टुन्नी की तरफ जिज्ञासा की दुहरी-तिहरी निगाहें गड़ा दीं।

"जाने भी दो, जो बीत गई सो बीत गई।" टुन्नी ने कहा।

खुरखुन चार दिन पहले फुलपरास-बाजार से हरी-पीली-धानी आँचलों वाला सफेद मोटिया गमछा लाया था। अभी पीठ के नीचे उसे ही बिछा रखा था।

लेटे ही लेटे उसने जोर देकर कहा—"अंहुं, अब तो बतलाना ही पड़ेगा टुन्नी! क्या करके आए हो?"

खुरदरा चेहरा। खुचरा मूँछें। छोटा कपार। छोटी आँखें। कद नाटा और सूरत भूरी। काम छोड़कर टुन्नी थोड़ी देर के लिए अपनी प्रतिमा आप बन गया।

फिर कहने लगा—"भूंजा फरही की पोटली बांधकर कोसी किनारे गया मैं

इसलिए कि दस रोज बाँध की मजूरी करूँगा; खाना-खेवा निकालकर कम से कम अठारह आना-बीस आना रोज तो बचा ही लूँगा। चार-छै जून साथ के दाने चबा-चुबूकर भूख को ठगता रहा, फिर उधार की खिचड़ी चलने लगी। पहली बार जिस बाबू ने नाम लिखा, वह दूसरी बार नहीं मिला। दूसरे दिन जो भाई काम लेने आए, दो रोज बाद उनका भी पता नहीं। मिट्टी काटते-ढोते बारह दिन बीत गए, छदाम का भी दरसन नहीं हुआ। उधार खाते चावल-दाल-नमक-हल्दी-मिर्ची-ईंधन देने वाला दूकानदार भला क्यों छोड़ने लगा? कुदाल रख ली, टोकरा रख लिया, धोती तक उतरवा ली! कमर से गमछा लपेटे दो दिन, दो रात का भूखा मैं घर लौट आया हूँ···"

इतना कहकर टुन्नी ने लम्बी साँस ली और धरती छूकर दोनों कान छू लिए।

खुनखुन से लेटा नहीं रहा गया अब, वह उठ बैठा।

आवेशमय स्वर में अपने आप वह बड़बड़ाने लगा, दोनों हाथ उलाहना की मुद्रा में आसमान की तरफ उठे थे—"हे भगवान, कैसा जमाना आया है! पच्चीस करोड़, पचास करोड़ रुपइया लगाकर दस-पन्द्रह साल में कोसी-बाँध तैयार होंगे, हज़ारों का माहवारी चारा पाने वाले पचासों आफीसर बहाल हुए हैं। लाखों के ठेके मिले हैं ठेकेदारों को। करोड़ों का सामान बीरपुर में लाकर अटा दिया गया है। रात-दिन हवाई जहाज़ कोसी इलाके में मँडराते रहते हैं। पानी की तरह रकम बहाई जा रही है। फिर गरीब मज़दूरों के साथ ही सुराजी बाबू लोग इस तरह का खिलवाड़ क्यों कर रहे हैं? ऐसा अनर्थ तो न कभी सुना, न देखा! हे भगवान, सृष्टि के इन्हीं तौर-तरीकों में तुम्हें अपने विधातापन का स्वाद मिलता है? हिन्द-हितकारी समाज नहीं, पेट-हितकारी समाज! छी-छी-छी-छी···'

गोनड़ ने भोली हँसी हँसकर फिर कहा—"अरे, कुछ और सुन लो खुरखुन! इतने में ही उबिया गए?"

खुरखुन उठकर खड़ा हो गया। गमछा झाड़-झूड़कर कन्धे पर ले लिया।

घर की तरफ चला तो भोला के कुत्ते ने कहीं से आकर अपने मालिक के गाढ़े दोस्त की टाँग सूँघ ली। प्यार के प्रतिदान की प्रतीक्षा में दस-बीस कदम तक वह पूँछ हिलाता आया मगर खुरखुन के दिल-दिमाग अब भी खौल रहे थे। उसने कुत्ते की ओर देखा तक नहीं।

भोला के बैठकखाने में बजरंग-मण्डली के तीन-चार छोकरे रंग जमाए हुए थे। ढोलक ठनक रही थी, झालें खनक रही थीं। मिले स्वरों की हलकी-मीठी तान में फिल्मी पद तैर रहे थे।

खुरखुन ने उन्हें सुनकर भी नहीं सुना। उसके पैर फुर्ती से उठते चले आए।

मधुरी के गौने की तैयारियाँ करीब-करीब हो चुकी थीं।

पाँच रोज बाद, अगले बुधवार को पूर्णिमा के भोर में महफा उठने वाला था। दस्तूर के मुताबिक प्रतिदिन सुर भरकर एक-आध बार रोना भी मधुरी

शुरू कर चुकी थी। घर के काम-काज से फारिग होकर जितिया बुआ, मोदनी मामी, सकुन्ती बहन आ जुटतीं। मंगल की माँ भी। किसी-किसी दिन मंझआ आकर पहले से ही डटी रहती। रोने का यह सिलसिला एक-एक के गले से लग-लगकर घण्टा-डेढ़ घण्टा तक चला करता। इस आरोह-अवरोहमय सुरीले क्रन्दन के माध्यम से मधुरी बताया करती—"ओ जितिया बुआ, अब पुदीना और इमली की चटनी मुझे कौन खिलाएगी-ई-ई-ई-ई!" जवाब में, रोने का ठीक वही सुरीला तरीका अपनाकर मोसम्मात जितिया कहती—"मुझे अपनी खैनी के लिए सीपियों का चूना बना-बनाकर अब कौन दिया करेगी गे-नू-नू-ऊँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ!"

मोदनी मामी गले मिलकर रोती तो रोज यही दुहराती कि अब उसे डोंका का गोस्त कौन खिलाएगी। सकुन्ती के लिए परिताप का विषय यह था कि मेला-ठेला देखने कौन साथ जाया करेगी। भोला की दादी रो-रोकर कहती कि इतने प्रेम से कौन अब उसके जाँघ-गोड़ चाँपा करेगी···

रंगीन रुलाइयों के ये तरन्नुम बजरंग-मण्डली के छोकरों के लिए मखौल का मसाला थे लेकिन खुरखुन का तो कलेजा टूक-टूक होता था यह सब सुन-सुनकर।

और इसीलिए वह अपने दरवाज़े से ही वापस लौट चला।

मंगल की माँ के गले लगकर मधुरी रो रही थी—"गे चा आ आ ची ई ई, कै ऐ ऐ से ए-ए र अ अ अ अ हूँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ गी ई ई ई ई मैं ऐं ऐं ऐं ऐं···" कह रही थी? चाची, तुम सबसे अलहदा होकर मैं कैसे रह सकूँगी? सूखी रेत पर कवई मछली जिस तरह तड़पा करती है, मैं भी क्या उसी तरह नहीं तड़पूँगी चाची?

रुलाई में डूबे हुए बेटी के ये शब्द सुनते ही बाप ने आँखें मीच लीं। दाँतों पर दाँत, मसूढ़े पर मसूढ़ा। चेहरा सिकुड़-सिमट गया। सहज श्याम कान्ति अधिक से अधिक श्यामल हो उठी। पैर मनों भारी हो उठे।

खुरखुन वापस लौट गया।

भीतों का एक घर, एक मड़इया, दो ओर से फूस का घेरा। यही तो हुआ घर-आँगन। अभी काज-परोजन के दिन थे। बाहर से द्वारावाली भीत की पुताई हुई थी, चिकनी-पीली मिट्टी से। द्वार के दोनों तरफ आमने-सामने काले रंग की कच्ची स्याही में किसी ने हाथी आँक दिए थे। शरीर का मुटापा उन चित्रों में उतना नहीं अखरता था जितना कि बेडौल सूँड़। महावत की जगह मूली-गाजर की-सी शकल अंकित थी। प्राइमरी स्कूल में पढ़ने वाला पड़ोस का एक लड़का मसाले वाली मोटी-मोटी पिसी हल्दी में उँगली डुबोकर, अन्दर के द्वार की चौखट के माथे पर 'जय हिन्द' लिखा गया था, इन अक्षरों के बगल में दोनों तरफ मय अशोक-चक्र के तिरंगा खाका अंकित थे—रंग भरने की जगहें खाली छोड़ दी गई थीं।

आँखों में काजल, रँगे हुए तलवे, नीली धारियों वाली चम्पई साड़ी, लाल छींटों की पीली चुनरी···मधुरी खूब खिल रही थी।

मंगल की माँ ने अपने आँचल की खूंट से उसकी आँखों के कोर पहले पोंछ

दिए, अपने आँसुओं को बाद में पोंछा।

मधुरी की माँ ने अन्दर से आवाज दी—"आई बहिना, भाग मत जाना !"

—आओ भी, मुझे ज़रा जल्दी है बहिना !

—लो, मैं आ गई।

मिट्टी के बर्तनों की हल्की-मीठी टकराहट बाहर भी सुनाई दे रही थी। मधुरी की माँ हांडियों में जाने क्या कुछ डाल-निकाल रही थी। अगले ही क्षण हाथ झाड़ती हुई बाहर आई। निगाहों के सामने दो-तीन लटें पसीने की बूंदियों में चिपक रही थीं, उन्हें उसने हटा दिया। आँचल से चेहरा पोंछा और बोली—"अबके बैसाख खूब तप रहा है बहिना !"

"जेठ-असाढ़ तो बाकी है अभी बहिनिया !"—मंगल की माँ ने कहा।

डेढ़-दो साल का नन्हा बच्चा जाने कब से पीछा कर रहा था। पलानी की छाँह में चार बातें कर लेने की नीयत से माँ जब बैठ गई तो चुपके से वह भी आया और गोद में लोटने-पोटने लगा।

मधुरी की माँ का यही अब कोरइला था, गोद का बच्चा। बाईं बाँह फैलाकर उसने नन्हे को सीने से सटा लिया तो कब की प्यासी उसकी थूथन माँ का स्तन चभलाने लगी।

बच्चा नंग-धड़ंग था। एक बार उसकी समूची देह पर हाथ फेर लिया तो माँ के दिल को तसल्ली हुई। अब उसने पूछा—"बोलो बहिना, बहू के लिए सील-सुभाव खुले कि नहीं ?"

माँ और चाची को इतमीनान से बतियाने देना था, मधुरी खिसक चुकी थी। छः-साला लड़की बकरी की सूखी मींगणियों से छक्का-पंजा खेलने का रियाज कर रही थी; कच्चे आम की पतली-लम्बी फांक मुट्ठी में दबाये हुई थी, बीच-बीच में जीभ से छुआकर खटास का चटखारा लेती थी। बाकी बच्चे घर-आँगन से बाहर थे।

बहू के बारे में मधुरी की माँ का सवाल मंगल की माँ को अच्छा ही लगा। अपना हुक्का वह साथ लाई थी। रोते वक्त भीत से टिकाकर अलग रख दिया था। अब उठाकर गुड़गुड़ाया तो पीनेवाली तम्बाखू की कच्ची गंध और छोआ की भभक साथ आई।

—टिकिया फिर से गरमा लो बहिनिया !

—हूँ, बहिनिया !

और तब फुलिया की पुकार हुई, उसी छः-साला लड़की की।

मंगल की माँ ने उसे हुक्के पर से उतारकर चिलम थमा दी। इस चिलमन से सिकड़ी के सहारे चिमटी भी लगी हुई थी।

सुलगती टिकिया के साथ चिलम वापस आकर हुक्के पर सवार हुई और तब चला गुड़-गुड़-गुड़-गुड़-गुड़-गुड़···

जल्दी-जल्दी चार-छः बार दम मारकर मंगल की माँ ने कहा—"बहू तो

हमारे घर ऐसी आई है वहिना कि तुझसे क्या बताऊँ ! बड़ी लछमनियाँ है वहिन ! वोलती है तो टहनी हिलती है और हरसिंगार झरते हैं। मुसकाती है तो चानन का लेवा लगाती है ! मंगल का ही नहीं, समूचे परिवार का नसीब जागा है बहिना !…"

मधुरी की माँ की आँखें भर आईं, फड़कते होंठ फैल गए। वड़ी मुश्किल से ये शब्द निकले—"और हमारी सोन-छड़ी को जो सराहती, वही इस धरती पर नहीं रही; चली गई है सरगउली हाट ! ससुर है तो बुढ़वा, ताड़ी पीकर घुत्त बना रहता है ! बहिना, फिकिर के मारे पलकों से नींद उड़ गई है हमारी…"

रो पड़ी मधुरी की माँ।

मंगल की माँ ने हुक्के को फिर पलानी की खंभेली से टिकाकर रख दिया। वह अपने आँचल से वहिनिया के आँसू पोंछने लगी। ढारस के स्वर में कहने लगी—"नाहक मन छोटा करती हो. तुम्हारी विटिया कोई मामूली लड़की है ? दिल जीतने का जादू जानती है वह तो ?"

गोद का वच्चा थन चूसते-चूसते सो गया था, अब उसके हाथ और होंठ थन से अलग पड़े थे। माधुरी की माँ फिर उसके वदन पर हाथ फेरने लगी।

मंगल की माँ उठ खड़ी हुई तो सिलेविया आकर तब तक हुक्का सँभाल चुकी थी। वह अपनी माँ को वुलाने ही आई थी।

पाँच

मौसम तो था मगर फसल नहीं थी अवके आमों की।

भोला का पुराना वगीचा इस दफे एक टिकोरा तक नहीं दिखला सका। हाँ, नई अमराई में तीन-चार पेड़ फरे थे।

कुछ महीने पहले अधिक मास पड़ा था। उस हिसाव से वैसाख का क्या, यह तो जेठ का अन्त आ गया था। आम टपकने लगे थे।

नई अमराई में मंगल ने मचान खड़ा कर रखा था। चारों भाई-वहन आम अगोरते थे वारी-वारी से आकर। भोला को शायद ही अवसर मिलता।

यह अमराई गाँव से विलकुल करीव थी, दच्छिन-पच्छिम की तरफ। दर्म्यान में थोड़े से खेत थे। आजकल उनमें मड़ुआ के घने-साँवले पौधे लहलहा रहे थे।

मंगल कई दिनों से मिलना चाहता था लेकिन मधुरी मौका नहीं दे रही थी। आखिर मंगल ने चूल्हाई की मार्फत सन्देशा भेजा—"मैं मानूँगा नहीं, तेरी ससुराल तक धावा करूँगा। ऐसी भी क्या वात है कि मिलेगी ही नहीं…"

फिर जाने क्या सोचकर अमराई में ही मधुरी मंगल से मिलने आई।

शुक्लपक्ष की त्रयोदशी।

पहर रात बीती थी।

आमों के झुरमुट में चितकबरी चाँदनी।

चितकबरी चाँदनी में वह छोटा-सा दुपलिया मचान नहा रहा था।

अचार के दिन में कच्चे आम तोड़े गए थे। साथ टूटकर गिरे हुए पत्तों के चिकने स्पर्श तलवों को गुदगुदा रहे थे। दिल में लेकिन गुदगुदी नहीं, धड़कन थी।

परसों ही तो पूर्णिमा है—मधुरी की आँखों के कोए फैलकर दुगुने हो गए। वह अच्छी तरह जानती थी कि नहीं मिल लेगी तो मंगल ससुराल तक पीछा करेगा।

अमराई के बीचों-बीच किसुनभोग का एक छतनार कलमी पेड़ था। घनी टहनियों और चौड़े-बड़े पत्तों से यह चाँदनी को ऊपर ही ऊपर उलझाए हुए था।

संकेत के अनुसार मंगल किसुनभोग के तले खड़ा मिला।

मुलाकात पाँच महीनों पर हो रही थी।

पास आई तो मंगल लपका।

बेताबी से अपनी बलिष्ठ बाँहों में कसकर मधुरी को उसने चूम लिया। फिर चूमा और फिर चूमा।

धौली तेरस की गाढ़ी-दुधिया चाँदनी किसुनभोग की घनी-छतनार डालों के तले आ नहीं पा रही थी किन्तु अपनी दमकती परछाईं से अन्धकार की गहन कालिमा पर हल्की-हल्की-सी पोची वह अवश्य फेर रही थी।

मंगल का पहला आवेग कुछ शान्त हुआ तो मधुरी ने बाहुपाश को आहिस्ते से ढीला कर लिया। बित्ता-भर अलग हुई और उसके कन्धों पर अपने दोनों हाथ टिका दिए।

चेहरा साफ-साफ दीख नहीं रहा था, मुखमण्डल की स्थूल आकृति तरल-स्वच्छ झुटपुटे अन्धकार में सामने थी।

मंगल साँस पीकर मग्ध-विभोर खड़ा था।

हल्की-चिकनी फुसफुसाहट···

—नाराज हो ?

—उहूँ !

—एक बात बताऊँ ?

—कहो।

—मानोगे ?

—जरूर !

—नहीं, तुमसे नहीं पार लगेगा।

—कहो भी तो आखिर !

—सच ?

—हाँ माधुरी, तुम्हारे लिए मंगल क्या नहीं कर सकता ?

कि कहीं एक आम टपका !

इक्के-दुक्के पके आम अब टपकने लगे थे।

मंगल के कन्धों से अपने हाथ हटाकर मधुरी बोली—

"यह कौन आम टपका है ?"

"और कौन, रोहिणिया होगा,"—उसने निश्चयात्मक समाधान दिया। क्षण-भर रुककर पूछा—"ला दूं ?"

—अँधेरे में अभी कहाँ-कहाँ टोह लेते फिरोगे !

—जहाँ-जहाँ उम्मीद होगी !

पतले अन्धकार की हल्की तहें चीरकर दोनों तरफ दन्त-पंक्तियाँ जगमगा गई। अवश्य, दोनों ही मुस्कुरा पड़े थे।

उड़ने वाले दो-एक छोटे कीड़े नाक-कान से छू गए। मंगल को अंग-अंग में सिहरन महसूस हुई। पाँच महीना पहले की वह हेमन्ती रात सामने आ गई जब-कि इसी तरह निभृत-निर्जन-एकान्त-मिलन का अवसर हासिल हुआ था। स्थान यह नहीं, धनहा चौर का अंचल था।

मंगल ने फिर गलबहियाँ दीं।

मधुरी की तरफ से प्रतिरोध तो नहीं, अनासक्ति।

—तो बताया नहीं तुमने ! क्या कह रही थीं ?

—अच्छा, पीछे बताऊँगी ? घरवाली तो खूब पसन्द आई ? चलो, अच्छा हुआ !

—लेकिन तुम मुँह फेर लोगी तो मंगल बेलल्ला होकर सूख जायगा···

मंगल के स्वरों में तरलता थी, बेबसी का अनुनय था।

मधुरी अधिक शान्त हो आई और अधिक गम्भीर।

उसने हाथ पकड़कर मंगल को बैठा लिया, खुद भी बैठी। किसुनभोग के तले साफ-सूखी ज़मीन इस झीने अन्धकार में चकचक कर रही थी।

अकम्पित और मधुर आवाज़ में मधुरी ने कहा—"देखो मंगल, मैं तुमसे तीन-चार साल छोटी हूँ। हमने एक-दूसरे पर अपने-अपने प्राण निछावर कर रखे थे लेकिन अब तुम घर की लक्ष्मी का मुखड़ा ध्यान में रमा लो और मुझे भूल जाओ···!"

मंगल चुप था। उसका सिर मधुरी के कन्धे से आ लगा। इच्छा तो हुई कि उसे वह अपने कन्धे से टिका न रहने दे पर अगले ही क्षण मधुरी सँभल गई। सँभली तो फिर मंगल के टिके सिर पर, बालों में उसकी उँगलियाँ सैर करने लगीं। कान में होंठ सटाकर कहा—'मंगल !'

वह अब भी चुप था।

मधुरी की फुसफुसाहट और भी अधिक धीमी हो आई—"मंगल, कभी यह भी सोचा है कि मोरंग की जो सुन्दरी सुशीला तरुणी तुम्हारी गृहलक्ष्मी होकर आई है, इसी तरह उसने भी अपने प्रेमी को समझा-बुझा दिया होगा···मुझे भूल जाओ मंगल···!"

उसने मधुरी के कन्धे से अपना माथा हटा लिया।

मंगल ने यहाँ तक नहीं सोचा था। उसे मधुरी इतना ज्यादा प्यार करती थी कि इस पहलू पर कभी ध्यान ही नहीं गया मंगल का। अब वह मधुरी से क्या कहे, क्या न कहे।

दिमाग में सत्रह साला तरुणी का वही प्रफुल्ल मुख बार-बार उभरने लगा, पिछले दो महीने का साधारण सहवास भी जिसकी असाधारणता पर उपेक्षा की राख बिखेर नहीं पाया···भरा-पूरा परिवार, लज्जा-संकोच का कड़ा से कड़ा पहरा। मिलना-जुलना रात को ही होता। फिर भी वह द्वितीया धीरे-धीरे आकर अब इस प्रथमा के निकट खड़ी थी।

मंगल की वहू अपनी मिठास से मधुरी का भी मन मोह चुकी थी। रत्ती-भर भी ईर्ष्या अब उसके प्रति मधुरी के अन्दर नहीं थी।

मंगल जैसा का तैसा गम्भीर बना रहा। रोमान्स के सारे मनसूबे हवा हो चुके थे। लगता था कि बाईस दिनों के मियादी बुखार ने रग-रग को उबालकर छोड़ दिया है।

मधुरी मंगल का मौन तोड़ना चाहती थी। वह उसका विकट अन्तर्द्वन्द्व समझ रही थी। स्वयं क्या कोई कम दुख-दर्द हो रहा था उसे?

झींगुरों की अविराम झंकार पृष्ठभूमि में शहनाई का काम कर रही थी। रात बढ़ रही थी! चाँद चढ़ रहा था। माँ से बिछुड़ा हुआ कौए का बच्चा कच्ची आवाज में काँव-काँव कर उठा तो मधुरी सचेत हुई। पहले मिलन के अवसरों पर अक्सर मंगल बीड़ी सुलगाता, दो कश खींचकर मधुरी को थमा देता। दो कश खींचकर वह फिर मंगल को थमा देती···मगर आज अभी तक बीड़ी नहीं निकली थी। मधुरी को खयाल आया तो चट से कहा—"अच्छा, बीड़ी तो निकालो!"

बिना कुछ कहे मंगल ने बीड़ी निकाली हाफ कमीज की पाकिट से। माचिस मचान की पलानी में खुंसी थी, उठ खड़ा हुआ कि जाकर ले आएगा। मधुरी भी उठने लगी तो मन किया—"बैठो, अभी आया।"

ज़रा देर बाद मंगल बीड़ी सुलगाकर ले आया। दो कश खींचकर मधुरी की तरफ बढ़ाता हुआ बोला—"ओफ्फोह, कैसी निठुर हो तुम!"

जवाब में उसने गहरी साँस ली और कश खींची तो इतनी लम्बी कि समूची बीड़ी स्वाहा!

अबकी दोनों सटकर नहीं बैठे। बीच में गज-भर का फासला था। नब्ज़ की रफ्तार अब सहज ढर्रे पर आ लगी थी, मंगल ने कहा—"अब हम कभी नहीं मिलेंगे!"

मधुरी ने बिजली की फुर्ती से अपना हाथ मंगल के मुँह पर रख दिया, फटकार की मीठी भंगिमा में कहा—"राम-राम! ऐसी भी अशुभ बातें निकाली जाती हैं! छिः!"

मंगल ने संजीदगी से हटा दिया, बुदबुदाया—"क्या अशुभ, क्या शुभ, सभी

बराबर हैं अब…"

मधुरी ने हल्की आवाज़ में कड़ी डाँट बताई—"कैसी नासमझी की बातें किए जा रहे हो ! देखो मंगल, अब भी तुम होश में नहीं आए तो किसुनभोग के इसी कलमी पेड़ से अपना कपार मैं टकरा लूँगी और लहूलुहान होकर तुम्हारी घरवाली के सामने जा पड़ूँगी। कहूँगी कि भाभी…"

आगे नहीं बोलने दिया गया।

अपने मुँह पर से मंगल की हथेली पर करके मधुरी ने कहा—"देखो मंगल, अब हम छोकरा-छोकरी नहीं रहे ! धूल-मिट्टी के बचकाने खेल काफी खेल चुके। सयाने समझकर माँ-बाप तथा सास-ससुर ने तुम पर जो ज़िम्मेदारी सौंपी है उससे जी चुराना कायरता होगी। तुम्हें अपनी घरवाली के प्रति वफादार होना है, मुझे अपने घरवाले के प्रति। गाँव-गँवई के हम सीधे-सादे लोग ठहरे। हमारा प्रेमनगर कहीं समाज से अलग या संसार के बाहर आबाद हुआ है ? सुनती हूँ, बड़े आदमी जब और कामों से ऊब उठते हैं तो दिल के टुकड़े इधर-उधर फेंका करते हैं और दसियों घर बर्बाद कर छोड़ते हैं। मैं तुम्हारा घर बर्बाद नहीं करना चाहती मंगल, मैं नहीं चाहती कि एक औरत की सिन्दूरी माँग पर कालिख पोतती रहूँ।…"

दोनों उठ खड़े हुए।

मचान के नजदीक आए। हमेशा रोहिणी नक्षत्र में पकने वाला आम 'रोहिणिया' अपने पेड़ की किसी नाजुक टहनी से फिर एक फल टपका बैठा तो मंगल ने कहा—"रोहिणिया की तरफ से यह तुम्हारे लिए दुआ टपकी है, लेती जाओ !"

साफ़-सूखी ज़मीन पर ही टपका था, फिर भी फट नहीं गया था। मंगल ने लाकर थमा दिया तो मधुरी ताजे-पके उस बीजू आम को नाक के पास हिला-हिलाकर सूँघती रही—"वाह ! क्या खुशबू है।"

चलने लगी तो आखिर उसने मंगल की ठुड्डी छू ली और चुमकारकर कहा—"भइयन, मुझे माफ कर देना !"

अमराई के चारों ओर शीशम-महुआ की कतारें थीं। मंगल चुपचाप साथ आया, उत्तरी छोर तक पहुँचाकर लौट गया।

छः

यहाँ से डोली निगाहों से ओझल हो गई, रुलाई की मर्मबेधक आवाजें हवा में तैरते-तैरते आकाश के शून्य में समा गईं। औरतें गाँव के छोर तक गई हुई थीं छोड़ने, वे लौट आईं।

रोते-रोते खुरखुन के पपोटे सूज आए थे।

मधुरी की माँ और भोला की दादी का भी यही हाल था। वे भी मधुरी के लिए हद से ज्यादा रोई थीं।

कुछ नहीं, कुछ नहीं, तो भी दो सौ का ख़र्चा पड़ा।

साड़ियों के छै जोड़े, चार ब्लाउज, पटसन (जूट) की मामूली शाल, चार-छः साधारण गहने, काँसे की थाली और कटोरा, पीतल का लोटा, बिछाने का मोटा खुरदरा कंबल, बचकानी संदूकची…

अपनी औकात से ज्यादा ही दिया था लड़की को। दूल्हे के लिए धोती-कमीज़ और चद्दर दी थी।

माँ की लालसा थी कि बेटी हँसली पहनकर ससुराल जाए। भोला को अपनी स्त्री से इसकी भनक मिली थी। पचास रुपये की लागत से उसने हँसली बनवाई और मंगल की माँ को लाकर सौंप दी। कहा था—मधुरी हमारी भी बेटी है न!

बिदागरी का महूरत सूरज उगते ही था।

ट्रेन पर सवार होकर जाना था। डोली चमुड़िया स्टेशन तक ही गई थी। साथ दूल्हा के अलावा, छोटा भाई और रंगलाल गए थे। दूल्हा का चाचा आया तो था लेकिन उसे पड़ोस के गाँव की पुरानी रिश्तेदारी तक पहुँचकर फिर लौटना था।

मधुरी की ससुराल समस्तीपुर से आगे रोसड़ालाइन में अँगार घाट के करीब पड़ती थी।

दुलहिन को शाम तक पति-गृह में प्रवेश करना था।

खुरखुन की खोपड़ी ऐसी बोरसी हो रही थी जिसमें राख ही राख भर गई हो। विषाद का मद्धिम धुआँ दिमाग को बोझिल बना रहा था। कलेजे में अब हूक नहीं उठती थी बल्कि खुश्की का दौर था।

मधुरी की माँ नन्हे को लेकर लेट गई। मंझली लड़की को हिदायत कर दी कि बहनों को खाना खिलाकर खुद भी खा ले, नाहक तंग न करे अपनी माँ को!

दस ही रोज़ बाद गरोखर में महाजाल डाला जाने वाला था। आजकल उसकी मरम्मत चल रही थी। मलाही में गंगा सहनी का चौपाल इन दिनों बातचीत और कामकाज का अड्डा बन रहा था।

लड़की के गौने की झंझटों से छुटकारा पाकर खुरखुन को भी अब उसी तरफ ध्यान देना था लेकिन इस वक्त बेचारे की चेतना मानो फ्यूज़ हो रही थी। जी कर रहा था कि लबनी-भर ताड़ी पीकर लेट जाए जाके कहीं, दिन-भर लेटा रहे।

गोल-कट निमस्तीन की पाकिट छूकर खुरखुन ने टोह ली…गोल और खुरदुरे किनारों वाली अठन्नी! कल देपुरा की दूकान से गरी का तेल लिया था न पाव भर! रुपया गया और तेल के साथ यही अठन्नी वापस आई थी…

थोड़ी देर वह गढ़पोखर के पूर्वी भिण्डे पर गमछा बिछाकर लेटा रहा।

साँवली सूरत, सलोना मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें···बार-बार बिटिया सामने आकर खड़ी हो जाती ! मीठी-मीठी महीन लहरदार आवाज बार-बार कानों में गूंज उठती—बब्बू ! ओ बब्बू ! तुम्हारे लिए अलग से मैंने झिंगे तले हैं, उठो बब्बू ! लगा कि मछलियों की करारी शिकार के बाद थका-माँदा वह लौटा है, निढाल होकर लेट गया है बिना खाए-पिये ही। मलसी में सरसों का तेल गरमाकर लाई है मधुरी। माथा, कपार, गर्दन, कन्धे, पीठ, कूल्हे, कमर, जाँघ, गोड़ हाथ-पैर ···अंग-अंग की मालिश कर रही है बिटिया; दुहरा-तिहराकर चाँप रही है। थकती नहीं है चाँपते-चाँपते। ढिबरी के मटियाले आलोक में मधुरी के कपार पर पसीने की बूंदियाँ चमकने लगी हैं···बस कर बेटा ! बस कर ! उतर गई थकान तो ! जा, अब तू भी आराम कर बिट्टन ! ···एक बार सतघरा के बनिये की कुछ रकम उधार आई थी, सूद नहीं गया वक्त पर। तकाजे के लिए आदमी आया तो अनाप-शनाप बकने लगा, फिर बिटिया ने बच्चू को वो डाँट पिलाई कि मजा आ गया···

खुरखुन लेटा रहा मगर मधुरी खड़ी रही !

स्मृतियों की अपार भीड़ ने हृदय पर हमला कर रखा था।

ऊबकर आखिर वह उठ खड़ा हुआ।

खुरखुन के पैर सतघरा की ओर बढ़ते गए।

गढ़पोखर से मील-एक उत्तर, सतघरा के इधर वाली छोर पर ताड़ी की दूकान थी।

ताड़ के पत्तों के छाए हुए दो छप्पर। सामने खूब चालू सड़क। सीधी कतार में रखे हुए पाँच-सात घड़े। अलग-अलग नाप की कई घड़ियाँ। जरा हटकर चंगेरियों में झिल्ली, कचरी, भूजा, फरही-जैसी खाने की चीजें।

दिन पहर-डेढ़ पहर चढ़ आया था।

खोई-खोई-सी मुद्रा में खुरखुन सड़क के नीचे उतर आया।

दस कदम पच्छिम हड्डी-तोड़ मशक्कत के शौदाइयों की वह मधुशाला इस समय भी सूनी नहीं थी। ताल-पत्र की आसननुमा चटाइयाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। उन पर छः-सात बंदे डटे हुए थे। दो जने आमने-सामने एक जगह। सम्मुख त्रिकोण—बैठक में तीन विराजमान थे दूसरी जगह। बाकी एक-एक जुदा-जुदा।

छोटी-छोटी घड़िया और सकोरे। ताड़ का टुकड़ा-टुकड़ा पत्ता ? इन्हीं खण्डित तालपत्रों पर खाने की वस्तुएँ—झिल्ली, कचरी, भूजा, फरही, मछली, मिर्च।

नये ग्राहक की अगवानी में, खड़ी चटाइयों की आड़ से, एक अधेड़ मुच्छड़ चेहरा गर्दन सहित निकल आया, शरीर के शेष अंग ओझल थे। मुंह के अन्दर भात का डबल कौर अभी-अभी ठूंस रखा था। हिलती गर्दन और चकराती पुतलियों के इशारे से आगन्तुक को रुकने को कहा उसने, और फिर अदृश्य हो

गया।

पीने वाले अपनी-अपनी मस्ती में थे। उन्हें आए-गए की परवाह नहीं थी। दो तो आपस की ही गाली-गलौज में विभोर हो रहे थे। त्रिमूर्ति वाली गुट अभी चढ़ान पर थी। छठवाँ पियक्कड़ अब तक वहीं उतान लेट चुका था, आखिरी बूँद का मजा लेने के अभिनव में खाली सकोरा ऊपरी होंठ और नाकों पर औंधा रखकर जीभ निकाले हुए थे।

सातवाँ ?

सातवाँ तो नीरस था।

हाँ, वही अपना नीरस।

घनी-खिचड़ी मूँछों पर ताड़ी की गाढ़ी झाग श्यामल मुखमण्डल को दर्शनीय बना रही थी। सामने के रिक्त मधुपात्र पर अब मक्खियों का कब्जा था।

पास ही बड़ी गठरी और लाठी पड़ी थी। गठरी के फाँक से जाल बिनने के मोटे-मजबूत खाकी धागे झाँक रहे थे। सड़क की ओर पीठ फेरकर वह पच्छिम-रुख बैठा था। बाएँ कान पर बायाँ हाथ, दाहिना हाथ आसमान की तरफ। नाटे कद का तीस साला नीरस रुआँसी धुन में कमला मैया का गीत गा रहा था।

खुरखुन निकट आया। गौर से उसने नीरस को देखा। आँखें आधी-आधी मुँदी थीं, पुतलियाँ मानो दृष्टि-शून्य···

नीरस की चेतना में इस वक्त सिवाय कमला नदी के और कुछ था ही नहीं। खुरखुन ने उसकी इस मस्ती में खलल डालना उचित नहीं समझा। एक तो वह खुद भी मानसिक उलझनों से ऊबकर ही यहाँ आया हुआ था, दूसरी बात यह भी थी कि कमला मैया को ध्यान में रखकर गाए जाने वाले वे पद खुरखुन को बेहद प्यारे थे।

नीरस अपना झूम-झूमकर गाता रहा और खुरखुन भी आसनी खींचकर वहीं बैठ गया।

ज़रा देर बाद दूकानदार बाहर निकला तो खुरखुन ने आवाज दी—दुअन्नी का नाश्ता, छै आने की चउठी (चतुर्थांश) लवनी ताड़ी···जल्दी भइया !

फर्मायिश पूरी की गई।

खुरखुन सकोरे में ढाल-ढालकर पीने लगा। नीरस के सुर में सुर मिलाकर हल्के-हल्के गाने भी लगा, बीच बीच में चबेना भी चलता रहा और सकोरे भी सुड़कता रहा। थोड़ी-सी झिल्ली-कचरी और सकोरा भरके ताड़ी उसने नीरस के भी आगे रख दिया।

नीरस का ध्यान रत्ती-भर भी टूटा कि नहीं टूटा, खुरखुन ने कुछ देर बाद भरा सकोरा उसके दाहिने हाथ में थमा दिया उठकर। पीना तो ठीक मगर नाश्ते में शामिल होने से इन्कार कर दिया, ज़ोरों से माथा हिलाकर।

खुरखुन को अब भूख भी महसूस हुई। सामने वाली भूजा फरही चट कर चुका था तो नीरस के लिए अलग की हुई झिल्ली कचरी उड़ाने लगा। भरे हुए

मुंह से गीत के पद निकल नहीं पा रहे
एकाएक फिर उसे बिटिया याद आ
मधुरी को ताड़ी पीने वालों पर ब
नकछेदी या गंगा के दोस्ताना दबाव मे
दुखी होगी । डेढ़-सवा साल पहले की
के मण्डप में मिन्नत-कबूल वाली पूजा
बाप-बेटी रह गए थे । शाम को बाप ता
का आभास पाकर बेटी घबराई । उसे
के किसी घर मे चली जाती, यह भी
मार-पीट और हैवानियत के हमलों मे
जमीन पर घसीटना···प्रमत्त पिता के
बड़ी मुश्किलों से मधुरी की वह रात
सहज-स्वस्थ भूमिका में फिर वापस आ
से उसने माफी माँगी थी । भीगी आँख
थी : 'बब्बू, मैं जहर-माहुर खा लूँगी अ
ताड़ी को हाथ लगाया···' तो बाप अ
उठने-बैठने लगा था । बेटी ने लपक के
क्या कर रहे हो बब्बू !' बाप ने कहा
कर इस तरह दस बार बैठूँगा-उठूँगा त
खुरखुन ने शाम को दारू-ताड़ी पर हा
दिन दुपहर से पहले ही पी रहा है ।

नीरस अब भी गाए जा रहा था
के चौदह ही थे लेकिन नीरस उन्हें बा

दिमाग पर ताड़ी अपना असर
नाभि से नीचे धोती की अण्टी में दो र
बस, फिर क्या था ! नोट निकालक
उँगलियों में उसे लपेट लिया और खू
नोट वाला हाथ ऊपर को घुमाता हुअ

"पी ले
मरों को
दिलों क
अँगुरिय
चुनरिय
नजरिय
कि पी
मरों क

थे । तो भी वह गाने में साथ दे रहा था···
आ गई···
ड़ी घिन आती थी । छठे-छमाहे भोला या
आकर खुरखुन पी-पा आता तो वह बेहद
बात है । माँ गई थी, उघरा, कमला मैया
ढ़ाने । घर में दो-तीन छोटे बच्चे और यही
ड़ी पीकर लौटा, नशे में धुत्त । बुरे-लच्छनों
अकेले छोड़कर रात बिताने अड़ोस-पड़ोस
तो ठीक नहीं जँचा । गालियों की बौछारें,
नाकामी के बाद सर के बाल पकड़कर
सारे उपद्रव पुत्री ने चुपचाप झेल लिए ।
कटी । नशा उतरने पर खुरखुन जब अपनी
या तो रात की बदतमीजियों के लिए बेटी
ों और फड़कते होंठों से बिटिया बोली
गर फिर कभी तुमने शाम के वक्त दारू-
प अपने कान पकड़कर प्रायश्चित के लिए
हाथ पकड़ लिए थे—'यह तुम अब और
था : 'नहीं बेटी, तेरे सामने कान पकड़-
भी जी हल्का होगा ।' और, तब फिर कभी
थ नहीं लगाया···आज भी वह खुश था कि

वही कमला मैया का गीत ! पद तो गीत
र-बार गाए जा रहा था ।
डालने जा रही थी कि चेतना ने सुझाया,
पये की लाल मैली नोट अब भी पड़ी है ।
र खुरखुन ने दाहिने हाथ की दो बिचली
जोर से ठहाका लगाया । अगले ही क्षण
वह चिल्लाने लगा—

पिला दे !
जिला दे !
ो मिला दे
ा हिला ले
ा सिला ले
ा मिला ले
ले, पिला दे
ा जिला दे···"

अनुभवी कलाल दूकान से यह सब देख-सुन रहा था। वह उठा और आहिस्ते-आहिस्ते खुरखुन के पास आया। उसकी उँगलियों में मैली-पुरानी लाल नोट अब भी लिपटी पड़ी थी। ताड़ी वाले ने नोट ले ली। इतना भी नहीं पूछा कि कितनी ताड़ी चाहिए! थोड़ी देर बाद खुरखुन के नजदीक वह लबनी-भर ताड़ी रख गया, ढाई-तीन सेर से कम तो क्या होगी! हौले-हौले पीते रहने के लिए काफ़ी माल था, पहर-डेढ़ पहर तक अब मौज ही मौज थी।

खुरखुन बैठने की आसननुमा अपनी चटाई और ताड़ी-भरी लबनी उठाकर लिए आया, नीरस से सटकर बैठ गया। उसका भी सकोरा भरा, अपना भी।

अब यह उनके मधु-पान की दूसरी और मुकम्मिल दौर थी।

दोनों ने साथ पीना और गाना फिर शुरू कर दिया। वही अपना प्रिय गीत, कमला-मैया का वन्दना-गीत···

"ओ कोयला-देवता,
कमला-नदी के बीचो-बीच
तैयार हो गया है बाँध!
तुमने उस बाँध पर फुलवाड़ी लगा दी है।
अजी, किस फूल की ओढ़ती है ओढ़नी!
किस फूल का बनाती है परिधान कमला मैया?
और बिछावन होता किस रंग के फूलों का?
अजी, वह बेका ओढ़ती है पहनती है चमेली
बिछाती है अड़हुल के फूल!!
अजी, कौन-सा फूल वह जूड़े में बांधती है?
कौन-से फूल होते हैं मैया का हार?
अजी, जूड़े में बांधती है मधुरी का फूल!
हार होता है खिले कमलों का!
अजी, किस पर सवार होकर आएगी मैया?
जाएगी किस पर चढ़कर?
बहाएगी किस तरफ अपनी धारा?
हंस पर चढ़कर जाएगी कमला मैया!
होकर मगर पर सवार चली जाएगी!
तिरहुत (मिथिला) की तरफ बहाएगी धारा!"

सात

रात खाना खाकर सत्तर-अस्सी जने गरोखर के दच्छिनी मोहार पर इकट्ठे हुए।

महाजाल बैलगाड़ी पर लदकर गंगासहनी के यहाँ से आ चुका था। उसकी वजन दस-मन भारी थी। चौड़ाई में पन्द्रह गज और लम्बाई में पाँच सौ फीट। विनावट मजबूत और धागे वटे हुए। गाँठ दो-दो इंच के फासले पर।

तीस साल पुराना था, बीच-बीच में मरम्मत होती रहती थी। रफू करते वक्त नई किस्म की सूती सुतरियाँ लगाई जाती थीं, बाजार में जब जो किस्म मिल गई उठा लाए। अबके भी मरम्मत हुई थी, नीरस को दरभंगा भेजकर धागे मँगवाए गए थे। बाँट-बूँटकर उन्हीं धागों से रफू का काम हुआ था।

भोला, गंगा, नकछेदी, खुरखुन आदि सभी थे।

मोहन माँझी भी बासर नहीं था, गाँव-घर में ही मौजूद था।

जेठ तीन-चार दिन बीता था। वैसाख के आरम्भ में आँधी आई थी, साथ हस्व-मामूल बूंदा-बाँदी भी। इधर तो गर्मी खूब पड़ रही थी। गढ़पोखर में फिर भी पन्द्रह-सोलह फुट पानी था।

महाजाल दक्खिन की तरफ से किनारे-किनारे फैला दिया गया। बीच में दो डोंगियाँ, पाँच घट-नई (घटनौका), केलों के आठ-दस थम्भ हेला दिए गए। महाजाल का एक छोर पूरब की ओर था, दूसरा छोर पच्छिम की ओर।

छोर वाले रस्से बाँहों में और कमर से उलझाकर मछुए महाजाल को उत्तर की दिशा में खींचने लगे।

नीचे लोहे की गोटियाँ उसे पानी के अन्दर तले से लगाए हुए थीं और तूम्बियों का दबाव ऊपर टाने हुए था। घटनइयों, नावों और थम्भों पर सवार दस-बारह जने महाजाल के साथ बीचों-बीच चल रहे थे।

खुरखुन, रंगलाल, नीरस, मंगल, चुल्हाई वगैरह पूर्वी छोर खींच रहे थे। बिसुनी, भोकर, नौबत, छीतन आदि पच्छिमी छोर।

तमाशा देखने के लिए लड़के और स्त्रियाँ किनारे-किनारे आ उठी थीं। रात का वक्त था। काले पाख की चौथी तिथि अपना अँधेरा चीरकर अब उजाले में आ गई थी। महाजाल रोज तो पानी में आता नहीं, साल में एक-आध बार। बस।

स्कूल के अहाते में आग जला दी गई थी। कंडों, मींगड़ियों और सूखी सेंवारों की आग। छोटी उम्र के लड़के और लड़कियाँ तमाशा देखने आकर अब स्कूली चटाइयों पर लेट गए थे। गोनड़ उन्हें कहानी सुना रहा था। समुद्री मत्स्य-कन्याओं की आकाशी उड़ान के बारे में सुनते-सुनते बच्चों की पलकें झिपती आ रही थीं। भीत के आले में दस-बारह बण्डलें बीड़ियों की एक छोटी-सी चंगेरी के अन्दर रखी थीं; तम्बाखू के सूखे पत्ते और चूना भी।

बच्चे सो गए तो गोनड़ आहिस्ते से उठा और सुर्ती थूककर नीचे कछारों में उतर आया।

महाजाल को खींचकर काफी दूर ले जा चुके थे। रह-रहकर ख्वानी सीटियाँ और पानी-भरे मुँहों की भारी गलगलाहटें निशा की नी

देती थीं। बीच-बीच में बड़ी मछलियों के कूदने-फाँदने की आवाज़ें उठती थीं।

गोनड़ करीब पहुँचा तो धोती की खूँट-बँधी सुर्ती को खोलता हुआ बोला —"अरे, कौन-कौन सुर्ती खाएगा ?"

—चाचा, मैं !

—बाबा, मैं !

—दादा, मैं !

—मामा, मैं !

—नाना, मैं !

—भाई, मैं भी !

सुर्ती के दसियों खवैया···गोनड़ हँसने लगा। बोला—"और बीड़ी नहीं कोई पियोगे ? सबके सब सुर्ती ही फाँकोगे ?"

चुल्हाई और मंगल की आवाज़ साथ-साथ आई—"सुलगाकर लेते भी तो आते !"

खुरखुन ने डाँट पिलाई—"ऐसे पीने वाले हो तो माचिस रखा करो ! थोड़ी देर सब्र करेंगे सो तो न होगा, बस बीड़ी का नाम सुनते ही लार टपकने लगी···"

—उइ हुइ !

—भक् !

—क्या हुआ रे ?

—पैर कट गया बाबा !

यह चुल्हाई की आवाज़ थी। वह गले तक पानी के अन्दर था।

अब डुबकियाँ लगाकर चुल्हाई ने उस जगह की टोह ली। पहली दफे मुट्ठी में सिर्फ़ पाँक आया। दूसरी दफे बिना बेंट की छोटी-सी खुर्पी। खुर्पी उसने कछारों में फेंक दी।

—साली ! कहाँ से आ गई है यहाँ ?

—बाढ़ में आई होगी या किसी छोकरे ने फेंकी होगी···

चुल्हाई पानी से निकल आया।

गोनड़ ने अन्दर पानी में धँसकर सात-आठ हाथों में सुर्ती थमाई और स्वयं महाजाल की मोटी किनारी में बाँह उलझाकर खींचने लगा। खुरखुन ने कहा— "काका, तुम तो नाहक ही आए !"

"नाहक ?" गोनड़ की प्रश्नपूर्ण आँखें फैल गयीं। परिवार वालों ने इस बुढ़ापे में बेचारे को अलग कर दिया गया था। अब वह इलाके-भर की पोखरों-तलइयों में छोटी मछलियों का शिकार करता फिरता था। घुमाकर पानी में फेंका जाने वाला हल्का जाल, टापी, गोल टोकरी और भेंगा (बँहगा) ही उसके साथी थे। भोला बार-बार कहता रहता, क्या जरूरत है भटकने की ! बैठक-खाने में पड़े रहो बाबा ! ···मगर गोनड़ से रहा नहीं जाता।

"टांगों के बीच से दो-ढाई सेर की वजन की एक चिकनी मछली पीछे की ओर निकल भागी तो नीरस चीखा—सुसरी कहीं की !

चुल्हाई ने पहने हुए अँगोछे में से दो इंच का एक लीरा निकाला, तलवे के घाव को कसकर बाँध लिया और साथियों में वापस आ गया।

महाजाल अब बीचों-बीच आ चुका था।

बड़ी मछलियों का उछलना-कूदना बढ़ गया था।

चारों तरफ से घेरा डालकर जंगल में जब शिकार के वक्त हाँका पड़ता है तब घिरे हुए जानवरों का जो हाल होता है, गढ़पोखर की मछलियों का भी इस समय वही हाल था। परेशान मछलियाँ पानी से छलांग लगाकर फिर वहीं पानी पर आ गिरतीं। आवाज़ से लगता कि धोबी का जवान छोकरा चौड़े पाट पर दस गजी धोती पछीट रहा है। कूदती मछलियों की चिकनी-रुपहली सूरत चाँदनी की कीमत कूत रही थी या उसे चिढ़ा रही थी, बताना कठिन है।

भोला और गंगा पहले से ही नाव पर थे। अब मोहन माँझी भी उनके साथ था। जहाजी कम्पनी में जो दो नौजवान खलासी की ड्यूटी पर थे उनमें से एक छुट्टी पर आया हुआ था। घटनई पर समूचे बदन का बोझ डालकर तैरने का अपना पुराना शौक वह भी इसी वक्त पूरा किए ले रहा था। केले के थम्भ पहले तो रहने दिए गए, पीछे उन्हें हटा दिया गया।

गंगा सहनी की उम्र, तीस के लगभग थी। कंजी आँखों वाला गेहुआँ सूरत का नाटा अधेड़। बाल भूरे थे। मस्ती में होता तो गुनगुनाते रहना स्वभाव था। अभी भी वह अपनी जाति के महान् पूर्वज सेनापति जयसिंह का चरित गुनगुना रहा था।

उसके कन्धे पर अपनी केहुनी छुआकर मोहन माँझी ने कहा—"अरे, कुछ हमें भी तो सुना भई !"

भोला ने माँझी का समर्थन किया—"हाँ जी गंगा, रहे जरा ! मुँह ने गाया और अपने ही कानों ने उसका सारा रस ले लिया"यह तो भारी स्वारथ हुआ न ?"

बायें हाथ का पंजा बाएँ कान पर रखकर गंगा ने दाहिने हाथ को सामने फैला दिया और ऊँचे स्वर में गाने लगा।

"बउआ, खइयउ ने !
आब ने खइयउ बउआ जँ सिङ् मोतीचूर मीठाइ हओ !"
बबुआ, खाओ ! खाओ न !
अब तो खाओ बबुआ जँ सिङ् मोतीचूर-मिठाई, ओ !
बबुआ, पियो ! पियो न !
अब तो पियो प्यारे जँ सिङ् गंगा का निर्मल नीर; ओ !
बबुआ, चाबो ? चाबो न !
अब तो चाबो दुलारे जँ सिङ् पीले-पके पान का बीड़ा; ओ !

मां, नहीं खाता मैं मोतीचूर के तुम्हारे ये लड्डू
पियूंगा नहीं गंगा का निर्मल नीर
ओ सिहिनी माता, नहीं चावूंगा पीले-पके पान का बीड़ा
नहीं रहूँगा तेरे तट पर, मैनी-मण्डप में
भाग जाऊँगा लालपुर
लालपुर में रोती है जसमती, मेरी बहन
भाग जाऊँगा मैं दूर, बहुत दूर !
स्नेह की डोरी, कच्चे धागों वाली
बांधूंगा इसी से बहन को
नहीं रहना मुझे तेरे मण्डप में…"

उधर महाजाल के पूर्वी और पच्छिमी छोरों को जितने भी मछुए खींचे ले चल रहे थे, बीच की इन कड़ियों पर सभी ने जोर मारा कि—

"भाग जाऊँगा मैं दूर, बहुत दूर
स्नेह की डोरी, कच्चे धागों वाली
बांधूंगा इसी से अपनी बहन को…"

जयसिंह और रन्नू सरदार के ये गीत देर तक चलते रहे, शुरू जेठ की रात का वह स्वच्छ आकाश गंगासहनी के सुरीले अलापों से गूंजता रहा।

महाजाल अब उत्तरी कछारों के करीब आ लगा था।

डोंगियां पहले ही किनारे कर ली गईं। घटनइयों को बाहर निकाल लिया गया। झुटपुटी चांदनी में महाजाल की तूंबियां ही तूंबियां अब पानी पर नजर आ रही थीं। मछलियों की उछल-कूद अलबत्ता बढ़ गई थी।

उत्तर तरफ कछारों में घासें और सूखी-सड़ी सेवारें काफी थीं, उन्हें हटाकर कुदालों से उधर की सर-ज़मीन शाम को ही ठीक करके रख ली गई थी।

मछलियों को लिए-दिए महाजाल पानी के किनारे पहुँच रहा था। उसके दोनों छोर सिमटकर करीब आ रहे थे। मछुए अब आख़िरी दफे मानो दस गुना जोर लगा रहे थे। काम खत्म पर था, इसी से समूह की वह विराट श्रम-शक्ति आशा और उमंग की उद्दीप्त स्वर-लहरी में वजनी शब्दों के विजयसूचक गोले दागने लगी—

—ऊपर टान,
—हुइ यो !
—बाएँ दबके,
—हुइ यो !
—ढील रस्सा
—हुइ यो !

एक तरफ खुरखुन अगुआ था, दूसरी तरफ टुन्नी। दोनों अगुआ अपनी-अपनी तरफ आवाज का गोला दागते। दोनों तरफ के बाकी साथी 'हुइ यो' के जवाबी नारे लगाकर स्वर तोड़ते और महाजाल कछारों की ओर बढ़ता जाता—

—झाड़मझाड़,
—हुइ यो !···
—पीछे हटके···
—हुइ यो !
—झट झटक,···
—हुइ यो !
—पैर पटक,
—हुइ यो !
—साबित ख्याल,
—हुइ यो !
—जाल संभाल,
—हुइ यो !
—हो ो ो शि या ा ा ा र···
—हो ो ो शि या ा ा ा र···
—हो ो ो शि या ा ा ा र···

महाजाल का बिचला हिस्सा कमर-भर पानी में आ पहुँचा, दोनों छोर उत्तरी किनारे पर यों आ लगे कि बीच का जल-स्थल वाला अंश उस बड़े जाल के अन्दर पंचमी के बंकिमचन्द्र का मध्यवर्ती भाग-सा दीख रहा था। उतने थोड़े पानी में बड़ी मँझोली मछलियाँ सैकड़ों की तादाद में जगमगा उठीं। उस जगमगाहट की तरफ नजर गई तो मछुओं के स्वर में और जोश भर आया—

—रेहू ब्वारी;
—हुइ यो !
—मोदनी भुन्ना,
—हुइ यो !
—नैनी भाकुर,
—हुइ यो !
—उजला सोना,
—हुइ यो !
—लाल चाँदी,
—हुइ यो !

—गंगा मइया,
—हुइ यो !
—कमला मइया,
—हुइ यो !
—कोसी मइया,
—हुइ यो !
—भारथ माता,
—हुइ यो !
—गोन्ही बाबा,
—हुइ यो !
—वाह गरोखर,
—हुइ यो !
—वाह बहादुर,
—हुइ यो !
—पसीना पों ों ों छ्...
—पसीना पोंछा ! !

रात थोड़ी ही रह गई थी। भुरुगवा निकल आया था। चुह-चुहिया की महीन-मीठी आवाज़ निशा-शेष की स्पष्ट सूचना थी।

गढ़पोखर की उत्तरी कछारों में उल्लास मुखरित हो रहा था। मछलियाँ रखने के बड़े-बड़े खाँचे कतारों में रखे थे। छोटी टोकरियाँ भउका, भउकी, डेली—घर-घर से आई थीं और इनका ढेर लगा हुआ था।

भोला, खुरखुन, गंगा, नकछेदी भोकर आदि ने सारी मछलियाँ ऊपर निकाल लीं। पाँच सेर से कम वजन वाली बच्चा-मछलियों को उन्होंने वहीं पानी में डलवा दिया।

बड़ी मछलियों की तादाद और किस्में इस प्रकार थीं—

रेहू एक सौ पैंतीस। बुआरी नब्बे। भाकुर बहत्तर। मोदनी पन्द्रह। भुन्ना आठ। नैंनी पैंतालीस।

माल का वजन दो सौ मन से कम नहीं रहा होगा।

लाल-लाल मुंह वाले रेहू अपनी रुपहली और सुरमई छिलकों में खूब ही फब रहे थे। दांत नहीं, जीभ नहीं, जबड़े भी अलक्षित थे। गोल-मोल खुला-खुला मुखड़ा ऐसा लगता कि पेट तक खोली ही खोली होगी। इन्द्रधनुषी सूरत, एक-एक बेहद नुकीली मूंछें और लम्बी-छरहरी डील की अपनी खूबियों से बुआरी मछलियाँ सबको आकर्षित कर रही थीं। मटमैली-चिकनी सूरत वाले भाकुरों

की शान निराली ही थी। चिकनी-चपटी रुपहली मोदनी पर तो निगाहें टिकती ही नहीं थीं। भुन्ना का भी यही हाल था। नैनी रेहू का ही सगा लगता था, आकार-प्रकार में मिलने पर भी वजन में कम।

सौ-सवा सौ छोटे-बड़े कछुए भी फँसे थे।

ओखली, हाँड़ियाँ, घड़े, लोहे की कड़ाहियाँ, आदमियों और मवेशियों के कंकाल, लोहे की दो कुर्सियाँ, बाल्टी, लोटे, खिलौने की एक मोटर, काजल और सिन्दूर की डिब्बियाँ, सड़े कपड़ों की लुग्दियाँ, चाँदी की एक हँसली, और दूसरी भी कई चीजें‥‥महाजाल खींच लाया था। बाढ़ के रेले इन्हें गढ़पोखर के पेट तक पहुँचा गए थे। मलाही-गोंढ़ियारी के छोकरे और छोकरियाँ अगले दिन का सारा वक्त गरोखर के अन्दर से निकाला हुआ कूड़ा-कचरा और कीचड़-पाँक टोहियाते रहे थे। कुछ न कुछ तो उन्हें इससे मिलना ही था।

मछलियों और तालमखानों का बड़ा व्यापारी रोसड़ा-निवासी-रामफल मुखिया खुद तो नहीं पहुँच सका था लेकिन उसका भाई वक्त पर आ गया था। मुखिया अपना माल मुजफ्फरपुर-पटना नहीं सीधे हवड़ा भेजता था। एक आदमी उसका सिमरिया घाट और मुकामा घाट के बीच तैनात था, दूसरा झाझा और आसनसोल के बीच। तीसरा हावड़ा में मुस्तैद रहता। छोटी लाइनवाली पूर्वोत्तर रेलवे की ट्रेन से माल उतरवाकर जहाज़ पर लदवाना, जहाज़ से उतरवाकर उस पार फिर माल को पूर्वीय रेलवे की बड़ी लाइन वाली डाकगाड़ी के हवाले करना पहले का काम था। दूसरा झाझा से आसनसोल बल्कि वर्दवान तक माल की चौकसी रखता। तीसरा हवड़ा जंक्शन में ट्रेन पहुँचते ही अपना माल उतरवा लेता और कलकत्ते के मछली-सौदागरों के हाथ थोक भाव में बेच देता। दरभंगा-समस्तीपुर से लेकर हवड़ा तक माल को ताड़बतोड़ पहुँचने में सोलह घण्टे हो जाते थे। बीच में तीन जगहों पर उतारना-चढ़ाना पड़ता था। कहीं ज़रा भी गफलत हुई कि माल मिट्टी हुआ! सड़ी-गली मछलियों का भला क्या मोल?

दरभंगा के मारवाड़ी मित्र से ट्रक लेकर मुखिया का भाई आया हुआ था। उसे बस इसी बात की फिक्र थी कि नौ बजे तक माल दरभंगा स्टेशन जरूर पहुँच जाए।

भोला, नकछेदी और गंगा माल का सौदा कर चुके थे। बारह हज़ार की रकम—२७० मन बड़ी मछलियों का दाम—हाथ आ चुकी थी। मछलियों से भरे खांचे ट्रक पर लादे जा रहे थे कि जीप की कर्कश आवाज़ सुनाई पड़ी।

जीप दक्खिन-पच्छिम से आनेवाली सड़क पर थी। उड़ती हुई धूलों और गहरी घड़घड़ाहटों से यह अच्छी तरह जाहिर था कि आरोही शीघ्रातिशीघ्र आ धमकेंगे।

मछुओं का जी अंदेशा से व्याकुल हो उठा। शंका तो थी ही कि सतघरा वाले बाबूसाहब इस अवसर पर कुछ न कुछ उत्पात अवश्य मचाएँगे। निषाद

महासभा के लीडर फुलेनाप्रसाद माँझी को भी उन्होंने भीतर ही भीतर मिला रखा था। उसका भाँजा इसी मलाही गाँव का रहने वाला था। मामा के इशारे मिलते रहते थे। वह अपनी जमात के सारे भेद देपुरा और सतघरा पहुँचा आता था।

जीप स्कूल के सामने आकर रुक गई।

अंचलाधिकारी, दारोगा, पुलिस के दो जवान, अंचलाधिकारी का अरदली और ड्राइवर। छहो उतरे।

दारोगा पुलिस-इन्स्पेक्टर की अपनी लिवास में। अंचलाधिकारी सिविल-आफिसर के अपने युनिफार्म में। दोनों के माथे टोपों की छाजन। हाफ पैण्ट, हाफ शर्ट, कुल खाकी, पगड़ी मात्र लाल जो कि जवानों के सिरों पर काफी भड़कदार लग रही थी। लाल नाखूनी किनारियों वाली सफेद अचकन, पायजामा, कमर में लाल पट्टे की पीतल वाली चपरास, लाल चौड़ी पगड़ी···यह भूमिका थी अर्दली की।

सुवह की किरणें फूट चुकी थीं। ग्रीष्म का मीठा सुनहला प्रभात गढ़पोखर को नहला रहा था। सिंचाई से उगाए मंड़ुआ के पौधे कछारों में लहलहा रहे थे। महाजाल की किनारियों में कसे लोहे के गोटे और उनकी जगमगाहट उत्तरी कछारों में धूप को और अधिक आकर्षक वना रहे थे। वजरंग मण्डली का अखाड़ा अभी तक सोया पड़ा था क्योंकि पूरी की पूरी मण्डली आज महाजाल खींचने में जुटी हुई थी।

अधिकारियों के आ पहुँचने की भनक पाते ही वस्ती का चौकीदार ढोंढ़ाइ खुनौत मछली-मेला का मैदान छोड़कर घर की तरफ़ खिसका और फौरन लौट भी आया, नीली कमीज और नीला साफा और गँड़ासा···अब वह भी सरकारी युनिफार्म में था।

भोला, गंगा और मोहन माँझी ने जीप रुकते देखा तभी स्कूल की ओर आने लगे। दो हैटवालों को और लट्ठधारी लाल पग्गड़ वालों को देखते ही उन्हें निश्चय हो गया कि सतघरा वाले जमींदारों की यह करतूत है।

मोहन माँझी ने कहा—"भोला, घवड़ाने की कोई वात नहीं। देपुरा के जमींदारों ने वन्दोवस्ती का जो पट्टा तुम्हें लिखकर दिया था, वह कागज़ घर से लेते आओ! हम आगे चलकर अफसरों से वातें करते हैं। जाओ···।"

भोला को घर भेजकर मोहन और गंगा स्कूल के अहाते में आए।

आमने-सामने हुए तो सलाम-वंदगी हुई। दारोगा ने पहले ही अंचलाधिकारी को वता दिया था मोहन माँझी के वारे में।

भोला के वैठकखाने से एक धराऊ कुर्सी और एक स्टूल आ गए।

कुर्सी पर अंचलाधिकारी, स्टूल पर दारोगा।

चुपके से आकर सतघरा के दो वावू अफसरों के पीछे खड़े थे।

दारोगा ने गंगा सहनी को अलग ले जाकर जाने क्या वातें कीं।

अंचलाधिकारी नया-नया आया था और यादव-बिरादरी का था। 'छोटी जात' वालों के प्रति उसमें हमदर्दी की भावनाएँ थीं। पुलिस इन्स्पेक्टर पुराने जमाने का मुछन्दर राजपूत था।

युवक अंचलाधिकारी अपने को अधिक देर तक ज़ब्त नहीं रख पाया। वह मोहन माँझी से देश की मौजूदा रीति-नीति पर बातें करने लगा। हाल ही आन्ध्र में चुनाव के नतीजे निकले थे, कांग्रेस ने शानदार जीत हासिल की थी और अब नेहरू को रूस के विधाताओं ने आग्रहपूर्वक अपना देश देख जाने का आमन्त्रण भेजा था···

अंचलाधिकारी नेहरू की परराष्ट्रनीति का पूरा समर्थक जान पड़ा तो मोहन माँझी को अन्दर ही अन्दर बड़ी खुशी हुई। उसे लगा कि हो न हो, यह अफसर अन्याय का पक्ष नहीं लेगा।

'अंचलाधिकारी' पद की यह सृष्टि बिहार के उत्तरी इलाकों में नई-नई ही हुई थी। दारोगा से ऊपर और सब-डिविजनल आफिसर (एस० डी० ओ०) से नीचे। इन्हें डिप्टी मजिस्ट्रेट की-सी क्षमता मिली थी। दारोगा की मनमानी पर ब्रेक कसने वाला एक अफसर तो अब गाँव वालों के लिए सुलभ था।

थोड़ी देर बाद गंगा सहनी इशारे से मोहन को एक तरफ हटा ले गया और बोला—"दारोगा डरा-धमका रहा था। कह रहा था, दफा १४४ लगाकर तमाम मछलियाँ वह अपनी हिरासत में ले लेगा।"

भौंहों में तनाव आ गया, पलकों में स्पन्दन भर आए और निगाहों के कोए फैल-फैल उठे। मोहन माँझी के मुँह से तीर की तरह छूटा—"रकम ऐंठना चाहता है सूअर!"

पैरों की तरफ जमीन में नजरें गड़ाए जैसे का तैसा खड़ा रहा गंगा सहनी। सामने इस वक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं थी, था तो बस मछलियों का ढेर! दो सौ पाँच मन, पाव ऊपर तीन पन्सेरी···दारोगा ने भाँजी मार दी है और सारा माल सड़-गलकर कूड़ा-कचरा हो गया है···सतघरा वाले बाबू लोग मछुओं की फूटी किस्मत पर फूले नहीं समा रहे हैं···गढ़पोखर की नये सिरे से बन्दोबस्ती सिंगिया निवासी माँझियों के हाथों हो चुकी है···समूचा गरोखर अब तालमखाना की कँटीली फसलों से आबाद है···मलाही-गोंढ़ियारी के लोग इस तालाब से चुल्लू-भर पानी भी नहीं ले सकते···फिक्र के बीसियों बुलबुले गंगा के मन में छूटने और फूटने लगे। होंठों में मानो किसी ने ताला जड़ दिया, बोला ही नहीं गया फिर कुछ!

गंगा को घुटते-चुरते जानकर मोहन माँझी ने उसकी पीठ पर अपना हाथ रखा, गर्दन लम्बी करके आँखों में आँखें डाल दीं और कहा—"मजाल? कोई रोके तो भला हमारा माल।"

भोला बन्दोबस्ती का कागज ले आया था।

मोहन माँझी ने भोला से लेकर वह कागज अंचलाधिकारी साहब को थमा

दिया। देपुरा के मैथिल जमींदार ने अपनी बहुआसिन (बहू) डमरूप्रिया बहुरिया की तरफ से कैथी लिपि में गढ़पोखर की बन्दोबस्ती का यह पट्टा लिखवा के दिया था—नकद पाँच हजार रुपये लिये थे, मियाद दर्ज करवाई थी दो वर्षों की (फसली सन् १३६० और १३६१ सालों की)···असामियों की जगह उसमें तीन नाम थे : भोला सहनी, गंगा सहनी और नकछेदी-जलुआ। नीचे बहुआसिन साहबा का हस्ताक्षर था।

अंचलाधिकारी ने दो-तीन बार उस दस्तावेज को देखा और पुलिस-इन्स्पेक्टर से केस की फाइल ले ली।

सतघरा के जो बाबू अब तक यों ही खड़े थे, उनमें से एक फाइल पर झुक आया।

कपार से साँसें टकराईं तो अंचलाधिकारी ने गर्दन उठाकर अरुचिपूर्वक उसके चेहरे पर एक नजर मार ली। दारोगा ने कान से होंठ सटाकर कहा—"सतघरा के जमींदार के भगिना बाबू हैं आप; आपको फोटोग्राफी का भारी शौक है सर! बैडमिण्टन के चैम्पियन हैं और वकालत तक पढ़े हैं···"

"और शिकार की हॉबी?"—व्यंग्य की हल्की-चरपरी चाशनी और चंद नपे-तुले शब्द। साहब ने दारोगा के होंठों को अपने हाथ की दीवार से परे कर दिया।

जमींदार के भगिना बाबू का चेहरा फक हो गया।

पुराने खुर्राट पुलिस-इन्स्पेक्टर ने भी अपनी भूल महसूस की; मगर निर्लज्जता मौके पर काम आ गई, चेहरे का रंग पल-भर के लिए उड़कर उखड़ नहीं सका।

कागजात साफ बतला रहे थे कि पुश्त-दर-पुश्त गढ़पोखर से मछलियाँ निकालने का हक मलाही-गोंढ़ियारी के मछुओं का चला आया है। मालिक बदलता रहा है लेकिन असामी कभी नहीं बदले हैं।

अंचलाधिकारी ने अपनी आफिसियल डायरी में अंग्रेजी माध्यम से जल्दी-जल्दी कुछ बातें नोट कीं। डायरी पाकेट के हवाले करके कुछ क्षणों तक वह गढ़पोखर के श्याम-सलिल सपाट वक्ष की ओर विमुग्ध नेत्रों से देखता रहा।

फिर चुपचाप चलकर स्कूल के अहाते से उतर आया।

जीप के निकट पहुँचकर हैट फिर उसने माथे पर ले लिया। साथ आए स्टाफ के अपने आदमी भी और बीसों की तादाद में ग्रामीण भी आजू-बाजू और पीछे-पीछे थे।

पीछे मुड़कर अंचलाधिकारी ने अपने को भोला के सामने कर लिया और शान्त-शिष्ट स्वर में बोला—"माफ कीजिए सहनी जी, हमें असलियत का पता नहीं था।"

"हजूर!"—बदले में भोला ने तीन ही अक्षर कहे।

—ड्राइवर!

—जी, साहब !

—वापस चलना है।

—अच्छा साहब !

अंचलाधिकारी ड्राइवर की पास वाली स्वतन्त्र सीट पर बैठ गया। बाकी सब पीछे लद गए।

जीप स्टार्ट हुई और चल पड़ी। फिर दौड़ने लगी तो मिनटों में ओझल।

पेट्रोल की तीखी-तीखी अजीव-सी बू खोपड़ी की रग-रग को भफाने लगी तो खुरखुन, रंगलाल, नीरस आदि प्रायः सभी ने अपनी-अपनी हथेली नाकों से लगा ली, मछलियों की ताजी-गहरी गंध को उन्होंने महसूस किया।

रामफल मुखिया का भाई बेहद घवड़ा गया था। उसे अन्देशा था कि मछलियाँ अगर रोक ली गईं तो बड़ा बुरा होगा। नकद बारह हजार की इस लागत से कम-से-कम पाँच हजार का मुनाफा तो निश्चित था ही।

अब अंचलाधिकारी और पुलिस-पार्टी के लौट जाने से उसे भी तसल्ली हुई।

आठ

भोला के खेतों से आखिरी खेवे की मूंग की फलियाँ टूटकर घर पहुँचीं कि बाढ़ का पानी धनहा चौर को डुबोने लगा। इस बार नदियों में रेले ज़रा देर से आए, नहीं तो बाढ़ का पहला दौर जेठ की पूर्णिमा तक आ जाता था।

असाढ़ का अन्त था यह। मड़ुआ (राँगी)की तैयार फसलें गरीब खेतिहरों का तन-मन जुड़ा रही थीं। उपरले खेतों में धान के हरे-हरे पौधे लहलहा रहे थे।

गढ़पोखर में उत्तर-पूर्वी कोने पर बाहर से पानी आने का रास्ता था। अब दिन-रात उधर से बाढ़ का पानी आ रहा था।

अन्दर की छोटी मछलियाँ काफी तादाद में सैर को निकला करतीं और आगे सरइला और टभकी के व्यूहों में आ पड़तीं।

लाल-रुपहली और सुरमई छिलकों वाली पोठी मछलियाँ मसूरिया आँखें चमकाती हुई शान से निकलतीं और वहते पानी में उल्टे-तिर्छे चढ़तीं। मंगल को पोठी मछलियों की यह अकड़ खूब ही भाती थी। लेकिन जंगल को सूत-सी सादी लम्बी मूंछों वाला इच्चा (झिंगा) देखते रहना अच्छा लगता था। चुल्हाई कँटीले कंठ वाला भूरा-कजरा टेंगरा देखता तो खुशी के मारे चीख पड़ता। मधुरी की निगाहें चिकने-रुपहले सूहा पर फिदा थीं। जिलेबिया को नीली आभा वाली मटमैली मारा मछलियाँ प्यारी थीं। सिलेबिया को चिपटा-चमकीला ...

कतरा पसन्द था।

छोटी मछलियों की तरह बड़ी मछलियों में भी इनकी अपनी-अपनी पसन्द थी। उम्र और जीवन का जंजाल बढ़ जाने के कारण भोला और खुरखुन आदि का हाल यह था कि खास शकल-सूरत वाली कोई मछली अब किसी की खास पसन्द की नहीं रह गई थी; मछुए मछुए थे और मछलियाँ मछलियाँ थीं, बस। हाँ, वह एक दूसरी बात थी कि दारू-ताड़ी की मस्ती में भोला अक्सर गुनगुना उठता—

"मंगुरी को मात करती है मेरी प्यारी
वो रंगत और वो चिकनापन
कहाँ से लाएगी मंगुरी बेचारी
मात करती है मंगुरी को मेरी प्यारी
मेरी जान! मेरी जान! मेरी जान!
निछावर है तुझ पे भोला के परान!!"

यानी अपने बचपन में मंगुरी मछलियों की छवि-छटा उसे बेहद पसन्द थी और पत्नी मिली तो वह भी मंगुरी की-सी रंगतवाली। पुराने गीत की आखिरी कड़ी में गीतकार की जगह अपना नाम बैठाकर तभी तो भोला जाने-अनजाने गुनगुनाया करता।

मधुरी पिछली शाम को ही ससुराल से भाग आई थी। नशाखोर ससुर की खुराफातों ने उसे पति के पास टिकने नहीं दिया।

सुबह-सुबह अभी बस्ती-भर के लोग गढ़पोखर के उत्तर-पूर्वी मोहार पर छोटी मछलियों का शिकार कर रहे थे। मधुरी की छोटी बहन तीरा अपने भाई-बहनों के साथ आई हुई थी। उसने सबसे अलग अपनी टभकी लगा रखी थी।

गरोखर की पूर्वी भिण्ड के नीचे सड़क थी। सड़क से पूरब एक डबरा था। डबरा बाढ़ के पानी से भर चुका था और अब सड़क वाली पुलिया के नीचे से गुजरने वाला नाला उसके अतिरिक्त जल को गरोखर की तरफ बहकर आने वाले नाले में डाल रहा था। ये नाले जहाँ मिलते थे उसके चार कदम पूरब कई छोकरों-छोकरियों ने एक ही कतार में अपनी-अपनी टभकी खड़ी कर रखी थी।

तीरा की टभकी वहीं लगी हुई थी।

सिलेबिया मछलियाँ घर पहुँचाकर दूसरी दफ़े जब लौटी तो उसे याद आया कि पिछली शाम को मधुरी ससुराल से भाग आई है।

वह तीरा के नजदीक आई, उसके कन्धे पर हाथ रख दिया।

—क्या है रे?

—रहेगा क्या? तेरी टभकी के अन्दर पोठा-पोठी उछल-कूद मचा रहे हैं!

—देख सिलेबिया, आँख निकाल लूँगी! नजर लगाती है!

फिर : हि हि हि हि !—सिलेबिया हँसने लगी।

तीरा ने नाले में धँसकर बहते पानी में से टभकी ऊपर उठा ली। इधर जमीन पर आकर टभकी से मछलियाँ निकाल लीं। दस-बारह पोठियाँ थीं, हरी-हरी दूबों पर वे तड़पने लगीं।

तीरा के भाई-बहनों ने उन्हें उठाकर चंगेरी में रख लिया।

टभकी फिर बहते पानी में पहली जगह पर अटका दी गई।

अब सिलेबिया ने कहा—"अभी-अभी मैं मधुरी बहन को मंइना के पास बैठी देख आई हूँ। बताऊँ, क्या कह रही थी?"

"क्या कह रही थी?"—तीरा ने पूछा।

सिलेबिया ने झुककर दूब की एक पत्ती खोंट ली, उसे चबाती-खाती बोली—"कह रही थी, यहाँ तो चार जगह घूम-फिर लेती थी और दिन निकल जाता था लेकिन वहाँ घर-आँगन के अन्दर ही कैद रहती थी और वक्त काटना पहाड़ था मंइना!"

भक्!—तीरा के मुँह से निकला।

—तेरी कसम तीरा! अपनी भाभी से पूछ लेना!

सिलेबिया दूबों पर बैठकर चमचमाती पोठी मछलियाँ उलट-पलटकर छू-छाकर देखती रही। कुछ क्षण बाद बोली—"अपनी बहन को तूने अच्छी तरह नहीं देखा है अब तक! सिर के पीछे वाले बहुत सारे बाल उसके नुचे हुए हैं। पीठ पर कैलियों की मार के निशान हैं! ससुर क्या है, लगता है राच्छस ही होगा…"

"राच्छस की नानी!"—चुपचाप आकर पीछे से बड़ी बहन जिलेबिया ने उसका एक कान कसकर खींचा। गाल पर चपत लगाकर कहा, "बुढ़िया रानी, घर-आँगन की बातें यहाँ उड़ाई जाती हैं? खबरदार, जीभ निकाल लूँगी!…"

सिलेबिया सुनकर उठी और बहन को गालियाँ देने लगी—"रांडी! दगधी! निरासी! छुच्छी! सइयाँ डाही!…उँगलियों में कोढ़ फूटेगी! हाथ गल-गल के गिरेगा ऽऽऽऽ…"

अब जिलेबिया ने छोटी बहन की पीठ पर गदागद पांच-सात मुक्के जमा दिए—"छिनाल कहीं की! ले, अब तो हुआ!"

तीरा ने बीच-बचाव किया वर्ना अभी और पीठ-पूजा हुई होती।

रोती-रोती आखिर सिलेबिया घर की तरफ चल पड़ी।

डेढ़-दो सेर के करीब मछलियाँ तीरा ने भी निकाल ली थीं।

बिसुनी, रंगलाल, नीरस, टुन्नी—सभी के लड़के-लड़कियाँ अपनी टभकी लगाए हुए थे। सेर-सेर, डेढ़ सेर छोटी मछलियाँ किनके घर नहीं आई थीं। यह इन दिनों रोजाना का सिलसिला था।

कई परिवार ऐसे थे कि भुनी हुई मछलियाँ ही उनका मुख्य आहार बन रहा था। खुरखुन, बिसुनी, नीरस, रंगलाल, टुन्नी और भोकर जैसे [illegible]

परिवारों के मुखिया थे।

जिलेबिया-सिलेबिया खाते-पीते मछुआ-परिवार की लड़कियाँ थीं। टभकी या गाँज लेकर घर से निकलना उनके लिए शौक की बात थी लेकिन मधुरी और तीरा के लिए वह जीवन की अनिवार्य शर्तों में शामिल था।

दिन-दिन भर और रात-रात भर वे मछलियों के मोर्चे पर डटी रहतीं। छोटी मछलियाँ पकड़ने-फँसाने का काम प्रायः ही लड़कों-लड़कियों और स्त्रियों के जिम्मे था। बड़ी मछलियाँ पकड़ना, नाव चलाना, तालमखाना की फसल उपजाना, माल की लपत का प्रबन्ध करना—ये सारे काम मर्द मछुओं के थे।

सात-आठ खाने वाले, खुरखुन अकेला कमाने वाला। औरत हमेशा की पिलपिली। कौन-सी बीमारी उसे नहीं हुई थी : मलेरिया का शिकार वह! कालाजार की पचासों सुइयाँ उसको लगीं! पेचिश और संग्रहणी की मिताई उससे? और अब दमा ने दर्शन दिए थे!

देपुरा में जिला-बोर्ड की तरफ से एक अस्पताल था। एम० बी० बी० एस० डाक्टर, कम्पाउण्डर, चपरासी—तीन का स्टाफ था। सफेदपोशों की धींगामुश्ती के कारण सौ में से पंचानबे रोगी उस दातव्य चिकित्सालय से पूरा फायदा नहीं उठा पाते। ईमानदार और जन-सामान्य का पक्षधर होकर जो डाक्टर वहाँ रहना चाहता वह चार महीने भी टिक नहीं पाता। दूसरे डाक्टर थे सतघरा के होमियो-पैथ बाबू विशम्भर दास। इधर एलोपैथी की भी टप्पाटोइया चिकित्सा उन्होंने आरम्भ कर दी थी और पास-पड़ोस को दस-पन्द्रह गाँवों की घनी आबादी में चमक उठे थे। मधेपुर में छोटा-सा लेकिन अच्छा अस्पताल था, मलाही-गोंढ़ियारी वाले कभी-कभी उधर भी दवा के लिए निकल जाते।

मधुरी की माँ को इन दिनों कालाजार ने धर दबाया था। तीरा को साथ लेकर पन्द्रह-पन्द्रह दिन पर वह देपुरा जाती और सुई दिलवा आती। आज सनीचर था, सुई लेनी थी आज।

भाई और बहन को टभकी की निगरानी के लिए छोड़कर तीरा मछलियाँ लिए हुए वापस आई।

मधुरी चूल्हे के पास बैठी मड़ुआ का आटा गूंध रही थी। चूल्हे के मुँह में पीपल की एक सूखी टहनी और आम के अधसूखे पत्ते सुलग रहे थे। आँच नहीं थी, धुआँ ही धुआँ था।

तीरा को देखते ही मधुरी ने ऊँची आवाज़ में कहा—"गे, आधी मुट्ठी फूस लेती आ कहीं से ?"

हाथ आटे में सने थे, कड़वा धुआँ निगाहों को पानी-पानी कर रहा था। मधुरी ने कोहनी से पहले तो आँखें पोंछीं, फिर कपार पर छितराई लटों को सिर की तरफ ऊपर को हटा दिया।

सूखी-पुरानी कड़कदार फूस हो तो छुआते ही आग भभक उठती है और चूल्हा हँसने लगता है। बरसात के मौसम में चूल्हा रूठता है तो फिर फूस ही उसे

मनाती है। मगर यह फूस आवे तो कहाँ से ? या तो घर के छप्परों से नोची जाए या पलानी से खींची जाए या फिर घिरावे की टट्टर से···मछलियाँ एक तरफ रखकर तीरा गुमसुम खड़ी रही। कहाँ से मूठ-भर फूस लाकर वह बहन को दे ?

खुरखुन का पिछवाड़ा और मुसम्मात जितिया का पिछवाड़ा मिलते थे। जितिया के घर के बगल में पतहर की ढेर थी जिसके चारों तरफ अमती के काँटों का घेरा था। तीरा चुपके से अपने घर के पिछवाड़े चली गई। दच्छिन-पच्छिम के कोने दूर तक खुले थे, आगे इमली का बूढ़ा पेड़। भोकर की औरत दिखाई पड़ी तो नीरा पेशाव करते समय की-सी मुद्रा में अँचरा फैलाकर बैठ गई। अभी दस रोज पहले ही भोकर की औरत से माँ का झगड़ा हुआ था। कहीं जितिया के पिछवाड़े पतहर चुराते देख लिया तो जरूर वह चुगलखोरी करेगी, वही अंदेसा तीरा के कलेजे को कँपाने लगा और लड़की छापेमार सिपाही के पंतरे सोचने लगी। हुआ आखिर कुछ नहीं, भोकर की औरत अपनी बुढ़िया बकरी को गरोखर के मोहार की ओर ले जा रही थी सो अपना ले गई; जितिया के पिछवाड़े बैठी तीरा की तरफ उसने गर्दन तक नहीं उठाई।

क्षण-भर बाद दो मूठ पतहर मधुरी के सामने आ गई।

बस एक सूखा पत्ता ! कि चूल्हे की धुआँती आग खिलखिला उठी।

मधुरी ने जल्दी-जल्दी आठ-दस टिक्कड़ ठोंक-सेंक लिए। बूंद-भर भी तेल नहीं था टाड़ी में, तो यों ही सूखे-सूखे भून लीं मछलियाँ। पीछे नमक और लाल मिर्च मीस-मासकर उनका भुर्ता बना लिया। छः-साला छोटी बहन एक भुनी पोठी ले भागी तो तीरा बड़बड़ा रही थी।

मुस्कुराकर मधुरी बोली—"क्या हुआ ? खा गई तो खा गई ! तू न सयानी है, वह तो अभी बच्ची है···"

बच्ची की नानी !—कुढ़न में होंठ सिकोड़कर तीरा मिनमिनाई।

—आ, खा ले !

—नहीं खाऊँगी···

मधुरी ने उसे दुबारा नहीं कहा खाने को। जिद्दी लड़की थी। कहना बेकार था। माँ को सुई दिलवाकर लौटेगी तो खा लेगी···मधुरी मन ही मन बोली।

छोटी बहन पलानी वाले इकहरे छप्पर की पतली खम्भेली से सटकर खड़ी थी। बहनों की ओर मुलुर-मुलुर ताक रही थी। पोस्ता के दानों-से बारीक और पीले पोठी अण्डे होंठों से अब भी चिपके हुए थे। तीरा की डाँट-फटकार चेहरे की रौनक पी गई थी। भय भूख को दबा रहा था।

मधुरी टिक्कड़ और भुर्ता अन्दर रख आई तो छोकरी को उठाकर गोद में ले लिया। गाल से सटाकर चुमकारने लगी तो उसने रो दिया, बाँहें फैलाकर बड़ी बहन के गले से लिपट गई।

एक बाँह का पूरा दबाव डालकर गोद की नन्ही को मधुरी ने सीने में धँसा लिया और तीरा के प्रति आँखें तरेरकर बोली—"चुड़ैल, तू रुलाना ही रुलाना

जानती है कि कुछ और भी सीखा है ? हुँ हुँ हुँ हुँ···" फिर नन्हीं से कहा : "चल, आज इसे खाना नहीं मिलेगा ! चल, हम-तुम साथ बैठकर खाएँगे, है न नू नू ?"

नन्ही की रुलाई सुनकर माँ वाहर आई।

साँवली खाल से मढ़ा हुआ कंकाली ढाँचा। धँसी-बुझी आँखें। पोपले गाल। सर के वाल उड़ रहे थे। मैली-फटी साड़ी चिप्पियों से जगमगा रही थी।

गोद का डेढ़-साला वच्चा मिन-मिन करता पीछा कर रहा था।

माँ ने कहा—"नन्ही को लगी थी भूख और उस पर तीरा ने वेचारी को फटकारा है। जा, अन्दर बैठकर इसे खिला दे। खुद भी खा ले।···और तू भी अव वहन के पास जा !"

आखिरी जुमला डेढ़-साला वच्चे के लिए था।

मधुरी अन्दर आकर वीच घर में खिलाने-खाने बैठी।

खजूर के पत्तों से विनी मामूली-सी दो चटाइयाँ। एक विछी थी, दूसरी लपेटकर कोने में रखी थी। पीतल का पिचका लोटा, अलमुनियम की लुंज थाली। वाकी वर्तन-वासन मिट्टी के।···खुरखुन का संसार वही था, सिर्फ मौसम दूसरा था।

टिक्कड़ से डवल टुकड़ा तोड़कर भुर्ता ज़रा-सा उसमें लगाकर निवाला उसने मुँह में डाला और सोचने लगी—क्या वही चिथड़ा झुलाती अम्मा अस्पताल जाएगी ? तार-तार हो गया है समूचा नूआ ! अव और एक दिन भी पहनने लायक नहीं रह गया है फिर भी उसे पहने जा रही है ! ठीक है, गरीव की घर-गिरस्ती में यह सव चलता ही है। मगर यह भी क्या कोई लत है कि संभालकर रखे हुए कपड़े पड़े-पड़े ही पुराने पड़ जाएँ ? काठवाली पुश्तैनी संदूकची में तीन-चार साड़ियाँ तो हैं ही···

नन्ही के मुँह में भुर्ते के साथ लाल मिर्च का रत्ती-भर का टुकड़ा आ गया था, गला लहरने लगा तो चिल्लाई—"पानी, गे वहिन ! पानी ी ी···"

रोटी का टुकड़ा अँगुलियों में थामे छोकरी सुसुआ रही थी, आगे बढ़ा हुआ दूसरा हाथ पानी के लिए उसकी वेतावी का सवूत था।

मधुरी उठी, दौड़कर वाहर ओसारे पर घैलची के पास पड़ी डोल से पीने का पानी ले आई भर-लोटा। नन्ही के होंठों से सटा दिया तो ढेर-सा पानी वह एक ही दम में ढकोस गई और तव जाकर शान्त हुई।

छोकरी का तो फिर हिसाव ही भर गया, खाना छोड़कर घर के कोने में वह चुहिया की दौड़-धूप देखने गई। पानी पीकर मधुरी भी तीरा को मना लाई और दोनों वहनों ने साथ खाया।

सन्दूकची से एक अधपुरानी साड़ी निकालकर माँ से पहनने को कहा तो वह वड़वड़ाने लगी : छिनाल कहीं की ! क्या विगड़ता है ! मैं ऐसी ही जाऊँगी ! रानी जी की वातें तो सुने कोई आके—लाई है अपने खसम की कमाई में से एक सूत भी ?···

गुस्सा तो मधुरी के भी जोरों का आया लेकिन सारी उवाल वह पी गई। ससुराल से भागकर ही तो आई थी, वस आ-भर गई थी। पहनावे में हरे फूलों की किनारियों वाली साड़ी मात्र देह के साथ लाई थी। गले में हँसली, वाँहों में वाजूवन्द, कलाइयों में मरोड़दार कंगन—पैरों में साटन···अपने पे गहने उसे प्रिय थे, इन्हें हमेशा पहने रहती। सो, ये भी साथ आ गए थे। कड़े नहीं ला सकी थी···अब इस वक्त रोगही और चिड़चिड़े मिजाज वाली माँ से भला वह क्या वतकुट्टन करे! चुपचाप वेचारी शीशी धोती रही।

फिर जाने क्या सोचकर माँ ने वह साड़ी पहन ली और वड़ी वेटी की तरफ देखा।

मधुरी शीशी धो-पोंछ चुकी थी। जाल के रद्दी टुकड़े से पतली सूती डोरियाँ निकालकर उन्हें वह दुहरा-तिहरा वाँट दे रही थी कि शीशी के कंठ में फँसा दे और लटकाकर दवा लाने में तीरा को आसानी हो।

तव तक तीरा लपककर गई और मंगल को घरवाली से चार ठोप तेल ले आई, गरी का तेल। वाल भींच-माँजकर जल्दी-जल्दी में जूड़ा वाँध लिया और पानी छूकर मुखड़े को चिकना वनाती हुई हाजिर हो गई वहन के सामने।

अनुमोदन में मुस्कान के साथ-साथ मधुरी ने आँखें मटका दीं।

ठीक उसी समय मछलियों-समेत टभकी लिए हुए लड़के ने आँगन की सीमा में पैर रखे तो माँ वुदवुदाई—"कहाँ मर गया था? भूख तो लगती ही नहीं तुझे!"

आ छोटे, आ!—मधुरी हुलसकर वोली।

मछलियाँ और टभकी जमीन पर पटककर छोटे वड़ी वहन के पास आ गया। मचलकर वोला—"ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ स व ने खा लि या ई ईं ईं ईं मैं एँ एँ एँ एँ भूखा हूँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ···"

शीशी के गले में फन्दा लगा चुकी थी मधुरी, भाई को अंकवार में कसती हुई कह उठी—"अनेरे (यों ही)! किसने खाया है? किसी ने तो नहीं!"

—ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ!

—वाह रे ऊँ ऊँ!

वहन ने भाई को गोद में उठा लिया।

अठारह साल की मधुरी। नौ साल का छोटे।

—वाप रे!

—क्या हुआ?

—भारी लगता है गे!

मधुरी की असुविधा पर तीरा खिलखिलाकर हँसी···

अव माँ से नहीं रहा गया। दवी-दवाई मुस्कान चुचके गालों पर जमुनिया रौनक छिड़क गई।

—उतर, हुआ तो अब ?

—चल, खा ले !

मधुरी भाई को गोदी से उतारकर खाना देने गई।

नन्ही और डेढ़-साला बच्चा घर के अन्दर खेल रहे थे। भाई की आवाज सुनकर वे अब बाहर आए और टभकी के अन्दर पड़ी मछलियों को छेड़-छेड़कर खेलने लगे।

टिक्कड़ से तोड़-तोड़कर और भुर्त्ता से मखा-मखाकर कई एक निवाले जब चबा चुका तो छोटे ने कहा—"दीदी, तेरे आने की खबर बब्बू को मैंने भेज दी है ! ठीक है न दीदी ?"

—ठीक है !

—बब्बू को फुर्सत नहीं मिलती है दीदी !

—अच्छा तो है !

—चलेगी ? बब्बू से मिल आएँगे !

माँ की डाँट पड़ी तो लड़का चुप।

बहन के कान में कहा—"अभी सुई लेने जाएगी तो अपन खूब गप्पें लड़ाएँगे, है न छोटे ?"

छोटे की आँखें चमक उठीं। वह इत्मीनान से खाता रहा।

तीरा माँ को लेकर बाहर निकली। मधुरी ने ऊँची आवाज़ में पूछ लिया—"शीशी तो नहीं छोड़ दी ? और, अस्पताली पुर्जी ले लो न ?"

"हाँ, सब ले लिया है दीदी !"—वैसी ही आवाज़ में तीरा ने जवाब दिया।

कुछ दुतरफा आवाज़ें फिर-फिर गूंजीं।

—और, धनिया-हल्दी पाव-भर लेती आना !

—पैसे ?

—माँ के पास होंगे !

—अच्छा !

नौ

बीच में दो-तीन जगह लाइन डूब जाने से ट्रेनों का आना-जाना बन्द था। दरभंगा से आने वाली गाड़ियाँ झंझारपुर तक आती थीं। आगे तीन स्टेशनों तक जाने वाले मुसाफिर नाव की शरण लेते थे।

बाढ़ का पानी देहातों में दूर-दूर तक घुस आया था। भाग-भागकर लोग रेलवे की बांध पर जा जुटे थे। लाइन पर पन्द्रह-बीस मील तक भीड़ ही भीड़ नजर आती। स्टेशनों पर खड़े मालगाड़ी के डब्बे शरणार्थियों की

दखल में थे। प्लेटफार्म सैंकड़ों परिवारों का सम्मिलित आँगन हो रहे थे। इधर-उधर बिखरे पड़े घरेलू सामान, शिशुओं की रुलाई, बड़े बच्चों की चीख-पुकार, सयानों की बातचीत, हुक्कों की गुड़गुड़ाहट, गीली लकड़ियों और अध-सूखे उपलों का कड़वा धुआँ, भीगे-मैले कपड़ों की दुर्गन्ध, ऊमसी पसीने की चिप-चिप···कुल मिलाकर वातावरण घुटा घुटा-सा था।

बाहर स्टेशन के निकट ही ऊँची जमीन पर बाढ़-पीड़ितों के लिए सहायता-कैम्प खुला था। यह हिन्द हितकारी समाज की तरफ से था। पाँच स्वयं-सेवक, दो माँझी और दो डोंगियाँ, दो तम्बू···एक टेबुल, तीन कुर्सियाँ, दवाओं के दो बक्स, इन्जेक्शन और फर्स्ट-एड (तत्काल-उपचार) की एक दस्ती पेटी, एक स्टोव, बुरादों की ईंधन वाली दो सिगड़ियाँ, कुछ एक बोरे चावल, गेहूँ और चने, दो टिन सूरज छाप किरासन, दो चारपाइयाँ, खाना पकाने के तीन-चार बर्तन, दो थालियाँ, तीन कटोरे, चाय की छोटी केतली, लोटा और मग (सभी अल्मू-नियम के)·· आफिसर-इन्चार्ज की छँटी हुई महीन मूंछों और घुटी दाढ़ी वाला एक अधेड़ खद्दर-पोश व्यक्ति था। साँवली सूरत, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें नुकीली नाक। हँसता तो मोतिया दाँत चेहरे की रौनक को चौगुनी कर देते।

खुरखुन और नीरस दो महीने के लिए डोंगियाँ खेने की ड्यूटी पर बहाल किए गए थे। उनका खाना अक्सर अपने गाँव-घर से आता था। बीच की सड़क कई-कई दिनों तक डूबी रही थी तो भी गोंढ़ियारी से स्टेशन तक आने-जाने वाला रोज कोई न कोई निकल ही आता।

और कोई न हुआ तो मोहन माँझी।

मोहन माँझी नेता हो जाने पर भी इन मामलों में ठेठ देहाती था। दूसरों का सामान ढोते समय झूठमूठ की लाज-शरम का शिकार वह कभी हुआ ही नहीं। बाबू-वर्गीय हिचकिचाहट या संकोच उससे कोसों दूर थे। जिस रोज स्टे-शन की तरफ उसे आना होता, खुद आकर खुरखुन और नीरस के घर से उनका खाना ले लेता। मड़ुआ (रागी) की रोटियों और मछलियों के भुर्ते का पोटला लटकाए जब मोहन माँझी दिखाई देता तो खुशी के मारे खुरखुन की खीसें निकल आतीं ?

खुशी किस बात की ?

खाना ले आने की ?

नहीं, खाना ले आने की खुशी नहीं। यह काम तो उनका कोई न कोई कर ही देता। गोंढ़ियारी और चमुड़िया के बीच जाने-आने वालों की कमी नहीं थी। तो फिर किस बात की खुशी ?

खुशी इस बात की कि नेताजी से चार बातें करने का अवसर हासिल हुआ। खुरखुन बस इसी के लिए तो तरसता रहता था। हफ्ते में एक-आध बार चोंचें सट जातीं तो ठीक वर्ना खुरखुन का दिल मोहन माँझी के लिए तड़प-तड़पकर रह जाता।

—उतर, हुआ तो अव ?

—चल, खा ले !

मधुरी भाई को गोदी से उतारकर खाना देने गई।

नन्ही और डेढ़-साला बच्चा घर के अन्दर खेल रहे थे। भाई की आवाज सुनकर वे अव वाहर आए और टभकी के अन्दर पड़ी मछलियों को छेड़-छेड़कर खेलने लगे।

टिक्कड़ से तोड़-तोड़कर और भुर्ता से मखा-मखाकर कई एक निवाले जब चबा चुका तो छोटे ने कहा—"दीदी, तेरे आने की खवर बब्बू को मैंने भेज दी है! ठीक है न दीदी ?"

—ठीक है !

—बब्बू को फुर्सत नहीं मिलती है दीदी !

—अच्छा तो है !

—चलेगी ? बब्बू से मिल आएँगे !

माँ की डाँट पड़ी तो लड़का चुप।

बहन के कान में कहा—"अभी सुई लेने जाएगी तो अपन खूब गप्पें लड़ाएँगे, है न छोटे ?"

छोटे की आँखें चमक उठीं। वह इत्मीनान से खाता रहा।

तीरा माँ को लेकर वाहर निकली। मधुरी ने ऊँची आवाज़ में पूछ लिया—"शीशी तो नहीं छोड़ दी ? और, अस्पताली पुर्जी ले लो न ?"

"हाँ, सव ले लिया है दीदी !"—वैसी ही आवाज़ में तीरा ने जवाव दिया।

कुछ दुतरफा आवाज़ें फिर-फिर गूंजीं।

—और, धनिया-हल्दी पाव-भर लेती आना !

—पैसे ?

—माँ के पास होंगे !

—अच्छा !

नौ

बीच में दो-तीन जगह लाइन डूब जाने से ट्रेनों का आना-जाना बन्द था। दरभंगा से आने वाली गाड़ियाँ झंझारपुर तक आती थीं। आगे तीन स्टेशनों तक जाने वाले मुसाफिर नाव की शरण लेते थे।

वाढ़ का पानी देहातों में दूर-दूर तक घुस आया था। भाग-भागकर लोग रेलवे की बाँध पर जा जुटे थे। लाइन पर पन्द्रह-बीस मील तक भीड़ ही भीड़ नजर आती। स्टेशनों पर खड़े मालगाड़ी के डब्बे शरणार्थियों की

दखल में थे। प्लेटफार्म सैंकड़ों परिवारों का सम्मिलित आँगन हो रहे थे। इधर-उधर बिखरे पड़े घरेलू सामान, शिशुओं की रुलाई, बड़े बच्चों की चीख-पुकार, सयानों की बातचीत, हुक्कों की गुड़गुड़ाहट, गीली लकड़ियों और अध-सूखे उपलों का कड़वा धुआँ, भीगे-मैले कपड़ों की दुर्गन्ध, ऊमसी पसीने की चिप-चिप···कुल मिलाकर वातावरण घुटा घुटा-सा था।

बाहर स्टेशन के निकट ही ऊँची जमीन पर बाढ़-पीड़ितों के लिए सहायता-कैम्प खुला था। यहे हिन्द हितकारी समाज की तरफ से था। पाँच स्वयं-सेवक, दो माँझी और दो डोंगियाँ, दो तम्बू···एक टेबुल, तीन कुर्सियाँ, दवाओं के दो बक्स, इन्जेक्शन और फर्स्ट-एड (तत्काल-उपचार) की एक दस्ती पेटी, एक स्टोव, बुरादों की ईंधन वाली दो सिगड़ियाँ, कुछ एक बोरे चावल, गेहूँ और चने, दो टिन सूरज छाप किरासन, दो चारपाइयाँ, खाना पकाने के तीन-चार बर्तन, दो थालियाँ, तीन कटोरे, चाय की छोटी केतली, लोटा और मग (सभी अल्मू-नियम के)·· आफिसर-इन्चार्ज की छँटी हुई महीन मूँछों और घुटी दाढ़ी वाला एक अधेड़ खद्दर-पोश व्यक्ति था। साँवली सूरत, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें नुकीली नाक। हँसता तो मोतिया दाँत चेहरे की रौनक को चौगुनी कर देते।

खुरखुन और नीरस दो महीने के लिए डोंगियाँ खेने की ड्यूटी पर बहाल किए गए थे। उनका खाना अक्सर अपने गाँव-घर से आता था। बीच की सड़क कई-कई दिनों तक डूबी रही थी तो भी गोंढ़ियारी से स्टेशन तक आने-जाने वाला रोज कोई न कोई निकल ही आता।

और कोई न हुआ तो मोहन माँझी।

मोहन माँझी नेता हो जाने पर भी इन मामलों में ठेठ देहाती था। दूसरों का सामान ढोते समय झूठमूठ की लाज-शरम का शिकार वह कभी हुआ ही नहीं। बाबू-वर्गीय हिचकिचाहट या संकोच उससे कोसों दूर थे। जिस रोज स्टे-शन की तरफ उसे आना होता, खुद आकर खुरखुन और नीरस के घर से उनका खाना ले लेता। मड़ुआ (राँगी) की रोटियों और मछलियों के भुर्ते का पोटला लटकाए जब मोहन माँझी दिखाई देता तो खुशी के मारे खुरखुन की खीसें निकल आतीं ?

खुशी किस बात की ?

खाना ले आने की ?

नहीं, खाना ले आने की खुशी नहीं। यह काम तो उनका कोई न कोई कर ही देता। गोंढ़ियारी और चमुड़िया के बीच जाने-आने वालों की कमी नहीं थी। तो फिर किस बात की खुशी ?

खुशी इस बात की कि नेताजी से चार बातें करने का अवसर हासिल हुआ। खुरखुन बस इसी के लिए तो तरसता रहता था। हफ्ते में एक-आध बार चोंचें सट जातीं तो ठीक वर्ना खुरखुन का दिल मोहन माँझी के लिए तड़प-तड़पकर रह जाता।

गरोखर की ऊँची भिण्ड पर, प्राइमरी स्कूल के पास ही मोहन माँझी ने भी अपने इलाके के बाढ़-पीड़ितों की मदद के लिए एक सेवा-शिविर चालू कर रखा था।

प्रबन्ध के लिए जो कमेटी बनी थी उसमें पाँच व्यक्ति थे—प्रजा समाजवादी पार्टी का एक और एक लोहिया-समर्थक यानी दो सोशलिस्ट; ईमानदार किन्तु उपेक्षित एक कांग्रेसी; बहुतेरे हाई स्कूलों से हेडमास्टरी करने के बाद पेंशन-याफ्ता जीवन बिताने वाले एक बुजुर्ग; और हँसिया-हथौड़ा वाली लाल पताका का फर्माबर्दार एक किसान सभाई यानी कामरेड मोहन माँझी।

कैम्प के लिए बाँस काफी मिले मगर फूस नहीं मिली, कहीं तो ताड़ के पत्तों की चटाइयाँ माँझी लहेरिया सराय से ले आया था। दो-दो छप्परों वाले तीन अस्थायी कुटीर तैयार करा लिए थे। बीस बोरे अनाज के, दस थान कपड़ों के, नौ सौ रुपये नकद, तीन पेटियाँ दवाइयों की, दो डेंगियाँ, एक पुरानी साइकिल, मवेशियों के लिए चालीस बोझ पुआल" कमेटी पन्द्रह दिनों के अन्दर ही इतनी सामग्री जुटा सकी, यह इस बात का सबूत था कि उन्हें इलाके की अपनी जनता का विश्वास हासिल है। हाँ, देपुरा और सतघरा के खानदानी जमींदारों ने कमेठी को न एक पाई दी, न एक दाना ही दिया। लेकिन सतघरा की बड़ी डेउढ़ी के छोटे बाबू साहेब 'मानिक जी' का मंझला बबुआ 'हीरा जी' को जाने क्या सूझा कि मोहन माँझी को अपनी साइकिल थमा गया और बार-बार कहने-कहलवाने पर भी ले नहीं गया।

हीरा जी मेडिकल कालेज (पटना) का छात्र था और अफवाह फैल रही थी कि उसका दिमाग फिर गया है। औज-मौज में हजार-पाँच सौ रुपये फेंक-फूंक दे तो ठीक है। सौ-पचास लगाकर गांधीजी और नेहरू जी की रजत-प्रतिमाएँ बनवा ले तो ठीक है। महीने में बीस दफे हॉलीवुड फिल्में देख आए तो भी ठीक है। मगर कम्युनिस्टों की संगत में वक्त गँवाए, छठे छमाहे दस-पाँच रुपये उनकी पार्टी को चन्दा दे, स्टूडेण्ट फेडरेशन द्वारा चलाई गई तहरीकों में दिलचस्पी ले, तो अवश्य ही उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है"अभिजातवर्गीय आलोचना का कुछ ऐसा ही रुख था हीरा जी के बारे में। लेकिन मोहन माँझी तो बिल्कुल दंग रह गया था उसकी भावुकता देखकर! साइकिल नई नहीं थी, दो-तीन साल पुरानी थी। मगर इससे क्या? एक श्रद्धालु की तरफ से अर्पित नैवेद्य तो थी वह! माँझी जनसामान्य की आस्था का अद्भुत पारखी था। उसे लगा कि 'ना' कर देने पर हीरा जी को हफ्तों नींद नहीं आएगी; यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि दादा-परदादा और बाप-चाचा जालिम जमींदार रहे हैं तो यह भी उन्हीं का अनुगमन करेगा।

मलाही-गोंढ़ियारी की संयुक्त आबादियों में आम किसान और खेत मजदूर कम नहीं थे। किन्तु उनमें भी ज्यादा तादाद थी मछुओं-माँझियों की ही। इनकी भी चार-पाँच उपजातियाँ यहाँ थीं : सहनी, माँझी, खुनौत, तीअर और तलुआ। धनहा चौर और गढ़पोखर जैसे विशाल जलाशय ही इनके पूर्वजों को यहाँ खींच

लाए थे। आबादी उत्तरोत्तर बढ़ती आई थी, खाने वाले मुँह पचास गुना अधिक हो गए थे। कोसी का जहरीला पानी बीमारियाँ काफी ले आया था फिर भी मृत्यु पर जिन्दगी हावी थी। खपरैल और छत वाले घर दो-तीन परिवारों के ही थे, बाकी छान-फूंक की कुटीरें थीं। आग लगती तो इस छोर से उस छोर तक समूचा गाँव स्वाहा! बाढ़ आती तो घरों में पानी घुस जाता, भीतें धँस जातीं और छप्पर बह जाते। हैजा और मलेरिया का ताण्डव, आबादी को मसान बनाकर छोड़ जाता।

गढ़पोखर की ऊँची-लम्बी ढलान इन बस्तियों को धीरे-धीरे अपनी तरफ खींच रही थी। यूं भी ये गाँव धनहा चौर की सतह से काफी ऊँचाई पर बसे थे। बाढ़ का पानी सड़क से दच्छिन की आबादी को तो ज़रूर परेशान करता मगर सड़क से उत्तर यानी गरोखर के दच्छिन मोहार की ढलान पर आबाद घरों तक उसकी पहुँच कभी नहीं होती।

मलाही-गोंढ़ियारी का आधा हिस्सा बाढ़ की चपेट में पड़ ही जाता। फिर बाकी आधा हिस्सा खुलकर उसकी मदद करता।

इस बार भी यही बात हुई थी।

रंगलाल, बिसुनी और नीरस आदि के घर आठ-दस रोज तक बाढ़ के पानी से भरे रहे।

सड़क के दच्छिन की बाढ़-ग्रस्त आबादी गढ़पोखर की दच्छिन वाली भिण्ड पर आबाद हो गई थी। पास-पड़ोस के डूबे हुए गाँवों की विपन्न जनता उत्तरी और पूरबी भिण्डों पर।

सहायता-कैम्प की तरफ से एक कुटीर उत्तरी भिण्ड पर खड़ी की गई थी, दूसरी कुटीर पूरबी मोहार पर। मोहन माँझी ने खुरखुन से कहकर मधुरी को कैम्प के कामों में लगा दिया था। जिलेबिया भी मधुरी का हाथ बटाती थी। युवकों में मंगल, चुल्हाई, गंगा सहनी का छोटा भाई, बिसुनी का बेटा, मुसम्मात जितिया का बहिनौत (भगिनी पुत्र) आदि तो थे ही; पड़ोसी गाँव के भी पाँच-सात जवान डटे रहते।

मधुरी के जिम्मे काम था सहायता-कार्य में लगे हुए स्वयं-सेवकों और बाहर से आए मेहमानों-नेताओं के लिए खाना व नाश्ता तैयार करना, खिलाना-पिलाना, वितरित होने वाले अनाज की सफाई; जरूरतमन्द स्त्रियों तक अन्न-वस्त्र पहुँचाना; और अपनी बस्ती के अन्दर पानी में डूबे हुए घरों से सामान निकालने में औरतों की मदद करना···

चुल्हाई वगैरह पड़ोसी गाँवों से मुसीबतजदा लोगों को डोंगियों पर ले आते थे—सूनी आँखें, उदास चेहरे, कई-कई दिनों के भूखे होते थे लोग!

दूध-पीते बच्चों का दूध के अभाव में बुरा हाल था। जमे दूध के बीस-एक बन्द डिब्बे मिले थे। शहर की हवा जो खा आए थे, ऐसे दो-तीन स्वयं-सेवक चाय पानी के वक्त उस दूध को व्यक्तिगत उपयोग में लाते थे। साग-सब्जी पकाने के

गरोखर की ऊँची भिण्ड पर, प्राइमरी स्कूल के पास ही मोहन माँझी ने भी अपने इलाके के बाढ़-पीड़ितों की मदद के लिए एक सेवा-शिविर चालू कर रखा था।

प्रबन्ध के लिए जो कमेटी बनी थी उसमें पाँच व्यक्ति थे—प्रजा समाजवादी पार्टी का एक और एक लोहिया-समर्थक यानी दो सोशलिस्ट; ईमानदार किन्तु उपेक्षित एक कांग्रेसी; बहुतेरे हाई स्कूलों से हेडमास्टरी करने के बाद पेंशन-याफ्ता जीवन बिताने वाले एक बुजुर्ग; और हँसिया-हथौड़ा वाली लाल पताका का फर्माबर्दार एक किसान सभाई यानी कामरेड मोहन मांझी।

कैम्प के लिए बाँस काफी मिले मगर फूस नहीं मिली, कहीं तो ताड़ के पत्तों की चटाइयां मांझी लहेरिया सराय से ले आया था। दो-दो छप्परों वाले तीन अस्थायी कुटीर तैयार करा लिए थे। बीस बोरे अनाज के, दस थान कपड़ों के, नौ सौ रुपये नकद, तीन पेटियां दवाइयों की, दो डेंगियां, एक पुरानी साइकिल, मवेशियों के लिए चालीस बोझ पुआल··· कमेटी पन्द्रह दिनों के अन्दर ही इतनी सामग्री जुटा सकी, यह इस बात का सबूत था कि उन्हें इलाके की अपनी जनता का विश्वास हासिल है। हाँ, देपुरा और सतघरा के खानदानी ज़मींदारो ने कमेठी को न एक पाई दी, न एक दाना ही दिया। लेकिन सतघरा की बड़ी डेउढ़ी के छोटे बाबू साहेब 'मानिक जी' का मंझला बबुआ 'हीरा जी' को जाने क्या सूझा कि मोहन मांझी को अपनी साइकिल थमा गया और बार-बार कहने-कहलवाने पर भी ले नहीं गया।

हीरा जी मेडिकल कालेज (पटना) का छात्र था और अफवाह फैल रही थी कि उनका दिमाग फिर गया है। मौज-मौज में हजार-पांच सौ रुपये फेंक-फूंक दे तो ठीक है। सौ-पचास लगाकर गांधीजी और नेहरू जी की रजत-प्रतिमाएँ बनवा ले तो ठीक है। महीने में बीस दफे हॉलीवुड फिल्में देख आए तो भी ठीक है। मगर कम्युनिस्टों की संगत में वक्त गँवाए, छठे छमाहे दस-पांच रुपये उनकी पार्टी को चन्दा दे, स्टूडेण्ट फेडरेशन द्वारा चलाई गई तहरीकों में दिलचस्पी ले, तो अवश्य ही उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है···अभिजातवर्गीय आलोचना का कुछ ऐसा ही रुख था हीरा जी के बारे में। लेकिन मोहन मांझी तो बिल्कुल दंग रह गया था उसकी भावुकता देखकर! साइकिल नई नहीं थी, दो-तीन साल पुरानी थी। मगर इससे क्या? एक श्रद्धालु की तरफ से अर्पित नैवेद्य तो थी वह! मांझी जनसामान्य की आस्था का अद्भुत पारखी था। उसे लगा कि 'ना' कर देने पर हीरा जी को हफ्तों नींद नहीं आएगी; यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि दादा-परदादा और बाप-चाचा जालिम जमींदार रहे हैं तो यह भी उन्हीं का अनुगमन करेगा।

मन्नाही-गोंढ़ियारी की संयुक्त आबादियों में आम किसान और खेत मजदूर कम नहीं थे। किन्तु उनमें भी ज्यादा तादाद थी मछुओं-मांझियों की ही। इनकी भी चार-पांच उपजातियां यहां थीं: महनी, मांझी, सुनोत, तीअर और तन्नुआ। धनहा चौर और गढ़पोखर जैसे विशाल जलाशय ही इनके पूर्वजों को यहां खींच

लाए थे। आवादी उत्तरोत्तर बढ़ती आई थी, खाने वाले मुँह पचास गुना अधिक हो गए थे। कोसी का जहरीला पानी बीमारियाँ काफी ले आया था फिर भी मृत्यु पर जिन्दगी हावी थी। खपरैल और छत वाले घर दो-तीन परिवारों के ही थे, बाकी छान-फूंक की कुटीरें थीं। आग लगती तो इस छोर से उस छोर तक समूचा गाँव स्वाहा! बाढ़ आती तो घरों में पानी घुस जाता, भीतें धँस जातीं और छप्पर वह जाते। हैजा और मलेरिया का ताण्डव, आवादी को मसान बनाकर छोड़ जाता।

गढ़पोखर की ऊँची-लम्वी ढलान इन वस्तियों को धीरे-धीरे अपनी तरफ खींच रही थी। यूँ भी ये गाँव धनहा चौर की सतह से काफी ऊँचाई पर बसे थे। वाढ़ का पानी सड़क से दच्छिन की आवादी को तो जरूर परेशान करता मगर सड़क से उत्तर यानी गरोखर के दच्छिन मोहार की ढलान पर आबाद घरों तक उसकी पहुँच कभी नहीं होती।

मलाही-गोंढ़ियारी का आधा हिस्सा वाढ़ की चपेट में पड़ ही जाता। फिर बाकी आधा हिस्सा खुलकर उसकी मदद करता।

इस बार भी यही बात हुई थी।

रंगलाल, विसुनी और नीरस आदि के घर आठ-दस रोज तक वाढ़ के पानी से भरे रहे।

सड़क के दच्छिन की वाढ़-ग्रस्त आवादी गढ़पोखर की दच्छिन वाली भिण्ड पर आवाद हो गई थी। पास-पड़ोस के डूबे हुए गांवों की विपन्न जनता उत्तरी और पूरवी भिण्डों पर।

सहायता-कैम्प की तरफ से एक कुटीर उत्तरी भिण्ड पर खड़ी की गई थी, दूसरी कुटीर पूरवी मोहार पर। मोहन माँझी ने खुरखुन से कहकर मधुरी को कैम्प के कामों में लगा दिया था। जिलेबिया भी मधुरी का हाथ बटाती थी। युवकों में मंगल, चुल्हाई, गंगा सहनी का छोटा भाई, विसुनी का वेटा, मुसम्मात जितिया का वहिनौत (भगिनी पुत्र) आदि तो थे ही; पड़ोसी गाँव के भी पाँच-सात जवान डटे रहते।

मधुरी के जिम्मे काम था सहायता-कार्य में लगे हुए स्वयं-सेवकों और वाहर से आए मेहमानों-नेताओं के लिए खाना व नाश्ता तैयार करना, खिलाना-पिलाना, वितरित होने वाले अनाज की सफाई; जरूरतमन्द स्त्रियों तक अन्न-वस्त्र पहुँचाना; और अपनी वस्ती के अन्दर पानी में डूबे हुए घरों से सामान निकालने में औरतों की मदद करना…

चुल्हाई वगैरह पड़ोसी गाँवों से मुसीवतजदा लोगों को डोंगियों पर ले आते थे—सूनी आँखें, उदास चेहरे, कई-कई दिनों के भूखे होते थे लोग!

दूध-पीते वच्चों का दूध के अभाव में वुरा हाल था। जमे दूध के वीस-एक वन्द डिब्वे मिले थे। शहर की हवा जो खा आए थे, ऐसे दो-तीन स्वयं-सेवक चाय पानी के वक्त उस दूध को व्यक्तिगत उपयोग में लाते थे। साग-सब्जी पकाने के

लिए भोला के घर से बड़ी कड़ाही आई हुई थी। मधुरी ने समूचा डब्बा-दूध गरम पानी में घुला लिया और बच्चों को पिला आई। शुरू हुआ सिलसिला। एक दिन, दो दिन और तीन दिन···चौथे रोज़ चौथा डब्बा खुला कि किसी ने मधुरी की शिकायत मोहन माँझी तक पहुँचाई—"मधुरी दवाई वाले दूध के डब्बे बर्बाद कर रही है!"

मोहन ने स्कूल में बुलाकर पूछा—"बिटिया, वह तो दवाई के काम का दूध है न?"

"हाँ चाचा, है तो!" मधुरी ने जवाब दिया। मोहन माँझी ने और गम्भीर होकर कहा—"तू घोल-घोलकर वह दूध लोगों को शर्बत की तरह पिलाती है?"

—नहीं तो!

—वह बीमारों के लिए है बेटी!

—मुझे सब पता है चाचा! यह भी मालूम है कि वह चाय के साथ पीने के लिए कैम्प को नहीं मिला है···

अब भी मधुरी के हाथ में कंघी थी। जिस समय माँझी ने बुलवाया था, एक मातृहीन लड़की को आगे बैठाकर वह उसके बाल सँवार रही थी। सूखी दूब की पतली-कड़ी डंठल से कंघी के दाँतों में जमा हुआ मैल निकालती-निकालती मोहन माँझी को मधुरी ने सारी बात समझा दी तो उसके कन्धे पर हाथ रखकर नेताजी बोले—"ठीक है बेटा! दूध के सबसे बड़े दावेदार बच्चे ही हैं जिन्हें तू दूध दे रही है।"

जिसने चुगली खाई थी, उसे दरअसल भ्रम था मधुरी के बारे में। वह अपने सम्पर्क में आने वाले कैम्प के सभी युवकों के प्रति एक-सा बर्ताव रखती थी। बातें करती थी, खुलकर हँसती थी, ढेर-ढेर-सा मुस्काती थी, सुबह से लेकर दुपहर-रात तक कामों में उलझी रहती थी। अपनी सामर्थ्य के मुताबिक सबकी सेवा करती थी। यहाँ कैम्प में न वक्त था और न तबीयत ही थी कि किसी के साथ बैठकर अकेले में गप्पें मारती रहे। इसी का यह नतीजा था कि दो-एक ईर्ष्यालु युवक मधुरी के प्रति छिद्रान्वेषी हो उठे।

बाढ़-ग्रस्त इलाकों में चिकित्सा-कार्य के लिए पटना मेडिकल कालेज के छात्रों की एक टीम आई तो दो रोज़ वह गढ़पोखर कैम्प में रह गई। उस मण्डली में एक पंजाबी लड़की थी, नाम था कुसुम कक्कड़। गेहुँआ रंग, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, नुकीली नाक। पहनावे में शलवार, सलूका और मखमल की चादर। स्वास्थ्य और खूबसूरती का अद्भुत मिलाप थी वह। बातचीत में और बर्ताव में शेर-बच्चा।। मधुरी ने मेम देखी थी मगर इस प्रकार की पंजाबी लड़की को कभी नहीं देखा था। पहले जनम में जरूर कोई देवता रही होगी, मधुरी ने उसके बारे में यही सोचा।

मेडिकल टीम का कार्यक्रम संक्षिप्त और व्यस्त था तो भी घण्टा-डेढ़ घण्टा

वक्त मधुरी और कुसुम साथ रहीं। खोद-खोदकर कक्कड़ ने उसकी बहुत-सारी बातें मालूम कर लीं और कहा—"लात मार साले को; जब तेरा अपना घर-वाला ही बौड़म निकला तो ससुर की क्या बात करती है।"

आग्रहपूर्वक कुसुम मधुरी के साथ आकर मधुरी को माँ और भाई-बहनों से मिल गई। बिछुड़ते वक्त अपना पूरा पता लिखकर दिया कि शायद कभी काम आ जाए : कुसुम कक्कड़ मार्फत सी० एम० कक्कड़, जेनरल मर्चेन्ट्स, फ्रैजर रोड, पटना। नोटबुक से फाड़ा हुआ कागज का वह छोटा-सा टुकड़ा मधुरी ने तावीज की तरह सँभालकर रख लिया।

ससुराल से जब से लौटकर आई थी, पिता की ओर से मधुरी को काफी छूट मिल गई थी। ऐसा लगता था कि खुरखुन के लिए वह लड़की नहीं, लड़का है। खांचे में मछलियां लेकर अब वह पड़ोस के गाँवों में बेच आती थी। देपुरा जाकर दवा-दारू और सौदाबाड़ी ले आती थी। बाढ़-पीड़ितों के लिए रिलीफ का काम शुरू हुआ तो वह गढ़पोखर के सहायता-शिविरों में डट गई और इससे बाप को बेहद खुशी हुई थी।

खुरखुन पिछले डेढ़ महीने से भारत सेवक समाज वालों की सर्विस में था। एक डोंगी उसके सुपुर्द थी, कण्डक्टर के तौर पर एक श्रमदानी सज्जन साथ रहते थे। उसे कभी-कभी दूर दक्षिण कुशेश्वर-स्थान तक डोंगी ले जाना पड़ता, उत्तर फुलपरास और पूरब निर्मली से भी आगे तक। यही हाल था नीरस का। मजदूरी थी दो रुपये रोज की। दूर निकल जाते तो घर कहलवा भेजते और उस दिन खाना नहीं आता। कभी अलग-अलग वक्त पर दोनों दो दिशाओं में निकलते। उनकी ये डोंगियाँ नई-नफीस और आरामदेह थीं। बैठने के लिए पीठ की ओर से टिकावदार बेंचनुमा चिकनी चमकीली तख्तियाँ जमाई हुई थीं। सीटें अधिक नहीं, चार दुनी आठ; बस। स्वयं-सेवक और मल्लाह की जगहें दोनों तरफ छोरों पर निश्चित थीं। बीच में तीन साइकिल-स्टेंड थे।···ड्यूटी सिर्फ खेने की ही नहीं थी, बाज दफे किन्हीं-किन्हीं नेता बाबू की खास सेवा-टहल भी करनी पड़ जाती; तेल-मालिश, खाना बनाना, कपड़ों की सफाई आदि ··दोष जो भी हों, एक बड़ा भारी गुण इस सर्विस में था कि तलब ठीक वक्त पर मिल जाती थी, बल्कि कुल रकम अगाऊ भी चाहो तो ले लो।

खुरखुन कुछ देर पहले निर्मली से डोंगी लेकर लौटा था। वह इस गुन-धुन में पड़ा था कि घर की खोज-खबर जाकर ले आए कि नहीं, कि आज यहीं कैम्प में खाए-पिए और आराम करे और परसों तो छुट्टी मिलेगी ही···

कि मोहन मांझी दिखाई दे गया। लाइन के उस पार अपने गांव की ओर से आने वाली सड़क पर नहीं, बल्कि शाम की ट्रेन से उतरकर बाहर पान की दूकान के सामने खड़ा था वह। वही साबिक बाना···कोकटी रंग की हाफ कमीज, घुटनों तक की धोती, कन्धे से लटकता थैला। सिर और पैर खाली।

खुरखुन कोहनियों के बल औंधा लेटा था, छाती से ऊपर कन्धे धरती से

अलग थे और माथा उठाए सामने देख रहा था। अब मोहन माँझी पर नजर गई तो उठकर खड़ा हो गया। जोर से आवाज दी—नेताजी ी ी ीअ ऽ ऽ···! अओ नेता-जी ी ी ी···!!

हाथ के इशारे से मोहन माँझी ने खुरखुन को पास बुला लिया।

पानी के लिए आग्रह हुआ तो खुरखुन ने हाथ बढ़ा दिया आगे।

उसने सोचा, चलो, यह अच्छा रहा कि नेताजी मिल गए। अब तो बातचीत की लालसा भी पूरी होगी और रास्ता भी अच्छी तरह कटेगा। अपने आप में खुरखुन आश्वस्त हो गया कि गाँव चलना ही है।

मगर पूछने पर पता चला कि मोहन माँझी यह रात और कल का दिन स्टेशन पर ही गुजारेगा।

मालगाड़ी के पाँच डब्बे झंझारपुर स्टेशन पर साईडिंग में थे। तीन डब्बे यहाँ और चार डीहा स्टेशन पर। दरभंगा और समस्तीपुर से रेलवे-अधिकारियों के फोन पर फोन आ रहे थे। इधर वाले तीनों स्टेशन-मास्टर भी कॉल पर कॉल दे रहे थे···

—नहीं सर, हमारा कोई भी बस नहीं चल रहा है, सर!

—जी सर, जी! ···जी! ···येस सर!···

—पब्लिक का मूड बड़ा ही भायोलेन्ट है, सर!

—जी सर, हाँ, मुश्किल से! जी हाँ, बड़ी मुश्किल से इन्हें हमने रोक रखा है! ···जी!

—मिलटरी? ···येस सर! ···मिलिटरी ही अब इन डब्बों को खाली करा सकती है, सर!

—नहीं सर! ···आधा दर्जन, नहीं सर! ···एक दर्जन···

स्टेशन-मास्टर फाटक और खिड़कियाँ बन्द करके फोन कर रहा था और बाहर शीशों से नाक-मुँह-कपार सटाए लोग उसकी मुखमुद्राएँ देख-देखकर ही असलियत को भाँप जाना चाहते थे।

मोहन माँझी खुरखुन को प्लेटफार्म पर ले आया।

सैकड़ों की तादाद में लोग छितराए हुए थे।

मालगाड़ी के डब्बों से जलते चूल्हों का धुआँ निकल रहा था। जरा देर पहले जमकर बूँदाबाँदी हुई थी। सो, भीगी साड़ियों और धोतियों की फैली हुई बदरंग नुमायश उतरती सन्ध्या को मनहूस बना रही थी। ये कपड़े डब्बों की कीलियों-खूँटियों और खुली फाटकों की कब्जियों-छोरों से उलझाकर सूखने को झुला दिए गए थे।

खुरखुन ने सुर्ती ठोंकते हुए कहा—"तो नेताजी, मैं भी आज घर नहीं जाऊँगा। हम साथ रहेंगे।"

—अच्छी बात है।

—अच्छी बात नहीं, तुम्हारा क्या ठिकाना! चुपके से कहीं खिसक दोगे!

मोहन को हँसी आ गई, खुरखुन के कन्धे पर हाथ रखकर बोला—नहीं भाई, तुम्हारी नीयत साथ रहने की है तो नाहक क्यों छोड़ देगा ?

भीतर के हुलास को खुरखुन नहीं दवा सका तो दाँत निपोड़ दिए। सुर्ती फाँककर अस्पष्ट उच्चारण में कहा—"साथ-साथ ही गाय चराई, तुम हो गए कन्हैया ! भैया, तुम हो गए कन्हैया···"

माँझी आज दिन में काफी देर तक लहेरिया सराय रहा था, अदालत के भी दो-तीन चक्कर लगाए थे। किसान सभा की अपने जिला-आफिस से भी हो आया था। वाकरगंज की सालन-पराँठा-मछली वाली दूकान में बैठकर खाना खाया था। सहसा उसने पूछ लिया—"रात का खाना खुरखुन ?"

—नीरस पका रहा है, कहके आता हूँ। तुम्हारा भी पक जाएगा।

—अच्छा, सुन खुरखुन ? अंचलाधिकारी का तबादला होने जा रहा है···

—अरे !

—सच, तुम्हारी कसम !

—तुम तो कहते थे कि नहीं होगा।

—मैं कोई विधाता थोड़े हूँ।

—ऊँ !

—ऊँ ! सतघरा के ज़मीदारों का जाल कोई मामूली जाल है ?

—कसूर यही था कि गरीब ने हमार पच्छ लिया···

बीस-बाईस वर्ष का एक जवान लपकता हुआ आया और माँझी को एक ओर खींच ले गया। वह तैश में था, बोल मुँह से फूट नहीं पा रहे थे। उसने माँझी का हाथ कसकर पकड़ रखा था और भीड़ को चीरते हुए लाइनों की सीध में उधर बढ़ा जा रहा था जिधर मालगाड़ी का तीसरा डब्बा खड़ा था।

डब्बे का फाटक खुला था। स्टेशन का छोटा बाबू यानी माल बाबू खुद नीचे खड़ा-खड़ा डब्बा खाली करवा रहा था। अन्दर पैंटमैन और खलासी थे जो कि बाढ़-पीड़ित शरणार्थियों का सामान बाहर फेंक रहे थे। सन से सफेद बालों वाली एक बीमार बुढ़िया, मियादी बुखार की सूखी शकल वाला एक छोकरा, दूध-पीते शिशु को सँभाले खड़ी आधी घूँघट वाली एक युवती···साफ था कि इन्हें नीचे उतरने को बाध्य किया गया था। ईंटों का कामचलाऊ चूल्हा था, उसमें ठोकर मारकर बटलोई लुढ़का दी गई थी और तैयार खिचड़ी के छितराए हुए रिले-मिले घुले-पीले दाने टार्च की रोशनी में रह-रहकर जगमगा उठते थे।

युवक ने आदेशपूर्ण स्वर में माँझी से कहा—"आइए कामरेड, देखिए राक्षसों का यह ताण्डव ! बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान अल्लाह ! रेलवे वालों के दिमाग तो जाने किस धात के बने हैं !···वह बूढ़ी मेरे गाँव की पर-दादी हैं, तिरानवे साल की उमर है उनकी। हमने आराम के लिहाज से उन्हें डब्बे के अन्दर रखा था। और वो जो लड़का लड़खड़ाता-सा खड़ा है, अठारह

रोज से बुखार में उवल रहा है। और वह चिलकाउर (सद्य-प्रसूता) वेचारी…कामरेड, मैं आग लगा दूंगा स्टेशन में ! ईंट से ईंट वजा दूंगा मैं इनकी तो ! इन्होंने आखिर समझ क्या रखा है ?…मुसीवतों में मारी जनता के साथ इनका यह सलूक ! पिछले पाँच-सात दिनों के भीतर जिलाधीश (डी० एम०) को हमने चार वार तार किया है, दो वार चीफ मिनिस्टर को। पता नहीं, किस जहन्नुम में जाकर गर्क हो गए वे तार ! पा…"

मोहन मांझी ने विजली की फुर्ती से अपना हाथ रख दिया युवक के मुंह पर, आफिसरों और मिनिस्टरों के लिए गालियों के सहस्र नाम तथा पवाड़े पहले अक्षर पर आकर ही घुटकर रह गए। कामरेड मांझी के हाथ का मजवूत पंजा उस क्षुब्ध-क्रुद्ध युवक के फड़कते होंठों को अच्छी तरह अपने कावू में ला चुका था।

मुंह को हाथ की कैद से छुड़ाने की कोशिश में युवक की तेशानी पर वल पड़े कि नहीं श्रावण शुक्ल की वह धुंधली रात भला कैसे वताती ?

उसके नथनों से छूटती हुई गरम-गरम साँसें मांझी को वतला रही थीं कि अन्दर की उवाल का तापमान क्या हो सकता है।

दूसरी वांह के घेरे में लेकर युवक को उसने सीने से लगा लिया और पहले हाथ का पंजा होंठों से हटाकर उसने माथे पर रखा। वरफ-सी ठण्डी और मक्खन-मिसिरी-सी चिकनी-मीठी वोली में कहा—"पगलई से काम नहीं चलेगा वेटा ! गरम लोहे को ठण्डा हथौड़ा पीट-पाटकर रख देता है। ठण्डे दिमाग से सोचना-समझना और तव आगे कदम वढ़ाना ववुआ…हम तुम्हारा साथ देंगे, घवड़ाने की क्या वात है इसमें !…"

"हाँ, ठांढा-माफिक शोकने शे शोव काम शुभिश्ता से हो जाएँगी ! वावू, आप आ गिया, शो आच्छा हुआ ! न्यू व्लड है न ! हूँ ·" हिन्दी में वँगला-उच्चारण की वघार मारकर छोटा वावू वोल गया, वह वंगाली था।

"जाइए आप अपना काम देखिए !"—मोहन मांझी ने उससे डपटकर कहा तो वह मिटपिटा गया। चार कदम हटकर खड़ा हुआ और डरे स्वर में अवाज लगाई—"घोघोन !"

घोघन मण्डल पैटमैन का नाम था।

वह अपना काम लगभग खतम कर चुका था। अन्दर से ही जवाव दिया—"आया छोटे वावू !"

वंगाली वावू तव तक पचीस-तीस कदम अलग हट चुके थे। एक हाथ में ताला, दूसरे में पेन्सिल। डव्वा खाली करवाकर वह अपने सामने उसमें ताला लगवाने वाले थे और तव उन्हें समस्तीपुर फोन करना था कि आखिर एक डव्वा हमने खाली करवा लिया।

युवक मोहन मांझी के वदन से सटा हुआ अव भी उसी तरह पड़ा था।

गुनगुन वरावर अपने 'नेताजी' के पीछे-पीछे था।

कामरेड माँझी ने छोटे बाबू को डाँट पिलाई, तो इससे खुरखुन का भौचक-पना फट गया। नहीं तो अब तक वह किंकर्तव्य-विमूढ़ ही रह जाता।

मोहन माँझी की वह फटकार नई दिशा का संकेत थी।

डब्बे का फाटक खुला पड़ा था। अब भी अन्दर से इक्की-दुक्की चीजें बाहर फेंकी जा रही थीं। बड़ी और वजनी वस्तुएँ निकाली जा चुकी थीं, अब छोटी वस्तुओं का नम्बर था···कलछी गिरी, कजरौटा गिरा, बार्ली की छोटी डब्बी गिरी, दूध पीते बच्चे का मैला, चिपचिपा, धुँधली चाँदनी में काला लगने वाला तकिया गिरा···

"ठहरो!" अब खुरखुन गरजा, अपार रोष खोल उठा उसका—"तुम लोगों की यह हिमाकत!···तुम्हें रोकने-टोकने वाले मर नहीं गए हैं···"

वह छलाँग मारकर डब्बे के अन्दर हो गया।

खलासी और पैटमैन को सक्रिय जवाबी हमले की यह उम्मीद नहीं थी। घरेलू सामान में से बड़ी वस्तुएँ फेंक चुकने पर छोटी-छोटी चीज़ें नीचे फेंकना उनके लिए कोई मशक्कत नहीं थी, मनोरंजन था। खंड-ईंटों के छितराए चूल्हे की भस्मावृत चिनगारी से बीड़ी सुलगाकर उसे वे बारी-बारी से पी रहे थे और बारह मासा के पद गुनगुना रहे थे—

"सावन हे सखि अति भयावन
निठुर पिय नहिं पास, यो!
चपल दामिनि, विकल भामिनि
ककर करती आस, यो!
मास भादो, कीच काँदो···"

एक-एक कर खुरखुन ने दोनों को नीचे लुढ़का दिया और चिल्लाया—"जाओ, अपने-अपने नाना को बुला ले आओ! हरामी! कुत्ते! गधे! पाजी···"

मालगाड़ी का वह वैगन स्लेटी नहीं, गहरे-भूरे रंग का था। दूर से भी धुँधली चाँदनी में बॉक्सनुमा उसकी शकल-सूरत नीचे के अपने चारों पहियों पर बुरी नहीं लग रही थी।

मोहन माँझी और वह युवक अब भी खड़े थे। बाढ़-पीड़ित जनता की भीड़ उसके आस-पास बटुर आई थी। खुरखुन ने जिन्हें नीचे धकेल दिया था, स्टेशन के वे दोनों निचले कर्मचारी चुपचाप वहाँ से हट गए थे। छोटा बाबू स्टेशन के बरामदे पर खड़ा होकर चीख रहा था—घोघोन, छेड़े दाओ हियाँ आ जाओ ··हम डी० टी० एस० को फोन करता है···बिहान मिलिटरी आयगा तब सौब को लेसन देगा···हुआँ जास्ती देस्ती देर मत ठहरा रहो रे दुड़बक!···मिलिटरी शैल रीच हीयर अर्ली इन द मौनिंग···(मिलिटरी सुबह जरूर आ जाएगी)।

खुरखुन फिर नीचे कूद आया और गुर्राया—"देखें, कैसे हमें तोन से उड़ाती

है मिलिटरी ! ···"

फिर अपनी उसी सहज मस्ती में वह उधर चार कदम वढ़ा जिधर वुढ़िया थी। इतनी देर भी वह खड़ी नहीं रह सकी, वैठ गई थी गीली गिट्टियों वाली जमीन पर ही। खुरखुन ने वैठी हुई को ही अपनी वलिष्ठ वाँहों में उठा लिया और खाली डव्वे के अन्दर उचकाकर वैठा दिया। जमे हुए स्वर में वोला—"वावी, अव हमारी मर्जी के विना कोई तुम्हें वाहर नहीं निकाल सकता···मैं अन्दर आकर तुम्हारा विस्तरा ठीक कर देता हूँ, वस अभी-अभी आया वावी !"

तव उसने वीमार छोकरे को उठाकर डिव्वे के अन्दर रखा।

मोहन माँझी युवक से जरा हटकर अव भीड़ के वीचों-वीच था। लोग आपस में अलग-अलग वातें कर रहे थे। वैसी हरकत के लिए रेलवे वालों की सख्त नुक्ताचीनी कर रहे थे लोग। स्वर और कहने के ढंग अलग-अलग थे, क्षोभ और क्रोध की माता किन्तु कमोवेश सवमें थी। दो-एक शंकित और आतंकित आवाजें भी मोहन के कानों तक आ चुकी थीं।

विना किसी भूमिका के, अपनी देहाती भाषा में रेलवे अधिकारियों की ववंरता और मौजूदा सरकार की अकर्मण्यता पर मोहन माँझी ने कसकर शब्दों की चार चोटें दीं, अन्त में लोगों से सीधे सवाल किया—"अव इस पर आपकी क्या राय है ? मिलिटरी कल सुवह न सही, शाम तक तो जरूर आ जाएगी। वह वन्दूकों के वल पर तीनों डव्वे खाली करा लेगी। आप क्या करेंगे ?"

भीड़ चुप थी। इस चुप्पी का मतलव चालीस साला जननायक कामरेड मोहन माँझी अच्छी तरह समझ रहा था।

कुछ क्षणों की चुप्पी।

खुरखुन अव डव्वे के अन्दर घुसकर दादी के लिए कम्वल विछा रहा था। दूध-पीते वच्चे को दूसरी की गोद में डालकर वह चिलकाउर युवती लाइन के साथ दस कदम जाकर नीचे उतर गई ··

चुप्पी अखरी तो युवक वोला—"मैं वताऊँ कामरेड ?"

माँझी उससे विल्कुल अपरिचित हो, वात ऐसी नहीं थी।

मैट्रिक के वाद उसकी पढ़ाई छूट गई थी। चार साल वाद दरभंगा कालेज में फिर से ऐडमिशन लिया तो अगले मार्च में ही वहाँ छात्रों की तरफ से जोरों का आन्दोलन छिड़ा था। कालेज की प्रवन्ध-समिति ने कुछ-एक निर्दोष प्रोफेसरों को मुअत्तल करके गोया अपनी नाक टूटने से वचा तो ली लेकिन २५०० छात्रों की उस विशाल जमात को उल्लू नहीं वना पाई। हारकर ग्रीष्मावकाश से डेढ़ महीने पहले ही छुट्टियाँ घोषित करनी पड़ी थीं। पिकेटिंग और गिरफ्तारियाँ क्या थीं, अच्छा-खासा तमाशा था। ठण्डे दिमाग का दूरदर्शी डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट पुलिस अधिकारियों पर आदि से अन्त तक अपना अंकुश डाले रहा, वर्ना लाठी-चार्ज और वन्दूकवाजी वीसियों वार हो चुकी होती। उसका कहना था, विद्यार्थी आखिर वच्चे ही तो हैं ! चीखें, चिल्लाएँ, वकें, गालियाँ दें, नारे लगाएँ, चिढ़ाएँ,

मुँह बनाएँ, कोई परवाह नहीं ! दो घण्टे नहीं, चार घण्टे···दो रोज़ नहीं, चार रोज़···जोश का धारा नीचे उतरेगा, घर बैठेंगे अपने आप···थोड़ा-बहुत नुकसान भी कर दें, कोई परवाह नहीं···उन्हें समझा-बुझाकर रास्ते पर लाओ ! ···नहीं मानें तो गिरफ्तार करके सही-सलामत जेल भेज दो···पाँच सौ से ज्यादा लड़के जेल चले गए थे। फुलपरास थाने के जमुआर गाँव का यह युवक चालीस रोज उस सिलसिले में जेल हो आया था। भुंइहार था जात का। ऊपर छाँह बाप की नहीं, विधवा माँ की थी···माँझी को लेकिन इस युवक का नाम नहीं मालूम था। बाकी जानकारी इधर-उधर से हासिल हुई थी।

नहीं बोलने दिया कामरेड ने उसे। वह दरअसल आम लोगों की राय मालूम करना चाहता था। खुरखुन ने उधर से कहा—"क्यों नहीं बोलने देते हो उसे नेताजी ? क्या कसूर किया है बेचारे ने ?"

भीड़ में से किसी की आवाज़ आई—"हाँ रामदहिन, तुम्हीं बतलाओ, अब क्या करना होगा···"

—हम सत्याग्रह कर देंगे···दूसरी आवाज़।

—हम आज ही रात डब्बे खाली कर दें···तीसरी आवाज़ फुसफुसाहट में डूबी हुई थी, फिर भी मोहन माँझी ने सुन ली।

—एक-आध हममें से मरेगा तो मरेगा, हम भी मिलिटरी को मजा चखा देंगे···

—हाँ, बन्दूक छीन लेंगे एक-एक के हाथ से।

—वे दस-बीस ही होंगे, हमारी तादाद सैंकड़ों की होगी···

मोहन माँझी हँस पड़ा, कहा—"अच्छा, यह तो बताओ कि जिन्दगी-भर इन डब्बों को खाली न करोगे ?"

खाँसती आवाज़ में कोई बोला—"पानी तो बाढ़ का पीछे हट ही रहा है, पाँच दिन की मुहलत दे हमें रेलवे···छठे रोज अपने डब्बे ले जाए वो···"

अब गम्भीर स्वर में वह युवक (रामदहिन) कह उठा—"नहीं, पूरा सप्ताह लग जाएगा···हफ्ते-भर की मुहलत चाहिए हमें !"

कई कंठों की मिली-जुली आवाज़—"हाँ, हफ्ते-भर की मुहलत चाहिए !"

हाँ, हफ्ते-भर की मुहलत चाहिए—खुरखुन भी बोला। वह डब्बे से नीचे उतर खइनी मसल रहा था ? चुनौटी, अपनी जो थी, परसों रेती में लसकी हुई डोंगी को नीचे उतरकर धकेलते समय अण्टी से कहीं खिसक पड़ी थी। जो कभी किसी पेटेण्ट मलहम से भरी होगी, टिन की वह छोटी-सी चुनौटी खुरखुन को याद आ रही थी। अब हर दो घण्टे बाद ज़रा-ज़रा-सा चूना के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाना पड़ता था। अभी भी कई से पूछने के बाद किसी एक के पास से चूना मिला था।

मोहन माँझी चुप था, गम्भीर।

"कामरेड ?"—रामदहिन ने कहा—"आप यह मत समझिए कि यह इस

या उस गाँव के कुछ-एक लोगों का सवाल है। नहीं कामरेड, ऐसा नहीं है। बाढ़ में डूबे हुए कई गाँवों के सैकड़ों परिवार रेलवे कम्पनी के इस लम्बे-ऊँचे बांध पर बसेरा लिए हुए हैं। शरीर स्वस्थ हो तो फिर भीगते-सूखते जैसे-तैसे आदमी रह लेता है मगर बीमारी की हालत में वह लाचार हो जाता है। मालगाड़ी के ये तीनों डब्बे हमने बीमारों के लिए ही दखल कर रक्खे हैं। हम रोगियों को खुली बाँध पर या प्लेटफार्म पर कैसे रहने दें? आप ही बतलाइए कामरेड?"

कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद मांझी ने निचले जेब में हाथ डालते हुए कहा—"तो, हमें दो काम करने होंगे। पहला काम होगा शान्तिपूर्वक पिकेटिंग करना, रेलवे वालों और मिलिटरी के जवानों को समझाएँगे-बुझाएँगे, नहीं मानेंगे तो सामूहिक सत्याग्रह होगा। दूसरा काम है कलक्टर से मिलना और रेलवे वालों के दुर्व्यवहार से उत्पन्न परिस्थितियों से उसे वाकिफ कराना, बीमार बाढ़-पीड़ितों के लिए तम्बू, रावटी आदि की तत्काल व्यवस्था करवा लेना। इन कामों में सभी पार्टियों की सहायता आपको चाहिए और वह मिल भी सकती है।···रामदहिन यहाँ रहें और आप में से दो जने मेरे साथ अभी एक बजे (रात) ट्रेन से दरभंगा चलिए। बाबू परमेश्वरीचरण मुख्तार पुराने और मशहूर कांग्रेसी हैं। साथ-साथ जेल में रहे, अपनी पुरानी जान-पहचान है। ईमानदार और निर्लोभी होने के कारण सबके दिल में उनके लिए श्रद्धा है। उनको साथ लेकर सुबह हम जिलाधीश से मिलेंगे···यहाँ रामदहिन हइए हैं···"

"बोलो रामदहिन?"—कई आवाज़ें।

रामदहिन मुँह खोले और कुछ बोले, कि उससे पहले ही खुरखुन बोला—"कोई बात नहीं रामदहिन बबुआ, मैं कल दिन-भर तुम्हारे साथ रहूँगा···कल चाहे नेहरूजी ही क्यों न आकर डोंगी पर बैठ जाएँ, मैं नहीं खेने का! कल तो मुझे देखना यह है कि कैसे मलेटरी वाले डब्बे खाली कराते हैं···"

मोहन मांझी ने खुद आगे बढ़कर खुरखुन की पीठ थपथपाई और भीड़ को सम्बोधित किया—"भाइयो, इनको आप लोग पहचानते हैं? नहीं? अरे यह मलाही-गोंढ़ियारी के बहादुर मछुआ खुरखुन तीयर हैं।"

बीच में ही एक गहरी फुसफुसाहट उभर आई भीड़ पर—"खुरखुन! खुरखुन तीयर! जो पानी में मगर को पछाड़ते हैं—वही न? कि दूसरा कोई?"

"··· हाँ, हाँ, वही बहादुर"—मोहन मांझी ने कहा—"तो अपना काम छोड़कर खुरखुन कल समूचा दिन आप लोगों के साथ गुजारेंगे। रामदहिन तो खैर रहबे करेंगे···क्यों रामदहिन बाबू?"

—हाँ, कामरेड!

—और, मेरे साथ दरभंगा किस-किस को भेज रहे हैं?

—पन्द्रह मिनट के अन्दर ही आपको बता रहा हूँ कामरेड!

—तो, अब हम खाना खाने जाते हैं···आप यहीं मिलिए!

—जी! चलिए···

नीरस रसोई पकाकर आया था और मांझी के पास ही खड़ा था। बीच-बीच में दो-तीन बार उँगली से गोदकर उसने चलने का इशारा किया था।

अब माँझी चले तो भीड़ भी अपने आप छितरा गई।

स्टेशन से बाहर ज़रा हटकर भारत सेवक समाज वालों का कैम्प था। कैम्प के करीब ही नीरस ने खाना पकाया था। भात और मछली का झोल, आलू का ज़रा-ज़रा-सा भर्ता। थाली एक ही थी, पीतल की। वह नेताजी के सामने रखी गई। खुरखुन का खाना पुरइन के पत्ते पर परोसा गया था। नीरस ने खुद पीछे खाना खाया।

खुरखुन ने कैम्प से एक कुर्सी ला रखी तो मोहन माँझी ने उस पर बैठने से इनकार किया। जमीन पर सभी साथ बैठे और बातें होती रहीं। रामदहिन के साथ तीन-चार जने और आ गए थे।

ट्रेन आई तो मांझी और रामदहिन के दो आदमी दरभंगा चले गए।

अगले दिन खुरखुन ने जोर-जबर्दस्ती छुट्टी ले ली कैम्पवालों से और रामदहिन के साथ मोर्चे पर डटा रहा।

मिलिटरी के आठ जवान सवेरे की ट्रेन से आ धमके, साथ रेलवे का अपना मजिस्ट्रेट भी आया था। उसने पब्लिक को बारह घण्टे का वक्त दिया। बाकी स्टेशनों पर भी जहाँ कहीं मालगाड़ी के डब्बे बाढ़-पीड़ित जनता के अधिकार में थे, इसी तरह मिलिटरी के जवान उन्हें खाली करवाने आए थे।

गनीमत यह हुई कि शाम तक कलेक्टर का आदेश बाढ़-ग्रस्त क्षेत्र के इन स्टेशनों में आ पहुँचा कि तीन दिन की पूरी मुहलत और उसके बाद दो दिनों में धीरे-धीरे डब्बे खाली करा लिए जाएँ।

रेलवे की जमा-पूंजी और माल-असबाब की हिफाजत के नाम पर फिर भी मिलिटरी के जवान डटे रह गए। खुरखुन और रामदहिन पर स्टेशन का समूचा स्टाफ रंज था। वे उन दोनों को गिरफ्तार करवाने में कामयाब तो रहे मगर चौबीस घण्टे की हिरासत के बाद डिविजनल कोर्ट ने उन्हें छोड़ दिया। चौथे रोज मोहन माँझी और खुरखुन साथ ही घर आए।

दस

देपुरा से आधा कोस उत्तर खैर-महुआ-सीसम-साहड़-पितोझिया आदि पेड़ों से बना जंगल था एक पुराना और सुरक्षित।

जंगल के बीचों-बीच पुराना पोखर था छोटा-सा। पुराना होने पर भी उसका पानी स्वच्छ था। गर्मियों में भी सूखता नहीं था। बल्कि पास-पड़ोस के पोखरों का हाल जब बुरा से बुरा हो जाता तो प्यासे प्राणी उसकी शरण में आते।

वस्तियों से अलग और घने जंगल के मध्य में होने के कारण मछुए इस जलाशय को ठेके पर नहीं लेते थे। एक वार जोश में आकर भोला ने दो सौ नकद गिन दिए और देपुरा के जमींदार से साल-भर के लिए एक पोखर वन्दोवस्त ले लिया। अगहन में तालमखाना के वीज डाल दिए। मगर सावन-भादों तक तैयार फसल का मौसम आते-आते वन्दरों और चरवाहों ने तालमखाना के सारे कोए उड़ा डाले! भोला के पचीस रुपये भी वापस नहीं आए।

वाढ़ के दिनों में उस जंगली पोखर का मुंह भुतही वलान की धारा से जुड़ जाता था। इस दफे सावन ही में एक भारी मगर घुस आया तो फिर निकल नहीं सका।

धीरे-धीरे उस जल-दानव की चर्चा आसपास फैलने लगी। पहले एक चरवाहा छोकरा उसका ग्रास वना, फिर एक गाय और तव जंगल में घूम-घूमकर कंडे चुननेवाली एक औरत।

दुर्गापूजा से दो रोज पहले खुरखुन को चौथी वार वुलावा आया तो वह अपने को रोक नहीं सका। मगर का शिकार करने में खतरा तो रहता था, लेकिन उसकी तवीयत इससे रत्ती-भर भी घवराती नहीं थी।

भोला के वैठकखाने में पुरानी भारी-भरकम-सी सन्दूक पड़ी रहती थी लकड़ीवाली। खुरखुन ने उसमें से मगर की खाल के वने खोल निकलवा लिए, वांस की लम्वी मोटी सुई (सूआ) अपने घर से ले ही ली थी।

नीरस, रंगलाल, मंगल, चुल्हाई आदि दस-वारह जने साथ हो गए। दो वांस और लम्वा-मोटा रस्सा और घड़िया में पीने का पानी···वस, और किस चीज की जरूरत थी?

आसिन की पीली सुनहली धूप···डेढ़ पहर दिन उठा था।

सभी ने साथ ही जंगल में प्रवेश किया।

मन्दिर नजर आते ही मंगल गरजा—"वम् वम् वम्! वोल प्रेम से वावा डरवसी नाथ की···"

"जै!···" वाकी लोगों ने कहा।

"शंकर वम्भोले की···"

"जै!"

"वस भाई, वस करो!" खुरखुन ने कहा, "ज्यादा चीख-पुकार मचाते जाओगे तो मगर कीचड़ में दुवक रहेगा, फिर हाथ नहीं लगने का!"

मंगल ने कहा, "पहले वता दिया होता। अच्छा, अव कोई हल्ला-गुल्ला न करे भाई!"

थोड़ा आगे वढ़ने पर पोखर दिखाई पड़ा।

पच्छिम और दक्खिन कोने पर झाड़ी-झुरमुट काफी घनी थी। खैर, वेल, पितौंझिया, कुश, इमली, सेमल आदि के मोटे-पतले छोटे-वड़े झाड़ दुर्दिन-दुर्दिन के साथियों की तरह आपस में गुंथे खड़े थे। जंगली जानवर उधर से ही पोखर

का पानी पीते होंगे, देखकर यह कोई भी वता सकता था।

खुरखुन को विश्वास हो गया कि मगर का वसेरा पोखर के दक्खिन-पच्छिम वाले इसी कोने में होगा। इशारे से उसने सवको उधर वुला लिया।

वाँहों में मगर की खाल के खोल डाल लिए, हाथ में मजवूत डोरी वाला वही सूआ। आहिस्ते-आहिस्ते पानी के अन्दर धँसा।

पहले-पहल तो पैर वित्ता-डेढ़ वित्ता कीचड़ में चँप गए, आगे कीचड़ कुछ कम था। पानी हल्का नहीं, भारी था। स्वाद कसैला-सा। गोताखोर खुरखुन पानी के अन्दर ही अन्दर पचीस गज का चक्कर मार आया···कीचड़ ही कीचड़। पोखर के पेट में खुरखुन को और कुछ नहीं दिखाई पड़ा। पानी के भीतर अपने एक हाथ और एक पैर के पंजे हिला-हिलाकर उसने अपनी निगाहों को परखा। पंजे दो-ढाई गज के फासले तक दीख रहे थे। उँगलियों की रेखाएँ तो नहीं, आकार साफ-साफ नज़र आए। खुरखुन को तसल्ली हुई।

धड़ को गर्दन तक पानी के अन्दर रखकर सिर वाहर निकाला। रुकी हुई साँसें जोरों से छूटीं तो नाक के सामने पानी पर खूव-खूव-सा दवाव पड़ा।

थोड़ी देर के वाद साँसें अपनी सहज गति में आ गईं तो फिर गोता लगाया। अव की चक्कर में न जाकर, सीधा गया। फिर वापस मुड़कर उधर को रुख किया जिधर झुरमुट काफी घना था। किनारे का वह हिस्सा डरावना लगता था। तून, जामुन और गूलर के चार-पांच वौने-कुवड़े पेड़ पानी पर दूर तक झुके पड़े थे। ऐन किनारे से लगी हुई उस झुरमुट के अन्दर गीली जमीन में मगर की माँद हो सकती थी।

हाथ के इशारे से खुरखुन ने उधर आने को साथियों से कहा।

हाथों से रस्सा सँभाले वे झुरमुट के करीव आकर खड़े हो गए। अनजाने-मंगल ने सीटी वजा दी तो चुल्हाई ने उसे डाँटा। आसपास से आकर वीसियों चरवाहे इकट्ठे हो गए थे। आपस में वे खुसुर-फुसुर करने लगते तो नीरस हाथ हिला-हिलाकर वीच-वीच में उन्हें रोका करता।

खुरखुन का अन्दाज ठीक निकला।

उथल-पुथल से आराम में खलल पड़ा तो मगर भी परेशान हुआ और पानी के अन्दर आड़े-तिर्छे और सीध में दौड़ने लगा।

यों, इस पोखर में आए उसे तीन महीने हो रहे थे। यहाँ शिकार की भी कमी नहीं थी और आराम भी था। आस-पास दो-तीन मील कोई ताल-तलइया नहीं थी। भारी पांतर के वीच पड़ता था यह जंगल। आठ-दस गांवों के मवेशी चरने निकलते तो पानी यहीं आकर पीते। नेवला-खरगोश से लेकर गाय-वैल, आदमी तक···मगर को आहार कुछ न कुछ मिल ही जाता था।

एक जगह पानी की सतह पर छोटे-छोटे वुलवुले वेहद फुर्ती से उभर रहे थे। खुरखुन ने सूआ वाले हाथ से लक्ष्य ठिकियाकर डुवकी लगाई और उस तरफ वढ़ा।

पूंछ नज़र आई मगर की तो तिर्छे होकर वह एक तरफ को दुबक गया। उसने फिर अपनी कोहनी आगे कर दी और उसे हिलाता-डुलाता रहा।

हल्का-हरा शीशा-सा पानी का भीतरी दृश्य मगर की असली सूरत को खिलने नहीं दे रहा था। छायामय आकृति भीतर-ही-भीतर नज़र आ रही थी।

हिलती-डुलती कोहनी की ओर मगर का फैला हुआ मुंह बढ़ा आ रहा था कि खुरखुन ने सूआ सीधा किया···बड़ी सफाई से मगर की आँख में उसने सूआ घोंप दिया और मुंह के अन्दर से निकाल लिया। फुर्ती से डोरी में गाँठ डाल दी और बाहर आ गया।

नीरस ने फौरन रस्से का छोर खुरखुन की तरफ फेंक दिया तो सूए वाली डोरी का सिरा रस्से के छोर में बांधकर वह किनारे आ गया।

बाँहों में खाज के खोल, कमर में अंगोछा। साँवली सूरत, चौड़ा चेहरा। पाँच हाथ लम्बा, मजबूत काठी का अधेड़। बाएँ कन्धे पर घाव का पुराना निशान··· बालों का पानी समूचे शरीर की लम्बाई का फासला तय करके पैरों के रास्ते जमीन को भिगो रहा था। देर तक डुबकियां लगाते रहने से आंखों के कोए लाल-लाल हो रहे थे।

नीरस, रंगलाल, मंगल, चुल्हाई वगैरह दस-बारह आदमियों ने रस्सा खींच-कर मगर को घसीट लिया।

नौ हाथ लम्बा, लगभग पन्द्रह मन भारी। दांत और जबड़े बड़े विकराल लग रहे थे। शरीर के अनुपात में आंखें बेहद छोटी और गोल थीं। बदन का ऊपरी हिस्सा खुरदरी चकत्तियों वाला और मूंग के छिलकों की-सी सूरत का। पेट के तरफ का हिस्सा चिकना, मटमैला। छोटी-छोटी चार टांगें।

चुल्हाई और मंगल उसे बांसों से पीटने लगे। प्रतिरोध में सिर्फ पूंछ हिलती-डुलती, उठती-पड़ती रही।

खुरखुन गीला गमछा छोड़कर धोती पहन चुका था। कोहनियों से खाल के खोल उतारकर उन्हें उसने मंगल के हवाले कर दिया।

रस्सों से बांध-बांधकर मगर को बांसों के सहारे वे देपुरा टांग ले गए। पोखर तो आखिर जमींदारों का था न।

लाश खुरखुन को नहीं मिली, मिले पांच रुपये। पारितोषिक था यह।

मछुए लौट आए तो मगर ट्रक पर लादकर राजा बहादुर नकुलेश्वर सिंह के दरबार में भेज दिया गया। राजा बहादुर शिकार के पुराने शौकीन और देपुरा वालों की अपनी बिरादरी के थे।

जो हो, पानी के उस राक्षस से पास-पड़ोस की जनता को छुटकारा मिला। खुरखुन तीयर के लिए यही बहुत था।

ग्यारह

गंगा सहनी का परिवार बड़ा था और आमदनी भी कम नहीं थी। हर साल इलाके के पाँच-सात बड़े-पुराने पोखर वह बन्दोवस्त लेता और उनमें तालमखाना की फसलें उगाता। कानपुर और कलकत्ता के मेवे के थोक सौदागर तालमखाना का उसका सारा ढेर खरीद लेते।

गढ़पोखर के मामले में देपुरा के जमींदारों ने गंगा सहनी को फोड़ लिया। सहनी को फुसलाया गया कि उसे ग्राम पंचायत का मुखिया बना दिया जाएगा। उसका लड़का मिडिल (दर्जा 7) पास करके हाई स्कूल दाखिल हुआ था, उन्होंने फीस-वीस माफ करवा दी। मेम्वर वनाकर खुद गंगा को थाना-कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में ले लिया।

अब गंगा के बैठकखाने में कांग्रेसी दैनिक 'राष्ट्रवाणी' दिखाई पड़ने लगा। 15 अगस्त को लम्बी-पतली हरी-हरी 'चाप' बैठकखाने की अँगनई में गड़ गई और उसमें तिरंगा झूल गया। दीवारों पर काली माई और जगन्नाथ जी की तस्वीरों के अगल-वगल कांग्रेसी नेताओं के फोटो जगमगाने लगे।

गंगा के असर में पाँच-सात जो भी परिवार थे, उनका भी रवैया साफ हो गया। वे उसके साथ थे। नौजवानों की गाने-मचलने और हँसने-वकने वाली मौजी जमात 'वजरंग-मण्डली' में भी फूट पड़ गई। मृदंग-मँजीरा, ओथी-पोथी, चटाई-आसनी···सव के तीन हिस्से हुए। गंगा के दल में मछुओं की आवादी का तृतीय अंश पड़ा था। इसी से उसकी पार्टी के छोकरों को वजरंग-मण्डली की जमा पूंजी में से तिहाई मिला।

भोला और नकछेदी को साधारण मछुआ-परिवारों का समर्थन प्राप्त था। मोहन माँझी को दुख जरूर हुआ, लेकिन ऐसा नहीं कि अक्ल को लकवा मार जाता। खुरखुन, नीरस वगैरह अपनी रोजी-मजूरी को लेकर व्यस्त रहते थे। मौका पाकर भोला के बैठकखाने में या स्कूल के अहाते में जुटते। दस वातें कानों में पड़तीं तो दो निकलतीं भी। भारी-भारी कदमों से जाते, हल्के-फुल्के वापस लौटते।

मधुरी को लेकिन इस घटना से काफी तकलीफ पहुंची। गंगा के वारे में उसके मन में पहले से ही खटका था। सतघरा के जमींदारों से पुश्तैनी रप्त जप्त था। गंगासहनी का यह कोई नया रसूख नहीं था। सच पूछिए तो उसी के भरोसे सतघरा वालों ने गढ़पोखर के मामले में अपनी नाक घुसेड़ी थी।

वाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए मोहन माँझी ने गढ़पोखर की भिण्ड पर जो कैम्प चालू किया था वह पन्द्रह आसिन तक चलता रहा। एक सौ सत्तावन रुपये साढ़े दस आने नकद रकम वच गई थी। डेढ़ सौ रुपये रवी की फसलों के लिए वीज खरीदकर किसानों में तकसीम कर दिए थे। सात रुपये साढ़े दस आने किसान सभा की थाना-कौन्सिल के खाते में डाल दिए गए। वाढ़-पीड़ितों की

मदद के लिए बनी हुई कमेटी का सर्वसम्मति से विसर्जन हुआ।

मधुरी के लिए ही नहीं, मलाही-गोंढ़ियारी के तमाम तरुणियों के लिए सार्वजनिक कामों की ट्रेनिंग का एक अच्छा सिलसिला अपने आप चालू हो गया था। जब कैम्प की प्रवृत्तियां खत्म घोषित हुईं तो अगले ही दिन मछुआ संघ सामने आ डटा। बाढ़-पीड़ितों की सहायता-समिति ने अपने कैम्प की दोनों कुटीरें संघ को खुशी-खुशी दे दीं। संघ वाले दोनों कुटीरें पूर्वी-उत्ती भिण्डों पर से उठा लाए और सुभीते की जगह देखकर दक्खिनी भिण्ड पर, आबादी के करीब ही आधी भीतों वाली एक कुटीर खड़ी कर ली। यह मछुआ-संघ का दफ्तर भी हुआ और अड्डा भी।

मछुओं का संघ सत्तर मेम्बरों का संगठन था। छोटी कमेटी नौ सदस्यों की थी। सभापति भोला सहनी, मन्त्री नकछेदी जलुआ, उपमन्त्री जलेसर निषाद, कोषाध्यक्ष मधुरी। कमेटी के बाकी पांच मेम्बर थे, नीरस, मुसम्मात जितिया, खुरखुन, मंगल और कन्हाई मांझी। कन्हाई मोहन मांझी का चचेरा भाई था। गंगा के बाद मलाही का दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति वही था। मंगल 'बजरंग-मण्डली' का मुखिया और बिरादरी का सबसे समझदार युवक होने के कारण कमेटी में लिया गया था, भोला सहनी का सुपुत्र होने के कारण नहीं। मधुरी को छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं थे, क्योंकि बाढ़ वाले कैम्प में उसने भारी नाम कमाया था। वह अपढ़ थी, फिर मोहन मांझी आदि, नकद रकम संभालने की जिम्मेवारी अन्त तक माधुरी पर ही डाले रहे। खुरखुन और नीरस भीमकर्मा टाइप के ऐसे जवां-मर्द व्यक्ति थे जिन्हें अपनी बिरादरी प्यार से दैत कहा करती। मुसम्मात जितिया धनी बाप की इकलौती विधवा बेटी थी।

मोहन मांझी संघ का परामर्शदाता अवश्य था मगर अपनी एक भी राय यूं ही किसी पर लादने का शौक उसे न पहले था, न अब था, और यहां तो भला व्यक्ति की नहीं बल्कि समूचे संगठन की बात थी। अब वह इस कोशिश में था कि गढ़पोखर के अपने सनातन अधिकारों की मान्यता का मछुओं का यह संघर्ष देश की आम मेहनतकश जनता की सामान्य जद्दोजहद से अलहदा न रह जाय।

अढ़ाई-तीन साल पहले इन इलाकों में सरकार की तरफ से तकावी बँटी थी। चुनाव कांग्रेस के सिर पर था, देहात की जनता के हर एक वर्ग ने कई रूपों में 'पत्र-पुष्प' प्राप्त किए थे। अब इस वर्ष के सेक्रेटेरियट के उन्हीं हाथियों पर उल्टी सनक सवार थी। तकावी की रकम वापस लौटाओ वरना खड़ी फसलें कुर्क कर ली जाएंगी···किसानों में सर्वत्र गुस्से की लहर दौड़ रही थी कि तकावी की रकम इतनी जल्दी नहीं लौटाई जा सकती। सम्बन्धित जिला अधिकारियों से इस प्रसंग में किसानों की झड़प हो गई थी, कई जगहों पर।

मोहन मांझी ने थाने-भर के किसान प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन चमुड़िया से दो मील उत्तर बस्ती कुसोथर के बाहरी मैदान में किया था। कान्फ्रेंस में मलाही-गोंढ़ियारी से भी किसान मेम्बरों के पांच प्रतिनिधि शामिल थे।

बारह

अगहन की पूर्णिमा को गुजरे दो ही तीन रोज हुए थे कि मंगल के घर लड़का पैदा हुआ। छठी धूमधाम से हुई। भोज-भात, नाच-गाना, हँसी-खुशी।···पाहीटोल का मशहूर नटुआ जुगेसर दल-बल के साथ बुलाया गया, भागलपुरी तसर की जोड़ी चादर और सौ रुपये नकद मिला उसे। मंइआ बार-बार कहती, "बस, मैं तो इसी का मुखड़ा देखने को अब तक जिन्दा थी।" गोनड़ बाबा बिरादरी में सबसे बूढ़े थे। नवजात शिशु को बाहर बैठक में ले जाकर जिलेबिया ने उसे उनके सामने कर दिया, "बाबा, असिरबाद दो।"

हुलास में भरकर गोनड़ ने उसके लाल-मुलायम तलवों में अपनी सूखी-साँवली नाक भिड़ा दी और बोला, "हम तो बस पोखरों, चभच्चों और उथली-छिछली नदियों तक ही रहे, तू लेकिन कप्तान बनकर सात समुन्दर छान डालेगा।"

मधुरी तो इतनी खुश थी कि दस-बारह दिनों तक हर शाम को नवजातक की सम्वर्द्धना से उसने 'सोहर' गाया था। एक दिन मंइआ से कहा, "बाबी, मुझे क्या इनाम मिलेगा?"

"तू इसी को रख ले," मंइआ के बदले मंगल की माँ ने जवाब दिया।

"चाची, अगर मैं सचमुच ही इसे उठा ले गई तो?"

"नहीं, नहीं, नहीं···"

छोटी लड़की सिलेबिया ने जोरों से प्रतिवाद किया तो सभी हँस पड़ीं। वह फिर ठुनककर बोली, "टूनू को लेकर तुम जेहल चली जाओगी, ऊँ ऊँ ऊँ···"

भतीजे का यह नामकरण छोटी बुआ की तरफ से प्यार की हदबन्दी का सबूत था। मधुरी ने इस पर मुस्कुराकर कहा, "मछुए का लड़का-पोता होकर जेहल से भला क्यों डरेगा यह?"

"जेहल-दामुल से डरे इसका दुश्मन।" चूल्हे के निकट से सिलेबिया ने कहा तो मधुरी एकाएक गम्भीर हो गई।

उसके दिमाग में एक युवक मछुए का डरपोक चेहरा नाच उठा···अपने बोड़म पति का प्रभावहीन मुखड़ा।··कुसुम कक्कड़ का दीप्त मुखमण्डल याद आया। 'लात मारो सालों को'—उसने कहा था।···मनुहार से गोली मंगल की आँखें···गिड़गिड़ाता हुआ चुल्हाई···नहीं, अब वह कभी उस नशाखोर बुड्ढे की लात-बात बर्दाश्त करने नहीं जाएगी···फिर से शादी कर लेगी किसी दिलेर-नेकचलन और मेहनतकश जवान से···और, बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नहीं गुजार सकती है क्या?···

पचीसों प्रकार की बातें मधुरी के दिमाग में चक्कर काटने लगीं। वह देर तक सोच-विचार में गुम रह जाती, लेकिन सिलेबिया को क्या सूझा कि एकाएक उसने टूनू को मधुरी की गोद में डाल दिया, "लो भी तो।"

हुक्का गुड़गुड़ाकर मंझला ने कहा, "लात-वात बर्दाश्त करके भी लड़कियों को ससुराल में रहना चाहिए बेटा।"

इस पर जिलेबिया ने अपनी दादी को मुँह बनाया और गर्दन दूसरी तरफ फेर ली।

जंगल स्कूल से अभी-अभी लौटा था। किताबों का बस्ता ओसारे में पटककर मधुरी की ओर लपका। नाटकीय ढंग से आँखें नचा-नचाकर कहने लगा, "मलेटरी आ ई है ऐ ऐ ऐ। पहले मधुरी बहन ही गिरफ्तार होगी ी ी···"

"भक् लबरा कहीं का," माँ ने फटकारा।

"तेरी कसम माँ!"

"भक्!"

"नहीं माँ, सच कहता हूँ! तेरी कसम!"

"सच मधुरी, मलेटरी आनेवाली थी?"

स्वीकार की मुद्रा में मधुरी का माथा हिला तो मंगल की माँ चुप ही नहीं बल्कि उदास हो आई।

"ज़रा देखूँ चलके काकी।" मधुरी ने लाल-गुलाबी शिशु को उसकी दादी के जुड़े-मुड़े हाथों पर डाल दिया और उसके गाल चूम लिए।

पलक मारते वह भोला के आँगन से बाहर निकल आई और गरोखर की ओर चल पड़ी। आज जाने क्यों, मंगल का वह धौरा कुत्ता मधुरी के साथ हो लिया। इससे पहले वह बैठकखाने के अन्दर कुकुर-कुण्डली मुद्रा में बैठा था।

आवाज़ सुनाई दी—"कब तक लौटेगी बहन, माँ पूछ रही है?"

हाथ के इशारे से मधुरी ने बताया कि थोड़ी देर बाद।

शाम होने में अब अधिक देर नहीं थी। धान की फसलें अच्छी नहीं हुई थीं इस बार, फिर भी खलिहानों में थोड़ी-बहुत चहल-पहल थी ही। खेतों से ढोकर लाए जाते वक्त हिलने-डुलने में बोझों से खिसककर गिरे-पड़े धान के इक्के-दुक्के शीश कहीं-कहीं नजर आ रहे थे। शरद् ऋतु में दिखाई पड़ने वाले जल-पक्षियों का मौसम खत्म हो रहा था तो भी उनकी चहचहाहट धनहा-चौर की दिशा से बीच-बीच में सुनाई पड़ ही जाती।

मछुओं ने हमेशा की तरह चिलमन खड़ी करके चौर में अब के भी मछलियां घेर रखी थीं। बहन को आवाज लगाकर तीरा धनहा चौर की तरफ चली गई, दक्खिन की ओर। शाम तक मछलियां ले आने की बात न होती तो वह भी गरोखर की भिण्ड पर जाकर अपनी आंखों से गिरफ्तारियां देखती।

मधुरी स्कूल के नज़दीक पहुँची। भिण्ड से नीचे सड़क पर मिलिटरी का ट्रक खड़ा था। खाकी वर्दी का फौजी ड्राइवर नीचे उतरकर बीड़ी फूंक रहा था।

पुलिस और मिलिटरी वालों में से तीन के सिरों पर टोप थे, सात के लोहा-टोप और तीन के लाल पगड़ियां। टोप वालों की कमर से पिस्तौल लटक रही थी, लोहा-टोप वाले बन्दूकों से लैस थे और लाल पगड़ी वाले लाठियां सम्भाले हुए।

बारह

अगहन की पूर्णिमा को गुजरे दो ही तीन रोज हुए थे कि मंगल के घर लड़का पैदा हुआ। छठी धूमधाम से हुई। भोज-भात, नाच-गाना, हँसी-खुशी।···पाहीटोल का मशहूर नटुआ जुगेसर दल-बल के साथ बुलाया गया, भागलपुरी तसर की जोड़ी चादर और सौ रुपये नकद मिला उसे। मंझा बार-बार कहती, "बस, मैं तो इसी का मुखड़ा देखने को अब तक जिन्दा थी।" गौनड़ बाबा बिरादरी में सबसे बूढ़े थे। नवजात शिशु को बाहर बैठक में ले जाकर जिलेबिया ने उसे उनके सामने कर दिया, "बाबा, असिरबाद दो।"

हुलास में भरकर गौनड़ ने उसके लाल-मुलायम तलवों में अपनी सूखी-सांवली नाक भिड़ा दी और बोला, "हम तो बस पोखरों, चभच्चों और उथली-छिछली नदियों तक ही रहे, तू लेकिन कप्तान बनकर सात समुन्दर छान डालेगा।"

मधुरी तो इतनी खुश थी कि दस-बारह दिनों तक हर शाम को नवजातक की सम्वर्द्धना से उसने 'सोहर' गाया था। एक दिन मंझा से कहा, "बाबी, मुझे क्या इनाम मिलेगा?"

"तू इसी को रख ले," मंझा के बदले मंगल की मां ने जवाब दिया।

"चाची, अगर मैं सचमुच ही इसे उठा ले गई तो?"

"नहीं, नहीं, नहीं···"

छोटी लड़की सिलेबिया ने जोरों से प्रतिवाद किया तो सभी हँस पड़ीं। वह फिर ठुनककर बोली, "टूनू को लेकर तुम जेहल चली जाओगी, ऊँ ऊँ ऊँ···"

भतीजे का यह नामकरण छोटी बुआ की तरफ से प्यार की हदबन्दी का सबूत था। मधुरी ने इस पर मुस्कुराकर कहा, "मछुए का लड़का-पोता होकर जेहल से भला क्यों डरेगा यह?"

"जेहल-दामुल से डरे इसका दुश्मन।" चूल्हे के निकट से सिलेबिया ने कहा तो मधुरी एकाएक गम्भीर हो गई।

उसके दिमाग में एक युवक मछुए का डरपोक चेहरा नाच उठा···अपने बोदम पति का प्रभावहीन मुखड़ा।·· कुसुम कक्कड़ का दीप्त मुखमण्डल याद आया। 'लात मारो सालों को'—उसने कहा था।···मनुहार से गीली मंगल की आंखें···गिड़गिड़ाता हुआ चुल्हाई···नहीं, अब वह कभी उस नशाखोर बुड्ढे की लात-बात बर्दाश्त करने नहीं जाएगी···फिर से शादी कर लेगी किसी दिलेर-नेकचलन और मेहनतकश जवान से···और, बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नहीं गुजार सकती है क्या?···

पचीसों प्रकार की बातें मधुरी के दिमाग में चक्कर काटने लगीं। वह देर तक सोच-विचार में गुम रह जाती, लेकिन सिलेबिया को क्या सूझा कि एकाएक उसने टूनू को मधुरी की गोद में डाल दिया, "लो भी तो।"

हुक्का गुड़गुड़ाकर मंझला ने कहा, "लात-वात वर्दाश्त करके भी लड़कियों को ससुराल में रहना चाहिए वेटा।"

इस पर जिलेविया ने अपनी दादी को मुंह वनाया और गर्दन दूसरी तरफ फेर ली।

जंगल स्कूल से अभी-अभी लौटा था। किताबों का वस्ता ओसारे में पटककर मधुरी की ओर लपका। नाटकीय ढंग से आँखें नचा-नचाकर कहने लगा, "मलेटरी आ ई है ऐ ऐ ऐ। पहले मधुरी वहन ही गिरफ़्तार होगी ी ी…"

"भक् लवरा कहीं का," माँ ने फटकारा।

"तेरी कसम माँ!"

"भक्!"

"नहीं माँ, सच कहता हूँ! तेरी कसम!"

"सच मधुरी, मलेटरी आनेवाली थी?"

स्वीकार की मुद्रा में मधुरी का माथा हिला तो मंगल की माँ चुप ही नहीं वल्कि उदास हो आई।

"ज़रा देखूँ चलके काकी।" मधुरी ने लाल-गुलावी शिशु को उसकी दादी के जुड़े-मुड़े हाथों पर डाल दिया और उसके गाल चूम लिए।

पलक मारते वह भोला के आँगन से वाहर निकल आई और गरोखर की ओर चल पड़ी। आज जाने क्यों, मंगल का वह धौरा कुत्ता मधुरी के साथ हो लिया। इससे पहले वह वैठकखाने के अन्दर कुकुर-कुण्डली मुद्रा में वैठा था।

आवाज़ सुनाई दी—"कव तक लौटेगी वहन, माँ पूछ रही है?"

हाथ के इशारे से मधुरी ने वताया कि थोड़ी देर वाद।

शाम होने में अव अधिक देर नहीं थी। धान की फसलें अच्छी नहीं हुई थीं इस वार, फिर भी खलिहानों में थोड़ी-वहुत चहल-पहल थी ही। खेतों से ढोकर लाए जाते वक्त हिलने-डुलने में वोझों से खिसककर गिरे-पड़े धान के इक्के-दुक्के शीश कहीं-कहीं नज़र आ रहे थे। शरद् ऋतु में दिखाई पड़ने वाले जल-पक्षियों का मौसम खत्म हो रहा था तो भी उनकी चहचहाहट धनहा-चौर की दिशा से वीच-वीच में सुनाई पड़ ही जाती।

मछुओं ने हमेशा की तरह चिलमन खड़ी करके चौर में अव के भी मछलियाँ घेर रखी थीं। वहन को आवाज लगाकर तीरा धनहा चौर की तरफ चली गई, दक्खिन की ओर। शाम तक मछलियाँ ले आने की वात न होती तो वह भी गरोखर की भिण्ड पर जाकर अपनी आँखों से गिरफ्तारियाँ देखती।

मधुरी स्कूल के नज़दीक पहुँची। भिण्ड से नीचे सड़क पर मिलिटरी का ट्रक खड़ा था। खाकी वर्दी का फौजी ड्राइवर नीचे उतरकर वीड़ी फूंक रहा था।

पुलिस और मिलिटरी वालों में से तीन के सिरों पर टोप थे, सात के लोहा-टोप और तीन के लाल पगड़ियाँ। टोप वालों की कमर से पिस्तौल लटक रही थी, लोहा-टोप वाले वन्दूकों से लैस थे और लाल पगड़ी वाले लाठियाँ सम्भाले हुए।

लगता था कि मलाही-गोंढ़ियारी के सभी मर्द जमा हो गए हैं। पाँच-सात औरतें भी अलग खड़ी थीं। छोकरे-छोकरियों की संख्या भी कम नहीं थी। मंगल, नकछेदी, जलेसर, कन्हाई···कमेटी के चार ही जने वहाँ मौजूद थे। मधुरी उन्हीं के साथ आके खड़ी हो गई।

नीरस और सुरखुन एक पड़ोसी गाँव के पोखर में मछलियाँ मारने गए हुए थे। भोगा गया था लहेरिया सराय, इन्हीं मुकदमों के सिलसिले में। बाबू परमेश्वर-चरण मुख्तार ने माल-मन्त्री के नाम निजी खत लिखकर अपने भतीजे को साथ कर दिया तो मोहन माँझी पटना गया था। यह सब गरोखर से सम्बन्धित बातें थीं।

अगहन से मछुए बड़ी मछलियाँ निकालना शुरू कर देते हैं। इस वर्ष आधे अगहन के बाद गढ़पोखर में जाल गिरने लगे थे। मछलियाँ निकलती भी खूब थीं। सतघरा के जमींदारों का धीरज बाँध तोड़ चुका था। दस रोज पहले ही वे दफा १४४ लागू करवा चुके थे। किसी भी पक्ष के लिए गढ़पोखर के अन्दर जाल डालना तब तक वर्जित बताया गया था जब तक कोर्ट अपना फैसला न दे दे। मगर मछुए एक दिन के लिए भी इस प्रतिबन्ध को मानना नहीं चाहते थे। गढ़पोखर की मछलियाँ उनके लिए जीविका का प्रमुख साधन थीं। नये मालिक डरा-धमकाकर, मुँह के कौर छीनकर, छाती पर संगीन की नोक का दबाव डालकर फुसला-बहकाकर चाहे कैसे भी हो, मछुओं से अपना प्रभुत्व मनवा लेने पर आमादा थे। जिस दिन दफा १४४ लागू करने का नोटिस निकला, उसके दूसरे ही दिन दरभंगा से सशस्त्र पुलिस के दो जवान गढ़पोखर पर आ धमके थे। यहाँ का हालचाल मालूम करके उनका दिल मछुओं के साथ हो गया था। मंगल, चुल्हाई, मधुरी वगैरह से उन्होंने साफ-साफ बता दिया था कि दिन के उजाले में नहीं, रात के अँधेरे में चाहे जैसे और जितनी मछलियाँ निकलवा लो, उन्हें कोई एतराज नहीं होगा; बन्दूक सिरहाने के नीचे दबाकर वे ठाठ से सोते रहेंगे।···और यही क्रम चल भी रहा था। गंगा सहनी और उसके आदमी सतघरा वाले मालिकों तक सारी खबर पहुँचाते रहे तो अब मछुओं पर लूट और गैर-कानूनी कार्रवाइयाँ करने का अभियोग लगाया गया था। सतघरा वाले भूमिहार थे और देपुरा वाले मैथिल। दरभंगा से लेकर पटना तक इन दोनों जातियों के प्रभुतालोभी उच्च तथा मध्यवर्ग कब आपस में लड़ पड़ते थे और कब सुलह कर लेते थे, बताना मुश्किल है। इस वक्त लेकिन दोनों जातियों के मुखियों का शासन के क्षेत्र में अंशतः संयुक्त मोर्चा चल रहा था। गरोखर के झमेले में भी उनकी यह फसली एकता नये-नये गुल खिला रही थी। तभी तो इतनी शीघ्र वे जिला-अधिकारियों से इस प्रकार की पुलिस-कार्रवाई करवा ले रहे थे। गनीमत यही थी कि इन मामलों में हाईकोर्ट का रुख इधर बहुत अच्छा था। रोसड़ा-नरहन इलाके में इसी से मिलता-जुलता एक मुकदमा हाल ही में मछुओं ने हाईकोर्ट से जीता था, उसमें भी मछुओं के मौरूसी हकों को नजरअन्दाज करके जिला-अदालत ने जमींदारों के

पक्ष में फैसला दिया था। कामरेड मोहन माँझी और भोला पिछले महीने पटना पहुँचकर जनता के पक्षधर प्रख्यात एडवोकेट धीरेन्द्रनारायण सिंह से सलाह-मशवरा ले आए थे।

शाम होने में अब भी विलम्ब था। गढ़पोखर का प्रशांत नील-कृष्ण विशाल वक्ष हौले-हौले लहरा रहा था। हेमंती दिनांत के प्रियदर्शी रवि की पीताभ किरणें उसकी लोल-लहरियों पर बिछ-बिछकर अपने को नाहक ही पैना बना रही थीं। मछुआ-संघ की अधभीती कुटीर के आगे भिण्ड का जो ढालू मैदान था, वह सामने नीचे की ओर रवी की फसलों से लहराती हुई कछारों में खो गया था। कुटीर की अगली भीत पर दरवाजे के दाएँ-बाएँ स्कूल के किसी लड़के ने पतली-बैंगनी रोशनाई में टेढ़े-मेढ़े हरफों की दो लाइनें लिख दी थीं—'इनकिलाब जिन्दाबाद—गढ़पोखर हमारा है···'

डिप्टी मजिस्ट्रेट नकछेदी से इधर-उधर की बातें कर रहा था। मछुआ संघ का सेक्रेटरी होने से वही साहब की निगाहों में यहाँ इस समय सबसे अधिक जिम्मेदार जंच रहा था। लेकिन नकछेदी 'जी हाँ', 'जी नहीं' के अलावा मुश्किल से पचीस-तीस शब्द बोला होगा। दरअसल वह शरमीला और झेंपू किस्म का आदमी था। भोला और गंगा को छोड़कर अच्छी हैसियत का तीसरा मछुआ और कोई था भी तो नहीं। जान-बूझकर कमेटी ने नकछेदी को संघ का मन्त्री चुना था, नहीं तो काम-वाम सारा मंगल ही करता था संघ का।

समूची कमेटी की गतिविधि का पूरा पता खुफिया-विभाग को था। सदस्यों के नाम और उनकी हैसियत और दूसरी जरूरी बातें···सारे तथ्य जिला अधिकारियों तक पहुँच गए थे। सम्बोधन में कई लोगों से कई बार मधुरी-मधुरी सुनकर साहब ने मधुरी से कहा, "मोहन माँझी ने आखिर तुम्हें भी कम्युनिज्म का पाठ पढ़ा ही दिया! ···अच्छा तो है! राजनीति ही तो एक चीज थी, जिसे गाँवों की हमारी बहू-बेटियों ने अब तक अपने पास फटकने नहीं दिया था, लेकिन तुम तो देखता हूँ · प्लीज एक्सक्यूज मी···"

अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में लेकिन ओज-भरे ढंग से मधुरी ने जवाब दिया, "तो इसमें क्या हर्ज है हजूर। जिनगी और जहान औरतों के लिए नहीं है क्या?"

"ओ ो ो···" अफसर ने घूरकर मधुरी को देखा और 'गोल्डफ्लेक' सिगरेट का पैकेट निकाला निचली पाकिट से। दूसरे में हाथ डालकर माचिस वह ही टटोलने जा रहा था कि दरोगा ने अपनी पाकिट से माचिस निकालकर चट से पेश कर दी।

"धन्यवाद!" मुस्कराकर देसी साहब बोले।

इस बीच नकछेदी ने मंगल को अलग ले जाकर बतलाया कि कमेटी के सभी सदस्यों से डिप्टी मजिस्ट्रेट मुचलका लिखवाने आए हैं, नहीं तो गिरफ्तार करके अभी ले जाएँगे।

मछुआ-संघ का रुख साफ था। सर्वे की पुरानी सेटलमेंट से गढ़पोखर का राजस्व निर्धारित हुआ—सौ रुपये प्रति वर्ष; यह सरकारी खाते में 'जल-कर' के तौर पर दर्ज होता आया था। देपुरा के जमींदार गढ़पोखर की तरफ से इतनी ही रकम साल-साल सरकारी खजाने में जमा करते आए थे। यह दूसरी बात थी कि साल-दो साल या दस-पांच साल का बन्दोबस्ती का पट्टा लिखकर देपुरा वाले मछुओं से काफी रकम ऐंठते आए थे और अब मछुओं में जागरण का आभास पाकर इस झमेले से हमेशा के लिए छुटकारा पा गये थे। नये मालिक, सतघरा वाले, अभी दस-पांच वर्ष पुरानी अमलदारी से जितना-जो कुछ फायदा उठा लेने के सपने देख रहे थे। बस ये तथाकथित 'नये मालिक' थे। गढ़पोखर के वास्तविक नये मालिक तो हमारी सरकार थी…जमींदारी उन्मूलन के बाद देपुरा वालों का कोई हक नहीं रह गया था गढ़पोखर पर। यह विशाल जल-सम्पत्ति अब जनता की थी। मगर नौकरशाही भ्रष्टाचारों और कानूनी असंगतियों के चलते जन-जीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अब भी चल रहा था। मछुआ संघ की तरफ से कई मेमोरेंडम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं की सेवा में भेजे जा चुके थे, लिखित एवं मौखिक दोनों प्रकार से जिला-अधिकारियों तक यह बात बार-बार पहुँचाई जा चुकी थी। ··मछुओं का संगठन तय कर चुका था कि किसी भी स्थिति में घुटने नहीं टेकेंगे। सतघरा वालों का नया प्रभुत्व गैर-कानूनी है, सर्वथा गलत है, वे गढ़पोखर की सीमाओं के अन्दर उन्हें घुसने नहीं देंगे।

मंगल और नकछेदी ने आनन-फानन तय कर लिया कि क्या करना है।

पहली फूंककर डिप्टी-मजिस्ट्रेट अब दूसरी गोल्डफ्लेक सुलगा रहा था। सूरज डूबने में केवल आधा घण्टा बाकी था। चरवाहे गाय-बैल लेकर लौटने लगे थे। पुलिस की गाड़ी सड़क पर खड़ी थी। बाहर-बाहर उस पर धूल की तहें जम रही थीं। पेट्रोल वाला पाइप पीछे था। रंग अन्दर से लाल और बाहर से खाकी था। आगे ड्राइवर की सीट को छोड़कर चार गद्दीदार सीटें और भी थीं। पीछे की तरफ लकड़ी की तीन बेंचें।

डिप्टी-मजिस्ट्रेट ने नकछेदी को पास बुलाया। पूछा, "क्या राय हुई आप लोगों में ?"

नकछेदी के बदले मंगल ने दृढ़ आवाज में कहा, "अभी हमारी कमेटी के बहुतेरे मेम्बर बाहर हैं, समूची कमेटी बैठे तो कोई बात-विचार हो। इस वक्त हम कैसे कुछ कहें ?"

साहब ने मोटी फ्रेम वाला चश्मा नाक से उतार लिया और रुमाल से आंखें पोंछते हुए आहिस्ता से कहा, "समूची या आधी, किसी भी किस्म की कमेटी से हमें कुछ पूछना नहीं है। आप अलग-अलग मुचलका लिखेंगे न ! इस वक्त यहां आप दो-चार जितने भी जिम्मेदार आदमी मौजूद हैं वे तो खास तौर पर अपना-अपना मुचलका कोर्ट को दे ही दें…"

"नहीं हुजूर, अलग-अलग हम किसी प्रकार का आश्वासन आपको नहीं दे

सकेंगे," मंगल बोला। नकछेदी ने समर्थन में माथा हिलाया।

"फिर तो हमारी मजबूरी है कि···" डिप्टी-मजिस्ट्रेट जुमला पूरा करने जा रहा था कि बीच में ही मधुरी खिलखिला पड़ी।

"पकड़के ले जाएँगे हमें ?"

"हाँ, हम क्या करें ? आप लोग खुद ही जाने को तैयार हैं···"

फिर खिलखिलाहट···लोग मधुरी की इस हरकत पर भौचक थे।

अब तक समूचा गाँव उमड़ आया था। औरत, मर्द, बूढ़े, बच्चे, मेहमान और बीमार···सब तरह के लोग अफसरों, पुलिसवालों और इन लोगों को घेरकर खड़े थे।

मलाही-गोंढ़ियार की संयुक्त आबादियों का सरकारी कोतवाल ढोढ़ाई खुनौत अपनी वर्दी में मुस्तैद था। वह भीड़ को व्यवस्थित करने की कोशिश करता था बीच-बीच में। एक-आध दफे पानी-वानी के लिए भी पूछा था। दरोगाजी से पूछने की हिम्मत तो हुई, लेकिन डिप्टी-मजिस्ट्रेट से खुद न पूछकर दरोगाजी द्वारा पुछवा लिया था। जाड़े की शाम को ठण्डा-पानी पीने का भला क्यों किसी को उत्साह होता।

मधुरी ने आगे बढ़कर नकछेदी का हाथ पकड़ा और खींचती हुई बोली, "काका, क्या देखते हो ? चलो, हम टरक पर सवार हो जाएँ आप ही चलकर।"

फिर उसने मंगल, जलेसर और कन्हाई को भी अलग-अलग सम्बोधित किया। पल-भर की देर नहीं हुई कि फुर्ती से जाकर वह पुलिसवान पर सवार हो गई। ऊपर खड़ी होकर हिलते हाथ के इशारों से उन्हें बुलाती रही मधुरी।

मंगल उछलकर चढ़ गया फिर जलेसर और कन्हाई। नकछेदी सबसे पीछे···

सटकर पाँचों एक ही बेंच पर बैठे, सभी के चेहरे सड़क की तरफ थे।··· मधुरी, मंगल, जलेसर, कन्हाई और नकछेदी···

अधिकारियों को जिसकी आशा नहीं थी, यह वैसा वाकया था। मछुओं ने कोई आश्वासन नहीं दिया और हँसी-खुशी गिरफ्तार हो गए तो झख मारकर डिप्टी-मजिस्ट्रेट ही आया और गाड़ी में आगे अपनी सीट पर बैठ गया। बाकी भी जितने अधिकारी या पुलिस जवान थे, चुपचाप आकर सवार हो गए। ड्राइवर सबसे पीछे अपनी सीट पर आया।

सूरज अब लुक-झुक, लुक-झुक कर रहा था, लेकिन सड़क और डूबते सूरज के दरम्यान गढ़पोखर की ऊँची भिण्ड खड़ी थी। अस्त प्रायः दिनकर की किरणें इस कदर निस्तेज और संकुचित हो आई थीं कि शर्मीली परछाईं छितराकर पूरबी-दच्छिनी क्षितिज की ओर भाग गई थी।

भीड़ पुलिसवान के पीछे बटुर आई थी। सब चुप थे, एक-एक निगाह गुस्सा-भरी हैरत उगल रही थी।

सामने भीड़ में तीरा दिखाई पड़ी तो मधुरी ने इशारे से उसे पास बुला लिया। करीब आकर गाड़ी से सटकर वह खड़ी हुई तो उसकी ठुड्डी में उँगली

मछुआ-संघ का रुख साफ था। सर्वे की पुरानी सेटलमेंट से गढ़पोखर का राजस्व निर्धारित हुआ—सौ रुपये प्रति वर्ष; यह सरकारी खाते में 'जल-कर' के तौर पर दर्ज होता आया था। देपुरा के जमींदार गढ़पोखर की तरफ से इतनी ही रकम साल-साल सरकारी खजाने में जमा करते आए थे। यह दूसरी बात थी कि साल-दो साल या दस-पाँच साल का बन्दोबस्ती का पट्टा लिखकर देपुरा वाले मछुओं से काफी रकम ऐंठते आए थे और अब मछुओं में जागरण का आभास पाकर इस झमेले से हमेशा के लिए छुटकारा पा गये थे। नये मालिक, सतघरा वाले, अभी दस-पाँच वर्ष पुरानी अमलदारी से जितना-जो कुछ फायदा उठा लेने के सपने देख रहे थे। बस ये तथाकथित 'नये मालिक' थे। गढ़पोखर के वास्तविक नये मालिक तो हमारी सरकार थी···जमींदारी उन्मूलन के बाद देपुरा वालों का कोई हक नहीं रह गया था गढ़पोखर पर। यह विशाल जल-सम्पत्ति अब जनता की थी। मगर नौकरशाही भ्रष्टाचारों और कानूनी असंगतियों के चलते जन-जीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अब भी चल रहा था। मछुआ संघ की तरफ से कई मेमोरेंडम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं की सेवा में भेजे जा चुके थे, लिखित एवं मौखिक दोनों प्रकार से जिला-अधिकारियों तक यह बात बार-बार पहुँचाई जा चुकी थी। ··मछुओं का संगठन तय कर चुका था कि किसी भी स्थिति में घुटने नहीं टेकेंगे। सतघरा वालों का नया प्रभुत्व गैर-कानूनी है, सर्वथा गलत है, वे गढ़पोखर की सीमाओं के अन्दर उन्हें घुसने नहीं देंगे।

मंगल और नकछेदी ने आनन-फानन तय कर लिया कि क्या करना है।

पहली फूँककर डिप्टी-मजिस्ट्रेट अब दूसरी गोल्डफ्लेक सुलगा रहा था। सूरज डूबने में केवल आधा घण्टा बाकी था। चरवाहे गाय-बैल लेकर लौटने लगे थे। पुलिस की गाड़ी सड़क पर खड़ी थी। बाहर-बाहर उस पर धूल की तहें जम रही थीं। पेट्रोल वाला पाइप पीछे था। रंग अन्दर से लाल और बाहर से खाकी था। आगे ड्राइवर की सीट को छोड़कर चार गद्दीदार सीटें और भी थीं। पीछे की तरफ लकड़ी की तीन बेंचें।

डिप्टी-मजिस्ट्रेट ने नकछेदी को पास बुलाया। पूछा, "क्या राय हुई आप लोगों में?"

नकछेदी के बदले मंगल ने दृढ़ आवाज में कहा, "अभी हमारी कमेटी के बहुतेरे मेम्बर बाहर हैं, समूची कमेटी बैठे तो कोई बात-विचार हो। इस वक्त हम कैसे कुछ कहें?"

साहब ने मोटी फ्रेम वाला चश्मा नाक से उतार लिया और रुमाल से आँखें पोंछते हुए आहिस्ता से कहा, "समूची या आधी, किसी भी किस्म की कमेटी से हमें कुछ पूछना नहीं है। आप अलग-अलग मुचलका लिखेंगे न! इस वक्त यहाँ आप दो-चार जितने भी जिम्मेदार आदमी मौजूद हैं वे तो जाती तौर पर अपना-अपना एश्युरेन्स कोर्ट को दे ही दें···"

"नहीं हजूर, अलग-अलग हम किसी प्रकार का आश्वासन आपको नहीं दे

सकेंगे," मंगल बोला। नकछेदी ने समर्थन में माथा हिलाया।

"फिर तो हमारी मजबूरी है कि···" डिप्टी-मजिस्ट्रेट जुमला पूरा करने जा रहा था कि बीच में ही मधुरी खिलखिला पड़ी।

"पकड़के ले जाएँगे हमें ?"

"हाँ, हम क्या करें ? आप लोग खुद ही जाने को तैयार हैं···"

फिर खिलखिलाहट···लोग मधुरी की इस हरकत पर भौचक थे।

अब तक समूचा गाँव उमड़ आया था। औरत, मर्द, बूढ़े, बच्चे, मेहमान और बीमार···सब तरह के लोग अफसरों, पुलिसवालों और इन लोगों को घेरकर खड़े थे।

मलाही-गोंढ़ियार की संयुक्त आबादियों का सरकारी कोतवाल ढोढ़ाई खुनौत अपनी वर्दी में मुस्तैद था। वह भीड़ को व्यवस्थित करने की कोशिश करता था बीच-बीच में। एक-आध दफे पानी-वानी के लिए भी पूछा था। दरोगाजी से पूछने की हिम्मत तो हुई, लेकिन डिप्टी-मजिस्ट्रेट से खुद न पूछकर दरोगाजी द्वारा पुछवा लिया था। जाड़े की शाम को ठण्डा-पानी पीने का भला क्यों किसी को उत्साह होता।

मधुरी ने आगे बढ़कर नकछेदी का हाथ पकड़ा और खींचती हुई बोली, "काका, क्या देखते हो ? चलो, हम टरक पर सवार हो जाएँ आप ही चलकर।"

फिर उसने मंगल, जलेसर और कन्हाई को भी अलग-अलग सम्बोधित किया। पल-भर की देर नहीं हुई कि फुर्ती से जाकर वह पुलिसवान पर सवार हो गई। ऊपर खड़ी होकर हिलते हाथ के इशारों से उन्हें बुलाती रही मधुरी।

मंगल उछलकर चढ़ गया फिर जलेसर और कन्हाई। नकछेदी सबसे पीछे···

सटकर पाँचों एक ही बेंच पर बैठे, सभी के चेहरे सड़क की तरफ थे।··· मधुरी, मंगल, जलेसर, कन्हाई और नकछेदी···

अधिकारियों को जिसकी आशा नहीं थी, यह वैसा वाकया था। मछुओं ने कोई आश्वासन नहीं दिया और हँसी-खुशी गिरफ्तार हो गए तो झख मारकर डिप्टी-मजिस्ट्रेट ही आया और गाड़ी में आगे अपनी सीट पर बैठ गया। बाकी भी जितने अधिकारी या पुलिस जवान थे, चुपचाप आकर सवार हो गए। ड्राइवर सबसे पीछे अपनी सीट पर आया।

सूरज अब लुक-झुक, लुक-झुक कर रहा था, लेकिन सड़क और डूबते सूरज के दरम्यान गढ़पोखर की ऊँची भिण्ड खड़ी थी। अस्त प्रायः दिनकर की किरणें इस कदर निस्तेज और संकुचित हो आई थीं कि शर्मीली परछाईं छितराकर पूरबी-दच्छिनी क्षितिज की ओर भाग गई थी।

भीड़ पुलिसवान के पीछे बटुर आई थी। सब चुप थे, एक-एक निगाह गुस्सा-भरी हैरत उगल रही थी।

सामने भीड़ में तीरा दिखाई पड़ी तो मधुरी ने इशारे से उसे पास बुला लिया। करीब आकर गाड़ी से सटकर वह खड़ी हुई तो उसकी ठुड्डी में उँगली

गोदकर मधुरी ने कहा, "बब्बू और अम्माँ से कहना कि रत्ती-भर न घबड़ाएँ। हम बहुत जल्दी छूटकर वापस आ रहे हैं।...और अम्मा को दवाई बखत पर पिला दिया करना, अपने हाथ से...और हाँ, नन्हें का ख्याल रखना..."

कि गाड़ी स्टार्ट हुई।

बहन के गालों पर प्यार की एक-एक चपत लगाकर मधुरी बेंच पर आ बैठी और मंगल के कान में कहा, "नारे लगाओ, मंगल भैया।"

"उहूँ!" मंगल ने उसी तरह फुसफुसाकर जवाब दिया, "रहने दे, क्या जरूरत है।"

जाने, मंगल का दिमाग किस फिक्र में गर्क था।

लेकिन मधुरी से नहीं रहा गया। वह बेंच से उठकर फिर आगे आ गई और पुलिसवान के पिछले छोर पर खड़ी हो गई। बाएँ हाथ से उसने ऊपर लटकती जंजीर को थाम लिया और दाहिना हाथ घुमा-घुमाकर नारे लगाने लगी। लोग दुगुने-चौगुने जोश में जवाबी नारे देने लगे—

"इन्किलाब जिन्दाबाद!"

"मछुआ-संघ जिन्दाबाद...हक की लड़ाई...जीतेंगे! जीतेंगे!...गढ़पोखर हमारा है, हमारा है!..."

पुलिस मोटर चल पड़ी मगर नारे लगते रहे।

●●●

कुम्भीपाक

आधा पूस गुज़र चुका था।

पिछले दो दिनों से सर्दी बेहद बढ़ गई थी। आसमान और धरती को कोहरा एक बनाए हुए था। बीच-बीच में बूंदाबांदी भी होती रही। जाड़ा लोगों की हड्डी-हड्डी में समा गया था। दांत बज उठते और मौसम को गालियां सुननी पड़तीं।

और यह मकान !

लगता था कि सूर्य की किरणों के लिए कोई आकर लक्ष्मण-रेखा खींच गया है। दुपहर के बाद वे सहम-सहमकर अन्दर झांकतीं। घड़ी-आधी घड़ी के लिए दरस दिखाकर लापरवाही में सिर के आंचल की तरह खिसकती जातीं, पीछे हटती जातीं—क्वांर की कछार में नदी की लहरों की तरह।

चालीस प्राणी थे, किरायेदारों के छः परिवार।

सभी धूप के लिए तरसते थे।

मकान-मालिक को सभी कोसते थे।

सामने लेकिन कोई कुछ कहता नहीं था उससे। वह भारी हिसाबी था, बेजोड़ मिठबोला। मकान के अगले हिस्से में, सड़क के किनारे उसने दूकान के लायक तीन कमरे निकलवा लिए थे। एक में बुकसेलर, दूसरे में दर्ज़ी, तीसरे में प्रोविजन स्टोर के प्रोप्राइटर के नाते वह खुद ही बैठता था। अन्दर वाली खोलियों से किराये के तौर पर दो सौ, और दूकानों से नब्बे रुपये हर महीने आते थे।

उसका अपना परिवार ऊपर के तिनतल्ले पर धूप की गर्माहट के मज़े लूटता होता और पिछली खोलियों में बाकी 'प्रजा' उसको कोस रही होती।

मगर आज तो शिशिर की प्रकृति ने सभी के लिए साम्य योग उपस्थित कर दिया था :

कोहरा और बादल !

ठण्ड और गीलापन !

धुआँ और भाप।

सारा दिन यह हाल रहा और शाम होते ही बारिश टूट पड़ी।

ऊपर वाले कमरे में बच्चे ऊधम मचा रहे थे।

नीचे प्रतिभामा फुलके सेंक रही थी।

कि बिजली गुम हो गई···

बड़ा लड़का विभाकर टूटा छाता लेकर बाहर वाली दूकान से दो मोमबत्तियाँ ले आया तो माँ ने बेलन वाला हाथ उठाकर माचिस की ओर संकेत किया।

दीवार वाली आलमारी से माचिस लेकर विभाकर ने मोमबत्ती जला दी। दूसरी मोमबत्ती ऊपर के लिए थी।

रज़ाई में उलझकर छोटी बच्ची तख्त के नीचे गिर गई और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

अप्पी और दामो खेल रहे थे, दोनों लपककर बच्ची को उठाने गए।

विभाकर ने मोमबत्ती जलाई तो हवा का झोंका उसे लील गया। खस-खस-खस···तीन तीलियाँ बेकार गईं तो कन्धे पर का छाता उलटकर सीढ़ियों पर लुढ़क चला—भट-भट-भट !

कि रोशनी आ गई।

कमरा जगमगा उठा, मगर बच्ची अप्पी की गोद में रोती रही।

छाता लेकर वापस आया विभाकर, उसे समेटकर बाहर खूंटी में लटका दिया। अन्दर होते ही सामने दीवार पर पिता के फोटो की तरफ निगाहें गईं। क्षण-भर के लिए गौरव के अहसास से सीना तन गया···कितना नाम है मेरे पिता का !

"भइया," दामो ने कहा, "हेम चुप नहीं होती है !"

"ला, मुझे दे ! तू नीचे जा, खाना तैयार है !"

"लो, यह तुमसे थोड़े चुप होगी ?"

"ला भी तो !"

"अप्पी ने मेरी गोली चुरा ली है, भइया !"

विभाकर ने दामो की इस शिकायत पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह बच्ची को चुप कराने लगा—"आ आ आ आ, ओ ओ ओ ओ, ई ई ई ई, आ गे हेम ! चू....प···"

कन्धे के सहारे सँभालकर लेने की वजह से नन्ही जान को आराम मिला और रुलाई सानुनासिक स्वर की प्रलम्बित मात्रा में बदल गई।

"अब सोएगी," नीचे से माँ ने कहा।

विभाकर कमरे में घूम-घूमकर बच्ची को चुपचुपाता रहा। दामो और अप्पी भीगते-भीगते नीचे चले गए।

सीढ़ियों पर साया नहीं था, न रोशनी थी। सीढ़ियाँ हमवार होतीं सो भी नहीं। बच्चे ही नहीं, सयाने भी गिरते-पड़ते थे। मकान-मालिक किराया-दोहन कला का आचार्य तो था ही, अपने को एक्ज़िक्यूटिव इन्जीनियरों का नाना समझता था।

अप्पी को भूख लग गई थी। दिल सिकते हुए गोल-गोल फुलकों में उलझ रहा था, नथनों में सेम-टमाटर-गाँठगोभी की तीमन महक-महक उठती थी। पिसी हुई सरसों और इमली का सौरभ मसाले को कई गुना अधिक स्वादिष्ट बना देते हैं, अपर्णा को इस तरह की तीमन बेहद पसन्द थी।

बेचारी के पैर चूक गए ठीक वहीं पर, जहाँ उत्तर से पूरब की ओर मुड़कर नीचे जाती थीं सीढ़ियाँ।

नंगी-खुरदरी ईंटों से टकराकर माथा फूट गया। ज़ोर की चीख निकली।

चूल्हे के पास से उठकर माँ दौड़ी, ऊपर से दौड़ा विभाकर।

वर्षा का वेग थम चुका था लेकिन बूंदाबांदी जारी थी। अपर्णा को गोद में उठाकर प्रतिभामा ऊपर आ गई···लहू की लकीरें कनपटियों के नीचे आकर कन्धों पर फ्राक को भिगो रही थीं। सख्त चोट ने लड़की को संज्ञाशून्य कर दिया था।

पड़ोस की स्त्रियाँ कमरे में इकट्ठी हो गईं।

विभाकर हकीम को बुलाने गया।

दामो छोटी बच्ची को सँभाले हुए था। इस तरह लोगों की भीड़ और उनका हल्ला-गुल्ला देख-सुनकर बच्ची पहले तो चकरा गई, बाद को उसकी नन्हीं चेतना पर आतंक छा गया और वह पूरी ताकत लगाकर रो पड़ी।

प्रतिभामा अप्पी के माथे का लहू आँचल के खूंट से बार-बार पोंछती थी, लेकिन वह बन्द नहीं हो रहा था।

पड़ोस वाली औरत का घरवाला बड़े हास्पिटल में कम्पाउण्डर था। वह टिंचर का फाहा ले आई। दाई चटपट आलू पीस लाई।

उम्मी की माँ ने लहू पोंछकर घाव पर टिंचर वाला फाहा रख दिया तो अप्पी दर्द की टीस से तड़प उठी।

बाकी औरतें मकान-मालिक और कार्पोरेशन को कोस रही थीं।

हकीम जी आए तो औरतें हट गईं। प्रतिभामा उसी तरह बैठी रही।

देख-दूखकर दढ़ियल बोला, "घाव गहरा है लेकिन घबराने की बात नहीं। जाड़े का मौसम न होता तो अन्देशे की बात थी···"

फटी-फटी आँखों से हकीम का चेहरा देख रही थी, साँवली सूरत का लम्बोतरा चेहरा और तरतीब से तराशी हुई खिचड़ी दाढ़ी। बड़ी-बड़ी आँखें और चौड़ी पेशानी पर चमकता हुआ घाव का गहरा निशान। सिर पर काश्मीरी टोपी थी, ऊनी और रोएंदार।···प्रतिभामा की निगाहें गड़ी थीं—ट्रेन में एक बार इसी से मिलता-जुलता चेहरा प्रतिभामा के कन्धे के करीब था, बिल्कुल करीब···

ठीक यही आँखें, ठीक यही नाक…। भीड़ की वजह से वे दूसरे-तीसरे नहीं, पाँचवें बर्थ की सीटों के छोर पर ऊपरी बर्थ की मोटी चेन के सहारे खड़े-खड़े झूल रहे थे। पिछली लड़ाई का ज़माना था और इलाहाबाद-जंबई के दर्म्यान दौड़ रही थी उस वक्त वह ट्रेन, अपर इण्डिया एक्सप्रेस और तब हिलती-डुलती ट्रेन के मुताबिक छँटी दीढ़ीवाले का वह हाथ भी हरकत में था। बाँह के नीचे बगल के ज़िस्म से बार-बार हथेली सट रही थी और सहज शील-संकोच वाला लाजवन्ती का सनातनी संस्कार प्रतिरोध के नाम पर बस घुटकर ही रह गया था और उधर विभाकर के पिताजी ऊपरी बर्थ की मोटी चेन के सहारे खड़े-खड़े झूल रहे थे…

"चलिए," हकीम उठकर खड़ा हुआ और विभाकर से बोला, "साथ चलके मल्हम ले आइए और खाने वाली दवा भी मिलेगी…अन्देशे की कोई बात नहीं …आप लोग इस मकान में शायद नये-नये आए हैं!"

"जी हाँ," विभाकर ने कहा, "चार-पाँच महीने हो रहे हैं मगर आपका नाम हम तक पहले ही पहुँच चुका था!"

बेटे की बात के समर्थन में माँ ने भी माथा हिला दिया। हकीम साहब के होंठ खुशी में फैल गए। दाँतों की चमक ने मुस्कान को ज़ाहिर कर दिया।

हकीम नीचे उतरा।

विभाकर पीछे-पीछे गया।

उम्मी की माँ आ डटी।

बगल वाली पड़ोसिन ने गर्दन बढ़ाकर हकीम की हिदायतों के बारे में जानना चाहा तो कम्पाउण्डर की बीवी ने नीचे से ही उसे सब कुछ बता दिया और आदत के अनुसार पूछ लिया, "समझीं भला? कि नहीं समझीं?"

"इत्ती-सी बात भला नहीं समझूंगी?" दर्जा छै तक मिडिल स्कूल में पढ़ी पड़ोसिन तमककर बोली, "और मेरा तो भाई ही डाक्टर है…पौने चार सौ पाता है।"

पौने चार सौ की इस बात पर कम्पाउण्डर की बीवी मुर्झा गई। केतली में चाय का पानी खौल रहा था, बस उसे यों ही उतारकर छोड़ दिया। लिहाफ को ऊपर गर्दन तक खींच लिया। पचासी की तनखा पानेवाला 'कम्पोटर बाबू' मुंगेरीलाल जाड़े की रातों में भी साढ़े आठ-नौ से पहले शायद ही कभी घर आते थे। घर आकर वह कपड़े बदलते थे यानी कमीज़-बण्डी निकालकर खूंटियों पर लटका देते थे और दो रुपये दो आनेवाली मद्रासी लुंगी माथा झुकाकर माला की तरह गले में डाल लेते थे, तत्पश्चात् कमर तक लाकर बेचारी को नीचे छोड़ देते …निबटने जाएँगे और पाखाने में दस मिनट बैठकर इत्मीनान से बीड़ी धूकेंगे, इसी से लुंगी में नाभि के नीचे हल्की गांठ देकर खड़ाऊँ डालते थे पैरों में। फिर गुनगुनाकर अस्पष्ट ध्वनि में गाना शुरू करते थे, "आ रे बदरा आ…" शंकर शैलेन्द्र का यह गीत बाबू मुंगेरीलाल को बेहद प्रिय था…तो सूती पाजामा तह करके तकिया के नीचे दबाकर वह कमरे से निकलेंगे। निबटकर तैयार होंगे तो

टाइमपीस की मिनट वाली सूई काफी आगे बढ़ चुकी होगी और दूसरे व्याह की इस नवेली का कर्कश स्वर मुंगेरीलाल के सींकिया पैरों में फुर्ती भर देगा, चूल्हे के करीब जाकर वह खुद ही पीढ़ा खींचकर बैठ जाएँगे !

बूँदाबाँदी थम चुकी थी।

मल्हम लगाते ही अपर्णा की आँखें मूंद गईं।

प्रतिभामा ने उसे गद्दे पर लिटा दिया।

छोटी बच्ची को भी नींद आ रही थी। उसे गोद में लेकर उसने विभाकर से कहा, "क्या पता यह नट्टिन सो ही जाएगी, तुम और दामो नीचे जाकर खाना उठा लाओ। स्टोर वाला रूम बन्द करते आना···और हां, कटोरे में दूध होगा, लेते आना···"

दो

"लेमनजूस !"

"नहीं, मुझे विस्कुट दीजिए !"

"और तुझे नहीं चाहिए विस्कुट ? सुबह का वक्त है, लेमनजूस भी ले और विस्कुट भी। आरारोट का बिस्कुट खाने से ताकत बढ़ती है बेटी ! ···"

तीन विस्कुट और दो लेमनजूस थमाकर बुढ़ऊ ने दोनों बच्चों को वापस रवाना किया, दुअन्नी कैश बाक्स के हवाले हो चुकी थी।

सामने चाय का प्याला था जिसकी नाक गायब थी।

मुंशी मनबोधलाल मकान-मालिक ही नहीं थे, सफल दूकानदार भी थे। बच्चों को लुभाने वाली जितनी भी वस्तुएँ हो सकती हैं, सबका संग्रह था उनकी दूकान में। बीड़ी-सिगरेट, लेमनजूस-बिस्कुट से लेकर लोटा-बाल्टी, गंजी-कमीज़ तक···क्या नहीं था उनकी दूकान में ? लालटेन थी तो बिजली के बल्ब भी थे। कापी-पेन्सिल थीं तो मैट्रिक के गेस-पेपर भी थे।

आखिरी बार प्याला उठाकर वह चाय की शेष बूंद तक सुड़क गए और तृप्तिपूर्वक सामने सड़क पर गुज़रने वाले राहगीरों को देखते रहे।

मुसल्लहपुर हाट से लौटते हुए रिक्शे सब्ज़ियों के अधिकाधिक बोझों से लदे होने के कारण यों भी अपनी तरफ ध्यान खींच लेते थे और यही हाल था उन बंगाली बाबुओं का जो हाथ में झोला लटकाए हाट की दिशा में जा रहे होते, आगे की तरफ से धोती का निचला छोर सँभाले और बीड़ी टानते हुए मासान्त के दिनों में उनका यह सब्ज़ी-अभियान देखते ही बनता था !

मुंशी जी ने एक परिचित रिक्शा वाले को आवाज़ दी, "ए सुनते हो जी !"

मैली-नीली बुश्शर्ट और खाकी हाफ पैण्ट···साँवली सूरत वाले उस नौजवान ने ब्रेक लगाकर रिक्शा रोका, रुकते-रुकते भी पहिये दस-पाँच गज बढ़ ही गए।

उतरकर रिक्शा वाला दूकान के करीब आया।

"लो," मुंशी जी ने बीड़ी का बण्डल थमाया, "परसों ही आ गए थे, कहाँ गायब हो जाते हो तुम ?"

गायब हो जाने की कोई कैफियत उसने नहीं दी, मुंशी जी लेकिन हितैषी बुजुर्ग की तरह मुस्कराते रहे। जाने लगा तो बोले, "एक और न लेते जाओ ! खास जबलपुर का माल है, पटनिया माल भला इसका क्या मुकाबला करेगा ! दूं न ?"

माथा हिलाकर नौजवान ने इन्कार किया।

उधर सब्ज़ी के गट्ठरों से आकण्ठ ढकी हुई अधेड़ तरकारी वाली का गेहुँआ चेहरा उतावली निगाहों से दूकान की ओर घूम रहा था, खैर, रिक्शा वाले ने फुर्ती की और उसे कुछ कहने का मौका नहीं दिया।

मद्रासी लुंगी और गोलकट बनियान—बाबू मुंगेरीलाल कोयले वाले की प्रतीक्षा में खड़े थे। सम्पादक जी वाला 'आर्यावर्त' लेकर हॉकर अन्दर घुसने ही जा रहा था कि कम्पाउण्डर साहब ने हाथ बढ़ा दिया, "इधर लाओ न !"

अखबार देकर हॉकर ने अपनी साइकिल सँभाली।

इधर मुंगेरीलाल काग़ज में डूब गए।

"क्या हाल-समाचार है कम्पोटर बाबू ?" मकान-मालिक से नहीं रहा गया।

मुंगेरीलाल छठे पेज पर रेलवे का विज्ञापन देख रहे थे—प्लेटफार्म पर केले के छिलके डाल देने से कितनी बड़ी दुर्घटना हो गई ? पण्डित सोहनलाल धड़ाम से गिरे और माथा फट गया···भारी भीड़···स्ट्रेचर···खिन्न मुद्रा में स्टेशन-मास्टर खड़ा है···

कम्पाउण्डर ने अखबार के पन्नों से निगाहें नहीं हटाईं, विज्ञापन का आखिरी पैराग्राफ मन ही मन पढ़ता हुआ बोला, "अम्बाला के पास इंजिन पटरी से उतर गई और आसाम में औरत की कोख से बकरी का बच्चा पैदा हुआ है और नेहरू जी ने कहा है कि भारत कई मामलों में सबसे आगे है···"

और मुंगेरीलाल आज का एक विशिष्ट समाचार मुंशी मनबोधलाल से छिपा रहे थे, यह बेईमानी उनके विवेक को खरोंचने लगी··· विज्ञापन से तबीयत उचट गई, मन-मन्दिर के कोने में वह विशिष्ट समाचार गूँजने लगा—"बड़े अस्पताल में दवाओं की चोरी !"····"हज़ारों का माल गायब"····"डाक्टरों-कम्पाउण्डरों-नर्सों-कर्मचारियों का भ्रष्टाचार पराकाष्ठा पर"····"स्वास्थ्य-विभाग के मन्त्री अविलम्ब पद-त्याग करें"···

यों, छिलके वाली विज्ञापन-सामग्री भी कम्पाण्उडर के दिल को छू गई थी क्योंकि सोनपुर के प्लेटफार्म पर उसके हाथों का फेंका हुआ छिलका एक

घूंघट वाली नवेली के घुटनों को लहूलुहान कर चुका था। लेकिन, वह तो आठ-दस वर्ष पहले की बात थी न ? और, यह अस्पताल-काण्ड ! अरे बाप रे। बिल्कुल ताजा मामला था यह तो ! ···

अखबार तहियाकर बाबू मुंगेरीलाल मकान के अन्दर आ गए और पुकारा, "विभाकर ! विभाकर ! ओ विभाकर !"

"जी, आया !" ऊपर की पीछे वाली खोली से आवाज़ आई और अगले ही क्षण चौदह साला किशोर सीढ़ियों से उतरता दिखाई पड़ा।

अखबार लेकर और मन ही मन कम्पाउण्डर को कोसता हुआ विभाकर ऊपर अपने कमरे में वापस आया। उसे यह बात एकदम नागवार लगती है कि चालीस व्यक्तियों वाले इस उपनिवेश के अन्दर खरीदकर अखबार पढ़ने वाला दूसरा कोई है ही नहीं ! कैसे हैं लोग ! अखबारों की चर्चा छिड़ने पर बोल उठते हैं, "हुँह, डेली ? हमारे दफ्तर में चौदह ठो दैनिक आता है ! सात ठो वीकली ! हम तो बस इत्मीनान से वहीं देखते रहते हैं···यहाँ तो हेड लाइन भर झांक लेते हैं···विभाकर जी, आपके पिता सम्पादक हैं फिर भी दो ही चार ठो डेली पेपर देख पाते होंगे मगर हमारे दफ्तर में···ज़रा देख आइए चलकर !"

विभाकर को इन लोगों पर अन्दर ही अन्दर गुस्सा आता है। इनकी सारी डींग उसे कोरी बकवास प्रतीत होती है। इस छोटी उम्र में भी वह समाचार-पत्रों की अनिवार्यता भली-भांति महसूस करता था।

कोयला वाले की मोटी आवाज़ गूंज उठी, "ल्ले···कोइला ह···लेक्···"

मुंगेरीलाल फिर बाहर निकल आए।

महीने का आखिरी सप्ताह था, पांच सेर से ज्यादा लेने की गुंजायश थी नहीं। खुद ही वह ठेले पर झुक गए और पथरिया इंधन के छोटे-छोटे हल्के डले उठा-उठाकर तराज़ू वाले पटरे पर डालने लगे।

कोयला वाला खुलकर हँसा और बोला, "घटिया माल नहीं रखता हूँ सरकार ! रुई की तरह फक से आग पकड़ लेता है और एक बार सुलगा लीजिए फिर घण्टों जलता रहेगा···हार्डिंज रोड, बेली रोड, कदमकुआं, बोरिंग, रोड··· हमीं लोग सबतर कोयला पहुँचाते हैं मालिक ! ···"

"बड़े उस्ताद होते हो तुम लोग," मुंगेरीलाल ने हाथ से हाथ झाड़कर कहा, "ज़रा-सी निगाह ओट हुई कि कोयले के बदले काले पत्थरों से ही तुम हमारी किचन भर दोगे ! दिन में दस दफे चूल्हा रूठेगा तो घर की मलिकाइन सर फोड़ लेगी···"

इस पर उधर मुंशी मनबोधलाल को हँसी आ गई। प्राइमरी स्कूल का पड़ोसी लड़का बस्ता लटकाए पेन्सिल परख रहा था, दूसरी मुट्ठी के अन्दर से चवन्नी झांक रही थी। ललचाई नज़र से मुंशी जी ने मुट्ठी की तरफ कई बार देखा और अपने अबोध गाहक से कहा, "कापी नहीं लोगे ? अब की बड़ा उम्दा कागज़ है बबुआ···एक ठो ज़रूर ले लो।"

"नहीं, रहने दीजिए," लड़का बोला और पेन्सिल ले ली।

तब तक बाबू मुंगेरीलाल भी आ डटे।

"अभी आप मुस्करा क्यों रहे थे मुंशी जी ?"

"घर का मालिक कम्पोटर रहे और घर की मलिकाइन सर फोड़ लेगी !"

सर फोड़ने वाली बात सुनते ही कोयला वाला पास आ गया, बोला, "नहीं सरकार, हमारा कोयला खराब नहीं है। मलिकाइन को रत्ती-भर भी तकलीफ हो तो मेरे नाम पर आप कुकुर पोस लीजिएगा..."

मनबोधलाल मुस्कराते रहे।

मुंगेरीलाल रुपये की रेजगारी चाहते थे। एक हाथ दूकान की तरफ बढ़ा था, दूसरा भी अब ठेला वाले की ओर उठ गया। बोले, "बस, पैसे लो और भागो ! ज्यादा कानून मत बघारो..."

दूकानदार बनाम मकान-मालिक ने साढ़े पाँच आने कोयला वाले के हवाले किए, बाकी रेजगारी कम्पाउण्डर को थमाई।

कोयलावाला ठेला लेकर आगे बढ़ा।

मनबोधलाल मुस्कराए और कहा, "दस पैसे का सौदा परसों अन्दर मंगवाइन थे..."

"सो सब पहली के बाद होगा..." मुंगेरीलाल ने मानो पीठ की तरफ से ही कहा, अन्दर आने की जल्दी थी।

उतावली में गू पर एक पैर पड़ गया जो कि उन्होंने स्वयं नहीं देखा। दरवाजे की चौखट लांघकर भीतर अंगनई में दाखिल हुए तो पत्नी बोली, "हुँ हुँ हुँ हुं, यह चन्दन वाला पैर तो धो आओ !...जाड़े का छोटा दिन और पानी की किल्लत...तुमने मेरा एक काम और बढ़ा दिया ! दाई अपनी क्या है, शैतान की साली है...! कुल्लम तीन बाल्टी पानी भरके भाग खड़ी होती है...हे भगवान, यह कैसा नरक-निवास लिखा था लिलार में...जाओ, सड़क वाले नल पर से पैर धो आओ..."

कम्पाउण्डर ने कोयला वाली टोकरी चूल्हे के करीब पटक दी। घिन और गुस्सा...सिर से लेकर एंड़ी तक सुलग उठा बदन। जोर-जोर से चीखने लगा, "सुअर के बच्चे ! जहाँ-तहाँ हगते फिरते हैं। कमीनों की औलाद... मैं साखू की कील ठोंक दूंगा, आखिर समझ क्या रक्खा है ? लेंडी के पूत..."

पाँच मिनट तक कम्पाउण्डर गालियाँ बकता रहा।

जवाब में एक भी शब्द नहीं, कहीं से भी नहीं ! किसी ओर से भी नहीं।

मुंगेरीलाल के दिल का उफान बाहर निकल चुका तो वह मकान के सदर फाटक को पार करके बाहर सड़क पर आ गया।

पच्छिम की ओर तीन मकान आगे बाएँ हटकर फुटपाथ के कगार पर कारपोरेशन का नल था, बुढ़िया बंगालिन के मकान की दीवार से लगा हुआ। उसी के साथ-साथ खुला-फैला गन्दा नाला बह रहा था, सदाबहार गटर ! ४×२

वर्गफुट का सीमेण्ट का घिरावा नल के नीचे, नाले पर बिछा था। सड़क की तरफ से खुला होने के कारण आम जनता इस जलाशय का पूरा उपयोग कर लेती थी।

कम्पाउण्डर करीब आया तो देखा, पंकज प्रकाशन वाले नेपाली दरवान का नौजवान बेटा हाफ पैण्ट सखुना रहा है। जान-पहचान की मुस्कराहट उभरी तो लाल मसूड़ों वाले दाँत मानो दुगुने सफेद होकर जगमगा उठे। उठकर वह खड़ा हो गया, फुटपाथ पर हट आया। बोला, "आइए हजूर!"

"बस, एक मिनट बहादुर! सिर्फ पैर धोना है..."

"नहीं हजूर, हाथ-मुँह भी धो सकता है आप!"

गिरते पानी की चोट में एक पैर का गन्दा तलवा अपने-आप साफ हो गया तो मुंगेरीलाल ने शुचिता के मानव सुलभ संस्कार की वजह से दूसरे पैर को भी नल के नीचे डाल दिया।

नेपाली ने पूछा, "गोबर लगा था हजूर?"

"हाँ जी," आहिस्ता से कम्पाउण्डर कह गया।

एड़ियों से रगड़-रगड़कर पैर धो लिए तो सीधे-सादे नेपाली नौजवान की जुबान से एक बार और वह प्रिय सम्बोधन अपने लिए उसने निकलवा लेना चाहा।

कि आप ही बहादुर के मुँह से निकल आया, "हो गया हजूर?"

मुंगेरीलाल की तबीयत खिल उठी। इस बार पूरा-पूरा स्वाद मिला हजरत को अपने व्यक्तित्व का।

फिर तो इस कदर फूले-फूले बाबू मुंगेरीलाल वापस आए कि मकान-मालिक से पड़ोसियों और उनके बच्चों के बारे में शिकायतें पेश करने का पूर्व-संकल्प तक खयाल से उतर चुका था।

तीन

सदर दरवाजे से आगे बढ़ते ही बाईं तरफ एक बड़ा कमरा था। वह हमेशा बन्द रहता था। कमरे के ऊपर चौबारा खपरैलों से छवाया हुआ। अन्दर पिछले चार महीने से जो परिवार टिका था उसमें तीन प्राणी थे। एक अधेड़ औरत, एक अठारह साला छोकरी, और एक अधेड़ मर्द।

महिला को ल्यूकोरिया हो गया था, बड़े अस्पताल में चिकित्सा चल रही थी। लड़की परिचर्या के लिए साथ आई थी। मर्द चार-छै रोज दिखाई पड़ता फिर हफ्ता-भर के लिए कहीं चला जाता।

बीमार थी, सो बुआ होती थी। लड़की भतीजी।

कम्पाउण्डर की बीवी नई-नवेली तो थी ही, बेहद चुलबुली तबीयत की थी।

अक्सर दुपहर को, जब मर्द अपने-अपने धन्धे में निकल जाते, कम्पाउण्डर की बीवी उस छोकरी के साथ गंगा जाती थी—कृष्णाघाट। उम्र में चार-छै साल का ही अन्तर था, एक को दूसरी के दिल में घुसने के लिए ज़्यादा कसरत नहीं करनी पड़ी।

ऐसे ही वक्त एक बार कम्पाउण्डर की बीवी ने उस छोकरी से पूछ लिया; "तुझसे पहले बुआ जी के साथ जो रहने आई थी, कौन थी भुवन ?"

"हमारे तीसरे चाचा की लड़की थी," भुवनेसरी ने जवाब दिया और बुआ की चोली में साबुन रगड़ती रही। क्षण-भर बाद ही जाने क्या बात दिमाग में आई कि उलटकर पूछ बैठी, "क्यों जीजी, अभी वह क्यों याद आई ?"

इस पर मुस्कराती रही कम्पाउण्डर की बीवी, कुछ बोली नहीं।

भुवन को इस पर शक हुआ। लगा कि यह औरत कोई सूराख पा गई है उनके गोरखधन्धे की।

साबुन वाला हाथ उठाकर भुवन बोली, "उसका माथा ठीक नहीं था, सुनती हो जीजी ?"

इस पर भी कम्पाउण्डर की बीवी कुछ नहीं बोली। ज़ोर से पति का कपड़ा पछीटती रही।

पीछे, नहाते वक्त बात चली तो प्रसंग ही बदल चुका था।

भुवन ने कहा, "लाओ जीजी, पीठ मसल दूं।"

"बस ! पीठ ही ?" शरारत-भरी नज़रों से कम्पाउण्डर की बीवी ने भुवनेसरी की ओर देखा और पीठ दे दी…।

"एक बात पूछूं भुवन ?"

"एक ही क्यों, दो पूछ लो चाहे ?"

"जाड़े की रात में अकेले कैसे नींद आती है ?"

"बस, तुम तो जीजी एक ही सवाल जानती हो !"

"अपने तो बस एक ही सवाल जानते हैं ! माँ-बाप ने जब खूंटे से बाँध दिया तो दुनिया-भर के खटराग क्या जानें : वर्ना हम भी सात घाट का पानी पीते, सौ किसिम के सुख लूटते…"

अब भुवनेसरी को यकीन हो गया कि ज़रूर यह औरत हमारी कारगुज़ारियों के बारे में थोड़ा-कुछ जानती है…उसके कानों में गूंजने लगा, 'वाह रे चाचा, वाह री भतीजी, वाह री बुआ !'

पीठ मसलवाकर कम्पाउण्डर की बीवी ने कहा, "ला, अब तेरी पीठ का मैल छुड़ा दूं…"

ना-ना करके भुवन छिटक जाना चाहती थी मगर नहीं बच सकी। कम्पाउण्डर की बीवी ने उसे पकड़ लिया। पानी के अन्दर ही कमर को जांघों की

गिरफ्त में लेकर वह भुवन की पीठ मलने लगी।

गौर से देखने पर छोकरी की पीठ पर तीन-चार लम्बे-पतले निशान दिखाई पड़े। पूछा, "ये कैसे दाग हैं?"

भुवनेसरी ने सहज भाव में कहा, "पिटाई के निशान हैं।"

"पिटाई के?"

"हाँ, बेंत के।"

"किस राक्षस ने पीटा था?"

"राक्षस नहीं था जीजी, बहुत बड़े महात्मा थे वो तो···जितना ज्यादा खुश होते थे, उतनी ही अधिक पिटाई पड़ती थी! मेरी पीठ पर बाईस बार बेंत बरसी थी न? बेहोश हो गई थी, मुझे मामा उठाकर ले आए थे···"

कम्पाउण्डर की बीवी ने कहा, "फिर तो तुझे बड़ा ही अच्छा दूल्हा मिला होगा न? खूब मानता होगा और खूब···"

बालों वाले अपने बड़े सिर की ओट में भुवन के होंठों को उसने ज़ोरों से चूम लिया···

ज़रा हटकर एक बुढ़िया नहा रही थी, ऊपर दो औरतें कपड़े पछीट रही थीं···भुवन बोली, "लोग क्या कहेंगे जीजी?"

"जहन्नुम में जाएँ लोग!" उसने कहा और मुंह बना लिया।

गंगा से लौटीं वे तो डेढ़ बज रहा था।

सड़क पर, मकान के नज़दीक, रिक्शा लगा था। हाथों में उर्दू का अखबार थामे एक सरदार जी बैठे थे रिक्शा पर, खिचड़ी दाढ़ी और छींट का माफा। खुले गले का कोट और पेशावरी स्टाइल का पाजामा। पैरों में नुकीली जूतियाँ।

दोनों अन्दर बुआ के सामने आईं तो एक अपरिचित महिला बैठी दिखाई पड़ी। पहनावा पंजाबिन का, बोली बिहार की।

बुआ के आगे दो ठोंगे रखे थे, अंगूर और सेब के।

आँखों का इशारा पाकर भुवन और कम्पाउण्डर की बीवी इधर आ गईं, उन्हें गुफ्तगू के लिए छोड़ दिया।

कम्पाउण्डर के कमरे में आकर भुवनेसरी ने पछीटे हुए कपड़े जीजी को थमा दिए। पलंग पर लेटती हुई वह बोली, "माथा भारी है, बुखार आए और मरूँ···"

"कैसी अलच्छ बात मुंह से निकालती है, भुवन!" कम्पाउण्डर की बीवी ने फटकारा और कपड़े डालने छत पर चली गई।

वापस आकर थाली में अपने लिए उसने खाना निकाला।

मोटे चावलों का भात, बथुआ और बड़ी का तीमन, आँवले की चटनी।

मुंह के अन्दर पहला कौर ठूंस लिया और बोली, "तू तो यह खाना सूंघ भी नहीं सकती···क्या-क्या पकाया था?"

भुवनेसरी ने कहा, "आलू-गोभी, टमाटर की चटनी…"

"और बुआ के लिए ?"

"दलिया और लौकी की भाजी और दूध…"

कम्पाउण्डर की बीवी ने पूछा, "अच्छा भुवन, यह जो अभी पंजाबिन बैठी थी बुआ के पास, वह भी तो रिश्ते की ही कोई होगी न ?"

भुवनेसरी ने कहा, "नहीं, रिश्ते की नहीं है यह। जान-पहचान की होगी। बात यों है कि हमारे फूफाजी पोस्ट मास्टर थे, दस-बीस शहरों में रहे थे। दो-दो वर्ष पर जगह बदल जाती थी। बिहार के अन्दर शायद ही कोई ज़िला-सब-डिवीज़न छूटा हो उनसे। बुआ हमेशा साथ रही। देखती नहीं हो कि किस ठाठ से पक्की बोली बोलती हैं !"

कम्पाउण्डर की बीवी ने दिल ही दिल में अपने से कहा, 'छिनाल कहीं की ! उड़ती चिड़िया की पूंछ में हल्दी लगाने वाली रॉंड़ ! किस कदर बात बनाती है…फूफा जी पोस्ट मास्टर थे ! मामा मिनिस्टर थे ! चुड़ैल कहीं की !…'

प्रकट तौर पर उसने कहा, "मैं ठठ देहात की रहने वाली मामूली औरत हूँ, पचासी रुपइया तनखा आती है घर में। घर वाला जास्ती पढ़ा-लिखा नहीं है…इसी से अनाप-शनाप सवाल पूछती रहती हूँ तुझसे। रंज न होना भुवन !"

भुवनेसरी उठ बैठी और बोली, "तुम भी भला क्या बात करती हो जीजी ! बुआ के बारे में पूछती हो, ठीक ही करती हो। नेह-छोह न होता तो पूछापेखी नहीं न करतीं ?…"

मगर मन ही मन भुवनेसरी कहती गई, 'और तेरे पास नित नये छैले आते हैं। ठिठोली और खिलखिलाहट…कमीज़ के कालर में सेन्दुर का दाग—इत्र की खुशबू और रेशमी रूमाल…गटर में चमकते हुए चूड़ियों के टुकड़े…'

"बुआ बुला रहीं हैं आपको," पड़ोस की बच्ची ने आकर कहा और भुवनेसरी अपने बासे की तरफ गई।

बुआ ने उसे दो नम्बरी नोट थमाए।

पूछा, "कुल कितने हुए ?"

"सात नम्बरी और पन्दरह दस वाले।"

"ले, यह भी लेती जा !"

सिरहाने में गद्दे के नीचे दस-दस के पांच नोट रखे थे। बुआ ने निकालकर वह भी थमा दिया।

रुपये ट्रंक में रख आई भुवनेसरी।

जरूर ही सरदारिन ले गई होगी यह रकम। किस मद के रुपये होंगे ! खरीदी जाने वाली किसी लड़की के लिए बयाने की रकम तो नहीं थमा गई है ?…साहस नहीं हुआ कि बुआ से इस बारे में कुछ पूछ लेती, आकर कुर्सी पर बैठ गई भुवन। सोच रही थी कि स्टोव जलाए। तीन-चार के दरम्यान बुआ को

चाय ज़रूर चाहिए।

बीमारी के चलते बुआ का बदन ढाँचा-भर रह गया था।

हथेली से बुआ ने इशारा किया।

भुवन तख्त पर आ गई, सटकर बैठी बुआ से।

अहिस्ता से बोली, "बड़ी पाजी है, कम्पाउण्डर की बीबी से ज्यादा न सटना। जाने कैसे क्या निकलवा ले जुबान से! दुश्मन के आदमी पीछे लगे हैं। भले तो किताब पढ़ती रहती है...क्या बातें कर रही थी आज?...ऊपर वाला लड़का नहीं लौटा है स्कूल से? ढेर-सी किताबें हैं उसके पास...मैं तो वहाँ से किताबें मंगवा लिया करती थी मगर पीछे पता चला कि बाप किसी अखबार में काम करता है, सम्पादक है। सम्पादक लोग बड़े शैतान होते हैं। भूल करके भी इन शैतानों से जान-पहचान नहीं करनी चाहिए। पीछे लगेंगे तो खोद-खादकर सारी बातों का पता लगा लेंगे, किसी न किसी बहाने तुम्हारी असलियत अखबार में छपकर लोगों के सामने आ जाएगी और तुम मुँह दिखाने लायक नहीं रह जाओगी।..."

"क्यों, मैंने क्या किया?" लड़की चौकन्नी होकर पूछ बैठी, मानो सचमुच कोई सम्पादक उसके पीछे पड़ जाएगा!

"धत्!" बुआ को हँसी आ गई भुवन के भोलेपन पर, "मैं तो बस बात कर रही थी कि दुश्मन हमारे पीछे लगे हैं...और तू तो नाहक चिहुँक उठी, पगली कहीं की!"

बुआ भुवनेसरी की पीठ पर हाथ फेरने लगी। चोटी झूल रही थी, अगले ही क्षण चोटी से खेलने लगी बुआ।

भुवनेसरी सोच रही थी, 'कौन, चालीस-पचास भी तो नहीं लगेंगे। मद्रासी साड़ी के लिए कई बार कहा है मगर ध्यान नहीं देती हैं बुआ...कम्पाउण्डर की बीबी के पास तीस-तीस की दो साड़ियाँ हैं, बम्बइया छींट के सिल्कन ब्लाउज हैं तीन-चार डिजाइन के, कानों के टाप्स हैं और मगर की शकल के कुण्डल हैं... लेकिन मेरे पास क्या है? तीन-चार मामूली साड़ियाँ, दो ब्लाउज रोल्ड-गोल्ड के ईयरिंग और...बुआ मुझे ठगती है...यह औरत सौ चुड़ैलों की एक चुड़ैल है। जाने कितनी छोकरियों का कीमा बनाया होगा। मुझे भी तल-भुनकर खा जाएगी। हम क्या हैं? रकम बनाने की फैक्टरी के कल-पुर्जे हैं! देखे तो आके कोई, ममता का कुआँ बनकर कैसे हमदर्दी उड़ेल रही है इस वक्त।...'

"तो तू गुमसुम क्यों बैठी है?" बुआ ने आँखों में आँखें डालकर जानना चाहा।

भुवन ऊपर-ऊपर से मुसकराई।

बुआ बोली, "शर्मा जी आएँ तो कपड़े मँगवाऊँगी। एक भी ढंग की साड़ी नहीं है तेरे पास। कपड़े तो निहायत जरूरी होते हैं न? कभी याद भी तो नहीं दिलाती है। छोकरियाँ खुद गूंगी बन जाएँ तो दूसरा क्या करे?"

भौंहें तानकर और आँखें नचाकर भुवनेसरी ने अपने पैरों की ओर देख लिया

जो कि किचन की तरफ बढ़ गए थे।

बुआ ने कहा, "पालक के पकौड़े बना लेना।"

"डाक्टर ने मना कर रखा है न ?" जवाब आया।

"जहन्नुम में जाएँ डाक्टर-फाक्टर, जीभ को मैं पत्थर नहीं बना लूंगी। मन को रुलाऊँगी तो तन भी कलपता रहेगा। जा, तू मेरी बात सुन ! पालक के पकौड़े अच्छे रहेंगे।"

चार

बुकसेलर की दुकान-भर थी, रहने की जगह मुहल्ला महेन्द्रू में थी। दर्जी का भी यही हाल था।

बुकसेलर ने अन्दर भी एक अन्धेरा कमरा ले रखा था—गुदाम के लिए। बाहर वाले कमरे में तीन तरफ बड़ी-बड़ी रैक थीं। दरवाजे के पास काउण्टर था। दो ऊँची कुर्सियाँ थीं··· बिकने के लिए रैकों में सजाई हुई किताबें स्कूली स्तर की थीं या तो फिर जीवनी-सीरीज़ की छै आने वाली साधारण पुस्तकें थीं।

साइनबोर्ड था—'साहित्य सौरभ ग्रन्थागार'।

बाहर से देखने पर लगता नहीं था कि किराये के भी पैसे वक्त पर दे पाते होंगे। मालिक का भाई और नौकर, बस। स्टाफ में तीसरा नहीं था कोई।

विभाकर के पिता, दिवाकर शास्त्री स्नेहपूर्ण इंगित पाकर कभी-कभी रुक जाते और पान के दो बीड़े ले लेते, बाकी उनका भी कोई रिश्ता नहीं था।

प्रोप्राइटर का नाम था तिलकधारी दास। वह प्रकाशन की कई संस्थाओं में काम कर चुका था। पुस्तकें मंजूर करने वाली कमेटी के सदस्यों की पोल उसे अच्छी तरह मालूम थी। पाठ्य-पुस्तकों का अवैध व्यापार··· विभिन्न ज़िला बोर्ड के स्कूलों में 'स्टेशनरी' के नाम पर रद्दी माल की सप्लाई··· बुनियादी तालीम के क्षेत्रों से चर्खों और चटाइयों तक का आर्डर बटोर लाना··· ग्रामोद्योग के नाम घी, तेल और खादी का धन्धा··· बाबू तिलकधारीदास को जाने कितने कामों का तजुर्बा हासिल था। नेपाल से गांजा कभी ला सके थे कि नहीं, पता नहीं।

लगातार तीन रोज़ तक नाश्ता कर चुके तो दिवाकर जी को लगा कि इस उदीयमान 'प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता' की कुछ न कुछ नीयत ज़रूर होगी वर्ना विशुद्ध श्रद्धा तो बेहद सूखी हुआ करती है।

आखिर शास्त्रीजी ने कहा, "दास जी, आप कुछ कहते क्यों नहीं ? मेरे लायक कोई काम हो तो अवश्य कहें !"

दास जी ने रूमाल निकालकर मुंह पोंछा और बोले, "दो-दो फर्मे की आधी

दर्जन किताबें तैयार कर दीजिए···आलू की खेती, आम का धन्धा, बांस का व्यवसाय, बुनियादी तालीम, नदी नियन्त्रण, सोनपुर का मेला···बोर्ड की स्कूली लाइब्रेरियों में इन किताबों की खपत निश्चित है। अगले महीने तक चाहिए।"

शास्त्री जी रुचि के पत्रकार थे। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर निबन्ध लिखा करते थे। बाकी वक्त में अंग्रेजी-बंगला-उर्दू से कहानियों का अनुवाद। अभी आलू की खेती और आम का धन्धा आदि के बारे में सुनते ही कानों को बुरा लगा, उबलने की तबीयत हुई। किन्तु नकद रकम पाने की तत्काल सम्भावना के चलते मन काबू में रहा···साहित्यकार का स्वाभिमान एक तरफ और लाभ की आशा में झुलने वाला हिसाबी विवेक दूसरी तरफ···दोनों में खींचतान होने लगी।

दासजी ने कहा, "कब तक देते हैं ?"

शास्त्री जी बोले, "अभी तो मुश्किल है मगर···"

अन्दर ही अन्दर स्वाभिमान ने कहा, 'छिः, आलू की खेती पर किताब लिखोगे ! लोग क्या कहेंगे ?'

'लोग क्या कहेंगे ! कुछ नहीं कहेंगे, हाँ, पैसा मिलना चाहिए,' गृहस्थी विवेक ने लाभ वाले पक्ष का अनुमोदन किया। दास जी ने कहा, "अगर-मगर कुछ नहीं, आपको यह काम करना ही पड़ेगा, महीने-दो महीने बाद ही सही !"

फिर आहिस्ता से कह गया, "दो सौ फौरन मिल जाएँगे···"

दिवाकर जी ने संयम से काम लिया, हाँ या ना कुछ नहीं निकला उनके मुंह से। पान के बीड़े गालों के अन्दर ठूंसकर चुटकी-भर जर्दा फांक गए। दूकान से बाहर निकलते-निकलते उँगली से चूना चाट लिया।

मनबोधलाल ने आवाज लगाकर कहा, "हजूर, एक मिनट !"

मकान-मालिक शास्त्री जी को सामने पाकर बोला, "रुपये की किल्लत में पड़ गया हूँ सरकार, दो महीने पूरे हो गए हैं।"

"अगले सप्ताह मिलेंगे," दिवाकर जी ने कहा, "इस बार जरूर हिसाब साफ कर दूंगा मुंशी जी !"

और अब ध्यान आया कि अस्सी रुपये मकान-मालिक को देने होंगे, तो तिलकधारीदास का अनुरोध वरदान ही प्रतीत हुआ। सोचने लगे, 'सौ तिकड़म भिड़ाकर रकम बटोरता है तो क्या हुआ ? बेर-कुबेर मेरे जैसे बीस गरजमन्द आदमी उसके सामने जा धमकते हैं, वह किसी को निराश नहीं लौटाता। सौ नहीं देगा, मगर पचास जरूर देगा। पचास नहीं देगा, मगर बीस-पच्चीस जरूर देगा। दस नहीं देगा, पाँच जरूर देगा।···तुम्हारी गाड़ी नहीं अटकी रहेगी, अपना कन्धा लगाकर वह उसे आगे ठेल देगा !'

सोचते-सोचते शास्त्री जी आगे चले गए।

तिलकधारीदास सहरसा और डाल्टनगंज वाले बुकसेलरों से निबटने लगा। दर्जा आठ और दर्जा नौ की अधिकांश किताबें टेक्स्टबुक कमेटी ने छापी थीं,

लेकिन उनमें से कुछ-एक मिल नहीं रहीं थीं। दास जी इन अप्राप्य पाठ्य-पुस्तकों को दूर-देहात तक पहुँचा देने का इन्तजाम करते थे और नाटकीय ढंग से।

शास्त्री जी का परिवार देहात जा चुका था। दो रूम और खाली हुए तो तिलकधारीदास ने उन्हें ले लिया था जिनमें दास जी की साली आ डटी थी। उसके दो जवान बेटियाँ साथ थीं। कहते थे कि ये लोग भी बड़े अस्पताल में इलाज करवा रही थीं···माँ का आपरेशन होना था और लड़कियाँ तीमारदारी में थीं।

ग्रामोद्योग भवन की कृपा से देहातिनें भी आधुनिकाएँ दिखने लगती हैं। विमला और शीला के साथ ठीक यही बात हुई। अशिक्षा या अल्पशिक्षा का पता जुबान खुलने पर ही लग सकता था! पोशाक और चलने-फिरने के लिहाज से वे कालेज की छात्राएँ लगती थीं।

तिलकधारीदास इन दोनों पर काफी रकम खर्च कर रहा था। उन पर शान चढ़ा रहा था। कभी सलवार-कुर्ता, कभी फ़ाक-जम्पर, कभी साड़ी-ब्लाउज···हर शाम वे बदली हुई भूमिका में नजर आतीं। कभी दास जी खुद और कभी उसका भाई छोकरियों को रिक्शे पर बाहर ले जाता। रात को लौटते-लौटते दस-ग्यारह का वक्त हो जाता, पड़ोसी सो चुके होते।

मीठापुर—कदमकुआँ—बोरिंगरोड—बेलीरोड—दिवाकर जी ने उन लड़कियों को बीच-बीच में कई जगहों में देखा था और उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ था।

पन्द्रह-बीस रोज बाद उन्हें लेने-छोड़ने के लिए जीप पहुँचने लगी···आखिर एक शाम कार भी आई और अगली शाम को छोड़ गई।

मुंशी मनबोधलाल दूकान पर बैठे थे। लड़कियाँ अन्दर जाने लगीं तो पूछ लिया, "कहाँ हो आईं तुम लोग?"

"राजगीर," उनमें से एक ने कहा। मुंशी जी दूसरा सवाल करने ही वाले थे मगर वे अन्दर चली गईं।

कम्पाउण्डर बैठा था। उससे नहीं रहा गया। बोला, "रूपनगर की राजकुमारियाँ हैं, सीधे मुँह बात तक नहीं करतीं···"

मुंशी जी की ओर झुककर कान में कुछ कहने लगा कम्पाउण्डर। तनती-सिकुड़ती भौंहें और फैलती-सिमटती आँखें तथ्य की गहनता का आभास दे रही थीं···

कान हटाकर मुंशी जी ने कहा, "हमको यह सब नहीं मालूम था कम्पोटर साहेब, आज आप ही से सुन रहा हूँ···अगर ऐसी बात है तो इनसे मकान खाली करवा लेना है···मगर ये तो बड़े ही शरीफ खानदान की लगती हैं बाबू जी! आपको किसी ने इनके खिलाफ भड़का तो नहीं दिया है कहीं?"

"मैं दर्जा सात-आठ का स्कूली छोकरा नहीं हूँ मुंशी जी!" बाबू मुंगेरीलाल ने तमककर कहा, "कि मामूली बुढ़िया पुराण और असली तिरिया चरित्र

का फर्क नहीं समझूंगा। और, आप तो मकान-दूकान छोड़कर कहीं जाते-आते नहीं! हफ्ते में एकाध वार हाट-घाट हो आते होंगे, मानता हूँ। मगर मेरी साइकिल तो जुगाली नहीं करती है बैठकर।"

मुंशी मनवोधलाल उस वक्त तो चुप मार गए, अगले दिन दिवाकर जी से अकेले में पूछा।

दिवाकर को उतनी जानकारी नहीं थी, माथा हिलाकर वोले, "दाल में काला-काला कुछ नजर आता है जरूर! दास जी की माया दास जी ही जानें। रोज शाम को दो-चार घण्टे लड़कियाँ जाने कहाँ चली जाती हैं!…क्या कीजिएगा, छोड़िए भी! किराया तो वक्त पर मिल ही जाता होगा?"

"इसीसे तो चुप हूँ," मुंशी जी ने कहा, "इतना वढ़िया किरायेदार मुझे आज तक मिला ही नहीं शास्त्री जी!"

शास्त्री जी ने हँसकर कहा, "तो फिर जाने दीजिए, दुनिया को छेड़ने वाले हम-आप कौन होते हैं?"

"मगर कल कुछ हो जाए तो?" मकान-मालिक वोला।

"होगा क्या?"

"मुझे तो शक हो गया है।"

"दो ही चार रोज की तो वात है, ये तो वस अव जाने ही वाली हैं।"

"तीन महीने के लिए लिया था मकान…"

"तो, मकान तो खाली भी रह सकता है न?"

"मुंशी जी की समझ में यह पहेली समा नहीं रही थी और दिवाकर साफ-साफ कुछ वतला नहीं रहे थे। लगता था कि जानते हैं लेकिन वतलाना नहीं चाहते …मनवोधलाल ने अपने को समझा-बुझा लिया और दूकान के अन्दर लौट आए।

चाय और लेमनड्राप खत्म हो रहे थे। नहाने का साबुन नहीं वचा था। अवकी अच्छी क्वालिटी के तीन अलग नमूने मँगवाने की वात दिमाग में आई। विस्कुटों और चाकलेटों की खपत इधर दुगुनी हो गई थी। सूती और ऊनी स्वेटर भी रखने लगे थे…महीने के आखिरी दिनों में देशी ब्लेडों की माँग वढ़ जाती थी।

माल की खपत का अन्दाज लेकर मनवोधलाल रोकड़-वही ले वैठे। हिसाव-किताव ठीक रखने में भांजा मदद करता था फिर भी एक वार रोज अपना वही-खाता आदि से अन्त तक देख जाना उनके लिए प्रमुख नित्यकर्म हो गया।

वारह वज चुके थे, भूख लग आई थी। खाने के लिए ऊपर जाना ही चाहते थे कि एक वढ़िया कार आकर सामने रुक गई।

ड्राइवर नजदीक आया। गौर से मुंशी जी की तरफ देखा और हुलसकर वोला, "प्रणाम मनवोधवावू, जयमंगलसिंह का भतीजा हूँ मैं सुमंगल। मोतिहारी में एक ही कमरे में रहते थे हम लोग। याद है न?"

पुराने परिचय की नई झलक ने मुंशी जी के चेहरे को चमका दिया मानो।

आँखें फैल गई, होंठ के कोने फैल गए। लाल मसूड़ों में जमे हुए छोटे दाँतों की कतार खिल उठी।

"कब से पटना हो?" मुंशीजी ने पूछा, "बिल्कुल बदल गए हो! नहीं बतलाते तो पहचानना मुश्किल था सुमंगल!···गाड़ी किसकी है?"

सुमंगल ने कहा, "यह मैं दूसरी बार गाड़ी लेकर आया हूँ, उस रोज तो रात का वक्त था। मुझे क्या पता कि यह औरंगाबाद वाले हमारे उन्हीं मनबोध चाचा का मकान है कि जिनके साथ पन्द्रह वर्ष पहले मैं रहा था। दर्जा नौ के बाद ही स्कूल छूट गया तो चाचा ने मोटर चलाने की ट्रेनिंग दिला दी और तभी से मशीन का पुजारी हूँ। दो वर्ष हो गए यहाँ पटना में। हमारे मालिक हैं गंगा-पार के मशहूर जमींदार, दीधा में कोठी बनवाई है अस्सी हजार खर्च करके··· फिर कभी आऊँगा चाचा, अभी जल्दी है ··दास जी के रिश्ते की दो लड़कियाँ हैं न अन्दर? उन्हें कोठी पहुँचाना है ··कोइलवर में सोन के किनारे पिकनिक होगा, दो-तीन खेप में सभी वहाँ पहुँचेंगे···"

"ये लड़कियाँ क्या करेंगी वहाँ?" मनबोधलाल ने पूछा। अन्दर ही अन्दर वह खुश हुए कि जानकारी के लिए अब सही सूत्र हाथ लगा है।

ड्राइवर बोला, "वाह! सब कुछ इन्हीं पर तो है···इतना अच्छा गाती हैं कि···फिलिम के गीत···आपको नहीं सुनाया है कभी?"

मुंशी जी ने मुस्कराकर कहा, "हमारे पास कार और कोठी कहाँ है सुमंगल!"

जवाब में सुमंगल भी मुस्कराया।

मुंशी जी ने अन्दर उन लड़कियों को खबर करवा दी और इधर रासलीला के बारे में सुमंगल से सुनते रहे। सत्ता और अवसरवादी राजनीति ने जिन पर नई कलई चढ़ा दी है, जमींदारों के वे वंशज किस किस्म का नैवेद्य किस तरह स्वीकार करते हैं और फिर भक्तजनों की कामना किस रूप में फलती है, सुमंगल की बातों से मनबोधलाल को इस सिलसिले में थोड़ा-बहुत मालूम हुआ।

कम्पाउण्डर ने ठीक ही बतलाया था कि इन्हीं लड़कियों की बदौलत तिलक-धारीदास की दो-तीन किताबें मंजूर होने जा रही थीं।

पाँच

उन्नी की माँ सेकेण्ड हेण्ड सिलाई-मशीन रखे हुए थी। पास-पड़ोस के परिवारों से कपड़े बटोर लाती और सिल-सिलाकर वापस दे आती।

बड़े बालों वाला महिम कमर्शियल आर्टिस्ट था। पाँच-सात प्रेसों से उसका सम्बन्ध था और कूँची सधी हुई थी। स्कूली किताबों और बाल मासिक पत्रों के

प्रकाशक उसकी कला पर मुग्ध थे। ढाई-तीन सौ रुपये कमा लेना कोई बड़ी बात नहीं थी। लेकिन पिछले कई वर्षों से महिम की तबीयत धन्धे से उचट गई थी। बस, सौ-सवा-सौ का काम करता था। बीच-बीच में सनक सवार हो जाती तो ज्यादा काम भी कर डालता। बाकी वक्त सिगरेट धूंकना, मित्रों की गर्दन तोड़ना, ब्रिज खेलना, सिनेमा देखना, जासूसी उपन्यास चाटना और···

और दो-एक ऐसे काम भी महिम का वक्त लेते थे जिनके बारे में न बतलाना ही अच्छा है। दो दिन जो महिम के साथ रह लेता उसकी निगाहों से यह तथ्य छिप नहीं सकता कि क्यों एक कलाकार की प्रतिभा गोबर हो गई !

महिम ने निचले दो कमरे ले रखे थे, तीस रुपये भाड़ा देता था।

सुबह देर से बिस्तर छोड़ने की आदत थी।

उम्मी की मां कपड़े पर कैंची चला रही थी, फ्राक तैयार करने थे।

महिम ने निन्दा से स्वर में कहा, "पीठ दर्द कर रही है मामी !"

कैंची और कपड़ा एक ओर सहेजकर उम्मी की मां करीब आ गई।

दोनों हाथों से पीठ चांपते बोली, "आठ बज रहे हैं, कब उठोगे ? दानापुर जाना था न ?"

"दस बजे जाऊँगा।" महिम ने करवट बदलकर मुंह मामी की तरफ कर लिया और गुनगुनाने लगा :

"जनम अवधि हम रूप निहारल
तइयो नहि तिरपति भेल···।"

मामी को लगा कि उसके ही रूप की वन्दना कर रहा है महिम। चालीस की उम्र पार कर आई है तो क्या, अब भी उसका मुखमण्डल भुलाने लायक नहीं है। एक बार दो-चार मिनट के लिए जो भी मर्द उम्मी की मां के सामने हो लेगा किसी न किसी बहाने वह बार-बार आएगा···

मामी ने महिम के बालों में उँगलियां उलझा लीं। सीने की समूची ताकत से उसे दबा लिया।

अब दोनों के चेहरे आमने-सामने थे। होंठों के दर्म्यान बस चार अंगुल का फासला रह गया था। सांसें टकरा रही थीं आपस में।

उम्मी की मां ने कहा, "दूध वाला आता होगा।"

महिम मुस्कराया, "आने दो···"

मामी ने होंठ बढ़ा दिए, "बस, इतना काफी है इस वक्त ···लो, उठने भी तो दो।"

और वह सचमुच अलग हो गई···

"बड़ी पाजी हो !" महिम ने कहा।

"लो, अब इससे बातचीत करो !" मामी ने माचिस और सिगरेट लाके थमा दिया। पूछ लिया, "स्टोव जलाऊं ?"

"दूध तो आ लेने दो रानी जी !"

उम्मी की मां ने भौंहें चढ़ाकर महिम को देखा। मन ही मन लेकिन यह सम्बोधन घुलता रहा, गूँजता रहा कानों के अन्दर···'रानी जी! रानी जी! रानी जी!'

उधर साँकल में खटका हुआ।

उम्मी की मां ने जाकर दरवाज़ा खोल दिया। सामने कथाकार अशंक जी खड़े थे।

दोनों तरफ से मुस्कान और नमस्ते।

महिम ने कहा, "कहाँ मर गए थे!"

अशंक ने वतलाया, "नाना गए थे देह छोड़ने काशी! वावा विश्वनाथ की कृपा तो हुई किन्तु इसमें काफी विलम्ब हो गया···। कल ही आया हूँ तीन महीने वाद। किसी से नहीं मिला हूँ, तुम्हीं से मिलना था पहले···वताओ, अब अपना हाल-चाल···"

महिम अव तक पूरी सिगरेट धूंक चुका था। मामी से वोला, "चाय पीछे वना लेना, पहले चिवड़ा-मूंगफली तल लो। खाना भी इनका यहीं होगा, मैं जाके सब्जी ले आऊँगा।"

खाने की वात का विरोध किया आगन्तुक ने, "वहुत सारे काम हैं, खाना कभी फिर खा जाएँगे महिम।"

महिम ने दो सिगरेट निकाली। माचिस की जलती तीली अशंक की ओर वढ़ाकर वोला, "तो शाम का खाना आज मेरे साथ खाना।"

"नहीं, आज नहीं।" अशंक ने मजवूरी जाहिर की।

"इतने में निवट आऊँ?"

"हाँ, हाँ, हो आओ!"

"लो, तव तक लिटरेरी नाश्ता करो···"

महिम ने 'धर्मयुग', 'कहानी', 'दीपावली', 'सरिता', आदि कई पत्र-पत्रिकाएँ सामने रख दीं।

स्टोव में किरासिन डालते वक्त थोड़ा तेल नीचे गिरकर फैल गया था। महिम पाखाने से आया तो उधर नजर गई।

वह मामी पर वरस पड़ा, "कैसी गधी हो, फर्श को चौपट कर दिया—हजार वार कहा कि सम्भालकर स्टोव भरा करो मगर तुम हो कि कानों में रुई ठूंसे वैठी हो···"

मामी आहिस्ता से वोली, "फिनाइल से धो दूंगी फर्श···"

महिम का गुस्सा वेकावू हो गया, "फिनाइल की नानी! हटो सामने से! खुदा वचाए ऐसी फूहड़ औरत से···"

अशंक महिम की इस अशिष्टता पर क्षोभ के मारे घुटने लगा—ज़रा-सा किरासिन फर्श पर गिर गया तो कौन पहाड़ फट पड़ा? मूर्ख कहीं का!

स्टोव जल चुका था।

उम्मी की माँ ने पानी भरकर केतली चढ़ा दी।

महिम का गुस्सा अभी गया नहीं था। लात से उसने केतली लुढ़का दी। स्टोव की आँच सो गई। बरामदे में पैर पटककर वह चीखा, "उल्लू की पट्ठी, मैं खुद ही चाय बना लूंगा···"

"क्या बात है महिम ?" उधर से अशंक ने टोका।

महिम ने कहा, "कुछ नहीं, तुम मैग्ज़ीन देखो···यह हमारा घरेलू मामला है अपना···"

अशंक का मन अन्दर ही अन्दर बुलबुला उठा, 'ठीक ही तो कहते हैं लोग ···महिम-जैसा पतित पाटलिपुत्र की इस नगरी में दूसरा नहीं है। शराब और शराब और शराब···औरत और औरत और औरत··· यह कौन होगी इसकी ? मामी ? सचमुच की मामी ? न, मामी नहीं होगी। इतना अपमान मामी तो नहीं बर्दाश्त करेगी !'

अशंक उठकर बाहर आया, बोला, "मैं अभी आया महिम, बस दस मिनट लगेंगे।"

महिम नटराज की तरह मुस्करा उठा, "नहीं, तुम नहीं आओगे ! सच-सच बतलाओ, लौट आओगे दस-पन्द्रह मिनट में ?"

अशंक ने सिर हिलाया। महिम ने साँस खींचकर कहा, "अपना छकड़ा तो यों ही चलता है···अच्छा, तो फिर हो ही आओ !"

और फिर कान में आहिस्ते से कहा, "मामी के लिए कोई काम खोज दो अशंक, नहीं तो यह मेरा दिमाग चाट जाएँगी।"

अशंक ने पूछा, "खादी का काम जानती हैं ?"

"करघा तो नहीं लेकिन चर्खा चला लेंगी।"

"पटना से बाहर पचास-साठ रुपये का काम मिले तो रहेंगी ?"

"क्या बात करते हो यार ! क्यों नहीं रहेंगी ?"

अब की मुस्कराहट में महिम के होंठ फैले तो लकीरनुमा मूंछों की इकहरी ब्रैकेट खिल उठी।

"अच्छा, देखेंगे।"

अशंक बाहर निकल आया।

बड़ी सड़क पर एक रेस्तराँ में बैठकर कचौड़ियों का आर्डर दिया।

दिमाग लेकिन महिम और उसकी मामी की बातों में ही उलझा रहा··· महिम कलकत्ता रहा था, बनारस रह चुका था, भागलपुर-मुजफ्फरपुर की गलियों से भी परिचित था। खाते-पीते परिवार का युवक। जिससे शादी हुई थी उस औरत को छोड़े कई वर्ष हो रहे थे। आठ-नौ साल का एक लड़का भी था। वे दोनों दादा-दादी के साथ रहते थे। महिम का मूड उनकी तरफ आइन्दा कभी मुलायम होगा, इसकी आशा नहीं रह गई थी किसी को···सस्ती किस्म का दारू और ताड़ी पी-पीकर उसने अपनी तन्दुरुस्ती चौपट कर ली थी···आदर-

पीतल की छोटी थाली में चार कचौड़ियाँ, आलू-गोभी का साग···नेपाली छोकरे ने पूछ लिया, "अउर क्या लेगा बाबू जी ?"

अशंक ने कहा, "फौरन दो रसगुल्ले दे जाओ, चाय पीछे लाना !"

नेपाली दूसरे-दूसरे ग्राहकों को पूछता हुआ चला गया।

रसगुल्ले आए, फिर चाय आई। अशंक ने सोचा, महिम के पास आधा घण्टा बाद जाएगा। इतने में दो-एक मित्रों से और मिल आएगा।

रेस्तराँ से निकलकर पान के दो बीड़े लिए। कदमकुआँ के लिए रिक्शा लिया और पानेवाले से पन्द्रह आने रेजगारी ली।

लौटने में कुछ देर हो गई। महिम निकल चुका था।

मामी ने स्वागत किया। बोली, "चाय तो पी ही लीजिए।"

खौलने के लिए चाय का पानी स्टोव पर बैठाकर मामी नजदीक आई। अशंक बाँस वाली आराम कुर्सी पर बैठा था। मामी बिना बाँहों वाली कुर्सी पर बैठ गई। संजीदगी से मुस्कराकर कहा, "आपकी कहानियों का वह संकलन मैंने देखा है जो इलाहाबाद में छपा था···"

"कैसी लगीं कहानियाँ ?" अशंक ने पूछा।

"बहुत अच्छी," मामी बोली, "परिवार की डाल से चूकी हुई औरतों के प्रति आपकी हमदर्दी मुझे अनूठी लगी। तब आप मुझे भी अपने पात्रों में शामिल कर लीजिए···कल्पित पात्रों के प्रति जब आपकी सहानुभूति उतनी गहरी थी तो जिन्दा पात्रों की दिक्कतें आपसे भला कैसे देखी जाएँगी ? मैंने आपके बारे में महिम जी से काफी सुना है। मैं आपसे फिर मिलना चाहती थी। अभी देखा न ? जरा-सी भूल हुई कि गधी-सुअर-उल्लू बना डाला। अब इनके साथ मेरा निभेगा नहीं·· आप कहीं कोई काम दिलवा दीजिए···"

'धर्मयुग' के पन्ने उलट रहा था अशंक। बीचों-बीच दो पेजों में घड़ियों वाली एक मशहूर कम्पनी का चटकीला विज्ञापन था। निगाहें अड़ गईं, कान लेकिन पीड़ित महिला की आपबीती सुनना चाहते थे। और मोन ? यह तो उपयोगिता के हिसाब से ही इस कथावस्तु को तौलने जा रहा था।

निगाहों को पन्नों में उलझाए रखकर ही अशंक कह गया, "एक बार आपने बतलाया था, गोरखपुर के देहात में आपका पूरा परिवार है। पति मौजूद हैं। तो फिर आप लौट क्यों न जाती हैं घर ? महिम तो आपको लाए थे इलाज करवाने, आठ-दस महीने हो गए न ?"

मामी स्टोव में हवा भर आई। लगा कि थोड़ा-सा खुलना चाहिए। बोली, "अब आपसे क्या छुपाऊँ ? सोलह वर्ष की लड़की थी। वही हुई मेरी मुसीबत की जड़। पड़ोस में दूसरी बिरादरी का एक नौजवान था, पढ़ाने आता था उर्मिला को। गुपचुप दोनों उलझ गए। सब कुछ हो गया। हमें क्या पता कि उम्मी माँ बनने को तैयार है। मैंने बड़ी कोशिश की कि दोनों ब्याह कर लें, नाहक एक

और अंडी माल मेहरवान मित्रों की वदौलत घर आ जाते थे !

ग्रामोद्योग संघ वाली दूकान से कश्मीरी पट्टी लेकर बंगाली दर्जी 'मित्रा एण्ड सन्ज़' से कोट तैयार करवाया था। आज वही पहनकर निकले सम्पादक जी।

भारत काफे में मसाला-डोसा लिया, कॉफ़ी पी।

पान के दो वीड़े और वेली रोड। रिक्शा वाईं ओर हाते के अन्दर आया।

क्यारियाँ क्या थीं, धरती पर रंग-बिरंगे स्कार्फ फैले थे। अन्दर वँगले तक गोल रास्ता, लाल रंग की पथरी विछी थी। चारों ओर वाग थे।

वरसाती के करीव, रिक्शा रुका।

दुअन्नी के लिए रिक्शेवाले से झड़प हो गई सम्पादक जी की।

आखिर दस आने सीट वाले गद्दे पर रखकर दिवाकर ने कहा, "अव और एक धेला भी नहीं मिलेगा···"

"तो यह भी लेते जाइए !" रिक्शा वाला वोला। मगर दिवाकर जी तीन सीढ़ियाँ ऊपर चढ़कर वरामदे में दाहिनी तरफ पी० ए० (पर्सनल असिस्टैण्ट) वाले कमरे के अन्दर जा चुके थे।

रिक्शा वाला नौजवान था। तैश में ऊपर चढ़ आया। कमरे के अन्दर झांकने ही वाला था कि चपरासी ने रोक दिया, "नहीं-नहीं, इधर नहीं।"

"वाह, क्यों नहीं ! मेरी दुअन्नी नहीं मिलेगी ?"

चपरासी हाथ पकड़कर उसे वरसाती के वाहर ले आया। पीठ पर हाथ फेरता हुआ आहिस्ता से वोला, "नहीं देना चाहता है तो अव तुम उसका क्या कर लोगे ? मिनिस्टर की कोठी है, जोर-ज़वर्दस्ती नहीं चलेगी यहाँ··· जितना मिला, उसी में सन्तोष करो वेटा।···जाओ !"

"सफेदपोश डाकू," रिक्शा वाले ने थूककर कहा, "कसाई कहीं का ! किस सफाई से गरीवों का गला काटता है ! और, अन्दर कुर्सी पर वैठकर नानी को फोन कर रहा होगा···"

चपरासी उसे चुप रहने का और वाहर निकल जाने का इशारा दे रहा था मगर धोखा खाए हुए मज़दूर की ज़वान रुकना नहीं चाहती थी। अधेड़ चपरासी को वैसे पूरी हमदर्दी थी रिक्शा वाले के प्रति। वह चाहता था कि वात खतम हो। उसने फुसफुसाकर कान में कहा, "सड़क पर कहीं दिखाई पड़े तो पकड़ना, यहाँ देखते हो न, मिलिटरी का पहरा है···"

रिक्शा वाला गम्भीर स्वर में वोला, "मगर चाचा, यह तो भारी जुलुम है न ? कम-से-कम मिनिस्टर के यहाँ तो वेइन्साफी नहीं चलनी चाहिए !"

"अभी तुम वच्चा हो," चपरासी मुस्कराया, "अरे, इन्हीं कोठियों के अन्दर तो अन्याय पनाह लेता है आकर ! सरकार अभी इन्हीं कोठियों और वँगलों में कैद है, उसे तुम तक पहुँचने में दस-वीस वर्ष लग जाएँगे अभी !"

समझा-वुझाकर और चुमकार-पुचकार कर चपरासी ने रिक्शा वाले को

रवाना किया।

सम्पादक जी मन्त्री महोदय से बातें कर रहे थे, ऊपर दुतल्ले पर। मुलायम कुर्सियाँ, गद्देदार कोच, मोटे कोचों वाली गोल-गोल नफीस तिपाइयाँ। दीवार पर एक ओर बापू, दूसरी तरफ विनोबा। बाहर खिड़कियों और दरवाज़ों में काटेज इण्डस्ट्री के कीमती चटकीले पर्दे झूल रहे थे।

बातों का सिलसिला अयूब खाँ, दिल्ली की भारत प्रदर्शनी, राष्ट्रसंघ में मेनन का भाषण आदि को छूता हुआ पत्रकारिता पर आ गया। दो अंग्रेज़ी दैनिक थे राज्य में। एक सरकार का पूरा साथ दे रहा था, दूसरा तना हुआ था क्योंकि उसका दक्षिणी सम्पादक स्वाभिमानी था। मुख्यमन्त्री के गुट वाले उसे सनकी कहते थे।

दिवाकर जी अपने मतलब की बात पर आ गए, "आठों लेख छप चुके हैं, चार और ले आया हूँ। इन्हें बिहार के बाहर छपने के लिए लिखा है।"

टाइप किए हुए चारों लेख मन्त्री जी के हाथों में आ गए। उन्होंने प्रसन्न आँखों से देखा, 'बिहार की सांस्कृतिक देन', 'बौद्धधर्म और बिहार', 'भारतीय दर्शन के विकास में बिहार का स्थान,' 'संस्कृतियों का संगम-स्थान बिहार'—चारों शीर्षक मन्त्री जी को अच्छे लगे।

मन्त्री जी ने काले रंग की 'माउण्ट ब्लैंक' पेन निकाली और शीर्षकों के नीचे अपना नाम बैठा दिया···सोचा, कितने चाव से लोग इन्हें पढ़ेंगे! इस राज्य के एक शासक की विद्वत्ता का लोहा उन्हें मानना ही पड़ेगा···और पाँच साल के बाद भी लोग मुझे याद रखेंगे···कीर्तिर्यस्य स जीवति!

दिवाकर जी ने कहा, "बीस-पचीस हो जाएँ तो इनका संकलन पुस्तक के रूप में निकल आएगा। प्रकाशक तो अभी से तैयार बैठा है। आप भी उसे पहचानते हैं।"

"कौन?" मन्त्री जी ने जम्हाई लेकर पूछा।

दिवाकर जी बोले, "तिलकधारीदास···और कौन है वैसा भक्त आपका? मैंने तो कह दिया है कि अगले वर्ष मिलेगा। छपाई लेकिन कलकत्ते की रहेगी। मान गया है जानकी बाबू!"

आनरेबुल मिनिस्टर जानकी बाबू का चेहरा खुशी में चमक उठा, कहने लगे, "दिवाकर जी, आपने ठोंक-पीटकर मुझे साहित्यकार बना दिया! देखिए न, उत्तर प्रदेश की एक साहित्यिक संस्था ने अपने वार्षिक समारोह का उद्घाटन मुझसे करवाना चाहा है···उन्हें क्या पता कि जानकीनाथ साइन्स का स्टूडेण्ट था···बतलाइए, अब मैं क्या करूँ?"

"स्वीकृति का पत्र फौरन भिजवा दीजिए," दिवाकर जी ने चुटकी बजाकर कहा, "मैं नीचे सेक्रेटरी साहब से कह के अभी पत्र भिजवा देता हूँ···"

जानकी बाबू का माथा फिक्र में हाथ पर टिक गया। सोचने लगे, उद्घाटन वाला भाषण दिवाकर जी पहले ही तैयार कर लेंगे और वह छपवा भी लिया

और अंडी माल मेहरबान मित्रों की बदौलत घर आ जाते थे !

ग्रामोद्योग संघ वाली दूकान से कश्मीरी पट्टी लेकर बंगाली दर्ज़ी 'मित्रा एण्ड सन्ज़' से कोट तैयार करवाया था। आज वही पहनकर निकले सम्पादक जी।

भारत काफे में मसाला-डोसा लिया, कॉफ़ी पी !

पान के दो बीड़े और बेली रोड। रिक्शा बाईं ओर हाते के अन्दर आया।

क्यारियाँ क्या थीं, धरती पर रंग-बिरंगे स्कार्फ फैले थे। अन्दर बँगले तक गोल रास्ता, लाल रंग की पथरी बिछी थी। चारों ओर बाग थे।

बरसाती के करीब, रिक्शा रुका।

दुअन्नी के लिए रिक्शेवाले से झड़प हो गई सम्पादक जी की।

आखिर दस आने सीट वाले गद्दे पर रखकर दिवाकर ने कहा, "अब और एक धेला भी नहीं मिलेगा···"

"तो यह भी लेते जाइए !" रिक्शा वाला बोला। मगर दिवाकर जी तीन सीढ़ियाँ ऊपर चढ़कर बरामदे में दाहिनी तरफ पी० ए० (पर्सनल असिस्टैण्ट) वाले कमरे के अन्दर जा चुके थे।

रिक्शा वाला नौजवान था। तैश में ऊपर चढ़ आया। कमरे के अन्दर झांकने ही वाला था कि चपरासी ने रोक दिया, "नहीं-नहीं, इधर नहीं।"

"वाह, क्यों नहीं ! मेरी दुअन्नी नहीं मिलेगी ?"

चपरासी हाथ पकड़कर उसे बरसाती के बाहर ले आया। पीठ पर हाथ फेरता हुआ आहिस्ता से बोला, "नहीं देना चाहता है तो अब तुम उसका क्या कर लोगे ? मिनिस्टर की कोठी है, जोर-जबर्दस्ती नहीं चलेगी यहाँ··· जितना मिला, उसी में सन्तोष करो बेटा।···जाओ !"

"सफेदपोश डाकू," रिक्शा वाले ने थूककर कहा, "कसाई कहीं का ! किस सफाई से गरीबों का गला काटता है ! और, अन्दर कुर्सी पर बैठकर नानी को फोन कर रहा होगा···"

चपरासी उसे चुप रहने का और बाहर निकल जाने का इशारा दे रहा था मगर धोखा खाए हुए मज़दूर की ज़बान रुकना नहीं चाहती थी। अधेड़ चपरासी को वैसे पूरी हमदर्दी थी रिक्शा वाले के प्रति। वह चाहता था कि बात खत्म हो। उसने फुसफुसाकर कान में कहा, "सड़क पर कहीं दिखाई पड़े तो पकड़ना, यहाँ देखते हो न, मिलिटरी का पहरा है···"

रिक्शा वाला गम्भीर स्वर में बोला, "मगर चाचा, यह तो भारी जुलुम है न ? कम-से-कम मिनिस्टर के यहां तो बेइन्साफी नहीं चलनी चाहिए !"

"अभी तुम बच्चा हो," चपरासी मुस्कराया, "अरे, इन्हीं कोठियों के अन्दर तो अन्याय पनाह लेता है आकर ! सरकार अभी इन्हीं कोठियों और बँगलों में कैद है, उसे तुम तक पहुँचने में दस-बीस वर्ष लग जाएँगे अभी !"

समझा-बुझाकर और चुमकार-पुचकार कर चपरासी ने रिक्शा वाले को

रवाना किया।

सम्पादक जी मन्त्री महोदय से बातें कर रहे थे, ऊपर दुतल्ले पर। मुलायम कुर्सियाँ, गद्देदार कोच, मोटे कोचों वाली गोल-गोल नफीस तिपाइयाँ। दीवार पर एक ओर बापू, दूसरी तरफ विनोबा। बाहर खिड़कियों और दरवाज़ों में काटेज इण्डस्ट्री के कीमती चटकीले पर्दे झूल रहे थे।

बातों का सिलसिला अयूब खाँ, दिल्ली की भारत प्रदर्शनी, राष्ट्रसंघ में मेनन का भाषण आदि को छूता हुआ पत्रकारिता पर आ गया। दो अंग्रेज़ी दैनिक थे राज्य में। एक सरकार का पूरा साथ दे रहा था, दूसरा तना हुआ था क्योंकि उसका दक्षिणी सम्पादक स्वाभिमानी था। मुख्यमन्त्री के गुट वाले उसे सनकी कहते थे।

दिवाकर जी अपने मतलब की बात पर आ गए, "आठों लेख छप चुके हैं, चार और ले आया हूँ। इन्हें बिहार के बाहर छपने के लिए लिखा है।"

टाइप किए हुए चारों लेख मन्त्री जी के हाथों में आ गए। उन्होंने प्रसन्न आँखों से देखा, 'बिहार की सांस्कृतिक देन', 'बौद्धधर्म और बिहार', 'भारतीय दर्शन के विकास में बिहार का स्थान,' 'संस्कृतियों का संगम-स्थान बिहार'—चारों शीर्षक मन्त्री जी को अच्छे लगे।

मन्त्री जी ने काले रंग की 'माउण्ट ब्लैक' पेन निकाली और शीर्षकों के नीचे अपना नाम बैठा दिया…सोचा, कितने चाव से लोग इन्हें पढ़ेंगे! इस राज्य के एक शासक की विद्वत्ता का लोहा उन्हें मानना ही पड़ेगा…और पाँच साल के बाद भी लोग मुझे याद रखेंगे…कीर्तिर्यस्य स जीवति!

दिवाकर जी ने कहा, "बीस-पचीस हो जाएँ तो इनका संकलन पुस्तक के रूप में निकल आएगा। प्रकाशक तो अभी से तैयार बैठा है। आप भी उसे पहचानते हैं।"

"कौन?" मन्त्री जी ने जम्हाई लेकर पूछा।

दिवाकर जी बोले, "तिलकधारीदास…और कौन है वैसा भक्त आपका? मैंने तो कह दिया है कि अगले वर्ष मिलेगा। छपाई लेकिन कलकत्ते की रहेगी। मान गया है जानकी बाबू!"

आनरेबुल मिनिस्टर जानकी बाबू का चेहरा खुशी में चमक उठा, कहने लगे, "दिवाकर जी, आपने ठोंक-पीटकर मुझे साहित्यकार बना दिया! देखिए न, उत्तर प्रदेश की एक साहित्यिक संस्था ने अपने वार्षिक समारोह का उद्घाटन मुझसे करवाना चाहा है…उन्हें क्या पता कि जानकीनाथ साइन्स का स्टूडेण्ट था…बतलाइए, अब मैं क्या करूँ?"

"स्वीकृति का पत्र फौरन भिजवा दीजिए," दिवाकर जी ने चुटकी बजाकर कहा, "मैं नीचे सेक्रेटरी साहब से कह के अभी पत्र भिजवा देता हूँ…"

जानकी बाबू का माथा फिक्र में हाथ पर टिक गया। सोचने लगे, उद्घाटन वाला भाषण दिवाकर जी पहले ही तैयार कर लेंगे और वह छपवा भी लिया

जाएगा। लेकिन समारोह के समय वहाँ के साहित्य-प्रेमियों से मैं बातचीत क्या कर पाऊँगा ? राजनीति की तरह साहित्य की भी अपनी समस्याएँ होंगी और मैं उन्हें क्या समझूंगा ? …लोग मुझे बौड़म कहेंगे !"

मन्त्री महोदय युवक थे और लाज-शरम अभी कुछ शेष थी, उन्होंने उद्घाटन वाला निमन्त्रण कबूल नहीं किया। दिवाकर ने बहुत ज़ोर दिया मगर वे राज़ी नहीं हुए।

दस-दस के बीस नोट मन्त्री ने थमाए तो दिवाकर की तबीयत खिल गई। खानसामा दालमोठ-समोसे और रसगुल्ले रख गया था। मन्त्री जी का इंगित पाकर दिवाकर जी उधर झुक गए।

ज़रा देर बाद कॉफ़ी के दो प्याले आए।

कॉफ़ी पीते समय बातें भी चलती रहीं। "लोगों में नैतिकता का अभाव हो गया है," दिवाकर जी ने कहा, "नैतिकता का रोना तो सभी रोते हैं किन्तु अमल के वक्त सबकी आँखें मुंद जाती हैं…"

जानकी बाबू बोले, "हमारी आँखें मुंदती तो नहीं लेकिन आँखें खुली रखकर भी बाज़ वक्त हम मजबूर होते हैं…"

"हूँ" दिवाकर जी ने अनमनेपन का अभिनय किया। मन ही मन बोले, "मैं लेख लिखता हूँ, वे आपके नाम से छपते हैं और मैं आप से रुपये पाता हूँ…आपको भी अच्छा लगता है और मुझको भी अच्छा लगता है !"

"लेकिन दिवाकर जी," मन्त्री जी ने बात की कड़ी जोड़ी "तीसरी पंचवार्षिक योजना के सफल होते-होते हमारे देश की कायापलट हो जाएगी। आर्थिक विकास के बाद राष्ट्र का एक-एक व्यक्ति नैतिकता का प्रहरी होगा और तब हमारे सारे सपने पूरे होंगे…"

फोन की घण्टी बज उठी तो मन्त्री महोदय ने उधर हाथ बढ़ाकर रिसीवर उठा लिया…

राज्यपाल नेपाल-नरेश के सम्मान में चाय-पार्टी दे रहे थे परसों, उसी में शामिल होने का अनुरोध था…

जानकी बाबू ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया और फोन रख दी। पश्मीने का स्लेटी रंग वाला कुर्त्ता…चन्दन की मंसूरी बटन के चारों दाने…सोने की नगदार अंगूठी…नीचे पैरों के पास चीनी मॉडल की चप्पलें…कुल मिलाकर मन्त्री महानुभाव अधिकाधिक भव्य लग रहे थे। पास वाली गोल तिपाई पर अंग्रेज़ी के पांच-सात दैनिक पड़े थे। कोने के बुकशेल्फ पर अपनी क्लासिक मुद्राओं में 'तीन बन्दर' मानों इधर ही रुख किए हुए थे।

दिवाकर अभी कुछ देर और बैठते लेकिन उन बन्दरों ने ही शायद उन्हें मना किया। मन्त्री जी को नमस्कार करके निकल आए।

बेली रोड के नुक्कड़ पर पान की दूकान थी। चार बीड़े पान, चुटकी-भर ज़र्दा और चूना…रिक्शा बिना बुलाए ही सामने आके खड़ा हो गया था।

दिवाकर जी लौटे तो मुंशी मनवोधलाल कुतिया के वच्चों की निगरानी कर रहे थे। दूकान के नीचे, सड़क के किनारे वोरी विछा दी थी। दोनों पिल्ले आराम से लेटे थे और पूस की दुपहरी में धूप सेंक रहे थे। कुतिया आश्वस्त थी, पास ही खड़ी पूंछ हिला रही थी। वीच-वीच में ओठों पर पतली जीभ फेर लेती थी।

दिवाकर को यह दृश्य अद्भुत लगा, वरवस खड़े हो गए।

मुंशी जी ने कहा, "क्या देख रहे हैं, सम्पादक जी ?"

"नर्सरी देख रहा हूँ आपकी," दिवाकर वोले और मुस्कारते रहे। निगाहें वारी-वारी से कुतिया पर, पिल्लों पर और उनके आश्रयदाता पर पड़ रही थीं।

मनवोधलाल का भांजा दूकान के अन्दर से वोला, "यह एक अच्छा खटराग पाल लिया है मामा ने ! इन्सान भी जच्चा-वच्चा का इतना खयाल नहीं रखता है···बुढ़उती में मामा का दिल कितना मुलायम हो गया है !"

गर्दन सहलाते-सहलाते दिवाकर ने कुतिया की ओर दाहिना हाथ उठाया, कहने लगे, "यह तो साल-भर वीमार थी ! देखो न, समूचे वदन पर वाल नहीं उग सके हैं अव भी ! कुत्तों की विरादरी में अगर कहीं कोई वदसूरत भिखारिन रही होगी तो वस वह यही है···मैंने समझ लिया था कि मर गई होगी, गीध और स्यार नोच-नोचकर खा गए होंगे···लेकिन यहां तो ठूंठ में से कोंपलें निकल आई हैं, वाह रे विधाता के चमत्कार !"

कुतिया पिल्लों को छेड़ना चाहती थी मगर मुंशी जी उसे रोक रहे थे। मकान के छज्जे की छांह वोरी का पीछा कर रही थी लेकिन मनवोधलाल धूप की तरफ वढ़ा देते थे। लगता था कि कुतिया का पेट भरा हुआ है। वह पिल्लों को छोड़कर अलग जाना नहीं चाहती थी और न मुंशी जी ही उसे भगाना चाहते थे। शोख और सयानी वेटी की तरह कुतिया उनके इर्द-गिर्द मंडरा रही थी। वह वैठे हुए थे। मुंह के अन्दर सुपारी का टुकड़ा था, जवड़ों में हरकत थी। निगाहें ममता में डूवी हुई। चेहरे पर स्वाभाविक खुशी और तरल गम्भीरता।

कुतिया अपने वच्चों के प्रति मुंशी जी की इस ममता को अच्छी तरह समझ रही थी। कृतज्ञता के तौर पर वह उनकी वांहों को, घुटनों को, पीठ को, पैरों को सूंघ लेती थी रह-रहकर। एक वार उसने मनवोधलाल की कलाई चाट ली तो वेचारी को झिड़की खानी पड़ी !

दिवाकर दस मिनट खड़े रहे दूकान के पास। मुंशी जी का भांजा उनसे वातें करता रहा।

अन्दर जाने लगे तो मुंशी जी ने कहा, "वच्चे तो सवके वरावर होते हैं न सम्पादक जी ? वस, दस-वीस रोज की कसर है। फिर तो दोनों पिल्ले खुद ही उछलते फिरेंगे। नहीं सम्पादक जी ? मैं ठीक कहता हूं न ?"

भांजे को हंसी आ गई, वोला, "और कुतिया को दोनों जून भात और मसूर की दाल खिलाते हो। लो, अव हर साल अगहन-पूस में खिदमत करते रहो सालों

की···ना, मैं नहीं चलने दूंगा मिशनरी का यह सेवाश्रम···नाव पर चढ़ाकर मैं इसको गंगा के उस पार सबलपुर के दियारे में छोड़ आऊँगा सम्पादक जी !"

"सुन ली मुंशी जी आपने ?" दिवाकर ने गर्दन घुमाकर कहा। उनका एक पैर मकान के सदर फ़ाटक के अन्दर पड़ चुका था। भूख लग आई थी लेकिन मनबोधलाल की ममता का जादू दिमाग पर छा गया था···यह मक्खीचूस और जाहिल आदमी अपने अन्दर ऐसा बढ़िया दिल छिपाए हुए है !···पथरीले मैदान के अन्दर मीठे पानी का यह स्रोत !···दिवाकर मनबोधलाल की ओर देख रहे थे।

भांजे की बात का जवाब नहीं दिया मुंशी ने और न घूमकर दिवाकर की तरफ देखा ही।

वे बारी-बारी से पिल्लों की पीठ और गर्दन सहला रहे थे।

सात

कल देवर आया था और दिन में ग्यारह से चार बजे तक बातें करता रहा।

आज कम्पाउण्डर की बीवी बेहद खुश नज़र आ रही थी।

मछली मँगवाई थी आधा सेर, डेढ़ रुपये की। मुंगेरीलाल को यह अच्छा नहीं लगा। बोला, "पन्द्रह तारीख के बाद बाज़ार से रुपये-दो रुपये की चीज-वस्त मत मँगवाया करो, हाथ खाली रहते हैं न ?"

बीवी सरसों पीस रही थी, मछली के झोल में डालने के लिए। छमककर कहा, "अपनी जेब तो देख ली होती···किसी के पैसे नहीं छुए हैं मैंने !"

"अच्छा बाबा, जल्दी करो !" कम्पाउण्डर साइकिल की झाड़-पोंछ में लगा था, झल्लाकर बोला।

"कै बजे हैं ?"

"सवा नौ। वक्त नहीं रह गया है अब।"

"तो आओ न !"

उसे मालूम था कि अभी इन्हें पन्द्रह मिनट लग जाएँगे, तब तक मछली का झोल तैयार हो जाएगा। पत्थर के कोयले की आँच में यही तो खूबी है कि पकने-सीझने में देर नहीं लगती।

रेहू मछली मुंगेरीलाल को प्यारी थी। खाने बैठे तो छै टुकड़े खा गए। भिण्डी की भाजिया थी, छुई तक नहीं।

पान की गिलौरी मुंह के अन्दर दबाकर साइकिल सँभाली और बाहर निकल आए बाबू मुंगेरीलाल।

घरवाले से फुर्सत पाकर कम्पाउण्डर की बीवी ने चूल्हे पर पानी-भरा

पतीला बैठा दिया। कई रोज से नहाई नहीं थी और दो-तीन हल्के कपड़े भी साफ करने थे। पति की जूठी थाली में ही माछ-भात परोस लिया। साढ़े दस बजे यह उसका 'ब्रेकफास्ट' था।

भुवनेसरी आ धमकी, पूछा, "गंगा आज भी नहीं गई जीजी?"

"काफी देर लग जाती है," भरे गालों वाले मुँह से मोटी आवाज़ का जवाब आया। वह खा रही थी।

"तो हम साथ नहाएँगे!"

"इसी बाथरूम में?"

"हाँ, इसी में। क्यों, तुमको शरम लगेगी?"

"नहीं, छोटा है बाथरूम।"

"दिल में तो बैठा लोगी न?"

कम्पाउण्डर की बीवी को भुवन के इस सवाल पर शरारत सूझी। बाएँ हाथ से उसने भुवन को पास बुला लिया। कान से मुँह लगाकर कहा, "अच्छा होता कि मैं तेरा मर्द होती···"

"उँह ··" भुवनेसरी ने उसके गाल में चिकोटी काट ली।

कम्पाउण्डर की बीवी खा चुकी थी। मछली का एक अच्छा-सा टुकड़ा बाकी बचा था। उसमें से आधा तोड़कर भुवनेसरी के मुँह में ठूँस दिया उसने, बोली, "ले, खा भी तो! यह चीज़ बैकुंठ में भी नहीं मिलती है भुवन!"

भुवन ने गर्दन घुमाकर दरवाजे की ओर शंकित दृष्टि से देखा, "नहीं, कोई नहीं देख रहा है। बुआ? बुआ तो सो रही हैं। वह यहाँ कहाँ से आएँगी! कोई नहीं देख रहा है भुवन, बल्कि वह दूसरा आधा टुकड़ा भी ले सकती हो!···"

हाथ-मुँह धोते-धोते भुवन ने बतलाया, "मैं बचपन में मछली खाती थी, बाद में उन लोगों ने कसम देकर छुड़वा दिया।"

"ससुराल वालों ने?"

भुवनेसरी चुप रही। उसे पछतावा होने लगा कि क्या निकल गया जुबान से! बुआ ने मना किया था न? ठीक ही मना किया था। ज्यादा मेल-मिलाप दिल को घुला डालता है· भुवनेसरी लाख अपने को समझाती है, लाख धमकाती है अपने को! मगर मन नहीं मानता। कम्पाउण्डर की बीवी क्या कोई मामूली डायन है? ऐसा जादू कर दिया है कि न मन को चैन न तन को चैन! मदारी की तरह उसने भुवन को अपने काबू में कर लिया है, उसके बिना भुवन रह ही नहीं सकती···तो, आहिस्ता-आहिस्ता क्या वह भुवन की सारी बातें मालूम कर लेगी?···डर के मारे भुवनेसरी को पसीना आ गया।

पानों की दो गिलौरियाँ बनाईं। एक अपने लिए, दूसरी भुवनेसरी के लिए। कम्पाउण्डर की बीवी पान की शौकीन तो थी ही, ज़र्दा भी फाँकती थी। घरवाला लेकिन सिग्रेट फूँकता था।

भुवनेसरी पर कम्पाउण्डर की बीवी को दया आने लगी थी। अब वह भुवन के मर्म तक पहुँचना चाहती थी, उसकी व्यथा के बारे में जानना चाहती थी। बुआ और चाचा के सिलसिले में उसने अब ज़्यादा से ज़्यादा सोचना शुरू कर दिया था। भुवनेसरी के प्रति अब वह ज़्यादा से ज़्यादा हमदर्द हो गई थी। ईर्ष्या और द्वेष के बदले ममता और प्यार छलकने लगे थे।

बुखार चढ़ा था तो भुवनेसरी खाना पका गई थी। कम्पाउण्डर को होटल में नहीं खाना पड़ा था। सारा दिन इसी घर में रही थी, गिरस्ती के छोटे-मोटे सभी काम किए थे।

दूसरे परिवार में इस तरह भुवन का घुलना-मिलना बुआ को पसन्द नहीं था। लेकिन न तो कम्पाउण्डर की बीवी से रहा गया और न भुवन से। साधारण परिचय अब गाढ़ी आत्मीयता में बदल रहा था। कई बार दोनों साथ सिनेमा देख आई थीं। बुआ ने भी टोकना छोड़ दिया था। उसे कम्पाउण्डर की बीवी घूस के तौर पर बाज़ार से चटोरी चीज़ें ला देती थी। घण्टों बैठकर गप्पें लड़ाती और पास-पड़ोस के बारे में गलत-सही सूचनाएँ पहुँचाती।

भुवनेसरी के पीठ के निशानों के बारे में कम्पाउण्डर की बीवी ने फिर पूछ दिया, "महात्मा ने पीटा था या राक्षस ने?"

आज वह कुछ नहीं बोली, चुप रह गई। सोचने लगी, 'अब खुलने में कोई हर्ज नहीं है।'

सहानुभूति से लगातार सींचा हुआ हृदय ही वह भूमि है जहाँ विश्वास का अंकुर फूटता होगा···

बाथरूम से पेटीकोट पहने बाहर निकल चुकी थीं दोनों। कम्पाउण्डर की बीवी ने ट्रंक से दो साड़ियाँ निकालीं। एक साड़ी मद्रासी थी, दूसरी बंगाल के हैण्डलूम की। मद्रासी साड़ी भुवन को थमाती हुई वह बोली, "मेरी कसम, ना मत करना! बस पहन ही ले! मेरे कोई बहन नहीं थी, अब आज से तू बहन हुई मेरी! समझा न?"

ऐसा अपनापा! इतना प्यार!···भुवनेसरी की आँखें गीली हो आईं, होंठ फड़कने लगे। एक भी अक्षर मुँह से निकल नहीं पाया। विह्वल मुद्रा में वह दो मिनट खड़ी रह गई।

कम्पाउण्डर की बीवी का मायके का नाम था निर्मला। प्यार में लोग 'नीरू' कहते थे। यह सब एक बार वह भुवन को बता चुकी थी। इस समय लेकिन वह दीदी की विशुद्ध भूमिका में विराजमान थी—सगी बहन की गाढ़ी ममता उसकी निगाहों में छलक रही थी।

भुवन को पशोपेश में देखकर वह आगे बढ़ आई, बाँहों में लेकर छाती से लगा लिया। भीगी आवाज़ में कहने लगी, "ठीक है कि मैं तेरे लिए ज़्यादा कुछ कर नहीं सकती, मामूली हैसियत है हमारी। लेकिन तुझे मैं सगी बहन का प्यार ज़रूर दे सकूँगी···जाने किस मुसीबतों ने तुझे यहाँ तक पहुँचाया है! जाने

किसमत तुझे कहाँ-कहाँ भटकाएगी ! एक वार विछड़कर फिर दुबारा जाने हम कव मिल पाएँगे !…"

नीरू ने ठुड्डी उठाकर भुवन का चेहरा देखा। उसकी आँखों से आँसू वहे थे। हाथों से साड़ी थामे थी, जिसकी ऊपरी तह जगह-जगह भीग गई थी… लम्बी छरछरी सुडौल देह, गोल गर्दन, गठी हुई वाँहें…घुटी हुई रुलाई ने चौड़े कन्धों में सिकुड़न पैदा कर दी थी…

अपनी साड़ी के पल्ले से भुवन के आँसू पोंछते-पोंछते वोली, "पगली कहीं की; इस तरह रोया नहीं करते ! कभी कुछ वताया भी तो नहीं तूने ! चाहे कैसी भी है, मेरी वहन है तू…"

सूखने के वदले आँसू और भी वेग में आ गए। अव तक की घुटी हुई रुलाई हिचकियों के रूप में फूट निकली। भुवन ने निढाल होकर अपना सिर नीरू के कन्धे पर डाल दिया।

नीरू ने ले जाकर उसे पलंग पर विठाया और दरवाजा वन्द कर आई।

भुवन ने उठकर साड़ी पहन ली। मुँह धो आई और दीवार की खूंटी में लटकते आईने के सामने खड़ी हुई। वड़ी-वड़ी आँखें आँसू वहाते-वहाते सुर्ख हो गई थीं। वरौनियों के छोटे-छोटे मुलायम वाल वड़े और कड़े दीख रहे थे। पपोटों पर वारीक नसें उभर आई थीं। कपार की मोटी नसों में कम्पन मौजूद था। चेहरे का रंग मानो अव तक चिढ़ा था।

कंघी ले आई और वाल सँवारने लगी।

निर्मला ने कहा, "ला, मैं सँवार दूँ !"

भुवनेसरी ने माथा हिलाकर इंकार किया, वोली, "लपेटकर वाँध लूँगी।"

क्षण-भर वाद गम्भीर हो गई। पलकें उठाकर कहा, "दीदी, तुम मुझसे अलग ही रहतीं तो अच्छा था। मैं अभागिन हूँ, जीवन-भर अभागिन ही रहूँगी। अंदेशा इसी वात का है कि मेरी वदनसीवी कहीं तुमको भी न छू ले।…जिसे भुवन कहती आई हो वह भुवन नहीं, इन्दिरा है। पिताजी ने इन्दिरा रखा था मेरा नाम…दीदी, तुम मुझे इन्दिरा ही कहा करो ! वोलो, कहोगी न इन्दिरा ?"

"हाँ, अव से इन्दिरा ही कहा करूँगी।" नीरू वोली।

"लेकिन अकेले में।"

"हाँ, अकेले में।"

"दीदी भी अकेले में ?"

"हाँ, अकेले में।"

खट्-खट्-खट् खट्।

"देखती हूँ, कौन है…इन्दिरा, तू जल्दी में तो नहीं है ?"

"नहीं दीदी, देखो कौन है।"

कम्पाउण्डर की वीवी ने दरवाजा खोला। सामने डाकिया खड़ा था। वगल में चमड़े का थैला…आँखों पर चश्मा, कान की जड़ में पीली पेन्सिल लगी थी।

"रजिस्ट्री है···बाबू मुंगेरीलाल—दसखत करके आप ले लीजिए, दसखत नहीं करेंगी तो कैसे मिलेगा ?"

वह वापस अन्दर हुई, भुवनेसरी ने पूछा, "कर दूं दसखत ?"

"तो क्या हर्ज है इसमें !" भुवनेसरी ने भौंहें कड़ी करके उसका साहस बढ़ाया, "एक-आध हरफ की गलती हो फिर भी दस्तखत करके रजिस्ट्री ले लो, जरूरी है तभी तो रजिस्ट्री आई है दीदी !"

आखिर कम्पाउण्डर की बीवी ने एक्नोलेजमेंट वाली स्लिप पर हस्ताक्षर किया···निमला देवी। डाकिया मुस्कराया, "देवी जी ने अपने नाम में 'नि' के बाद आधा 'र्' छोड़ दिया था, जल्दबाजी में।" खैर, रजिस्ट्री चिट्ठी मिल गयी।

खोलकर देखा, मायके का खत था। फागुन सुदि पंचमी बुधवार···छोटे भाई की शादी है···

"जाना ही पड़ेगा," नीरू बोली, "इन्दिरा, तू भी चलना साथ। तेरी तबीयत बहल जाएगी और तरह वजह से मैं जल्दी वापस आ सकूंगी।"

भुवन ने कहा, "और बुआ ?"

"झाड़ू मार इस बुआ को !"

"सच ! वह मुझे जाने देगी ?"

"तू हां तो कर पहले !"

"मेरे हां करने से क्या बनेगा दीदी ?···"

"और तेरी दीदी क्या कोई तदबीर नहीं भिड़ा सकती ?"

भुवनेसरी को ध्यान आया, दीदी ने दरवाजा खुला ही छोड़ दिया है। वह जाकर सांकल चढ़ा आई। कम्पाउण्डर की बीवी ने आदि से लेकर अन्त तक कई बार खत को पढ़ा। फिर भी तसल्ली नहीं हुई तो बोली, "ले इन्दिरा, सुना तो पढ़कर !"

समूची चिट्ठी सुनाकर भुवनेसरी ने कहा, "वाह, लिखावट कैसी बढ़िया है ! किसने लिखा है दीदी ? तुम तो जरूर पहचान गई होंगी···"

"लो, मैं ही नहीं पहचानूंगी···"दाएं हाथ की दूसरी उंगली को ठोड़ी में धंसाकर वह बोली, "मझले भइया की घरवाली दर्जा दस तक पढ़ी-लिखी है न ! मां ने उसी से लिखवाया है। मेरे मायके में इतनी अच्छी लिखावट किसी की नहीं होती, एक नागेसर को छोड़कर। और वह नागेसर ? पढ़ा-लिखा है लेकिन गांव नहीं छूटता है उससे। पार्टी का काम करता है। घर में एक पैसा भी नहीं दिया है आज तक। आदमी लेकिन हीरा है···इन्दिरा, मैं तुझे उससे जरूर मिलाऊंगी, जरूर।"

आठ

वी० एन० शर्मा।

हां, फाटक वाले दरवाज़े पर चाक से यही नाम लिख दिया था किसी ने। और भुवनेसरी का 'चाचा' सचमुच इसी नाम से हस्ताक्षर करता था—वी० एन० शर्मा—उसका पूरा नाम क्या है, सबको मालूम नहीं था। लोगों से मिलना-जुलना भी उसका कम ही था। हां, तिलकधारीदास की दूकान उसके लिए परिचित जगह नहीं थी। दास जी के साथ रिक्शे पर भी शर्मा को कभी-कभी देखा जा सकता था।

मुंशी जी अपने इस किरायेदार के भी प्रशंसक थे। किरायेदार की भलमन-साहत का एक ही मापदण्ड मनबोधलाल का था: ठीक दूसरी तारीख को पूरी रकम थमा दे। बेशक, ऐसा वही करेगा जो सरकारी सर्विस में होगा। यूनिवर्सिटी, हाईकोर्ट, दरभंगा के महाराजा का 'इण्डियन नेशन' वाला दफ्तर···वक्त पर वेतन देने वाली संस्थाओं में इनकी भी अच्छी शुहरत थी। बाकी जगहों में काम करने वाले लोगों के बारे में मुंशी जी को तसल्ली नहीं थी। इसीलिए कमरा या खोली देनेसे पहले किरायेदार से वे बीस किस्म के सवाल करते थे। पत्रकारों, कलाकारों, कवियों, साहित्यकारों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से कतराना मनबोधलाल का स्वभाव हो गया था।—ठीक वक्त पर किराया देने वाले उनकी निगाहों में शराफत के पुतले थे। और जो दो-दो, तीन-तीन महीनों का एडवान्स थमा दे, वह तो मनबोधलाल का मसीहा था। शर्मा और दास जी मामूली किरायेदार नहीं थे, सर्वगुण-सम्पन्न मसीहा थे उनके लिए।

शर्मा अभी पन्द्रह-बीस रोज़ बाद वापस आया था। साथ एक युवती और थी, शकल-सूरत से नेपाल की लगती थी लेकिन मैथिली सर्राटे से बोलती थी।

भुवनेसरी को समझते देर न लगी कि रिश्ते की यह 'बहन' किस मतलब से लाई गई होगी। वह नेपालिन से अकेले में मिलना चाहती थी, बातें करना चाहती थी। मगर मौका ही नहीं मिलता था। हमेशा उसे बुआ की निगरानी में रखा जाता था।

कमरे थे तीन, बरामदा एक था। नीचे वाला एक कमरा बुआ ने दखल कर रखा था। ऊपर शर्मा खुद रहता था। बाईं तरफ वाले कमरे में घरेलू वस्तुएं रखी रहती थीं। अनाजों से भरे कनस्टर, ट्रंक, पुराने जूते, आलू-प्याज का टोकरा, चलनी वगैरह। शर्मा का कमरा बन्द रहता, अनुपस्थिति में चाबी बुआ के जिम्मे होती।

पिछली रात टेबुल लैम्प ऊपर देर तक जलता रहा था।

आज सवेरे ही बुआ ने भुवनेसरी से कहा, "दादा दो-एक रोज़ के लिए बाहर जा रहे हैं, तू भी जाएगी साथ।"

जिज्ञासा-भरी दृष्टि से भुवन बुआ की ओर देखती रही, हाथ पानहों को

एक-दूसरे से अलग कर रहे थे। बुआ बोली, "हां, गाड़ी एक बजे जाती है।"

भुवन का माथा ठनका, 'मुझे आज बेचने तो नहीं जा रहे हैं? मनोरमा को भी इसी तरह कहीं छोड़ आए थे···अच्छा जजमान कोई फंसा होगा···कितने में बेचेंगे मुझे? तीन हजार में? पच्चीस सौ में? पन्द्रह सौ में?···इसीलिए शाम को कल दो नफीस साड़ियां आई हैं! चमकीले ब्लाउज···नकली हीरे के टाप्स··· नेल पालिश···लिपस्टिक···स्नो और पाउडर···' सिर चकराने लगा भुवन का।

खाना तैयार हो चुका था। बुआ पहले खा लेगी, चाचा पीछे बैठेंगे खाने। भुवन पापड़ सेंकने लगी तो पहला पापड़ जल गया। लगा कि किसी ने चिमटे से पकड़कर उसे ही भट्ठी के अन्दर लटका दिया है और वह जल रही है···चट्-चट्-चट्···जलते हुए कच्चे मांस की तीखी गन्ध···हुं···आतंक की कल्पित अनुभूति तीव्रता के छोर पर आ गई तो दूसरा पापड़ भी चिमटे से छूटकर दहकती सिगड़ी के अन्दर जा पड़ा।

जलते पापड़ की सोंधी-तीखी गन्ध बुआ तक पहुंची, नथुने फड़क उठे। चीख पड़ी, "क्या हो रहा है भुवन, पापड़ों से ही हवन कर रही हो? किससे सीखा है यह मन्त्र?"

भुवनेसरी कुछ नहीं बोली, सम्भल जरूर गई। फिर दो-तीन पापड़ सेंके।

बुआ के सामने थाली रखकर बोली, "कम्पाउण्डर की बीवी के पास अपनी दो किताबें, स्वेटर की एक बांह और क्रोशिए पड़े हैं, ले आऊं जाकर।"

सिर हिलाकर बुआ ने मना किया। कौर निगलकर कहा, "लौट ही तो आएगी कल···जाके वापस आना है, बस!"

लड़की को बुआ की इस बात से जरा-सी तसल्ली हुई और माथा हल्का हुआ।

माथा तो हल्का हुआ लेकिन मन का खटका लगा रहा, नहाने गई तो देर तक धार बम्बे से गिरती रही और भरी बाल्टी का पानी उमड़-उमड़कर नीचे फैलता रहा।

भुवन जाने कब तक बाथरूम में बैठी रह जाती अगर नेपालिन आकर टूटी किवाड़ न खटखटाती·· नहाने का घर क्या था माचिस की डिबिया थी। एक किवाड़ नदारद, दूसरा किवाड़ टूटा हुआ···अन्दर चौखटे की दोनों ओर किसी पुण्यात्मा ने कीलें ठोंक दी थीं, उन्हीं कीलों में चादर उलझाकर पर्दा कर लिया था भुवनेसरी ने। गर्दन लम्बी करके मात्र सिर बाहर निकाला, बोली, "बस दो मिनट और!"

नेपालिन वापस गई।

कपड़े बदलकर चौखटे की कीलों से पर्दा वाली चादर उतारने ही वाली थी, कि कम्पाउण्डर की बीवी ने झांका। उसके हाथ काले थे। पलकें झपकाकर मुसकराई, कहा, "हाथ ही धोने हैं, तुम इत्मीनान से नहाओ!"

"आओ। आओ!···" भुवन ने फुसफुसाकर लेकिन बेचैन मुद्रा में कहा,

"बस आज तो तुम्हारी इन्दिरा का..."

आगे शब्द नहीं थे लेकिन गला काटने का संकेत साफ था...दाहिनी हथेली को गर्दन से भिड़ाकर रेतने का इशारा !

कम्पाउडर की बीवी अनहोनेपन की दहशत के मारे दो कदम पीछे हट गई। समझ में नहीं आया कि आखिर हुआ क्या ! भुवन ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया और अन्दर बाथरूम में खींच लिया। कान में बोली, "अभी मुझे वह बाहर ले जा रहा है। शायद कोई खरीदार मिल गया है..."

"हाय !" कम्पाउण्डर की बीवी के मुँह से निकला, "पहले क्यों नहीं बतलाया इन्दिरा, अब इस वक्त मैं क्या करूँ ?"

"मैं कल लौट आऊँगी दीदी !"

"सच इन्दो ?"

"चुड़ैल कह तो रही थी।"

"मगर तूने पहले क्यों नहीं बतलाया ?"

"मुझे खुद भी मालूम नहीं था...लेकिन हाथ तो धो लिए होते !"

निर्मला ने हाथ आगे बढ़ा दिए। इन्दिरा मग से पानी डालती रही। नीरू की आँखों में एकाएक चमक आ गई। तेज़ निगाहों से उसने इन्दिरा की आँखों में देखा। उन आँखों में बुझती आशा का अथाह सूनापन लहरा रहा था, भविष्य की अनिश्चितता का कुहासा।

भुवनेसरी की कलाई पकड़कर कम्पाउण्डर की बीवी ने दृढ़तापूर्वक कहा, "अब तुझे कोई बेच नहीं सकता, न खरीद ही सकता है कोई। तुझ पर तो अब मेरा ही हक है। मैंने तुझे अपना दिल देकर खरीद लिया है। देखूं, कौन मेरी बहन का गला काटता है !..."

"लेकिन..." कलाई छुड़ाते हुए भुवन कुछ कहने लगी तो कम्पाउण्डर की बीवी ने बायाँ हाथ उसके मुंह पर रख दिया और झल्लाकर कान में कहा, "लेकिन-फेकिन नहीं सुनूंगी इस वक्त ! निकल यहां से, चल मेरे साथ।..."

भुवन का हाथ पकड़कर वह उसे रहने के अपने हिस्से में ले आई। अन्दर सोने के कमरे में डाल दिया। बोली, "घबड़ाना नहीं इन्दो, आज से तेरी नई ज़िन्दगी शुरू हुई...उन शैतानों से मैं निबट लूंगी, तू रत्ती-भर फिक्र न कर..." पीठ पर हाथ फेरकर कम्पाउण्डर की बीवी ने भुवन को चूम लिया।

और भुवन रो रही थी, शब्दों का मानो उसके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया था। उसका क्या होने वाला है ? कौन-सा तूफान आने वाला है आगे ? एक कम पढ़ी-लिखी औरत, जो खुद ही किसी अधेड़ मर्द की दूसरी बीवी है, उसके लिए भला क्या कर सकेगी ? शर्मा क्या भुवन को यों ही छोड़ देगा...? एक साथ ही बीसों सवाल भुवन के दिमाग को भूनने लगे और वह रो रही थी।

कम्पाउण्डर के कब्ज़े में दो कमरे थे, बरामदा था, छोटा-सा आंगन था। सोने वाला कमरा मकान-मालिक के उस हाल से लगा हुआ था, जिसमें वह अनाज और

सिमेण्ट की बोरियाँ रखा करता था। टूटे फर्नीचर भी उसमें पड़े थे। गर्मियों में तरावट रहती थी, बैसाख-जेठ की झुलसती दुपहरिया मुंशी के परिवार को नीचे खींच लाती थी। अन्दर ही अन्दर ऊपर का रास्ता था।

कम्पाउण्डर की बीवी अपना दरवाज़ा तो बन्द कर ही आई थी, अब कमरे की भीतर वाली खिड़की से कूदकर उस तरफ हाल में चली गई। सीढ़ियों से ऊपर पहुँचकर मनबोधलाल की पतोहू से सारी स्थिति संक्षेप में बतलाई तो उसने कहा, "मुझे क्या पता था कि कसाई आ गया है इस मकान में ? यह तुमने अच्छा किया कि भुवनेसरी को उसके चंगुल से निकाल लाई···लेकिन, अम्मां और बाबू जी इस झमेले में नहीं पड़ना चाहेंगे ! अपने घरवाले से पूछ लिया था ?"

"नहीं, किसी से नहीं पूछा था," कम्पाउण्डर की बीवी बोली, "पूछने-पाछने का मौका ही कहां था ? और इस वक्त भी ज्यादा सोचने का मौका नहीं है चुन्नू की मां !"

चुन्नू की मां धूप में बैठी थी, गोद में दो महीने का बच्चा दूध पी रहा था··· फड़कते गाल और अधमुंदी आंखें···खुराक की मिठास और धूप की गर्माहट··· बस, वह सोने ही वाला था।

कम्पाउण्डर की बीवी बच्चे पर झुक गई। प्यार-भरी नज़रों से क्षण-भर देखती रही शिशु की ओर···

मनबोधलाल की पतोहू ने जाने का इशारा करके उसके कन्धे पर हाथ रखा, कहने लगी, "चलो, इसे सुलाकर आती हूँ। तुम इतने में भुवनेसरी को इधर हाल के अन्दर ले आओ, फौरन वापस जाकर खिड़की में अपनी तरफ से ताला लगा देना···सर्दी के इन दिनों में हमारे यहां का कोई भी हाल के अन्दर नहीं झांकता है···अम्मां और बाबूजी प्रयाग से दस रोज़ बाद लौटेंगे। इनको तो खैर मैं मालूम होने ही न दूंगी···लेकिन तुम लड़की को रखोगी कहां ?"

"अब यह सब फिर सोच लिया जाएगा," कम्पाउण्डर की बीवी ने सीढ़ियों से उतरते-उतरते कहा और अदृश्य हो गई अगले ही क्षण।

खिड़की में ताला लगाकर वह खाने बैठी ही थी कि दरवाज़ा खटखटाया किसी ने। उठ गई, बाएँ हाथ से उसने सांकल खोली। सामने नेपालिन थी।

भुवनेसरी के बारे में पूछे जाने पर कम्पाउण्डर की बीवी ने बतलाया, "मैंने सुबह से ही उसे नहीं देखा है, बाथरूम में होगी···"

नेपालिन के चेहरे पर परेशानी थी, उदास स्वर में बोली, बाथरूम में तो मैंने ही देखा था। पछीटे हुए कपड़े, बाल्टी, मग, साबुन···सारा कुछ बाथरूम में पड़ा है ! आप भी आके देखिए न ?"

कम्पाउण्डर की बीवी नेपालिन के पीछे-पीछे बाथरूम तक आ गई। विस्मय की मुद्रा में मुंह बनाया और पाखाने की ओर हाथ उठाकर कहा, "उधर देख आई हो ?"

"उधर ? हां, उधर भी देखा है।"

"इधर ?"

"जी, इधर भी।"

कम्पाउण्डर की वीवी ने महिम और दिवाकर जी वाले निचले-उपरले कमरों की ओर इशारा किया था। नेपालिन की परेशानी में वह भी हिस्सा वँटा रही थी कि शर्मा और बुआ भी वाहर निकल आए।

बुआ कम्पाउण्डर के आँगन में आ गई। वरामदा देखा, दोनों कमरे देखे।

विना कुछ वोले ही वापस चली गई।

शर्मा दो-तीन वार नीचे-ऊपर देख आया। विभाकर स्कूल गया हुआ था। शास्त्री जी गए थे भागलपुर। मर्दों में से अकेले महिम था।

शर्मा ने तीसरी वार महिम से पूछा तो उसने कड़ी आवाज़ में कहा, "माथा तो नहीं खराव हो गया है आपका ?"

सभी को पता था कि महिम शराव पीता है। शर्मा का लेकिन इस समय सचमुच दिमाग चकरा रहा था। सामने मुसीवत जो थी, वह इकहरी नहीं, दुहरी थी।

उम्मी की माँ और वह दूसरी पड़ोसिन बुआ को राय दे रही थीं कि शाम तक लड़की वापस नहीं आती है तो पुलिस वालों की मदद लीजिए। समय-साल ठीक नहीं है, जाने कौन उचक्का वेचारी को वहका ले जाए और कहीं की न रखे।

कम्पाउण्डर की वीवी नेपालिन से वार-वार वतला रही थी, "कल भुवन ने कई दफे गंगा चलने के लिए कहा था, आज सुवह भी कह रही थी। नल में नहाने से उसको सन्तोष नहीं होता है। शायद गंगा चली गई होगी···"

और नेपालिन का कहना था, "भला गंगा कैसे गई होगी, सव कुछ तो यहाँ पड़ा है वाथरूम में ?"

बुआ की तो मानो जीभ ही अकड़ गई थी, एक भी शब्द निकल नहीं रहा था मुँह से।

नौ

विभाकर ने कहा, "दीदी, आज रात वाली गाड़ी से मुझे वापस जाने दो। स्कूल में ग़ैरहाज़िरी वढ़ती जाएगी न ?"

"ज्यादा नहीं रोकूँगी," इन्दिरा वोली, "कल जाओगे। आज शाम को भइया, भाभी और वच्चे नाव से राजघाट जाएँगे, वापस भी आएँगे उसी नाव से। मुझे भी साथ जाना है और तुम्हें भी जाना होगा···कहते हैं, नाव से काशी की शोभा देखते ही वनती है और मैंने तुम्हारी तरफ से भी हाँ कर दी थी न !"

"कल भी तो न रोकोगी ?" विभाकर ने मुस्कराकर पूछा।

इन्दिरा ने कहा, "नहीं विभू, कल क्यों रोकूँगी !"

विभाकर के सामने 'आज' का रविवासरीय परिशिष्ट फैला था। पाँच साल की बच्ची करीब ही खेल रही थी···धुला चटकीला फ्राक, गेहुँआँ रंग का सुन्दर मुखड़ा, चोटियों में पीला रिबन···प्लास्टिक का बेबी था सामने, उसकी बाँहों को कसरत करवाने में मशगूल थी।

विभाकर ने उसे छेड़ा, "दीदी, यह तो कल पटना जाएगी मेरे साथ···मुगल-सराय में इसको अमरूद खिलाऊँगा। क्यों री कुन्तल !"

कुन्तल इन्कारी मुद्रा में माथा हिलाती रही, बेबी को अब उसने गोद में लिटा लिया था। एक नजर विभाकर की ओर डालकर बोली, "पटना नहीं जाऊँगी, अमरूद आप यहाँ भी खिला सकते हैं···"

"पेटू कहीं की !" अन्दर वाले कमरे से माँ की आवाज़ आई तो बच्ची शरमा गई और खिलौने को अलग रख दिया।

इन्दिरा ने उलाहने के स्वर में कहा, "आप भी खूब हैं भाभी ! एक-आध अमरूद आपको भी तो आखिर मिल ही जाता ! नहीं मिलता ?"

"वो ढेर-से अमरूद रखे हैं," कुन्तल की माँ ने खाने की मेज़ की ओर हाथ उठाकर कहा, "मुझे तो जुकाम हो गया है मगर तुम क्यों नहीं लेती हो ?"

महरी को इशारा मिला मालकिन का। अगले ही क्षण अमरूदों वाली चंगेरी इन्दिरा के आगे थी। नमक और काली मिर्च की बुकनी भी आई।

इन्दिरा ने एक बड़ा-सा अधपका अमरूद उठा लिया, चाकू से चार टुकड़े किए। नमक-मिर्च मिलाकर पहला टुकड़ा बच्ची को थमाने जा रही थी लेकिन माँ की ओर देखकर उसने इन्कार कर दिया।

बेटी के स्वाभिमान पर ध्यान गया तो माँ बोली, "अब लेगी भी कि नहीं ? कौन-सी बात मैंने कही थी !"

कुन्तल चुपचाप बाहर खिसक गई तो भागते-भागते छोटे साहब आए और अमरूद के दो टुकड़े चट से उठा लिए !

सभी हँसने लगे। छोटे साहब के गाल अमरूद की पिसाई कर रहे थे, निगाहें लेकिन हँसने वालों के चेहरे तोल रही थीं। मुँह आधा खाली हुआ तो जैसे-तैसे बोले, "क्या किया है मैंने ? क्यों हँस रही हैं आप लोग ?"

और तीसरा टुकड़ा भी छोटे साहब ने उठा लिया, चौथा भी।

इस पर फिर हँसने लगे तीनों। माँ बोली, "राजीव, लगता है तू कई दिनों का भूखा है···"

चार फाँक करके दूसरा अमरूद भी इन्दिरा ने राजीव की ओर बढ़ा दिया मगर उसने कहा, "नहीं बुआ, अब वो दीजिए चित्तियों वाला ! दाँतों से काट के खाऊँगा···"

"बन्दर ! ···" माँ ने कहा। उनकी निगाहें लाड़ को नहला रही थीं।

विभाकर और इन्दिरा ने तीन-चार अमरूद खाए। उधर राजीव रेडियो खोलकर मद्रास से टेस्ट मैच की कमेण्ट्री सुनता रहा। भाभी सुई और धागों में उलझी रही, लैस तैयार होना था पेटीकोट के लिए।

विभाकर पान खाने के लिए गली के नुक्कड़ की ओर निकल गया। इन्दिरा कहानी की कोई पत्रिका ले बैठी।

सदानन्दलाल : निर्मला की अपनी मौसी का लड़का। पिता से बचपन में ही हाथ धोने पड़े। दर्जा आठ के बाद ही कलकत्ता पहुँचकर उसने अपने को जन-समुद्र के ज्वार-भाटे में डाल दिया…ट्यूशन और ट्यूशन और ट्यूशन…अपना खर्चा, माँ का खर्चा, पढ़ाई का खर्चा…श्रवणकुमार ने वर्षों तक अपंग माँ-बाप को ढोया था। खाँचों में बैठे-बैठे देश-दर्शन तो उनके लिए सहज था ही, सेवा भी सुलभ थी…माँ जब तक जिन्दा रहीं, सदानन्दलाल श्रवणकुमार की तरह उनकी खिदमत में जुटा रहा। कलकत्ते के लोकारण्य में यह श्रवणकुमार किसी दशरथ के शब्दवेधी बाण का शिकार नहीं हो पाया।…

स्वस्थ-सुन्दर युवती। लड़कियों के गैर-सरकारी माध्यमिक स्कूल की अध्यापिका। रूढ़ि के बाड़े से बाहर निकलकर संघर्ष की भट्ठी में तिलतिल करके तपनेवाले माँ-बाप की सन्तान। बी० ए०, बी० टी० करके दो वर्ष अध्यापन। सदानन्द से परिचय…प्रोफेसर श्री सदानन्दलाल। ब्राह्मण की लड़की और कायस्थ का लड़का…दोनों में घनिष्ठता…इलाहाबाद के आर्य समाज मन्दिर में शादी…

जिला बनारस की किसी तहसील इण्टरमीडियट कालेज की सर्विस स्वीकार करके भूल नहीं की थी सदानन्द ने, क्योंकि वहीं कुमारी रंजना ओझा से उसका प्रथम साक्षात्कार हुआ था…

ब्याह के आठ-दस साल गुजर गए, नए नागरिकों का छोटा-सा परिवार काशी के मुहल्ला तुलसीघाट में जम गया है। सदानन्द अब विश्वविद्यालय में इतिहास पढ़ाते हैं, रंजना है लड़कियों के इण्टरमीडियट कालेज में। दो बच्चों के बाद तीसरी सन्तान न हो इसलिए दोनों ने सन्तति-निरोध के तरीके अपना लिए हैं। राजीव और कुन्तल की शिक्षा कन्वेण्ट में हो रही है।…

बरामदे में दोपहर की गुलाबी धूप फैली थी।

बीचों-बीच बड़े तख्त पर गद्दा और चादर। रंजना को आलस्य आ गया, तकिया खींचकर लेट गई।

राजीव रेडियो बन्द करके वहीं बैठक से कैरम-बोर्ड उठा ले गया, और विभाकर के साथ खेलने लगा।

सुई-धागे और जाली परे हटाकर रंजना ने अच्छी तरह पैर फैला लिए। मुँदी आँखों की पलकों से ऊपर पपोटों की बारीक रगों में सूक्ष्म स्पन्दन गौर करने लायक था।

इन्दिरा अन्दर से शाल ले आई, पैरों की तरफ से भाभी को कमर तक उढ़ा दिया ! दुबारा फिर कहानी की पत्रिका लेकर नहीं बैठी, विभाकर और राजीव का कैरम-मैच देखने चली गई ।

रजना सो रही थी—

स्वप्न की इन्द्रधनुषी दुनिया···

बड़ी-बड़ी आँखों वाली एक हिरन बेतहाशा भागी जा रही है···छोटी-छोटी झाड़ियों वाली तलहटी का ऊबड़-खाबड़ इलाका। कहीं-कहीं टेकरियों पर पुराने किले नज़र आ रहे हैं। टेढ़ी-मेढ़ी नदी दूर से ही चमक रही है। लगता है कुबेर के खज़ाने की चांदी बंदी यक्षों की जलन से अन्दर-ही-अन्दर पिघलकर बह निकली···प्यासे जानवर अलग से ही गर्दन लम्बी करके चाँदी की नदी के प्रवाह पर प्यास बुझाने के लिए झुक पड़े हैं। दो घूंट पीकर ही ऊपर आकर कगार पर खड़े होते हैं और मनुष्य की आवाज में ललकारने लगते हैं भागते हिरन को ! जो भी जानवर चांदी की उस धार में मुँह लगाता है वह आदमी की बोली में भागते हिरन को आवाज़ देने लग जाता है···

वह बा र-बार कँटीली झाड़ियों में उलझती है, खड्डों में लुढ़कती है बार-बार। पैंतरे बदलकर आगे-पीछे से और अलग-बगल से वे जानवर उस बेचारी को बार-बार घेरते हैं, हमला करते हैं, ज़मीन पर गिरा देते हैं···लो, गए गरीब के प्राण ! मार डाला ! अब वे उसे नोच-नोचकर खा जाएँगे···

मगर नहीं, वह तो भागती-भागती चांदी की धार के पास पहुँच गई···तो वह भी गर्दन लम्बी करके अपनी प्यास बुझाएगी और आदमी की बोली में हमलावरों को ललकारेगी ? नहीं, नहीं, वह इस तरह अपनी प्यास नहीं बुझाएगी। देखो न, किनारे-किनारे भागी चली जा रही है···तीर लग गया पुट्ठे में, खून की लकीरें नज़र आ रही हैं लेकिन भागने की रफ्तार तो और बढ़ गई।

"अरे ! यह तो अपने हाते के अन्दर आ पहुँची ! अब मैं क्या करूँ ?"

"करोगी क्या। पाल लो इसे, कैसा खूबसूरत हिरन है, वाह !··· बदन में दस-पांच घाव हैं, भर जाएँगे। तबीयत बहलाने के लिए ऐसा सजीव और वफादार खिलौना और कहाँ मिलेगा ?"

"चुच् चुच्···चुच्···चू ! आ मेरे पास तो आ !···"

"प्यासा है ? पानी पिएगा न ! खाएगा नहीं कुछ ?···अरे राजीव, गोभी के पत्ते पड़े हैं ढेर-से किचन के बाहर···ले आना बेटी ! अपना हिरन बड़ा भूखा है···"

क्या खूब। यह तो अच्छा जादू रहा !

आँखें-भर उस हिरन की रह गई हैं, मुखड़ा तो इन्दिरा का है यह ! शक्ल-सूरत, चाल-ढाल, सब कुछ इन्दिरा का···

दीवाल पर से आँगन में बिल्ली कूदी—धम् !

रंजना के स्वप्न में विराम पड़ा। आँखें तो बन्द ही किए रही, लेकिन कर-

वट बदलकर पीठ को आँगन की ओर कर लिया। कुन्तल आकर साथ लेट गई और नाक को नाक से भिड़ा दिया।

निद्रित स्वर में रंजना बोली, "चुपचाप लेट, परेशान मत कर!"

कुन्तल बित्ता-भर अलग हो गई, उँगलियों में उँगलियाँ उलझाकर अपने-आप खेलने लगी।

सपनों की कड़ी टूट गई थी, रंजना को अखर रहा था।

लाख कोशिश की, सपनों का तार फिर नहीं जुड़ सका। थोड़ी देर तक लेटी रही और इन्दिरा के बारे में काफी कुछ सोचा। तय किया कि इस लड़की को प्राइवेट तौर पर पढ़ाएगी, अगले वर्ष प्रवेशिका (एडमिशन) का इम्तहान दिला देगी।

निर्मला ने विभाकर को सदानन्द का पूरा पता दिया था, चिट्ठी दी थी। स्टेशन से तुलसीघाट तक पहुँचने में ज़रा भी दिक्कत नहीं हुई, सुबह का वक्त था। पत्र देखकर सदानन्द ने इन्दिरा की पीठ पर हाथ रखा, बोले थे, 'पिछली बातों को बिलकुल भूल जाना! सोचो कि फिर से जन्म हुआ है···यहाँ आराम से रहो। पढ़ो और लिखो, बच्चों के साथ खेलो! बहुत सारी सहेलियाँ मिल जाएँगी यहाँ तुम्हें'···और तभी से भाई साहब ने इन्दिरा को ममता के दायरे में समेट लिया।

और भाभी? भाभी ने तो संजीदगी और स्नेह का अनूठा परिचय दिया था पिछले कई दिनों के अन्दर। रंजना ने इन्दिरा को इस तरह अपना लिया जिस तरह गंगा यमुना को अपनाती है। पिछले जीवन के बारे में एक भी सवाल नहीं पूछा था उसने···खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की रुचि के सिलसिले में लेकिन कई बातें पूछ ली थीं।

निर्मला ने पत्र में जो कुछ लिखवाया था, रंजना ने वह चिट्ठी ड्रेसिंग टेबुल की दराज़ में रख ली थी। इन्दिरा अपने बारे में नीरू का वह पत्र इन तीन दिनों के अन्दर पाँच-सात बार पढ़ चुकी थी और अब भी बार-बार पढ़ना चाहती थी।

भुवन मर चुकी थी, इन्दिरा का जन्म चिता-भस्मावली की उसी वेदी पर हुआ था···इन्दिरा के लिए जीवन की पिछली बातें 'आख्यान'-भर थीं। दस रोज पहले वह क्या थी, इसका ध्यान आते ही लड़की को रोमांच हो आता था।

तो फिर उस चिट्ठी को बार-बार इन्दिरा क्यों पढ़ती थी?

अपने मनोबल को परखने के लिए पढ़ती थी।

मुसीबतों ने उसकी आत्मा को इस तरह कुचल दिया था कि अपनी सहज सूझ-बूझ को भी वह धोखे की टट्टी मानने लगी थी। अपने बारे में सोचना उसकी राय में सबसे ज्यादा खतरनाक काम था। निर्मला ने हिम्मत न की होती तो इन्दिरा का उस नरक से निकलना असम्भव ही था।

बाल्टी में बच्चों के स्वेटर भीग रहे थे। रंजना बाथरूम जाते ... दोनों,

"तीन बजने वाले हैं, स्वेटर खींच लूँ। इतने में तुम कुन्तल के कपड़े बदलवा दो। चार बजे चाय का पानी चढ़ा देंगे। पाँच बजे निकलना है, सदानन्द दशाश्वमेघ आ जाएँगे।"

इन्दिरा कुन्तल को खोज लाई बाहर से।

ड्रेसिंग टेबुल के करीब खड़ी हुई तो कुन्तल को जैसे कुछ याद आ गया। आँखें फैलाकर बोली, "फिर वक्त नहीं मिलेगा बुआ, सुबह स्कूल के लिए कापियाँ और किताबें सहेज लूँ!"

"जल्दी आओ लेकिन।" इन्दिरा ने कहा।

बच्ची दूसरे कमरे की तरफ चली गई तो इन्दिरा ने दराज खींचकर पत्र निकाल लिया···स्टूल पर बैठकर पढ़ने लगी :

"भइया के चरणों में निर्मला का प्रणाम।

"एक अनाथ लड़की आपकी शरण में जा रही है। मुझे पूरा भरोसा है कि आप और भाभी इस लड़की को अपने परिवार में शामिल कर लेंगे।

"भइया, आपने बहुतों का उद्धार किया है। आपका हृदय विशाल है···मैं बचपन से ही आपके स्वभाव को जानती हूँ। किसी कारण अगर अपने परिवार में इस समय इस लड़की को जगह न दे सकें तो कोई दूसरी व्यवस्था करेंगे।

"इन्दिरा नाम है, उम्र है उन्नीस की। जिला मुंगेर की किसी मशहूर बस्ती में पैदा हुई थी, घराना ऊँची नाक वालों का। पन्द्रह की उम्र में शादी हुई। दूल्हा पाइलट था, उसी वर्ष हवाई दुर्घटना में जान गँवा दी। इन्दिरा का फिर वही हाल हुआ, घुटी हुई तबीयत के युवकों और आदर्शहीन अधेड़ों के बीच एक विधवा तरुणी का जो हाल होता है।

"गर्भ चार महीने का हुआ। एक अत्याचारी रिश्तेदार डाक्टरी इलाज के बहाने इन्दिरा को आसनसोल ले गया और धर्मशाला में अकेली छोड़कर खिसक आया। तब से दो वर्ष इन्दिरा के कैसे कटे हैं, यह बात धरती जानती होगी कि आसमान जानता होगा···हम-आप तो अन्दाज भी नहीं लगा सकते भइया!

"लड़कियों और औरतों की खरीद-बिक्री जिनका धन्धा था, ऐसे ही एक राक्षस के चंगुल से आपकी छोटी बहन इन्दिरा को छुड़ा लाई है—झपट्टा मारकर चील की तरह छीन लाई है···

"आप मेरी पीठ ठोकेंगे और भाभी मुझे इनाम देंगी।

"छोटे भइया की शादी के मौके पर आप दोनों गया जरूर आएँगे।

"भाभी जी को प्रणाम···चिरंजीव राजीव और कुन्तल को प्यार···

नीरू, आपकी छोटी बहन।"

जिसके हाथ की लिखावट थी वह विभाकर बाहर वाले कमरे में कैरम खेल रहा था।

इन्दिरा को लगा कि इस पत्र को फाड़कर चूल्हे के हवाले कर देना था। पर, अपने अन्दर अब नई चेतना महसूस कर रही थी। जीवन के इस नए प्रवाह

का स्वाद कैसा अनूठा था।···दोनों हाथ जोड़कर उसने भइया और भाभी के फोटो को प्रणाम किया···जिसका फोटो बाहर नहीं था, बल्कि अपने दिल की दीवार से टँगा था, उस निर्मला को तो इन्दिरा ने कई गुनी अधिक श्रद्धा से प्रणाम किया।

नृत्य की भंगिमा में उछलती हुई कुन्तल आई, सामने खड़ी हो गई !

दस

शर्मा और दास जी के सामने आमलेट की एक-एक प्लेट थी, बुआ के आलूचाप था।

सोनपुर रेलवे स्टेशन का रिफ्रेशमेण्ट रूम।

बाहर लखनऊ और पहलेज़ा घाट जाने वाली ट्रेनें खड़ी थीं। प्लेटफार्म पर दोनों ओर काफी चहल-पहल थी। अन्दर चाय और नाश्ता के लिए पाँच-सात टेबुलों पर मुसाफिर जमे थे। भीड़ नहीं थी। बैरे इत्मीनान से उन्हें सर्व कर रहे थे।

काले रंग का ओवरकोट, पश्मीने का कश्मीरी मफलर स्लेटी रंग का।··· शर्मा ने निचली पाकिट से गोल्ड फ्लैक का पैकेट निकाला और बैरे को माचिस के लिए संकेत किया।

एक सिगरेट दास को थमाता हुआ बोला, "इस लड़की ने तो मुझे ऐसा छकाया कि···"

"बड़े खानदान की थी न !···" बुआ ने आहिस्ता से कहा। टमाटर की मीठी चटनी उँगली से चाटती रही और शर्मा की ओर देखती भी रही।

सिगरेट एक तरफ रखकर तिलकधारीदास चार अण्डों के उस बड़े आमलेट में भिड़ा था। चाकू-सहित दाहिना हाथ उठाकर बोला, "कई रोज़ हो गए न ? कहाँ गई होगी भला ?"

बैरे ने आकर सिगरेट सुलगा दी···धुएँ के छल्ले ऊपर उठकर धीर-ललित भंगिमा में मँडराने लगे तो बुआ ने गर्दन ऊँची की, देख लिया उन्हें। बुआ को पहाड़ी शरद के कुन्तल मेघ याद आ गए।

शर्मा ने जलती सिगरेट को राखदानी के कन्धे पर रख दिया। बोतल का लेबुल देखकर ज़रा-सा सिरका उँडेल लिया प्लेट में···बुआ ने हाथ बढ़ाकर शीशियों से नमक और काली मिर्च की बुकनी छिड़क दी आमलेट पर···चाकू और काँटे में हरकत आई।

कुछ देर तक वे नहीं बोले।

शर्मा ने आमलेट खत्म किया। पानी पीकर सिगरेट की ओर दृष्टि डाली

और वह राख हो चुकी थी।

दास ने अपनी माचिस निकाली। सिगरेट का धुआँ फिर ऊपर उठा।

बुआ ने पूछा, "ट्रेन छूट नहीं जाएगी?"

"छूटने दो!" शर्मा बोला। दास ने घड़ी देखकर कहा, "बीस मिनट बाकी हैं—वो चाय आ रही है। इस स्टीमर को छोड़ देंगे तो दूसरा स्टीमर छै बजे से पहले नहीं मिलेगा। लेकिन आप तो शर्मा जी मुजफ्फरपुर जा रहे हैं न?"

"हाँ," शर्मा ने कहा, "आप इनको धर्मशाला पहुँचा दीजिएगा!"

"ज़रूर पहुँचा दूंगा। और, आप वापस कब आ रहे हैं?"

"कल शाम तक। देर हुई तो परसों ज़रूर पहुँच जाऊँगा।"

"हां, मकान के लिए कहा था न? 'पत्थर की मस्जिद' से आगे मिले तो लीजिएगा?"

"दूर पड़ जाता है।"

"आपके लिए तो फिर भी ठीक ही रहेगा।"

"लेकिन बांकीपुर में भी खोजना चाहिए।"

"बेशक!"

बुआ बोली, "पटना बड़ा ही रद्दी शहर है दास जी, झूठ कहती हूँ?"

"झूठ! बिलकुल झूठ!" तिलकधारीदास ने कहा और बूढ़ी उँगली के नाखून से ठनकारकर चांदी का रुपया बजाने की मुद्रा दिखलाते हुए बात पूरी की, "इधर देखिए देवी जी, यही एक ऐसी चीज है जिसकी बदौलत रद्दी-से-रद्दी जगह शानदार हो उठती है! इसके बिना स्वर्ग नरक बन जाता है। आपको लगता होगा पटना रद्दी शहर, मेरे खातिर तो वह इन्द्रपुरी है…"

शर्मा आंखें फैला-फैलाकर तिलकधारीदास की बातों का अनुमोदन कर रहा था। पटना की कृपा से उसके दर्जनों रिश्तेदार मालामाल हो गए थे। जान-पहचान के पचासों युवक सेक्रेटेरियट में सरकारी फाइलों पर पद्मासन लगाए बैठे थे। इन दस-बारह वर्षों में क्या से क्या हो गया था। हुकूमत की बागडोर अपने आदमियों के हाथों में आ गई थी। छोटा भाई सन बयालिस में चार-छै महीने के लिए जेल हो आया था, कांग्रेस की मेहरबानी हुई और अब वह नई दिल्ली पहुँच गया था। जिला के हाकिम सलाम ठोंकते थे।…सूझ-बूझ होनी चाहिए तुम्हारे अन्दर, ज़रा-सी हिम्मत से काम लो और फिर देखो कि कहाँ पहुँच जाते हो?…दास की बातें अच्छी लगीं शर्मा को।

चाय पीते-पीते शर्मा ने बुआ से कहा, "मैं मानता हूँ, पटना में गन्दगी बहुत है, कार्पोरेशन लँगड़ा है। रहने लायक मकानों की कमी अखरती है। मनबोध-लाल अकेला नहीं है, सैकड़ों मनबोधलाल हैं और कार्पोरेशन की छत्रछाया में किरायेदारों का रक्त निचोड़ते जाना ही उनका खास पेशा है…"

"लेकिन यही सब कुछ नहीं है," चाय खत्म करके तिलकधारीदास ने शर्मा की बात मुंह से छीन ली, "बोरिंग रोड और कदमकुआं जैसी साफ-सुथरी

बस्तियाँ भी इस शहर के अन्दर हैं। निकट भविष्य में ही नगर का कायापलट हो जाएगा। आज के सड़े-पुराने मकानात साफ-सुथरे और आरामदेह काटेजों में तबदील हो जाएँगे।"

शर्मा ने बिल चुकाया, बैरे को पचीस पैसे 'टिप' में दिए।

तीनों बाहर प्लेटफार्म पर आ गए।

बुआ को लगा कि नाहक उसने पटना को रद्दी शहर कह दिया, दास जी बुरा मान गए।

पहले जाने वाली ट्रेन में इंजन लग चुका था। सेकेंड क्लास के कम्पार्टमेंट में बुआ को बैठाकर दोनों पान की दुकान के सामने आ गए।

आईना काफी साफ और बड़ा था। उड़ती निगाहों से चेहरा देखा। शर्मा का दिमाग परेशानी का शिकार था, होंठों पर मुस्कान कहाँ से उभरती? दास जी ने भी अपनी संजीदगी बरकरार रखी।

शर्मा ने दास की ओर घूमकर कहा, "मुझे तो भई कम्पाउण्डर की बीवी पर शक है!"

"धत्…!" दास बोला और आईने में शर्मा का चेहरा देखता रहा।

पान वाले ने चार बीड़े थमाए।…ज़र्दा और सुपारी के टुकड़े।

चूना के लिए हाथ बढ़ाकर शर्मा ने आँखें नचाईं, "आपको किस पर शक है?"

"छोकरी खुद ही क्या कम चालाक थी?" दास जी ने कहा।

चूना चाटकर क्षण-भर बाद बोला, "जादूगर की डिबिया कहीं से हाथ लग गई हो और बाथरूम से उठाकर भुवन को उसी में रख लिया हो…"

"आप तो मखौल उड़ाने लगे मेरी बात का!"

"नहीं शर्मा जी, आपके इस शक की कुछ बुनियाद भी तो हो आखिर?"

"हमारी बहन का भी उसी औरत पर शक है।"

"मगर वो बेचारी भुवन को गायब करके क्या पा गई?…मान लीजिए कि कम्पाउण्डर की बीवी ने उस लड़की को कहीं छिपा दिया…किसी अदृश्य सुरंग के रास्ते, बाहर सुरक्षित स्थान में कहीं रख आई होगी…समझ में आ नहीं रही है बात शर्मा जी!"

शर्मा ने दास जी के कन्धे पर हाथ रख के कहा, "शक तो फिर शक हुआ! मैं यह कहाँ कह रहा हूँ कि उसी ने भुवन को गायब कर दिया। मकान-मालिक का भीतरी गोदाम कम्पाउण्डर के कमरे से मिला हुआ है, बीचों-बीच दीवाल है। दीवाल में खिड़की है। दोनों तरफ से ताला लगा रहता है। इस तरह हमारा उस पर सन्देह करना ठीक नहीं जँचेगा। लेकिन कम्पाउण्डर की बीवी को छोड़कर उस मकान के अन्दर और कौन थी जिससे भुवन का इतना अधिक प्यार था? राय न भी ली हो, बतलाकर ज़रूर गई होगी…"

तिलकधारीदास ने सिर हिलाकर कहा, "हाँ, यह बात समझ में आती है।"

इंजन ने सीटी दी। शर्मा ने कहा, "अब आप ट्रेन में बैठ ही जाइए।···चम्पा बेहद घबड़ा गई है, आप कल उसे अपने परिवार में ले जाइए। दिन-भर उन लोगों के साथ रहेगी, बच्चों से मन बहलेगा। औरतें चाहे कैसी भी परेशान हों, परिवार का वातावरण उनके लिए टानिक साबित होता है।"

तिलकधारीदास ट्रेन के अन्दर दाखिल हुए कि इंजन हरकत में आया।

ट्रेन सरकने लगी। शर्मा ने बुआ से कहा, "चम्पा, कल तुम दास जी के बासे पर हो आना!"

चम्पावती सिर हिला रही थी, कम्पार्टमेण्ट आगे सरक गया।

पन्द्रह मिनट बाद ही सबलपुर का दियारा था सामने। बलुआही मैदान ककड़ी-खरबूजा और परवल की बेलों से चितकबरा लग रहा था। माघ की पूर्णिमा गुज़र चुकी थी। हवा में खुनकी थी तो धूप में तीखापन आ रहा था। सूर्य की किरणों में गंगा की धार चमक रही थी, उस पार बांकीपुर के बिल्डिंग जगमगा रहे थे।

स्टीमर में भीड़ नहीं थी और वक्त पर खुला था।

दास जी ने कैण्टीन वालों को मक्खन-रोटी और चाय के लिए आर्डर दे रखा था। सेकेण्ड क्लास वाले गोल केबिन में दोनों आराम से बैठे थे।

चम्पा ने मुस्कराकर कहा, "आपको बन्द केबिन में यों बैठना अच्छा लगता है, मुझे तो यह अच्छा नहीं लग रहा है···!"

"अच्छा तो मुझे भी नहीं लगता है," तिलकधारीदास ने अखबार के कालमों से नज़र बिना उठाए ही कहा, "मगर यहाँ बैठने का आराम था न!···चाय पीकर बाहर डेक पर खड़े होंगे।"

चम्पा ने खिड़की से उचककर देखा : बालू वाले किनारे तेज़ी से पीछे खिसक रहे हैं।···नीली जलराशि के मोटे हिलकोरे झूलों की तरह स्टीमर को झुला रहे हैं और अब किनारा छोड़कर जहाज़ पटना की ओर होने लगा···इस पार से उस पार क्या सामने-सामने जा लगेगा?···पानी में कहीं-कहीं खूंटा गड़ा है, रहनुमाई के लिए!···दाहिनी ओर बीच में ही छोटा-सा दियारा निकल आया, ढाई-तीन बीघे की पट्टी होगी नाव की शकल की। फूस की दो छोटी झोंपड़ियाँ दिखाई पड़ीं···लँगोटी सूख रही है, सन्त-महात्मा ने आसन जमा रखा होगा।

चम्पा की इच्छा हुई कि वह भी इसी दियारे पर रह जाती···शर्मा जी को यह अच्छा लगेगा? नहीं अच्छा लगेगा। मैं खुद ही चार रोज से ज़्यादा रह लूंगी इन झोंपड़ियों में? सैर-सपाटे के लिए दो-एक दिन बीहड़-वीरान में भटक लेना और बात है···स्वर्ग में भी मुझे अकेले रहना पड़े तो थाइसिस हो जाएगी···भरे-पूरे परिवार में पैदा हुई थी न? आलू का भर्ता और भात पर ही बचपन नहीं गुजारा था मैंने···मीठा-तीता, तीखा-चरपरा, खट्टा-सोंधा वह कौन-सा रस है भला, जिससे जीभ अघा न चुकी हो?···पहनने के लिए बित्ते-भर चौड़ी दो लँगोटियाँ, ढाई-ढाई गज के दो टुकड़े! और क्या होगा झोंपड़ी वाले के पास? अपने तो

ट्रंकों में तीस-चालीस साड़ियां होंगी…

शान्ति-निकेतनी स्टाइल की किनारियों वाली चम्पई रंग की रेशमी साड़ी और उसी से मैच करती ब्लाउज़ पहने एक बंगाली लड़की डेक पर रेलिंग से लगी खड़ी थी। उधर नज़र उलझी तो चम्पा को अपनी जवानी के दिन याद आ गए।

कैण्टीन का बैरा ट्रे रख गया था।

दास जी ने मक्खन लगाकर पहली स्लाइस चम्पा को थमा दी, दूसरी को भी उसी के लिए रख दिया। बाकी दो अपने मुँह में।

चाय बनाई चम्पावती ने।

पापड़ वाला दिखाई दे गया, दो पापड़ लिए गए।

चम्पा बोली, "महेन्द्रू घाट और पहलेज़ा घाट के दर्म्यान जहाज़ की आधा घण्टा वाली ट्रिप मुझे बड़ी अच्छी लगती है। मैं तो महीने में एक आध बार यों भी आ जाती हूँ।"

"फिज़ूल भटकना पागलपन है देवी जी!" दास ने कहा।

चम्पा चुप रह गई।

अगले ही क्षण केबिन से बाहर आकर वह डेक की रेलिंग के सहारे खड़ी थी। लेकिन गंगा की मुख्यधारा अब पीछे छूट गई। महेन्द्रू घाट करीब आ रहा था।

पीछे-पीछे तिलकधारीदास भी डेक पर आया।

उतरने के लिए मुसाफिरों में सुगबुगाहट आई। देहाती लोग गट्ठर सिर और कन्धों पर लादे अभी से खड़े हो गए।

दास जी ने चम्पा से पूछा, "चलिए न आज ही हमारे डेरे पर! धर्मशाला में अकेले क्या कीजिएगा?"

"नेपालिन इन्तज़ार कर रही होगी, आज तो मुझे धर्मशाला ही पहुँचा दीजिए। कल ज़रूर आ जाऊँगी…" चम्पा को मनबोधलाल वाला मकान याद आ गया…कैसे-कैसे अजीब लोग उस कबाड़खाने में रहते हैं? अच्छा हुआ, छुटकारा मिला।

जेटी से जहाज़ आ लगा। दोनों बाहर निकल आए।

ग्यारह

आधा सेर हरे चने लिए थे, चूसने के लिए लाल गन्ना लिया था। गोभी, आलू, धनिया के पत्ते, हरी मिर्च, अदरक, आंवले…सब्जी वाला थैला भर चुका था। कम्पाउण्डर की बीबी की नज़रें अब बेर खोज रही थीं।

उम्मी की मां ने बैंगन-मूली, आलू-गोभी, सेम और धनिया के पत्ते लिए थे।

अब दोनों यों ही मुसल्लहपुर हाट के चक्कर लगा रही थीं।

उस भारी भीड़ में वदन से वदन छिलता था। सुवह पांच वजे से दिन के नौ वजे तक रोज़-रोज़ का यह नज़ारा था। पाँतों के दर्म्यान ज़्यादा से ज़्यादा जगह छेंक लेने की होड़ के लिए दूकानदारों के लाभ-लोभ ज़िम्मेदार न थे। नागरिक सहयोगिता के युग-सुलभ संस्कार का अभाव ही इसके लिए ज़िम्मेदार था।

किसी के वूट से पैर की उँगलियाँ दव गईं तो कम्पाउण्डर की वीवी ने चट से उसकी मफलर पकड़ ली, डाँटकर कहा, "अन्धे तो नहीं हो !"

"क्या हुआ !···क्या हुआ ?···" कई तरफ से आवाज़ें उठीं।

कम्पाउण्डर की वीवी मफलर का पल्ला छोड़कर वोली, "जाओ, तुमने मेरा पैर कचर दिया !···नाल ठुँकवाकर भीड़ के अन्दर क्या चरने आए हो ?"

भीड़ में से हँसी की मिश्रित आवाज़ उठी और वह मुच्छड़ जवान माथा झुकाकर आगे वढ़ चुका था।

कम्पाउण्डर की वीवी के कान में उम्मी की माँ ने कहा, "और अगर वह अड़ जाता ?"

"तो मैं उसे दो थप्पड़ लगाती," कम्पाउण्डर की वीवी वोली, "लेकिन वह समझदार था। शर्म के मारे चुपचाप आगे वढ़ गया। देखा ?"

उम्मी की माँ आगे वढ़ती हुई सोचती रही···'वलिहारी है जीवट की। तुम्हारे माँ-वाप स्वाभिमानी, मस्त और दवंग किस्म के लोग होंगे···झिझक, तंगदिली, डर और उदासी तुम से भागे-भागे फिरते हैं। खुशी और मस्तानापन तुम्हारे कदम-कदम पर निछावर हैं। मुर्दा के अन्दर जान फूंक दी तुमने···भुवनेसरी लाश नहीं तो और क्या थी ! चुटकी वजाकर उस मैना को उड़ा दिया तुमने ! और एक मैं हूँ, रोज लात खाती हूँ···कभी इन रगों में भी ताज़ा लहू दौड़ता था, अव तो वस दुर्गन्ध और वासी पानी भर गया है इनमें—उस हुक्के का पानी जिससे कई होंठ अघा गए हों !···"

"किस गुन-धुन में पड़ी हो !" कम्पाउण्डर की वीवी उम्मी की माँ का हाथ पकड़कर आगे वढ़ी, "और अव क्या लोगी दीदी ? क्या देख रही थीं ठिठककर ! लहसन ? चौलाई के दाने ? भिण्डी और तुरई के वीज ?···देखो, भीड़ छंटने लगी न ? आज उन्हें किसी दोस्त के यहाँ दावत है। हरे चने की घुघनी तलूंगी अपने लिए और दुपहर में चुन्नू की माँ के पास छत पर वैठकर गँडेरियाँ चूसूंगी··· दीदी, तुमको अच्छा नहीं लगता है गन्ना ?"

उम्मी की माँ कमज़ोर थी। हाट से वाहर निकलते ही उसकी निगाहें रिक्शा के लिए चौंकने लगीं। कम्पाउण्डर की वीवी के लिए तो मील-दो मील का फासला कुछ भी नहीं था लेकिन उम्मी की माँ के लिहाज से रिक्शा कर लेना ज़रूरी था।

घर लौट आईं दोनों।

उधर महिम फट पड़ा, "हज़ार वार कहा कि मुझसे विना पूछे यों निकल जाने की लत छोड़ो लेकिन कानों की लम्वाई के अन्दर वात जाए भी तो !···"

फीकी नज़रों से उम्मी की माँ ने महिम की तरफ देख लिया। दबी ज़ुबान से बोली, "ज़रा-सी देर हो गई। आप कपड़े साफ करोगे और नहाओगे, इतने में खाना पक जाएगा ···"

महिम ने गुस्से में कहा, "अच्छा, यह तो बतलाइए कि बड़ी चम्मच कहाँ फेंक आई? मर्तबान के अन्दर हाथ ही डालना पड़ा!"

सब्ज़ी वाला थैला नीचे रखकर उम्मी की माँ ने दीवाल वाली खुली अलमारी को उचक-उचककर देखा, आलों पर टोह ली, कहीं नहीं मिली चम्मच। उदास आवाज़ में बोली, "ट्रंक में एक और है, निकाल लूंगी···"

महिम ने पैर पटककर कहा, "जहाँ मिले, खोज लाओ! तुम फेंक आती हो, चोट्टे उड़ा ले जाते हैं—आइन्दा मेरी एक भी चीज़ मत छूना···"

कमरे के अन्दर और बरामदे में महिम चक्कर काटता रहा। फिर जाने क्या सूझा कि स्टोव से माचिस की तीली छुआ दी। पूछा, "क्या-क्या लाई हो?"

उम्मी की माँ ने थैला फर्श पर उलट दिया।

बैंगन, मूलियाँ, आलू, गोभी, सेम, धनिया के पत्ते सामने फैल गए—सीमेण्ट का पक्का फर्श भभाकर हँस रहा था।

कलाकार का दिल नाच उठा। आँख खुशी में फैल गईं। उम्मी की माँ के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "जियो रानी! तुम कितनी अच्छी हो मामी! कई दिनों से सेम याद आ रहे थे। महिम के मन की बात तुम्हारे सिवा और कौन समझेगा?"

अब मामी भी मुस्कराई। चाकू लेकर सेम तराशने बैठी। महिम के नहाने के लिए पानी गरमाना था। स्टोव जल चुका था, पतीला चढ़ा दिया।

"तुम नहीं नहाओगी?"

"पहले आप नहा लीजिए!"

"दोनों साथ नहीं नहा सकते!"

"तुम तो बच्चों जैसी बात करते हो!"

"तो मैं क्या बहुत बूढ़ा हो गया हूँ?"

"नहीं तो!"

"जानती हो, क्या उम्र है मेरी?"

"बतलाओ भी।"

महिम की पलकें शरारत में झिप गईं, बोला, "सोलह की।"

दोनों हँसने लगे कि पड़ोसिन की बच्ची प्याज़ माँगने आई। महिम ने घूरकर छोकरी की ओर देखा और मामी की नज़र बचाकर बाईं आँख दबाई। वह लेकिन महिम का इशारा पी गई और मामी की ओर देखती हुई खड़ी रही।

दस साल की साँवली-सलोनी देह—चेहरा साधारण। सिर के बाल घोंसले की याद दिला रहे थे। जाने कब से उनमें तेल नहीं पड़ा था! गर्दन में मैल की तह जमी थी। बड़े-बड़े गन्दे नाखूनों वाले हाथ-पैर खरोंच के निशानों की बदौलत ही ध्यान खींच रहे थे। बदरंग खाकी निकर और मर्दों के पहनावे की पुरानी

बनियान पहने हुए थी।

महिम ने कहा, "अन्दर उस कमरे में तख्तपोश के नीचे पड़े हैं प्याज़, जा, ले आ!"

वह कमरे की ओर जाने लगी तो मामी ने आँख से महिम को इशारा किया, "जाओ, देखो!"

महिम उसके पीछे कमरे के अन्दर गया।

बाहर निकली, हाथ में अच्छा-खासा बड़ा-सा प्याज़ था। मामी की भौंहों में बल पड़ गए—और, प्याज़ के नीचे लड़की की हथेली पर दस पैसे का सिक्का मुस्कराता रहा!

लड़की चली गई तो मामी ने कहा, "बचपन में ही भीख माँगने की ट्रेनिंग ले रही है।"

"क्या बुरा है?" महिम बोला, "इस युग में हर भले आदमी की इज़्ज़त भीख पर टिकी है। तरीके बदल गए हैं, भिक्षावृत्ति की व्यापकता तो कई गुनी अधिक बढ़ गई है—और मामी, मुझे बड़ी खुशी होती है कि ब्राह्मणों का हमारा यह शानदार पेशा हमारी सरकार तक ने अपना लिया है—पड़ोस की बच्ची तुम से प्याज़ या हरी मिर्च माँगने आती है और तुमको बुरा लगता है! हमारी सरकार के कर्णधार छोटे-छोटे मुल्कों की सरकारों के सामने हाथ फैलाते हैं जाकर, सोचो तो उनको कैसा लगता होगा?"

पहले तो इस प्रवचन का मतलब उम्मी की माँ की समझ में नहीं आया, थोड़ी देर बाद उसी कमरे के अन्दर घी लाने गई तो अच्छी तरह सब कुछ समझ में आ गया। मुसल्लहपुर के देशी शराबखाने की ७५ पैसे वाली वह बोतल अभी आधा घण्टा पहले ही खाली हुई थी और इस वक्त कोने में पुरानी ट्रंक से उठंगकर ऊंघ रही थी।

इस तरह की सैकड़ों बोतलें सीढ़ियों के नीचे वाली खाली जगहों में पड़ी थीं। कई बार मामी के मन में उन बोतलों को बेच देने का ख्याल आया था लेकिन शर्म के मारे असमंजस में पड़ी थी—लोग क्या कहेंगे? खरीदार ही भला क्या समझेगा?…आहिस्ता से उसने बोतल उठा ली, बाहर उन्हीं बोतलों के ढेर पर डाल दिया उसको। लगा कि दारू की बोतल नहीं, छछूंदर की लाश फेंक आई है, नफरत के मारे मामी का रोम-रोम झनझना रहा था। साँस यों घुट रही थी मानो नाक के छेदों में एक-एक छटांक ब्लीचिंग पाउडर ठूंस दिया गया हो!

नशे की हालत में महिम को घर के अन्दर अकेले नहीं छोड़ती थी वह। सारी-सारी रात, सारा-सारा दिन अगोरती थी। बाहर नहीं निकलने देती थी। गालियाँ और पिटाई झेलकर भी उसको बहलाने की कोशिश करती थीं। इसी साधना में एक बार सिर फट गया था और दूसरी बार दो दाँत टूट गए थे।

आज का नशा हल्का था। फिर भी मामी ने सोचा, "खिला-पिलाकर सुलो

दूँगी, गनीमत है कि बड़ी बोतल नहीं उठा लाए ! नहा रहे हैं ? अच्छा है, माथा ठण्डा होगा…कमजोर भी तो हैं…खाँस रहे हैं, ज्यादा तो न नहा लिया ?…ले ही आऊँ बाथरूम से।'

महिम नहाकर आ गया। कपड़े बदले।

कुर्ता उलटा ही डाल लिया था। मामी को हँसी आई, बोली, "ठीक से पहन लीजिए।"

खाना तैयार था। सेम और आलू की साग, परांवठे और धनिया-हरी मिर्च की चटनी।

खाकर वह बाहर जाना चाहता था, पान खाने। मामी ने नहीं जाने दिया। खुद जाकर ले आई दो बीड़े। बोली, "जर्दा नहीं लाई हूँ। पिपरमिंट डलवा दिया है…।"

जर्दा का अभ्यास नहीं था, शौकिया तौर पर महिम जी कभी-कभी ले लेते थे। नशे की स्थिति में लेने पर के निश्चित था।

जरा देर कविताएँ गुनगुनाते रहे फिर नींद आ गई।

स्नान-ध्यान, चौका-चूल्हा…सबसे निबटकर उम्मी की माँ बाल बाँधने बैठी, आईना सामने रख लिया था।

तेल से तर उँगलियाँ सूखे बालों में चिकनापन ला रही थीं।

आँखें आँखों से भिड़ती थीं बार-बार और बार-बार स्मृति के तारों में कम्पन पैदा होता था। आपबीतियाँ फिल्मी रील की तरह दिमाग के प्रोजेक्टर पर घूमने लगीं…

[चौबीस-पचीस की उम्र का स्वस्थ-सुन्दर युवक। चेहरा बिल्कुल महिम का है…मोटे फ्रेम वाला वही चश्मा, वे ही घुंघराले बाल, कालर वाला वही कुर्ता, चमड़े का वही फोलियो…

[आओ ! आओ ! अन्दर आ जाओ ! मैं अर्से से जिसका इन्तजार कर रही थी तुम वही हो न ? हो न वही ? सिर तो हिला दो, हाँ, वही हो ! और मैं तुम्हारी हूँ…तुम्हारे लिए ही मेरा जन्म हुआ था। तुम मुझसे आठ वर्ष बाद पैदा हुए थे न ? तो क्या हुआ ? वासना की कोई उम्र नहीं होती। जो प्यार को आयु के गज से नापते हैं उन जैसा कूढ़मग्ज दुनिया में भला और कौन होगा ?

[जिस व्यक्ति ने इस माँग में सिन्दूर भरा था, अपना कलेजा किसी और डाल में टाँगे रहता था। मैं उसके लिए मशीन थी, वंशवर्धन यन्त्र !…तीन बच्चे हुए। लड़की है, सोलह साल की…बाकी दोनों लड़के हैं…लड़की अभी-अभी तुम्हें झाँक गई है, नागिन-सी छरहरी और खूबसूरत है। मैं भी कभी इसी कदकाठी की थी। आँख-नाक-होंठ-गाल, सब कुछ तो मिलता है। हाँ, ठुड्डी पर गौर करोगे तो बाप ही की बेटी साबित होगी।

[दस रोज : बीस रोज : महीना : दो महीने…तीन, चार, साढ़े चार, साढ़े

चार महीने···तुम साथ रहते हो। चार-चार सौ, छः-छः सौ रुपये कमा लेते हो···सारी-की-सारी रकम मुझे थमा देते हो! बावा रे बावा, ऐसा भी क्या किसी ने आदमी देखा होगा? खुद अपने पर पचास रुपये भी नहीं लगाता है? गाँव के रिश्ते से वो तुम्हारे मामा निकल आए, तो लो, अब मैं तुम्हारी मामी हुई! हुई न मामी? नहीं हुई?

[मैं तुम्हारे साथ देवघर की एक धर्मशाला में हूँ···हफ्ता-भर बाद पण्डाजी ने हमारे लिए अलग मकान ढूँढ़ दिया है···छोटा लड़का और नौकर साथ है··· बदहज़मी थी न? अपना वह डाक्टर भी क्या हीरा आदमी है! बाबू जी (पति) ने लिखा है, "डाक्टर की राय है कि तुम दो-ढाई महीना और रहो···" पत्र पढ़कर तुम मुस्करा उठे हो और मैं गालों पर तुम्हारे लिए एक-एक चपत का इनाम रख रही हूँ! देवघर का पहाड़ी इलाका: चैत की चाँदनी रात: तुम और मैं···!

[हाय! यह तुम्हें क्या हो गया है? उचाट हो गई है मुझसे? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं करो! मैं तो बस खत्म ही हो जाऊँगी···मामी की अर्थी में कन्धे भी नहीं लगाओगे? इस तरह ऊब गए हो? ओह, अब मैं क्या करूँ? कैसे बाँधूं तुम्हारे इस मन को? उम्मी को कर दूं हवाले! वो शायद तुम्हें काबू में ले आएगी! मैं ठूंठ हो गई हूँ न? तो लो, मेरी कोंपल से अपनी तबीयत बहलाओ!···बहर-हाल, मुझसे पिण्ड नहीं छूटेगा तुम्हारा!

[उम्मी और महिम: महिम और उम्मी···रिक्शा पर साथ बैठते हैं, जाते हैं और आते हैं। नदी में तैरते हैं, सिनेमा देखते हैं, बाजार घूम आते हैं। पिता ने भी काफी छूट दे रखी है। कहते हैं, "देखो, हमारी उम्मी महिम से पेण्टिंग सीख रही है···ला बेटा, कापी तो लेती आ! देखा, कैसा कमाल कर रही है हमारी उम्मी? बतख, मोर, उल्लू, मैना···गुलाब, कमल, कनेर, चम्पा···हाथी ऊँट, बिल्ली, सूअर···मकान, जंगल, इन्द्रधनुप, नाव···रेखाएँ उम्मी की हैं तो रंग महिम के, उम्मी के रंग तो रेखाएँ महिम की!···और मैं उम्मी से जलने लगी हूँ।

[लो, उम्मी का महिम से सब कुछ हो गया! छै-सात महीने बाद उम्मी माँ होगी, तब मैं नानी कहलाऊँगी?···बिना शादी के ही वह माँ बन जाएगी? राम! राम! लोग क्या कहेंगे?

[भागलपुर में गंगा-किनारे बाबा बूढ़ानाथ के मन्दिर की अंगनई में उम्मी और महिम का व्याह हो रहा है···वो इसके खिलाफ थे, उनसे झगड़कर उम्मी को ले आई हूँ। माँग में सिन्दूर पड़ जाएगा तो नाहक एक जीव की हत्या तो न होगी! कितना सीधा है महिम, शादी के लिए चट से तैयार हो गया!

[महिम ने शुजागंज से रेलवे लाइन से दच्छिन भाड़े पर मकान लिया है लेकिन उम्मी अकेले कैसे रहेगी? एक दिन के लिए भी कभी अकेली रही नहीं आज तक!···मैं साथ रहने लगी हूँ···महिम और उम्मी और माँ यानी मैं··· उम्मी का सुहाग मेरे धैर्य को चुनौती दे रहा है। रात को बगल के कमरे में वे

दोनों जागते होते हैं, मैं चूड़ियों की खनखनाहट सुनती हूँ और मेरे अन्दर की प्यासी चुड़ैल का जंगली नाच शुरू हो जाता है···मैं घात लगाए रहती हूँ। उम्मी के सोते ही महिम को खींच लाती हूँ अपने विस्तरे पर···फिर क्या होता है? वासना की विकट आँच में झुलसी हुई राक्षसी उस मर्द को मथने लगी है···मथकर छोड़ देती है।···अतृप्त लालसा की यह ताण्डव लीला हर रात चलती है!

[एक रात उम्मी यह सब देख लेती है! माँ के प्रति वेटी की रग-रग में घृणा का ज़हर फैल जाता है और अगले ही दिन वह पिता के पास वापस आती है···महिम के लिए जो भी कुछ स्नेह था वह पूरी तरह फट चुका होता है।

[पिता उम्मी की चिकित्सा करवाता है : माँ वनने का खतरा टल गया : स्वास्थ्य-लाभ, धूम-धाम से अपनी विरादरी में प्रकट तौर पर शादी!

[उम्मी, तूने यह अच्छा वदला लिया!···अव मैं भला वापस जाती?··· महिम, तुम्हारे विना मैं कैसे ज़िन्दा रहती? दुनिया जो चाहे कह ले, मैं नहीं छोड़ती तुम्हें! ना!·· सास-दामाद का रिश्ता तो महज़ दिखावे का रिश्ता था हमारा, दरअस्ल हम पिछले जन्म के पति-पत्नी थे।]

कम्पाउण्डर की वीवी ने आकर याद दिलाया, "गन्ना नहीं चूसना है दीदी?··· आऊँ, मैं वाँध दूँ वाल? कव से वैठी हो···।"

"नहीं।" उम्मी की माँ वोली, "कई रोज़ से वालों में सावुन नहीं लगा सकी हूँ, कल आधा घण्टा माथा मलके नहाऊँगी। तुम चलो, मैं आती हूँ···"

वारह

छोटी साली का व्याह था। पत्नी और वच्चे उसमें शामिल होने वाले थे। दिवाकर को पाँच सौ रुपए का नोटिस प्रतिभामा की तरफ से मिल चुका था।

अतिरिक्त आय का कोई और सिलसिला दिवाकर के लिए रह नहीं गया था। गुप्ता ब्रादर्स, श्याम लाल एण्ड सन्ज़, साहित्य सदन, किताब कुंज आदि जितने भी प्रकाशक थे, स्कूली किताबों के पीछे पागल थे। उनका यह पागलपन औरों की निगाह में भले ही पागलपन हो, अपने लिए तो 'लाभ-शुभ' का नाटक था, लक्ष्मी का वरदान! प्रतिभाशाली युवक साहित्यकारों की किताबें अव्वल तो वे लेते ही नहीं थे और यदि लेकर छाप भी लेते तो अन्धेरे गुदामों में उन किताबों की रूह दस-दस साल तक घुटती रहती—मंज़ूरशुदा स्कूली किताबें इन प्रकाशकों के लिए खड़ी फसल थी और उस फसल को हथियाने के लिए वे क्या नहीं करते थे? 'शह और मात' का उनका यह आत्मघाती खेल आपस में तो चलता ही था, दूसरे धन्धों में लगे हुए लोग भी उनकी तिकड़मों का शिकार होते थे। कभी-कभी

पासा पलट भी जाता था, शकुनि और दुर्योधन खुद ही पिट जाते थे। इन प्रकाशकों में से दो एक की दिवाकर से अच्छी घनिष्ठता थी।

'34 से '46 तक—तेरह वर्ष साप्ताहिक 'शंखनाद' निकाला, चार वार जेल गए, एक दिवंगत क्रान्तिकारी मित्र की पत्नी का हाथ पकड़ा और द्रौपदी वनाकर छोड़ दिया···दो मिनिस्टरों के लिए अभिनन्दन-ग्रन्थ तैयार करवाए, एक वयोवृद्ध प्रकाशक की स्वर्ण जयन्ती मनवाई—कैंची और गोंद और रद्दी-पुरानी रीडरों से इन कई वर्षों में पचासों रीडरें औरों के नाम से तैयार की, प्रकाशकों से रुपए लिए···पिताजी और वड़े भाई की मृत्यु के वाद पालिटिक्स छूट गया। पटना आकर एक दैनिक समाचार-पत्र के टेवुल पर झुक जाना पड़ा···नौकरी और अटरम-शटरम दोनों साथ-साथ चलते आए। पीछे सरकारी सूचना विभाग में पैम्फलेट एडिट करने का काम मिल गया···दिवाकर जी की कमाई कम नहीं थी मगर खर्चा भारी था। परिवार का पिछला कर्ज चुकाया था, गांव में पक्की ईंटों के खपरैलों वाले दो मकान वनवा लिए थे, भतीजे को परचून की दूकान खुलवा दी थी। वड़ा लड़का एम० ए० के वाद दो साल हाई स्कूल की मास्टरी करता रहा और पब्लिक सर्विस कमीशन के अखाड़े में उतरा तो पहली वार नहीं, दूसरी वार छत्तीसवाँ पोज़ीशन पा गया और अव ज़िला सहरसा के किसी थाने में ब्लाक डेवलपमेण्ट आफिसर था। अव समय आ रहा था कि दिवाकर जी नौकरी छोड़कर फिर से सक्रिय राजनीति में कूद पड़ें और दो-ढाई साल की कसरत के वाद विधान सभा की उम्मीदवारी के लिए कांग्रेस में किसी-न-किसी गुट के ज़रिये अपने नाम की सिफ़ारिश हाई-कमाण्ड तक पहुँचवा दें और नई दिल्ली के नये देवाधिदेव शायद द्रवित भी हो जाएँ!···

इस तरह की वातें दिमाग में आतीं तो दिवाकर शास्त्री अपने अन्दर एक अद्भुत प्रकार की मादकता महसूस करते और अगले ही क्षण उनका पार्थिव ढाँचा रिक्शे पर लदकर कॉफ़ी हाउस की ओर जा रहा होता।

वी० एन० कालेज के सामने वाला कॉफ़ी हाउस···भुने हुए नमकीन काजू ···पानी का गिलास···सिगरेट का धुआँ और दिवाकर जी।

दिवाकर शास्त्री एम० एल० ए०···दिवाकर शास्त्री एम० पी०···दिवाकर शास्त्री एम० एल० सी०···काजू के दाने और पानी का घूंट! पानी का घूंट और सिगरेट का धुआँ!·· सिगरेट का धुआँ और कॉफ़ी की चुस्की!···कॉफ़ी की चुस्की और काजू के दाने···

"ए जी, सुनते हो!"

"क्या चाहिए?"

"काजू थोड़ा और ले आओ!"

"अच्छा!"

'अच्छा!···' दिवाकर के होंठ वुदवुदाए···अच्छा! अच्छा!···कान जाने कौन-सा शब्द सुनना चाहते थे, जाने किस प्रतिशब्द का मिठास—किस

प्रत्युत्तर की तरावट कानों को दरकार थे !…रेस्तराँ और होटलों में उत्तर भारत के बैरे जिस तरह मेज़ों पर ग्राहकों के सामने 'हज़ूर-हज़ूर', 'सरकार-सरकार' की झड़ी लगाए रहते हैं, दक्षिण भारत में वैसा रिवाज नहीं है। कॉफ़ी हाउस के उस कर्मचारी के मुँह से शायद इसी प्रकार का कोई शब्द दिवाकर के कान सुनना चाहते होंगे ! नहीं ? कॉफ़ी का गिलास खाली नहीं हुआ था लेकिन दिवाकर के दिमाग से राजनैतिक भविष्य की खुमारी का गुलाबी झाग गायब हो चुका था। मन में सन्तुलन का काँटा सही नुक्ते पर आ लगा तो शास्त्री को साफ़-साफ दिखाई पड़ा : १५ अगस्त, '४७ से पहले का वह राजनीतिक मैदान बहुत बदल गया है। दाँव-पेच बदल गए हैं। बोली बदल गई है। इशारा बदल गया है। खिलाड़ियों की नीयत बदल गई है…पहले वाला वह लक्ष्य जाने किधर ओझल हो गया ? ऊसर ज़मीन की मिट्टी घोलकर नमक बनाते-बनाते हज़ारों सत्याग्रही पुलिस की लाठियाँ खाते थे, विदेशी माल की खरीद-फरोख्त के खिलाफ दूकानों के समक्ष धरना देते थे, किसानों-मजदूरों और मध्यवर्ग के दीन-दुखी लोगों को मुसीबतों से छुटकारा पाने का आश्वासन मिलता था…उन दिनों राजनीतिक मैदान बिलकुल सपाट था…और आज ? खाइयाँ हैं, टीले हैं, बालू है, दलदल है, दरारें हैं, ज़हरीली घास है, कँटीले झाड़-झखाड़ हैं…आगे बढ़ने का मनसूबा तोड़ने के लिए वह कौन-सी अड़चन है जो इस मैदान के अन्दर नहीं है ?…हाँ, इतना तो है कि हर बुरे-भले काम में महाप्रभुओं का साथ देते रहोगे तो भौतिक लाभ अवश्य होगा। लड़का डिविज़नल आफिसर बन जाएगा, भतीजे को भारत सेवक समाज की ओर से ठेकेदारी मिल जाएगी, छोटा भाई मुखिया होगा और भांजे को चीनी मिल में क्लर्की मिलेगी !…अब और क्या चाहते हो दिवाकर ? ज़िला बोर्ड के चेयरमैन बनोगे ? शास्त्री की डिग्री है, ग्रेजुएट तो हुए ही ! तो फिर बिहार विश्वविद्यालय की सीनेट में नहीं आ सकते ?…

कॉफ़ी हाउस का बिल चुकता करके दिवाकर बाहर आ गया। पान के दो बीड़े लिए। निगाहें गांधी मैदान की तरफ उठीं, कानों के अन्दर लेकिन फिल्मी धुन घुस आई—

"मैंने जीना सीख लिया
पाप कहो या पुण्य कहो
मैंने पीना सीख लिया…"

[और, पीने के लिए उकसाने वाली इस कड़ी ने उसके ध्यान में महिम को लाके खड़ा कर दिया : हाँ, महिम ने पीना सीख लिया…अब तुम चाहे इसे पाप कहो या पुण्य कहो, महिम तो शराब नहीं छोड़ेगा ! छोड़ देगा ? अजी नहीं, तुम्हें अँगूठा दिखला-दिखलाकर पीता रहेगा।… महिम लेकिन दो-चार वर्ष से अधिक जिएगा नहीं ! उसे देखकर दिल को झटका लगता है, सीने की हड्डियाँ गिन सकते हो। हँसता है तो आँखें भयानक हो उठती है और गालों के गड्ढे देखकर पीले पत्तों के दोने याद आते हैं। कल शाम को ही तो मिला था महिम।

रकम पचाकर साहित्यकार 'विशुद्ध साहित्यकार' वनता है !—जाने कितनी पाण्डुलिपियाँ आप लोगों की कृपा से प्रकाशक की दराज में अधूरी पड़ी होंगी !"

पान लेकर दिवाकर ने माथा हिलाया। वोला, "साहित्यकार को भी ठीक इसी तरह प्रकाशकों से वड़ा डर लगता है। प्रकाशकों के प्रति उसकी भी सौ शिकायतें हैं···लेकिन मैं आपसे एक वात पूछता हूँ···आप इस धन्धे में आखिर आए ही क्यों ?"

दास जी हँसने लगा, वोल गया, "मैं इस धन्धे में नहीं आता तो आपसे इतनी कितावें भला और कौन लिखवाता ?"

दिवाकर को भी हँसी आ गई।

हाल की छपी एक किताव का कवर देखता रहा फिर अच्छी छपाई और कागज के अकाल पर वातें होती रहीं।

थोड़ी देर वाद नेपाली नौकर ने आकर कहा, "हजूर, खाना तइयार है।"

दिवाकर तिलकधारीदास से एक वात और पूछना चाहता था। नेपाली से कहा, "चलो, आता हूँ।"

उठते-उठते दास जी से दवी आवाज में पूछा, "उस लड़की का पता चला ? आपकी तो शर्मा जी से मुलाकात होती होगी !"

तिलकधारी ने कहा, "वह तो भागलपुर मामा के पास है। चिट्ठी आई है।"

"चलिए, अच्छा हुआ। फिक्र थी।"

"फिक्र की तो वात ही थी न !"

"लेकिन इस तरह विना वतलाए क्यों चली गई ?"

"क्या वतलाया जाय ?"

दास जी को यद्यपि स्वयं ही नहीं मालूम था कि भुवन कहाँ है। दिवाकर से यों ही कुछ वतला रहे थे। कपार छूकर उँगली को नचाया। दिवाकर ने इस पर कहा, "नहीं, नहीं, उसका माथा खराव नहीं था ! हाँ, किस्मत खोटी हो सकती है।"

"किस्मत क्यों खोटी रहेगी ?"—तिलकधारीदास वोला, "शर्मा जी की हैसियत मालूम नहीं है आपको ?"

शास्त्री जी चुपचाप दूकान से नीचे उतर आए, शर्मा जी की हैसियत के खिलाफ कुछ भी कहना असंगत और अनावश्यक लगा।

तेरह

संजीवन-आश्रम।

"सपरिवार ठहरने का स्थान और भोजनालय। अनाथ महिलाओं द्वारा

संचालित"—वाहर तख्ती पर छोटे अक्षरों में लिखा था।

पटना सिटी और गंगा का किनारा···नगर की उत्तरी छोर पर घनी आवादी वाला मुहल्ला। वाढ़ से सुरक्षा के लिए वँधे हुए पक्के घाट, नीचे उतरने के लिए सुन्दर सीढ़ियाँ।

उत्तर तरफ सामने मुँह करके देखने पर जौ-गेहूँ की पक्की फसलों से सुनहला दियारा·· ज़रा हटकर गंगा की पतली धारा।

वाँकीपुर वाली उस धर्मशाला से हटकर वुआ और नेपालिन संजीवन-आश्रम आ गई थीं, शर्मा जी पहुँचा गए थे। यह कोई नई जगह नहीं थी उनके लिए, कई वार आ चुके थे, रह चुके थे।

स्त्रियों की तादाद ज़्यादा थी, मर्द कम थे। शक्लें नई-नई दिखाई पड़ती थीं। मकान पुरानी किस्म का दुतल्ला था। ऊपर दस कमरे, वीच की खाली जगह छोड़कर चारों तरफ वरामदा था। नीचे गुदाम के लिए वड़े-वड़े हॉल थे, वीच में पक्की फर्श वाला आँगन। आँगन के एक कोने में नीम का पुराना पेड़ था। पेड़ की जड़ में तीन-चार पत्थर···गोल-गोल लोढ़ानुमा। एक त्रिशूल गड़ा था। हनुमान की मूर्ति थी जिसका सिन्दूर फीका पड़ गया था और झरे हुए सूखे पत्तों से पैर ढक गए थे।

पहचान की तीन औरतें वुआ से वातें कर रही थीं। उनमें से एक युवती और स्वस्थ थी, सुन्दर नहीं तो असुन्दर भी नहीं। दूसरी थी भुवनेसरी की तरह कम उम्र की और खूवसूरत। तीसरी अधेड़ थी, साधारण।

कम उम्र वाली लड़की ने पूछ दिया, "वुआ, भुवन अव नहीं लौटेगी?"

वुआ तो चुप रही, युवती ने तड़ाक् से जवाब दिया, "वो तेरा खसम होती थी? जा, नहीं लौटेगी।"

"साथ सोती थी एक-दूसरी से चिपटकर"—जो अधेड़ थी वह वोली और दांत निकालकर खि-खि-खि करने लगी।

छोकरी ने कहा, "भुवन का मन नहीं लगता था यहाँ···।"

युवती ने भौंहें नचाकर कहा, "तेरा मन लगता है?"

अधेड़ औरत हँसने लगी, "क्यों नहीं लगेगा मन? नया-नया मर्द मिलता है, नई-नई वोतल और नया-नया पानी···।"

"छोकरी ने उसके चेहरे की ओर देखा, तमककर कहने लगी, "तेरी तो तवीयत मर्दों से अघा गई है न? उस रोज शाम को छंटी दाढ़ी वाला वुड्ढा जमादार कहाँ लिए जा रहा था टमटम पर वैठाकर? और उस रोज गंगा की रेती पर धूप में किसकी मालिश कर रही थी? और···।"

नजरों के इशारे से वुआ ने डाँटा, छोकरी चुप हो गई।

नेपालिन चाय ले आई। सिर्फ वुआ के लिए एक कप।

दो घूंट पीकर वुआ ने युवती से कहा, "वात कूटने से क्या होगा! जो जहाँ है, गर्दन तक कीचड़ में धंसा है। रंडियाँ नहीं होंगी तो भी उनका धन्धा जिन्दा

रहेगा। हमने बड़े-बड़े ज्ञानी देखे हैं। वे बातें तो इतनी अच्छी करते हैं कि सुन-सुनकर निहाल हो जाओगी, लेकिन···"

"सब समझती हूँ चम्पा बहन," युवती ने बीच में ही कहा और कप की ओर उँगली उठाकर चाय की याद दिलाई—"ठण्डी हो जाएगी!"

चम्पा चाय पी चुकी तो पान लिया। क्षण-भर बाद गम्भीर होकर कहने लगी, "मर्द और औरत एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते। एक की बोली दूसरे के लिए शहद है। एक की चितवन दूसरे के लिए बिजली है। उसकी गन्ध इसके लिए चन्दन है। यह छू देगी तो उस ठूँठ से टूसे निकल आएँगे।"

युवती हँसकर बोली, "तुम्हारी यह बात कानों को तो बहुत अच्छी लगती है मुदा दिल इस पर क्या कहता है, बतलाऊँ?"

"बतलाओ कुन्ती, जरूर बतलाओ!" चम्पा ने कहा।

कुन्ती कहने लगी, "अगर ऐसी बात है तो क्यों औरतें बिकती हैं? क्यों उन पर डाक बोली जाती है? क्यों उन्हें बाड़े के अन्दर कैद रखा जाता है? मामूली भूल-चूक पर औरतों को क्यों घर से निकाल देते हैं? चम्पा बहन, हम क्या अच्छे घर की अच्छी बहुएँ नहीं होतीं? मुझे और तुम्हें किसने बर्बाद किया? अच्छा चम्पा बहन तुम अपने इस जीवन से खुश हो?"

चम्पा ने माथा हिलाकर कहा, "नहीं, खुश नहीं हूँ। कोई भी औरत खुश नहीं है कुन्ती। अच्छे घर की अच्छी बहुओं से जाकर पूछो, वे भी खुश नहीं हैं। हाँ, हमारी घुटन और किस्म की है तो उनकी घुटन और ही किस्म की होगी···!"

वह अधेड़ औरत इन बातों में दिलचस्पी नहीं ले सकी, उठकर चली गई। लड़की अन्दर कमरे में जाकर नेपालिन से बातें करने लगी। चम्पा ने इधर-उधर देखा, कोई नहीं था। आश्वस्त होकर कहा, "अब तुमसे मैं क्या छिपाऊँ, भुवनेसरी हमेशा के लिए चली गई। शर्मा जी ने उसके लिए बड़ी अच्छी जगह ठीक कर दी थी। मालदार आदमी था। पत्नी चल बसी थी, दो छोटे बच्चे थे। उनकी और अपनी देखभाल के लिए उसको किसी सयानी औरत की आवश्यकता थी। बच्चे बड़े हो जाते तो पाँच-सात वर्ष बाद वह उसी स्त्री से शादी कर लेता। बाप ने तीन साल तक स्कूली किताब छाप-छापकर लाखों की रकम बटोरी थी, एक बड़े शहर में कई क़िता मकान थे। शर्मा जी बात पक्की कर चुके थे। नुमायश घूमते समय अलग से आकर एक बार वह भुवन को देख भी गया था···अब इसको क्या कहोगी! हाथों में अमृत का घड़ा लेकर विधाता सामने खड़ा था और तुम झाड़ू मार-मारकर उस बेचारे को खदेड़ आईं।"

कुन्ती मन ही मन बोली, 'शाबाश भुवन, शाबाश! उस खूसट को तुमने बड़ी सफाई से अँगूठा दिखा दिया, बलिहारी है! शर्मा जी भी खूब छके! चले आए बाप और चाचा बनने वाले!·· इस बुड्ढे की नाक में छल्ला डालकर, भुवन, तुमने अपनी ही नहीं बल्कि सभी औरतों की नाक रख ली!···'

प्रकट तौर पर उसने कहा, "मैं तो भुवन को चालाक समझती थी, वो तो भारी गधी निकली चम्पा बहन !"

फिर कान के पास मुँह ले जाकर बोली, "मेरे लिए भी शर्मा जी से कहो न ? तंग आ गई हूँ इस आश्रम से ! गंगा जी में छलाँग लगाए बिना क्या छुटकारा नहीं मिलेगा दीदी ?"

चम्पा ने ढेर-सी साँस छोड़ी, गर्दन उठाकर देखा। नील-निर्मल आकाश और विराट् सूनापन, चम्पा को लगा कि यह उसकी ही रिक्तता असीम और नीलाभ बनकर ऊपर छाई हुई है। दिन का वक्त है। ढलता सूरज पश्चिम की तरफ मकान की ओट में चला गया है। तारे नहीं हैं तो नीलिमा और सूनापन दिल पर और भी गहरा असर डालते हैं···कुल मिलाकर कितना अच्छा लगता है···खो गई चम्पा ! गर्दन उसी तरह ऊपर की ओर थी, आँखें उठी हुईं !··· दिल के अन्दर किसी खोह से आवाज आई : चली गई, भुवन तुमने ठीक ही किया ! मालदार तो मतलब का ही सौदा करता है···तुमसे तबीयत भर जाती तो दूसरी का सौदा करता ! पेट भरा हो और टेंट में काफी रकम हो तो हरी-हरी चरना चाहेगा आदमी···नहीं, तुमने अच्छा किया भुवन ! इस कुम्भीपाक से निकल भागीं, खूब किया !···

कुन्ती ने कन्धे पर हाथ रखकर चम्पा को हिलाया।

"क्या सोच रही थीं ?"

"कुछ नहीं।"

"नहीं बतलाओगी दीदी ?"

"बात भी तो हो कुछ !"

"आसमान की ओर मुँह करके क्या देख रही थीं ?"

"कुछ नहीं कुन्ती, आसमान में भला क्या देखूंगी ?"

"छिपाती हो मुझसे ! कोई याद आ रहा होगा···।"

चम्पा को हँसी आ गई, बोली, "कुन्ती, भारी शैतान है तू !"

कुन्ती ने खिलखिलाकर कहा, "इस मकान में राम जी की दया से देवी और शैतान दोनों साथ रहते हैं। वे एक ही चौके में खाना खाते हैं, एक ही नल का पानी पीते हैं। दोनों का दिल एक है···।"

चम्पा ने उसके सिर पर हल्की चपत बैठाई, "पाजी कहीं की !"

कुन्ती ने कहा, "चलो, अन्दर ताश खेलें !"

"नहीं, अभी नहीं।" चम्पा बोली, "कुछ काम है कुन्ती !"

"अच्छा !" मुँह बनाकर कुन्ती ने कहा और चौके की ओर चल पड़ी।

रसोइया नौजवान था। अच्छी शक्ल-सूरत वाला। बीच में आकर चाबी ले गया था। दुबारा आकर चम्पा से पूछने लगा, "रात क्या तरकारी बनेगी ?"

चम्पा ने कहा, "आलू और गोभी का फूल ले आओ; बथुआ मिले तो रायता बना लेना।"

"अच्छा हजूर !"

"कुन्ती से नहीं पूछ लिया ?"

"पूछा तो था, आपके पास भेजा है···।"

रसोइया चला गया।

चम्पा के दिमाग में भुवन घूम रही थी। बरामदे में तख्त तो था, गद्दा नहीं था उस पर। लेटने का जी कर रहा था। वह अन्दर कमरे में गई कि नेपालिन से कहकर गद्दा डलवा लेगी बाहर।

लेकिन उस दूसरे गद्दे पर नेपालिन और वह लड़की सो रही थी, गपशप करती-करती जाने कब सो गई थीं !

चम्पा को कुछ याद आ गया, ट्रंक खोलकर तीनों लिफाफे निकाल लिए जिनके अन्दर बहुत सारे फोटो रखे थे !

मोढ़ा खींचकर बैठ गई और फोटो देखने लगी।

बड़ी आँखों वाली युवती : चेहरा बड़ा ही आकर्षक है···मनोरमा, तू जालन्धर पहुँच गई न। तेरा मर्द सरदार है। कलकत्ते में बारह वर्ष टैक्सी चलाई है। पहले लाहौर और जमशेदपुर रह चुका है। सरदार ने कई जगहों पर औरतें खोजीं, छांटकर आखिर तुझे ले गया। हमारी माँग ढाई हजार की थी, सरदार ने अठारह सौ दिए···शर्मा जी को डेढ़ सौ का सूट दिया और मुझे सौ की साड़ी दी थी। सलवार और कुर्ती—साटन के उस सूट में तू कितनी जच रही थी !

खूबसूरत जवान : बाल कितने अच्छे हैं···ब्रजनन्दन, तुम मुझे कितना प्यार करते थे ! हमारा रहना होता था उन दिनों पूर्णिया के भट्ठा बाजार में, तुम कटिहार से आकर अक्सर मिल जाते थे। समस्तीपुर से बदलकर कटिहार आए थे न ? पार्सल क्लर्क की ड्यूटी थी···कपड़े, चीनी, फल, मेवे, बिस्कुट के डिब्बे, लालटेन, टार्च···तुम कितनी चीजें लाते थे ? तुम्हारी दी हुई टार्च तो बल्कि आज भी मेरे पास है ! तुम्हारी बीवी आ गई फिर हमारा मिलना-जुलना बन्द हो गया। दरअसल वह बड़े ही शक्की स्वभाव की औरत थी। पिछले साल सोनपुर में तुम दिखाई पड़े। दस वर्षों में क्या से क्या हो गए हो ! पूछा तो बोले —सात बच्चों का बाप हूँ, जिन्दगी-भर क्या वही कंदर्पनारायण बना रहूँगा ? और, भाभी तुम भी ढल गई हो, आईना नहीं देखा है ?···हाँ, ब्रजनन्दन देखा है आईना। रोज देखती हूँ और रोज याद आते हो। तुम मेरे लिए सखा भी थे, सखी भी थे ! झूठ कहती हूँ ? उकड़ूँ होकर और पीठ पर झुककर बाल नहीं संवारते थे मेरे ? जूड़ा नहीं बाँधते थे ? चोटी नहीं गूंथते थे ? बंगला नाटकों के लिए ग्रीनरूम में अभिनेत्रियों का केश-विन्यास तुम्हारे ही हाथों सम्पन्न होता था··· लेकिन यह भागलपुर की बात है और तब तुम कालेज के छात्र थे···ओह, हम एक-दूसरे के दिल में कितना अधिक धंस गए ! कितना अधिक मालूम कर लिया था हमने एक-दूसरे के बारे में !

औरतों के तीन चेहरे : अकेली मन्नो से जितना लाभ हुआ, उतना भी इनसे

नहीं हुआ…एक को बनारस में किसी संन्यासी के हवाले किया, दूसरी वहीं एक खत्री की रखैल बन गई और तीसरी कलकत्ते में है एक अफ़गान के पास। पन्द्रह सौ भी आए होते !

एक नेपाली परिवार के साथ : दार्जिलिंग…सहेली के भाई की शादी में पहाड़ पर गई थी। विराटनगर ससुराल था, दार्जिलिंग मायका।

दो छोटे बच्चे : दार्जिलिंग वाले उसी परिवार के दोनों बच्चे हैं…बटन-जैसी छोटी आँखों वाला यह बच्चा कितना हिल-मिल गया था मुझसे ? देखते ही लपकता था !

छोटा कुत्ता : विराटनगर…सहेली के ससुराल वालों का कुत्ता। इसे उन लोगों ने किसी भोटिया व्यापारी से खरीदा था…नवाबजादे मेरी गोद में सो जाते थे आकर ?

शर्मा जी : जयनगर…अनाथ औरतों की खोज-खबर लेने का प्रयास आपने यहीं से आरम्भ किया। जयनगर के नजदीक भारत-नेपाल सीमा से लगी हुई एक बस्ती थी जो शर्मा जी की बहन के अधिकार में थी। इनकी जवानी बहन की ज़मींदारी का इन्तजाम करने में गुज़री। जिला का सदर मुकाम होने की वजह लहेरिया सराय जान-आना लगा ही रहता था। बीस रुपए पर तीन कमरे ले रखे थे। भूली-भटकी और शरण में आई हुई औरतों के लिए पहला विश्राम-केन्द्र उन्हीं कमरों को बनाया गया…'अनाथ महिला सेवासदन' मुहर बन गई, साइनबोर्ड टँग गया…मुहर तो अब भी कहीं पड़ी होगी !

वर-वधुओं के दो जोड़े : आर्यसमाज मन्दिर…ये विवाह शर्मा जी ने करवाए थे। दान के तौर पर संस्थाओं को पाँच सौ की रकम दिलवा दी थी। स्त्रियाँ समाज से बहिष्कृत और आश्रयहीन थीं, पुरुष सिन्ध और पंजाब के थे, जिनका उधर कहीं ब्याह नहीं हो सका था…हवनशाला के इर्द-गिर्द पत्तों और कागज की झण्डियों वाली रस्सियाँ टँगी हैं, बीचों-बीच हवन-कुण्ड दिखाई पड़ रहा है।…

शर्मा जी का बड़ा लड़का : सूट-बूट डाटकर इण्टरव्यू के लिए जा रहा है…आजकल छोटानागपुर के किसी थाने में दारोगा है।

कालीमाई की प्रतिमा और भैरवी : बागबाज़ार के पास हुगली के किनारे…। शोभाबाज़ार में बासा था। जाड़े की धूप में अक्सर मैं नहाने निकल जाती थी। कातिक से लेकर चैत तक हुगली का पानी खूब साफ रहता है, हरा और निर्मल। जीभ निकाले काली मइया और जटाओं वाली आनन्द भैरवी…रेलवे लाइन से ज़रा हटकर पीपल के नीचे धूप में बैठकर अपने बदन को तेल से चुपड़ा करती थी, कमर से पतला गमछा लिपटा रहता था सारे अंग दिखाई पड़ते थे। इक्के-दुक्के अधेड़ और युवक करीब में खड़े होकर रेलिंग से लगे-लगे इस भैरवी की तरफ देख लेते थे। मुझसे बातें करती थी। वह बंगला बोलती थी, मैं हिन्दी। बीच-बीच में चीख पड़ती—माँ काली, रोक्खे कोरो…साँवली सूरत, गोल चेहरा, छोटी-छोटी आँखें, सामने वाले दो दाँत बाहर निकले हुए थे। भाल

पर सिन्दूर का बड़ा टीका। एक रोज एकान्त पाकर बोली, "तुम्हारी तो अभी चढ़ती उम्र है, आनन्द के समुद्र में गोते लगाने की उम्र। माँ काली के चरणों की छाया में एक-से-एक रत्न चमक रहे हैं। बेटा, तुम उनसे खेलो···रत्नों की चमक से तुम्हारे दो काम होंगे, शोभा भी बढ़ेगी और तरावट भी पहुँचेगी। मेरे साथ घर चलो, वहाँ माँ काली की पुरानी प्रतिमा है। हमारी अपनी माँ! एक बार तुम चलो तो, दर्शन तो करो एक बार!···" मैं गई जरूर भैरवी के पीछे-पीछे लेकिन चुड़ैल ने बेहद परेशान किया। बासा पर बक्स में गहने कितने हैं, रकम कितनी है, रिश्ते के कै ठो मर्द यहाँ कलकत्ते में रहते हैं, माँ काली के उसके अपने भक्तों से रात को मैं किस तरह और कब-कब मिला करूँ, भक्तों से मिलना अस्वीकार कर देने पर माँ मेरा कितना अहित कर सकती है·· आदि-आदि बीसियों बातें भैरवी ने समझाने की कोशिश की और दो घण्टे तक मेरे माथे का गूदा चाटती रही! डर के मारे भैरवी के हाथ का न कुछ खाया, न पिया। मूर्ति मामूली थी और मकान भी मामूली था। एक कमरे के अन्दर चटाइयों से घेरकर माँ की कुटिया तैयार की गई थी। मुझे उस वक्त दिन के एक बजे भक्त या रत्न तो न दिखाई दिए, हाँ डाकिनी-शाकिनी कोटि की चार-छै औरतें अवश्य झाँक गईं। गाँठ में दो-ढाई रुपए थे, फूल और माला के नाम पर भैरवी ने ले लिए···चलते वक्त जरा-सा प्रसाद और यह फोटो मिला। पीछे पता चला, वह तो रंडियों का मुहल्ला था। ठेठ सोनागाछी।

पिछले दस-बारह वर्ष के अपने भी कई फोटो थे। शर्मा जी के दो-तीन फोटो और थे। तीन-चार फोटो सरदारों के थे। पूरी डील और भरे चेहरे वाले दो फोटो एक अलग कवर में नजर आए···इतने में घिसा हुआ एक पुराना फोटो सामने आ पड़ा: बी० ब्रह्मचारी: पीठ पर नाम लिखा था।

बी० ब्रह्मचारी: डरावनी आँखें, मोटी लम्बी नाक, चौड़ी पेशानी। गया जिले में पुश्तैनी जमीन से किसान बेदखल किए जाने लगे तो उन्होंने सामूहिक सत्याग्रह का रास्ता अपनाया। यह आन्दोलन जमींदारों के खिलाफ तो था ही; सरकार के भी अनुकूल नहीं था। शासक बातें तो किसानों के हित की करते थे, अमल में लेकिन जमींदारों को नव्वे प्रतिशत समर्थन हासिल था। दमन की दुहरी चक्की में पिसते-पिसते धीरज का बाँध टूटा तो देहात का एक युवक कानून का रास्ता छोड़कर हमेशा के लिए फरार हो गया और डाके डालने लगा···गया, आरा और डाल्टनगंज के जिलों के अन्दर जहाँ कहीं डकैती होती थी, बी० ब्रह्मचारी का नाम उस सिलसिले में जरूर लिया जाता। दस वर्ष पहले यह कैसा भोला-भाला युवक था! स्वामी सहजानन्द वाली किसान रैली में शामिल होने के लिए टेकारी से आया, पचीस-तीस किसान साथ थे। बाकी लोग तो लौट गए, ब्रह्मचारी लेकिन किसी काम से रुक गया था। शर्मा जी के छोटे भाई से जान-पहचान थी। जेल में वे साथ रहे थे। हमारे साथ वह चार ही रो
कितना अच्छा था। फोटो ठीक नहीं है, उचक्का जैसा लगता

के साथ वह पुरानी निशानी भी हमारे लिए छोड़ गया था। दो-तीन वर्ष पहले की वात होगी, एक डकैती में ग्रामीणों से घिर गया और गुत्थमगुत्थे में जान गई। अखवारों में खवर छपी तो हमें मालूम हुआ···कैसा अनाड़ी था, सुअर की तरह भाले से घायल होकर प्राण गँवाए।

लड़की की आँखें खुलीं तो हड़वड़ाकर वह उठ वैठी, नेपालिन को भी उठा दिया।

वुआ की तरफ देखकर नेपालिन वोली, "अन्दर आकर जाने कव से वैठी हैं, वताया भी नहीं।"

लड़की वाहर की ओर देखने लगी।

वुआ ने फोटो सहेजते हुए कहा, 'देखती क्या हो, दिन डूवने ही वाला है।"

नेपालिन ने लड़की के कन्धे पर हाथ रखा। पूछा, "मीना, चाय पियोगी?"

मीना ने कहा, "चलो उधर, रसोई में वनवाते हैं।"

नेपालिन वुआ की ओर देखती रही। वुआ वोली, "तवीयत सुस्त है मेरी। खाना नहीं खाऊँगी, दूध पी लूंगी।"

"अभी चाय तो पीयोगी?" मीना ने पूछ लिया।

वुआ ने माथा हिलाकर हामी भरी और ट्रंक वन्द किया।

शाम को आश्रम का मैनेजर चम्पा से मिलने आया।

इधर-उधर की साधारण वातचीत के वाद चम्पा ने कहा, "इस तरह वैठाकर औरतों को कव तक खाना देते रहिएगा? इनसे कुछ-न-कुछ काम भी तो लीजिए!"

"औरतें आखिर औरतें ही ठहरीं," मैनेजर वोला, "इनसे नाव की रस्सी तो नहीं खिचवाएगा कोई? आपने इस वारे में काफी-कुछ सोचा होगा, कुछ वतलाइए न!"

चम्पा ने कहा, "आप पढ़े-लिखे लोग जव चुप्पी साधे हुए हैं तो मुझ जैसी जाहिल औरत क्या सोचेगी? मर्द जो भी लीक खींच देते हैं, हमारे लिए वही वज्रलेख हो जाता है। हमारी अकल गौरैया की तरह फुदक सकती है, दूर की उड़ान नहीं भर सकती।"

"क्या कीजिएगा ऊँची उड़ान भर के?" मैनेजर ने चश्मा को फिर से एडजस्ट किया और कहने लगा, "हवाई दुर्घटनाएँ वढ़ गई हैं। गरुड़ के पंख झुलस जाएँगे तो भगवान की क्या गति होगी?"

चम्पा ने महसूस किया, मैनेजर वावू मुंद्रिका प्रसाद विनोद के मूड में हैं। मीना का गाना सुनने या कुन्ती से गप्पें उड़ाने आए होंगे। मन की सुस्ती हो तो आदमी सोचना भी नहीं पसन्द करता।

प्रसंग वदलकर मैनेजर ने पूछा, "शर्मा जी कव तक आएँगे?"

"दस-वारह रोज़ लग जाएँगे।" चम्पा वोली। कुछ रुककर कहा, "नेपालिन का जी उचटा-उचटा-सा रहता है, उसके लिए जल्दी कोई प्रवन्ध करना चाहिए।"

"दिल्ली जाना पसन्द करेगी ?"

"क्यों नहीं पसन्द करेगी, रिश्ता अच्छा होना चाहिए।"

"ठेकेदार है, अच्छी तरह रखेगा।"

"रह लेगी।"

"चार रोज़ के बाद भाग तो नहीं आएगी ?"

"मार-पीट करेगा तभी भागेगी। औरतें सहारा पा जाती हैं तो उसे आसानी से छोड़ना नहीं चाहती हैं।"

"मीना क्यों भाग आती है बार-बार ?"

"उसे इसके लिए तैयार किया गया होगा···।"

"लेकिन आश्रम की बदनामी होती है, अधिकारियों को बार-बार खेद प्रकट करना पड़ता है।"

चम्पा चुप हो गई। नाटे कद की सुडौल देह, गेहुँआं सूरत और चाँद-सा मुखड़ा···कमलपत्ती आँखें, नुकीली नाक, पतले होंठ, साँचे में ढले हुए गाल··· माथे पर माँग के करीब दस-बीस बाल सफेद पड़ चुके थे। मुँह खोलती थी तो छोटे-छोटे मोतिया दाँत जगमगा उठते थे। उम्र पैंतीस से ज्यादा नहीं होगी।

कुछ सोचकर बोली, "कोई समझदार और सुन्दर नौजवान मीना को मिल जाता तो भागने की नौबत शायद ही आती !"

मैनेजर ने रसोइया को पान के लिए आवाज़ दी और सिर के अधपके बालों पर हाथ फेरता हुआ कहने लगा, "समझदार और सुन्दर नौजवान कारखाने में नहीं ढलते हैं देवी जी ! समाज जिनको वापस लेने के लिए तैयार नहीं होता उन लड़कियों के लिए दुनिया गेंद का मैदान है, सौ ठोकरों के बाद भी निश्चय नहीं की गोल पर पहुँच ही जाएँगी ! हमारी तो कोशिश है कि वे सही ठिकाने पा जाएँ, किसी न किसी सहारे पर टिक जाएँ···आश्रम हमेशा घाटे में रहता है, दस-बीस सज्जनों की मेहरबानी है और दान मिल जाते हैं वर्ना दम घुट गया होता संस्था का।"

चम्पा के होंठ बन्द थे, खिड़की से आसमान की ओर देखती रही। मन-ही-मन उस धूर्त व्यक्ति को जवाब देने लगी : संस्था का दम क्या घुटता ? दम हो भी तो आखिर ? हाँ, तुम्हारा और रायसहाब का और महाशय मन्नूलाल का और बैजनाथ शर्मा का दम ज़रूर घुट जाता। आश्रम के दरवाज़े सदा के लिए बन्द हो जाते। कुन्ती और चम्पा जैसी औरतें सड़क के किनारे फुटपाथ पर बैठकर पकौड़े छानतीं, बड़े घरों में महाराजिन या आया का काम करतीं, अपनी पसन्द के मुताबिक किसी चपरासी या ड्राइवर या पुलिस वाले या किरानी के साथ रह जातीं···। तुम्हारे जैसे दलालों की जूतियाँ चूसने की अपेक्षा फिर भी वह जीवन कहीं बेहतर होता, कहीं ताज़ा !···

रसोइया पान दे गया। मैनेजर ने कोट की पाकिट से ज़र्दा की शीशी निकाली। कमरे की दीवारों पर गौर किया, तीन कलेण्डर टँगे थे। नया एक ही

था, साहित्य सौरभ ग्रन्थागार वाला। वाग में हरी घास पर पैर के वल आधी लेटी हुई तरुणी गुलाव की पंखुड़ियाँ गिन रही थी, पैरों के नजदीक छोटा-सा एक खूबसूरत कुत्ता हवाई चप्पल से खेल रहा था···अमलतास और गुलमुहर के पेड़ों की कतारें दूर तक जाकर क्षितिज में खो गई थीं। पुराने कलेण्डर अर्धनारीश्वर और राधा-कृष्ण वाले थे। कलेण्डरों के अलावा खूँटियों पर कपड़े टँगे थे। खूब साफ और वड़ा आईना लटक रहा था।

उठकर मैनेजर आईने के सामने खड़ा हुआ, अपना चेहरा देखने लगा। वाल गंगा-जमनी हो रहे थे, चाँद गंजी थी। कानों की कगारों पर चार-चार वाल थे, वे भी पक रहे थे। उम्र पचास-साठ के दर्म्यान की होगी, स्वास्थ्य अच्छा था।

उधर से हार्मोनियम की आवाज आने लगी। मैनेजर चम्पा की ओर मुखातिव हुआ, वोला, "अभी तो इजाजत दें!"

चम्पा ने कहा, "मीना इधर अच्छा गाने लगी है, सुना है?"

मैनेजर हँसने लगा, "फिल्मी गीत अच्छा गाती है।"

"नहीं, मैं तो भजन सुनती हूँ उससे।" चम्पा वोली।

मैनेजर ने आँख दवाकर कहा, "शर्मा को नहीं सुनवाया है भजन?"

चम्पा गम्भीर हो गई, आहिस्ते से वुदवुदाई, "कई वातों में आपकी और शर्मा जी की रुचि मिलती है।"

मैनेजर मुस्कुराता हुआ कमरे से वाहर निकला।

रात का खाना सचमुच ही चम्पा ने नहीं खाया। थोड़ा-सा दूध पीकर लेट गई। दिन में सोई नहीं थी, जल्दी ही पलकें झिप गईं।

नेपालिन को लगा कि वुआ सारी रात अच्छी तरह सोएगी, वीच-वीच में न तो उसे उठना ही पड़ेगा और न वकवास ही सुननी पड़ेगी। वह खुद दिन में दो घण्टे सो चुकी थी। रात का खाना खाकर उसने वुआ की मशहरी तान दी और स्विच आफ करके मीना से वातें करने चली गई।

दो घण्टे तक नींद का गाढ़ापन वना रहा फिर वह पतली हो गई क्योंकि साथ वाले कमरे से मीना के ठहाकों की आवाज आई थी। आँखें मूँदे रहने पर भी अव चम्पा उस तरह सो नहीं सकी और मन विगत जीवन की गलियों में भटकने लगा:

लाड़-प्यार में पला हुआ वचपन। मामूली पढ़ाई-लिखाई। शादी और शादी के दो साल वाद पति का देहान्त। कभी माँ और सास के साथ रहना, कभी देवर और देवरानी के साथ। तरुणाई के शुरू में जीजा ने छू दिया था। पहले दिल को, फिर देह को।···वाद में तीन साल का वच्चा छोड़कर जीजी का चेचक की वलि चढ़ना। जीजा और उनकी वूढ़ी माँ—मेरी सास और माँ ने जीजा का अनुरोध मान लिया।

वच्चे की देखभाल के लिए मैं जीजा के साथ रहने लगी हूँ···

मैं जीजा जी को मौके-बेमौके छेड़ देती हूँ···

जीजा हँस पड़ते हैं लेकिन बढ़ावा नहीं देते हैं।

ड्यूटी के बाद ओवरटाइम खटके वह वापस आते हैं। नाश्ता और चाय के बाद लेट जाते हैं। मैं उनकी पीठ और कमर और जांघ चांपती हूँ। मेरे हाथ कमर और जांघ के बीच ही लौट आते हैं बार-बार, जीजा लेकिन मेरा हाथ खींचकर बार-बार अपनी पीठ की तरफ कर लेते हैं···।

जाने उन्हें क्या अनुभव होना है कि फुर्ती से उठ बैठते हैं।

इशारे से पानी मांगते हैं पीने के लिए। लाकर पानी का गिलास थमाती हूँ, चार-छै घूंट लेकर जीजा मेरी आँखों में देखते हैं।

मैं नजरें झुका लेती हूँ, लाज की हल्की लाली शायद गालों पर उभर आई हो!

"चम्पा!"

"जी!"

"एक बार इन बाँहों के अन्दर लेकर मैंने तुम्हें चूम लिया था, याद है?"

मैं कुछ नहीं बोलती हूँ। जीजा की ओर देख भी नहीं रही हूँ।

"नहीं याद है?"

मैं माथा हिलाकर स्वीकार का इंगित देती हूँ।

वह पानी पीकर गिलास पलंग की पाटी पर रखते हैं, कहते हैं, "चार-पाँच वर्ष हो गये न? तुम्हारी शादी नहीं हुई थी और बातें करते-करते अक्सर मेरे हाथ बहकने लगते थे···तुम्हारी आँखों में प्रतिरोध की चिनगारियाँ छिटक उठतीं और मैं सकपकाकर हाथ हटा लेता था! याद है चम्पा?"

"जी, सब याद है।"

"लेकिन अब स्थिति बदल गई है!"

"मैं समझी नहीं जीजा जी!"

वह गम्भीर हो गए हैं, मैं उनकी ओर देख रही हूँ।

"बतलाइए न!"

"कोई खास बात तो है नहीं, चम्पा!"

"आपके लिए न भी हो, मेरे लिए तो होगी।"

"तो सुनो···

"आलोक कहाँ है?"

"बाहर पड़ोस में खेल रहा होगा···।"

"और माँ?"

"चौके में। आग सेंक रही है।"'

" माँ ने शादी के लिए कई बार कहा है···'

" इस बारे में तुम्हारी राय जानना चाहता हूँ···"

मेरी छाती धड़कने लगी है। आशा-मिश्रित कौतूहल मेरी साँसों को भारी बना रहा है, "जीजा, क्या इस धुली माँग में फिर सिन्दूर डालेंगे!"

"अगर माँ का डर न होता तो निश्चय ही मैं तुमसे सादी कर लेता। माँ को मैं ईश्वर से अधिक मानता हूँ चम्पा, माँ की रुचि और अनुकूलता पर मैंने अपनी पसन्द को कभी नहीं लादा···"

मैं चुप हूँ। आशा गायब हो चुकी है, कौतूहल शेष है, नाखून से नाखून खरोंच रही हूँ। जीजा जी दीवाल से पीठ टिकाकर बैठ गए हैं और लगातार मेरे चहरे की ओर देख रहे हैं, मैं लेकिन आधी-तिरछी नजर से ही उनकी मुखमुद्रा बीच-बीच में भाँप लेती हूँ···"ऐसी क्या ऊटपटाँग बात मैंने कर दी ! अच्छे-भले तो लेटे पड़े थे, ज़रा देर और चाँप देती तो बदन हल्का हो जाता···"

"तुम मेरा बदन चांपती हो, रग-रग की मालिश हो जाती है चम्पा ! बड़ा ही सुख मिलता है। काश, मैं तुम्हारी माँग में फिर से सिन्दूर भर सकता !"

"अब समझी ! आपको अपने पर भरोसा नहीं है जीजा जी ? चांपते समय मेरे हाथ बहक जाते हैं ?···अच्छा, अच्छा ! मैं आपके मन की शान्ति नहीं छीनूंगी जीजा जी, परेशान नहीं करूँगी आपको ! अभी और कै वर्ष जिएगी आपकी माँ ? बाद में पत्नी के तौर पर मुझे स्वीकार कीजिएगा न ?

"नहीं ? स्वर्ग में तब भी बुढ़िया का दिल दुखेगा ?"

"माफ कीजिए जीजा जी, आप पहले दर्जे के डरपोक हैं ! कायर हैं ! शहद मिलाकर इस ईमान को चाट जाइए !"

"चम्पा, मैं तुम्हें फुसलाकर खाई के अन्दर ढकेल दूं ? जवानी की तुम्हारी इस कसमसाहट को बढ़ावा दूं ? मैं भी विधुर हूँ, तुम्हीं विधवा नहीं हो चम्पा ! अपने पर अंकुश दो, काबू में रखो अपने को !"

"जी, महात्मा जी ! चार वर्ष पहले गर्मी की उस दुपहरिया में अपना यह अंकुश कहाँ भूल आए थे आप ? मैं क्वाँरी थी, मुझे पता नहीं था कि वासना का स्वाद क्या होता है !···"

जीजा पलंग से उतरकर मेरे पैर पकड़ लेते हैं।

"क्षमा करो चम्पा, मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकूंगा !"

मैं पैर छुड़ाकर दो कदम पीछे हट जाती हूँ···कायर कहीं के !··· उस व्यक्ति के प्रति मेरे अन्दर घृणा उबल पड़ती है। वहीं कोने में थूककर बाहर निकल जाती हूँ···।

अगले ही रोज माँ के पास चली आती हूँ।

दो महीने बाद सिलीगुड़ी।

एक खटिक नौजवान मुझे भगा लाया है।

[आम का बाग···आधा हिस्सा चाचा का था। हमारा हिस्सा अपने नौकर अगोरते थे। चाचा ने अपना हिस्सा खटिकों को बेच दिया था, टिकोरे थे तभी। वैशाख की दुपहरी परिवार के लड़के-लड़कियाँ वहीं बाग की तरावट में गुज़ारते थे। खटिकों में से एक नौजवान अच्छी डीलडौल का और बेहद खूबसूरत था। ज़ालिम बांसुरी कितनी बढ़िया बजाता था। एक रोज शैतान ने काले-काले

जामुन क्या खिला दिए, मुझे खरीद ही लिया ! हम मौका निकालकर अकेले में मिलने लगे···।

[मैमनसिंह, ढाका, राजशाही···विहार के हजारों मुसलमान इधर आकर आवाद हो गए हैं। खेती-बाड़ी, होटल, पुलिस, मिलिटरी, हाट-बाजार, प्रेस, अदालत-कचहरी और सरकारी सेक्रेटारियट···पूर्वी पाकिस्तान में कहाँ नहीं विहार की कच्ची उर्दू गूँजती है !]

सफदर ने होटल खोल लिया है। दो नौकर रख लिए हैं। रहने के लिए अलग मकान मिल गया है। आमदनी बढ़ती गई तो मेरे गहने भी बढ़ते गए।··· सफदर की माँ आई है और मैं भी तो माँ हो गई हूँ ! बच्ची का नाम सफदर ने सकीना रखा है मैं लेकिन उसे शकुन्तला कहती हूँ।

रकम की गर्मी और दोस्तों की सोहबत···सफदर खूब ढालने लगा है। माँ मना करती है तो उसे गालियाँ देता है···गिन-गिनकर नोटों की गड्डियाँ बनाना और झूमना और गुनगुनाना—

'रोते भी रहे, हँसते भी रहे,
हम तुझसे मुहब्बत करके सनम
रोते भी रहे, हँसते भी रहे !
इक दिल के टुकड़े हजार हुए
कोई यहाँ गिरा, कोई वहाँ गिरा···'

बच्ची के बाद बच्चा पैदा हुआ है। सफदर ने नाम रखा रुस्तम, मैं लेकिन उसे विजय ही कहूँगी !—नशे में धुत्त होकर एक बजे रात को घर लौटता है और पीटने लगता है मुझे। कभी-कभी तो बेदम कर डालता है···हे भगवान, कौन-सा पाप किया था पहले जनम में कि इस राक्षस के साथ भाग आने की कुबुद्धि मन में आई !

चौथे साल सफदर का नाना मरता है। थाना इस्लामपुर जिला पटना से तार पहुँचता है। हिन्दुस्तान आने की वीसा मिल जाती है, बच्चों को लेकर महीना-भर के लिए हम ढाका छोड़ते हैं।

कटिहर जंक्शन में छै घण्टे का वक्त मिलता है। सफदर एक दोस्त से मिलने बाजार गया कि मेरे दिमाग में बन्धन से छुटकारा पाने की लालसा काँप उठती है।

—बच्चों का क्या होगा ?

—उन्हें छोड़ दूँगी।

—छोड़ दोगी ?

—नहीं···हाँ !

—कैसा पत्थर का दिल पाया है ! छिः।

—मगर अब की लौटकर जो पाकिस्तान गई तो सफदर नहीं देगा।

—पीट-पीटकर दुम्बा बना डालेगा ?

—बस, ज्यादा मत सोचो ! भाग चलो चम्पा···

—लेकिन बच्चों को छोड़कर एक माँ के पैर उठेंगे ?

—ज़हन्नुम में जाओ !

—बच्चे···शकुन्तला और विजय !

—मेरी कोख जल नहीं गई है, बच्चे फिर हो जाएँगे···हिन्दुस्तान में रहूँगी तो कभी उस गाँव की मिट्टी छू सकूँगी जहाँ जन्म हुआ था ।

समय नहीं है। मैं जल्दी करती हूँ।

सफदर की माँ दोनों बच्चों को सँभाले हुए है। मैं पाखाना जाती हूँ और नहीं लौटती हूँ।

तीसरे दिन शाम को हावड़ा, बिना टिकट आई हूँ न ! जगह-जगह उतरती आई हूँ···

जय काली माई !

भीख से पेट नहीं भरता है। माँ, तुम्हारी लम्बी जीभ ने लोगों की दया-माया भी पी ली है न ?

—ओए, तू भीख क्यों माँगती है ?

—यह उम्र तेरी माँगने की नहीं है···

—तो क्या करूँ सरदार जी ?

—खाना पकाएगी ?

हामी भरी और पीछे-पीछे आ गई सरदारों के। बालीगंज में बोण्डेल रोड से ज़रा हटकर एक पुराने मकान में सरदारों का अड्डा। बाहर एक-न-एक टैक्सी खड़ी रहती है।

बहुत आराम से हूँ। एक नहीं, तीन-तीन सरदार मुझ पर कुर्बान हैं ! इस निगोड़ी देह को मानो भालू ने ही फूँक मार दी है···स्वास्थ्य में ऐसा निखार कभी नहीं आया था। पता नहीं, भाग्य में क्या बदा है ! फूलकर मैं भैंस तो नहीं हो जाऊँगी ?

जापानी रेशम की सलवार और कुर्त्ता, मखमल की ओढ़नी···चम्पा, तूने कड़ा भी पहन लिया है और कृपाण भी लटका ली है। अमृतसर की सरदारनी बन गई है, शाबास चम्पा !

—होटल चला रही है तू ?

—शराब और कबाब और···

—हाँ, सब कुछ···

—तीन बंगाली लड़कियाँ भी रख ली हैं न ?

—तो क्या हुआ !

एक मद्रासी ऐंग्लो-इण्डियन छोकरा···।

एक नेपाली युवक···

उत्तर प्रदेश का एक अधेड़···

क्लर्क, व्यापारी और शिक्षक—हुस्न की झील में तीनों गोते खाने लगे। सरदार की ओर से हरी झण्डी का सिगनल मिला, तू आगे बढ़ी चम्पा! दो साल के अन्दर उनका काफी सत निचुड़ गया। नेपाली की खुखरी मद्रासी के गले पर खेल गई। शिक्षक ने व्यापारी को चकमा दिया और सरदार को नई छोकरी मिली। खुखरी वाला फरार होकर नेपाल भाग गया। मुकदमा चला तो शिक्षक को दो वर्ष की सजा हुई और तुझे छै महीने की···बंगाली छोकरियों में से दो को पुलिस ने अपनी तरफ न मिला लिया होता तो तू अदालत के कटघरे से बेदाग निकल आती चम्पा! पन्द्रह-बीस हज़ार जमा हुए थे, सारी रकम लेकर सरदार चम्पत हो गया·· चल, यह भी अच्छा ही रहा!

जेल से रिहा होने पर मास्टर जी से मिलती हूँ।

मास्टर जी मुझे शर्मा जी का पता देते हैं।

हावड़ा में शर्माजी का घी का कारोबार है। मैं उनसे सलकिया में मिलती हूँ।

शर्मा जी जेल-गेट पर जाकर मास्टर जी से मिलने जाते हैं और मेरे बारे में पूछताछ कर आते हैं। मैं शर्मा जी के साथ रहने लगी हूँ।

[यह आठ साल पहले की बात है, अब तो घी का धन्धा शर्मा जी का भतीजा सँभालता है। खुद वह आजकल कोई खास काम-काज नहीं करते हैं। बीच-बीच में ठेकेदारी के लिए दो-एक टेण्डर जरूर भर देते हैं। टिप्पस भिड़ती है और काम बन जाता है।]

लोगों को मेरा परिचय वह 'रिश्ते की एक बहन' के तौर पर दिया करते हैं। यों मुझसे उनकी उम्र दस-बारह वर्ष ही ज्यादा होगी और वह विधुर नहीं हैं। साथ रहते-रहते नेह-छोह हो ही जाता है, मैं अपने प्रति शर्मा जी के अन्दर गाढ़ी ममता पाती हूँ। उन्हें प्राणेश्वर या जीवन-धन तो मैं शायद ही कभी कह सकूँ किन्तु मेरे आश्रयदाता और प्रतिपालक अवश्य हैं। मैं बहुत भटक चुकी हूँ, अब विश्राम चाहती हूँ। तन-मन लगाकर शर्मा जी की सेवा मैं करती रहूँगी···

[साल-डेढ़-साल हम कलकत्ता और रहे। फिर बिहार रहने लगे। बिहार का शायद ही कोई जिला छूटा हो। पूर्णिया, सहरसा, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, मोतिहारी, छपरा, राँची, हजारीबाग, जमशेदपुर, पटना···कहाँ नहीं रहे हैं शर्मा जी? नेपाल के विराटनगर, जनकपुर, वीरगंज भी उनकी प्रिय जगहों में से रहे हैं। पश्चिम में काशी और प्रयाग, पूरब में कलकत्ता···अनाथ औरतों के सिलसिले में शर्मा जी ने एक बार कहा था: पहले इस काम के पीछे मेरी कोई कमजोरी भी रही होगी, अब लेकिन मैं इस काम को 'अत्यन्त पवित्र एक राष्ट्रीय कर्तव्य' मानता हूँ चम्पा! मेरे लिए यह एक ऐसा हाबी है जिसके साथ सामाजिक दायित्व भी जुड़ा है···और कितनी तत्परता से शर्मा जी इस काम को करते आए हैं!]

—वो देखो, शर्मा की नई रखैल···

—अच्छी चिड़िया फाँस लाया है पट्ठा···

—चाल तो देखो, रूपनगर की रानी लगती है···
—बच्चू की मौसी है, इलाज कराने आई है···
—हाँ भई, शर्मा खुद ही भारी डाक्टर हैं न !
—उसकी अपनी डिस्पेन्सरी है···
—पेटेण्ट दवाइयों के उसके पार्सल कहाँ-कहाँ नहीं जाते !
—लेकिन यह हिरनी किस जंगल की है ?
—पुट्ठे पर सील-मुहर होगी, देख के बतलाऊँगा···
—चल-चल, यह मुँह और मसूर की दाल···
—इसे मैंने किसी फिलिम में देखा है···।
ये तो मर्दों के रिमार्क है।

औरतें क्या कहती हैं मेरे बारे में ?
—सोनागाछी से आई है···
—छूत की बीमारी है, इससे अलग ही रहो दीदी।
—देखना, यह राँड कहीं तुम्हारी मुन्नी को न फुसला ले !
—आंख है कि चित्ती कौड़ी है···
—डायन कितनों की कलेजियाँ चबा गई होगी···
—कैसी बहन है कि भाई को ही खसम बना रखा है···
—ऐसा न कहो; बड़ी देर तक पूजा-पाठ करती है।
—पाठ दिन को, पूजा रात को।

[शर्मा जी की घरवाली तक मेरी शिकायत पहुँची। बड़े घराने की उस चतुर महिला ने ननद की मार्फत पति को कहलवाया : गाँव-घर से दूर दुनिया-भर की खाक छानते-छानते जीवन गुज़र गया, देह की मशीन को आराम भी मिलना चाहिए और तेल-पानी···मुसीबत की मारी एक भली औरत छाँह में आ गई है तो अब उससे दुराव रखना ठीक नहीं, साथ रहती है तो रहे···लेकिन विधवा है; माँग में सिन्दूर न डलवा ले आप से !]

तो, सिन्दूर क्या मैं खुद ही नहीं अपनी माँग में भर ले सकूँगी ?

विधवा तो मैं कभी रही नहीं ! पति के बाद मन ही मन जीजा के प्रति समर्पित हो गई। जीजा ने जवाब दे दिया तो सफदर पर फिदा हुई, उसने चम्पा को कुलसुम बना लिया···कानों में छल्ले डलवा दिए चाँदी के···छेदों के निशान नहीं हैं इन कानों में ?

कुलसुम के बाद ? सतवन्त कौर ? हाँ, सतवन्त क़ौर। सरदारों ने मुझे यही नाम दिया था।···सतवन्त कौर ने दम तोड़े तो चम्पा फिर से जी गई···शर्माजी ने पहली बार पूछा तो चट् से मैंने अपना नाम बतलाया, चम्पा। अब मैं ज़िन्दगी-भर 'चम्पा' ही रहूँगी या फिर यह नाम बदलना पड़ेगा ?

हाँ, मैं विधवा नहीं हूँ। सपने में भी अपने को मैं विधवा नहीं मानती।

शर्मा जी पति नहीं हैं मेरे, उनका आसरा है मेरा पति। बच्चे नहीं होंगे, मैंने आपरेशन करवा लिया है न? शर्मा जी मुस्कराकर कभी-कभी कह देते हैं : चम्पा, तुमने प्रकृति के नियम का उल्लंघन किया है!···कुदरत के अनुशासन में नश्तर मारा है···तभी तो बीमार रहती हो···मैं गलत कहता हूँ चम्पा?

—आप भला गलत कहेंगे शर्मा जी? नहीं शर्मा जी, नहीं! आप बिलकुल ठीक कहते हैं···मगर मैं भी गलत नहीं कहती शर्मा जी, आपरेशन करवा लिया, अच्छा किया मैंने। नहीं? अच्छा नहीं किया?

मैं हँसती हूँ, शर्मा जी गम्भीर हो जाते हैं।

शर्मा जी हँसते हैं, मैं गम्भीर हो जाती हूँ।

[अब रत्ती-भर भी अभिलाषा माँ बनने की रह नहीं गई है मेरे अन्दर। क्या होगा माँ बनकर? बालीगंज में थी तो एक बच्चा हुआ था, आठ महीने जिया···अच्छा हुआ कि नहीं रहा। बच्ची नहीं हूँ कि फिर वैसी गलती करूँगी। उस ऐंग्लो-इण्डियन मद्रासी छोकरे ने एक बार कहा था : ज़िन्दगी का कोई सिलसिला जम जाए तभी बच्चा पैदा करो, बच्चे को किस्मत के भरोसे छोड़ दोगी तो वह छछूंदर या लोमड़ी की तरह मारा-मारा फिरेगा तो फिर गालियाँ तो डार्लिंग तुम्हीं सुनोगी न?]

शर्मा जी ज़िम्मेवार आदमी हैं। मेरे बच्चे को या बच्ची को पाल-पोसकर और पढ़ा-लिखाकर वह आदमी ज़रूर बना देते··मगर उसके लिए सामाजिक सम्मान कहाँ से खरीद लाते शर्मा जी?

शर्मा जी मुझे उदास देखते हैं। सोचते हैं, बच्चा होता तो उसमें उलझी रहती।

मैं उन्हें गम्भीर पाती हूँ। सोचती हूँ, इनकी यह छिछली भावुकता इन्हें ही मुबारक हो! मैं खिलखिला उठती हूँ, कहती हूँ—तबीयत बहलाने के लिए गुड्डा ला देंगे प्लास्टिक का?

वह उठकर चल देते हैं। रंज हो गए?

—बड़ी निठुर हो तुम चम्पा!

—निठुर? क्या किया है मैंने आपका?

—मेरे लिए नहीं, खुद अपने लिए निठुर हो तुम!

—आपके सिर पर अखरोट फोड़ूँ तो कहना···

—अपना सिर लहूलुहान किए बैठी रहेगी तो मुझसे देखा जाएगा?

—लेकिन, प्लास्टिक का गुड्डा आप ज़रूर ले आइए! चाबी से चल-फिर सके, हँसे-बोले और आप बाहर से आएँ तो दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते करे!

शर्मा जी बाहर निकल जाते हैं।

तुम शर्मा जी का मखौल उड़ाती हो चम्पा? यह अच्छा नहीं है चम्पा! बुजुर्ग की मूंछों के बाल दुधमुंहे बच्चों की खातिर खेल में आ सकते हैं, तुम उन्हें मत नोचो चम्पा! यह लत महंगी पड़ेगी रानी जी···तुम्हारी जैसी तो कइयों

—चाल तो देखो, रूपनगर की रानी लगती है···
—बच्चू की मौसी है, इलाज कराने आई है···
—हाँ भई, शर्मा खुद ही भारी डाक्टर हैं न !
—उसकी अपनी डिस्पेन्सरी है···
—पेटेण्ट दवाइयों के उसके पार्सल कहाँ-कहाँ नहीं जाते !
—लेकिन यह हिरनी किस जंगल की है ?
—पुट्ठे पर सील-मुहर होगी, देख के बतलाऊँगा···
—चल-चल, यह मुँह और मसूर की दाल···
—इसे मैंने किसी फिलिम में देखा है···।
ये तो मर्दों के रिमार्क है।

औरतें क्या कहती हैं मेरे बारे में ?
—सोनागाछी से आई है···
—छूत की बीमारी है, इससे अलग ही रहो दीदी।
—देखना, यह राँड कहीं तुम्हारी मुन्नी को न फुसला ले !
—आँख है कि चित्ती कौड़ी है···
—डायन कितनों की कलेजियाँ चबा गई होगी···
—कैसी बहन है कि भाई को ही खसम बना रखा है···
—ऐसा न कहो, बड़ी देर तक पूजा-पाठ करती है।
—पाठ दिन को, पूजा रात को।

[शर्मा जी की घरवाली तक मेरी शिकायत पहुँची। बड़े घराने की उस चतुर महिला ने ननद की मार्फत पति को कहलवाया : गाँव-घर से दूर दुनिया-भर की खाक छानते-छानते जीवन गुज़र गया, देह की मशीन को आराम भी मिलना चाहिए और तेल-पानी···मुसीबत की मारी एक भली औरत छाँह में आ गई है तो अब उससे दुराव रखना ठीक नहीं, साथ रहती है तो रहे···लेकिन विधवा है; माँग में सिन्दूर न डलवा ले आप से !]

तो, सिन्दूर क्या मैं खुद ही नहीं अपनी माँग में भर ले सकूँगी ?

विधवा तो मैं कभी रही नहीं ! पति के बाद मन ही मन जीजा के प्रति समर्पित हो गई। जीजा ने जवाब दे दिया तो सफ़दर पर फिदा हुई, उसने चम्पा को कुलसुम बना लिया···कानों में छल्ले डलवा दिए चाँदी के···छेदों के निशान नहीं हैं इन कानों में ?

कुलसुम के बाद ? सतवन्त कौर ? हाँ, सतवन्त क़ौर। सरदारों ने मुझे यही नाम दिया था।···सतवन्त कौर ने दम तोड़े तो चम्पा फिर से जी गई···शर्माजी ने पहली बार पूछा तो चट् से मैंने अपना नाम बतलाया, चम्पा। अब मैं ज़िन्दगी-भर 'चम्पा' ही रहूँगी या फिर यह नाम बदलना पड़ेगा ?

हाँ, मैं विधवा नहीं हूँ। सपने में भी अपने को मैं विधवा नहीं मानती।

शर्मा जी पति नहीं हैं मेरे, उनका आसरा है मेरा पति। बच्चे नहीं होंगे, मैंने आपरेशन करवा लिया है न? शर्मा जी मुस्कराकर कभी-कभी कह देते हैं: चम्पा, तुमने प्रकृति के नियम का उल्लंघन किया है!···कुदरत के अनुशासन में नश्तर मारा है···तभी तो बीमार रहती हो···मैं गलत कहता हूँ चम्पा?

—आप भला गलत कहेंगे शर्मा जी? नहीं शर्मा जी, नहीं! आप बिलकुल ठीक कहते हैं···मगर मैं भी गलत नहीं कहती शर्मा जी, आपरेशन करवा लिया, अच्छा किया मैंने। नहीं? अच्छा नहीं किया?

मैं हँसती हूँ, शर्मा जी गम्भीर हो जाते हैं।

शर्मा जी हँसते हैं, मैं गम्भीर हो जाती हूँ।

[अब रत्ती-भर भी अभिलाषा माँ बनने की रह नहीं गई है मेरे अन्दर। क्या होगा माँ बनकर? बालीगंज में थी तो एक बच्चा हुआ था, आठ महीने जिया···अच्छा हुआ कि नहीं रहा। बच्ची नहीं हूँ कि फिर वैसी गलती करूँगी। उस ऐंग्लो-इण्डियन मद्रासी छोकरे ने एक बार कहा था: ज़िन्दगी का कोई सिलसिला जम जाए तभी बच्चा पैदा करो, बच्चे को किस्मत के भरोसे छोड़ दोगी तो वह छछूंदर या लोमड़ी की तरह मारा-मारा फिरेगा तो फिर गालियाँ तो डार्लिंग तुम्हीं सुनोगी न?]

शर्मा जी ज़िम्मेवार आदमी हैं। मेरे बच्चे को या बच्ची को पाल-पोसकर और पढ़ा-लिखाकर वह आदमी ज़रूर बना देते···मगर उसके लिए सामाजिक सम्मान कहाँ से खरीद लाते शर्मा जी?

शर्मा जी मुझे उदास देखते हैं। सोचते हैं, बच्चा होता तो उसमें उलझी रहती।

मैं उन्हें गम्भीर पाती हूँ। सोचती हूँ, इनकी यह छिछली भावुकता इन्हें ही मुबारक हो! मैं खिलखिला उठती हूँ, कहती हूँ—तबीयत बहलाने के लिए गुड्डा ला देंगे प्लास्टिक का?

वह उठकर चल देते हैं। रंज हो गए?

—बड़ी निठुर हो तुम चम्पा!

—निठुर? क्या किया है मैंने आपका?

—मेरे लिए नहीं, खुद अपने लिए निठुर हो तुम!

—आपके सिर पर अखरोट फोड़ूँ तो कहना···

—अपना सिर लहूलुहान किए बैठी रहेगी सो मुझसे देखा जाएगा?

—लेकिन, प्लास्टिक का गुड्डा आप ज़रूर ले आइए! चाबी से चल-फिर सके, हँसे-बोले और आप बाहर से आएँ तो दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते करे!

शर्मा जी बाहर निकल जाते हैं।

तुम शर्मा जी का मखौल उड़ाती हो चम्पा? यह अच्छा नहीं है चम्पा! बुज़ुर्ग की मूँछों के बाल दुधमुँहे बच्चों की खातिर खेल में आ सकते हैं, तुम उन्हें मत नोचो चम्पा! यह लत महँगी पड़ेगी रानी जी···तुम्हारी जैसी तो लड़कियाँ

हैं शर्मा जी के — एक-एक की शादी में पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार खर्च हुए हैं, तुमने समझ क्या रखा है ? एक दामाद डाक्टर है, एक इंजीनियर—

और लड़कियाँ दोनों क्या हैं ?

दर्जा सात और दर्जा छै तक पढ़ी हुई हैं···सीना-पिरोना और स्वेटर बुनना जानती हैं। आड़ी-तिर्छी पंक्तियों में और लँगड़ी भाषा में अपने-अपने पति को पत्र लिखती हैं···

[मैं भी अपने पति को अशुद्ध भाषा में पत्र लिखा करती थी, पंक्ति टेढ़ी और अक्षर बदसूरत···जो दस हज़ार देकर खरीदा गया था मेरे लिए। उस नौजवान को इस फूहड़पन पर बड़ी खीझ आती थी। वह खुद पढ़ाकू लड़का था, परीक्षाओं में हमेशा प्रथम श्रेणी पाता था। चाची से मेरे बारे में एक बार उसने कहा था : यह मेरे क्या काम आएगी ! मैं यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर रहूँगा। दूसरे प्रोफेसर साथी और उनकी शिक्षित पत्नियाँ हमसे मिलने आएँगे, यह ठीक से बातचीत भी तो नहीं कर पाएगी ! कम-से-कम मैट्रिक तक भी पास करवा दिया होता···अपनी लड़की चाहे गोबर हो, लड़का लेकिन हीरा चाहिए ! ···]

नींद आने लगी तो मीना ने नेपालिन से कहा, "जा, अब तू भी सो !"

नेपालिन भी कई बार जम्भाइयाँ ले चुकी थी, बोली, "खूब हँसाती है न ! तेरे पास सारी रात बैठी-पड़ी रहूँ तो भी उठने का जी नहीं करेगा। तुझे जोरों की नींद आ रही है न ?"

आफिस की बड़ी घड़ी ने दो बजाए···टन, टन !

"हाँ, जा, अब सो जा ! सवेरे मुझे उठा देना आकर !"

"लेकिन मेरी नींद कैसे टूटेगी मीना ?"

"बुआ स्टोव जलाएगी न।"

"हाँ, वो तो तड़के ही जग जाएगी। आठ ही बजे सो गई थी···"

लेकिन नेपालिन ने नज़दीक आकर देखा, बिजली जल रही है। बरामदे की ओर रोशनदान था, तिर्छे शीशे से होकर आधी रोशनी तो साफ आ रही थी और आधी छनी हुई।

आहिस्ता से किवाड़ें ठेलकर वह अन्दर आ गई।

किवाड़ों को भिड़ाकर सांकल चढ़ाने लगी कि बुआ ने कहा, "रहने दो, बाहर जाऊँगी। तुम सो जाओ।"

फर्श पर गद्दा बिछा था, नेपालिन लेट गई। उसे आश्चर्य था कि बुआ अब तक जगी थी···पूरी नींद के बाद शायद अभी-अभी आंखें खुली होंगी !

नेपालिन को पांच मिनट बीतते न बीतते नींद आ गई।

चम्पा की तबीयत बिल्कुल बिखर चुकी थी। दिमाग भारी हो आया था। बिस्तरे से उठकर सुराही के पास आई, स्टेनलेस स्टील के उस नफीस गिलास में लेकर पानी पिया और बाहर निकली।

फागुन की पूर्णिमा दो रोज़ बाद ही पड़ती थी। नीम के नीचे चितकबरी चाँदनी का अल्पना आँखों को बड़ा ही प्यारा लगा। इस दुतल्ले पर बरामदे चारों तरफ से घिरे हुए थे, रेलिंग काठ का था। बीच की आँगन वाली जगह ऊपर के असीम आकाश को नीचे अपनी चौकोर परिधि में लेकर नीम के उस विशाल वृक्ष की महिमा और भी बढ़ा रही थी।

बुआ देर तक रेलिंग से लगी खड़ी रह गई। उसे उस समय बार-बार भुवन की याद आ रही थी···कम्पाउण्डर की बीवी, उम्मी की माँ, तिलकधारीदास, मुंशी मनबोधलाल, और वह संजीदा छोकरा विभाकर याद आ रहे थे। बड़े बालों वाला वह खाँसता हुआ चेहरा···महिम! कत्थई रंग के गन्दे दाँतों वाले वह सज्जन···दिवाकर! बदसूरत कुतिया और दोनों पिल्ले। मुंशी जी का भाँजा, निगाहों के भद्दे इशारे···भोली-भाली भुवनेसरी!

कहीं दूर से होली के गीतों की मोटी और आवेगपूर्ण ध्वनि आ रही थी, सोई रात का सन्नाटा मृदंग की थापों से टूक-टूक हो गया था···एक मोटा चूहा निचले तल्ले के एक कमरे से निकला और आँगन को बीचों-बीच पार कर गया। बुआ ने आँखें मलीं, जम्भाई लेकर चेहरे पर वही हाथ फेर लिया और कमरे के अन्दर आ गई। भुवन साथ-साथ अन्दर आई, वह बुआ के दिमाग पर जाने कब तक हावी रहेगी। बेचारी को सोने नहीं देगी क्या?

चम्पा ने आहिस्ते से सादी कापी निकाली, पेन हाथ में लेकर कागज़ पर झुकी। वह भुवन को पत्र लिखेगी।

"प्यारी भुवन,
पता नहीं, तुम कहाँ हो—"

लेकिन पत्र का होगा क्या? अचार-मुरब्बा तो नहीं बनेगा, न सब्ज़ी ही बनेगी? तो फिर क्या होगा पत्र लिखकर? भुवन तक कैसे पहुँचेगी चिट्ठी? छोकरी का पता भी तो मालूम हो···चम्पा की कलम रुक गई थी, आगे नहीं बढ़ रही थी। वह अजीब पशोपेश में पड़ गई। तकिये पर बाईं केहुनी और उसी हथेली पर गाल टिकाकर निगाहों को छत की कड़ियों में उलझाया ही था कि कम्पाउण्डर की बीवी मुस्कराकर सामने खड़ी हो गई।

—तुम जानती हो भुवन का पता?

—मेरा पत्र भुवन तक पहुँचा दोगी?

—माथा हिला रही हो, तुम्हें भी भुवन का पता नहीं है?

—उहुँ, तुम उसका पता जरूर जानती हो!

—मैं पाँव पड़ती हूँ तुम्हारे, यह पत्र भुवन तक पहुँचा देना! इतना-सा काम तो कर ही दो···मैं क्या करूँगी उसका पता ठिकाना मालूम करके!

चम्पा के दिमाग पर कम्पाउण्डर की ब
मुस्करा नहीं रही थी, चेहरा संजीदगी में डू

—तुम भुवन को मेरा पत्र जरूर पहुँ

—यह पत्र उसे विना पहुँचाए तुमसे रहा जाएगा ?

—मैं किसी से नहीं वतलाऊँगी···मुस्करा रही हो, तुम्हारे होंठ हिल रहे हैं !

—तो, अव तुम भुवन तक मेरा पत्र पहुँचा ही दोगी।

—मैं पूरा लिख तो लूँ···

" प्यारी भुवन,

" पता नहीं, तुम कहाँ हो !

" इधर कई दिनों से वार-वार तुम्हारी याद आ रही है। दो महीने हो गए हैं, साठ दिन और साठ रातें। झूठ नहीं लिखूँगी कि तुम पर गुस्सा नहीं है मेरे अन्दर। क्रोध के साथ किन्तु ममता भी कम नहीं है भुवन, तुम्हारे प्रति अपने अन्दर मैं कभी कठोर और निठुर न हो पाई।

" शर्मा जी की और उनके मित्रों की निगाहों में तुम्हारी तरुणाई के लिए कैसी ललक छलका करती थी ! अच्छा हुआ कि इसका आभास तुम्हें नहीं हुआ भुवन ! लेकिन मुझे तो पहरा देना पड़ा था, शिकारियों की टपकती लारें मैं कैसे भूल जाऊँगी ?

" मेरा मन मुझसे वार-वार कहता है कि हमारी मुलाकात होगी और ज़रूर होगी। धरती छोटी नहीं है भुवन, और समय असम्भव को भी सम्भव वना डालता है ! आज के विछुड़े हुए कल नहीं तो परसों और परसों नहीं तो चार दिन वाद मिलते हैं। नहीं मिलते हैं ?

" घवड़ाकर शादी न कर लेना भुवन, न किसी आश्रम में भर्ती होना। मुझे लगता है कि तुम समाज की इस सड़ांध से—इस कुम्भीपाक नरक से निकलकर नई दुनिया के समझदार लोगों के वीच पहुँच गई हो···वहाँ, जहाँ के नर-नारी मिल-जुलकर आगे वढ़ते हैं, जहाँ कोई किसी की वेवसी का फायदा नहीं उठाता, कोई किसी को चकमा नहीं देता, जहाँ पुरुप वल होगा तो स्त्री वुद्ध होगी, स्त्री शक्ति होगी तो पुरुप ज्ञान, भुवन तुम निश्चय उसी संसार में पहुँच गई हो !

" जी करता है, तुम्हें वेटी कहके पुकारूँ और तुम अगले ही क्षण सामने आके खड़ी हो जाओ ! मुझे माँ कहने में तुम शायद हिचक उठोगी भुवन ! नहीं, मैं उतनी वुरी नहीं हूँ, वेटा। देखना, मैं भी इस नरक से वाहर निकलूंगी···

" मैंने तुम्हें एक अच्छी साड़ी तक न दी ! टालती रही हमेशा, वहाने वनाती रही। लेकिन अव सोचती हूँ, महँगी साड़ियों का चस्का न लगाकर मैंने तुम्हारा भला ही किया···रेशम की साड़ियाँ और सोने के गहने जाने कितनी मुसीवतों के वीज अपने अन्दर छिपाए रहते हैं !

" उस दिन वाथरूम से तुम गायव हो गई, विल्कुल ठीक किया तुमने भुवन ! आधा घण्टा वाद शर्माजी तुम्हें साथ लेकर निकलने वाले थे न ? जिसने भी तुमको भागने की सुवुद्धि दी थी, उसे मैं सारा जीवन धन्यवाद देती रहूँगी।

" तुम तो वेहद सीधी हो, वड़ी समझदार। मुझे क्षमा मिलनी चाहिए भुवन,

सामने आ जातीं, तो अवश्य ही मैं तुम्हारे पैर पकड़ लेती···।

चम्पा,

तुम्हारी वही बुआ"

पत्र लिखकर चम्पा ने कागज़ को चारों तहों में मोड़ लिया और सँभालकर सिरहाने के नीचे रखा। स्विच आफ कर आई। माथा हल्का हो चुका था। कुछ देर में नींद आ गई।

चौदह

कम्पाउण्डर की बीवी मायके गई, अब तक लौटी नहीं थी।

चैत खत्म हो रहा था। धूप बर्दाश्त नहीं होती थी। पछिया के झोंके लोगों की गालियाँ सुनने लग गए थे। बुढ़िया बंगालिन के हाते के अन्दर छोटा-सा बाग था। केलों के पत्ते चहारदीवारी पर से बाहर लटके रहते थे मगर हवा के थपेड़ों ने बुरा हाल कर रखा था उनका, हरी झालरों के धनुष बन रहे थे और निगाहों को चिढ़ाते थे!

महिम की बीमारी का हाल सुनकर उसकी माँ, बीवी, बच्चे, छोटा भाई आ पहुँचे।

महिम की बीवी पढ़ी-लिखी नहीं, समझदार और मीठे स्वभाव की थी। उसने मामी का दिल जीत लिया। एक दिन मुस्कराकर बोली, "हम आपको भी देहात ले चलेंगे मामी, यहाँ अकेली रहकर क्या करेंगी आप? दो महीने बाद फिर इनके साथ ही वापस आ जाना···हमारे उधर आमों का मौसम अच्छा रहता है। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली कहाँ नहीं जाते हैं तिरहुत के आम।"

उम्मी की माँ ननिहाल सीतामढ़ी के पास था, फैली-फैली आँखों से हुलास उँडेलती रही और कहा, "गई हूँ उधर। दमभंगा, समस्तीपुर, सीतामढ़ी, रक्सौल, सब देखा है बहू!"

"अब हमारे साथ चलिएगा। आप पास रहेंगी तो इनका भी मन लगेगा। परदेश में आपका ही तो सहारा था। बिल्कुल बच्चे का स्वभाव है मामी, इनको सँभालना मुश्किल-हो जाता है!"

"मैं वैशाख में चार रोज़ के लिए आ जाऊँगी बहू!"

"नहीं मामी। आप नहीं आएँगी!"

"कोई दुश्मनी है कि नहीं आऊँगी!"

बाहर से उछलता-कूदता बच्चा आ गया। इशारे में अपनी माँ से खाने के लिए कुछ माँगने लगा।

आठ-नौ वर्ष के उस खूबसूरत बच्चे को मामी ने पास बुलाया, कन्धे पर हाथ

रखकर कहा, "चल, मैं देती हूँ।"

कमरे के अन्दर ले जाकर चार बिस्कुट और रामदाने के दो लड्डू दिए।

उम्मी की माँ को आज अपने दोनों लड़कों की याद आ रही थी। छोटा तो बार-बार दिमाग में आ रहा था। अब तो चौदह का हुआ, कितना बड़ा हो गया होगा···बुरी तरह मन कचोटता रहा···बड़े की याद आई···उम्मी की याद आई तो दिमाग ने झटका खाया।

इतने में महिम की माँ ने बुला लिया।

इधर वह ज़्यादा खाँसने लगा था। दिवाकर को और अशंक को शक हो रहा था टी० बी० का मगर एक्स-रे और मल-मूत्र-खून आदि की अलग-अलग जाँच के आधार पर डाक्टर सेन ने अपने चैम्बर में महिम के शरीर की आधा घण्टा तक परीक्षा-निरीक्षा की और टी० बी० की शंका को निर्मूल घोषित किया। प्रिस्क्रप्शन में स्थान-परिवर्तन और पौष्टिक खुराक वाले निर्देश तो थे ही, दो-तीन प्रकार की दवाओं के बारे में भी लिखा था।

नेह--छोह, अनुनय-विनय, हठ और आँसू, अन्त में अपनी जान दे देने की धमकी···माँ ने बड़ी मुश्किल से महिम को गाँव चलने के लिए राज़ी किया। उम्मी की माँ अपना ज़ोर अलग डालती रही। अकेले में महिम को उसने बार-बार समझाया था। वस्तुतः उम्मी की माँ ने अद्भुत त्याग और संयम का परिचय दिया। यदि वह ज़रा-सा भी प्रतिकूल इंगित देती तो महिम माँ की बात नहीं मानता!

कल सुबह ५-४५ वाले स्टीमर से वे महिम को ले जाने वाले थे।

चार पर अलार्मवाली सुई लगाकर सभी सो गए। माँ, बीबी, छोटा भाई और बच्चे गहरी नींद में थे।

महिम ने आहिस्ते से मामी को जगाया।

दोनों फुसफुसाकर बातें करने लगे।

"अब भी वक्त है, तुम कहो तो न जाऊँ!"

"ऐसा पागलपन न करना महिम!"

"और अगर मैं चार-छै महीने न लौट सकूँ···"

"मैं ही पहुँचकर मिल आऊँगी।"

"लेकिन जाने ही क्यों देती हो?"

"वहाँ जल्दी तन्दुरुस्त हो जाओगे महिम!"

"मन तो नहीं लगेगा मामी!···"

महिम का हाथ अपने हाथ में लेकर मामी बोली, "अब इस मन का भी इलाज करना होगा!"

"मन का इलाज?"—विस्मय में डूबकर महिम ने जानना चाहा।

"हाँ, मन का इलाज!"—मामी बोली।

महिम उसके चेहरे की ओर देख रहा था। दोनों तख्तपोश पर बरामदे में बैठे थे। बाहर आँगन में चैत की चाँदनी फैली थी। उजलेपन का भास्वर परिवेश बरामदे के अँधकार को धो रहा था। दीवारों की सफेदी तो उसे और भी पतला कर रही थी। महिम के बालों के लच्छे मामी को साफ-साफ दीख रहे थे। सोच रही थी: कल इस वक्त काले बालों वाला यह सुन्दर मुखड़ा यहाँ से पचास कोस दूर होगा और मैं इसी घर के अन्दर सोई रहूँगी···!

महिम ने कहा, "तुम इतनी निर्मम हो मामी!"

"हाँ महिम।"—मामी गम्भीर होकर बोली, "लेकिन, मेरी इस निर्ममता से कई प्राणों में जीवन का रस छलकेगा! कई सूखी नदियों में पानी के रेले आ जाएँगे! देखा नहीं है, पिछले दस-बारह दिनों में तुम्हारी माँ के चेहरे की रंगत कितनी बदल गई है! बहू की आँखों में ठण्डक नहीं देखी है? बच्चों का उल्लास नहीं नज़र आया है? प्रीति में पगी हुई अपने भाई की आवाज़ नहीं आई है कानों के अन्दर? बार-बार परोसन माँगकर तुम माँ के हाथों का पकाया खाना खाते हो, अच्छा नहीं लगता है? कल सौंफ और पुदीना के पत्ते पीसकर बहू ने शर्बत तैयार किया था और तुम तीन गिलास पी गए थे। बारह साल की अपनी बिटिया सन्ध्या ने दो रंग के धागों से रूमाल के कोने में तुम्हारा नाम काढ़ लिया था, वह सफेद रूमाल अभी तुम्हारी पाकिट में होगा। अब दिन-रात तुम इन्हीं के बीच रहोगे, तुम्हें प्रसन्न देखेंगे तो इनकी ममता धन्य-धन्य हो उठेगी। इनका रोआँ-रोआँ मुझे आशीर्वाद देगा। ढेर-ढेर दुआ हासिल होगी तो शायद मेरे भी दिन लौटें···।"

महिम का हाथ नीचे पाकिट की ओर गया।

मामी ने कहा, "लौंग डालना चाहते हो मुँह के अन्दर? ठहरो, ला देती हूँ!"

लौंग लाके दिया।

महिम चुप था। मामी भी चुप थी।

अन्दर बच्चे ने बच्ची की देह पर लात रख दी, नींद में ही सन्ध्या ने एतराज़ किया—क्यों प्राण लेता है शेखर!

मामी अन्दर गई, दोनों को अलग-अलग कर आई।

बोली, "देखो महिम, बिना बाप के बच्चे बिलल्ला हो जाते हैं। बाप का अभाव माँ भला कैसे पूरा करेगी?"

महिम ने पूछा, "और माँ के बिना बच्चों का क्या हाल होता होगा?"

इस वक्त उम्मी की माँ को यह सवाल अच्छा नहीं लगा। कुछ नहीं बोली।

महिम ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "देखो मामी, तुम्हारी राय मानकर मैं देहात लौट रहा हूँ। स्वास्थ्य सुधर जाएगा, यह प्रलोभन नहीं है मेरे मन में। तुम्हारे आदेश को मैं सभी प्रलोभनों से ऊपर रखता हूँ। डेढ़-दो महीने के अन्दर ही पटना आ जाऊँगा। यों तुम्हारी तबीयत ऊबे तो तीन लाइन

का एक पोस्टकार्ड डाल देना, चट से हाज़िर हो जाऊँगा।"

उम्मी की माँ ने कहा, "पोस्टकार्ड नहीं पहुँचेगा, मैं ही पहुँचूँगी महिम! तुम्हारी माँ और बहू की ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है कि ज़िन्दगी-भर के लिए मैं उनकी अपनी हो गई।"

"माँ भी तुम्हारी तारीफ करती है।"

"बहू नहीं करती है तारीफ?"

"हाँ, वह भी तारीफ करती है।"

"इन्हें मेरे बारे में ज्यादा न बताना महिम!"

"नहीं बतलाऊँगा..."

"नूनू का तिलक चढ़ेगा जेठ में। उम्मी मेरे लिए शायद किसी को भेजे—"

"ज़रूर चली जाना!"

"देखा जाएगा..."

"नहीं, ऐसे शुभ अवसर पर तमाम रिश्तेदार इकट्ठे होंगे। लड़के की माँ का गैरहाज़िर रहना सभी को अखरेगा।"

"कोई आ ही जाएगा तो तुमसे पूछ लूँगी लिखकर।"

"इसमें पूछना क्या है!"

मामी गम्भीर हो गई। कन्धे हिलाकर महिम ने कहा, "क्यों, चुप क्यों हो गईं?"

मामी आहिस्ते से बोली, "उम्मी के सामने कौन-सा मुँह लेकर जाऊँगी? वह कभी मुझे क्षमा नहीं करेगी महिम! मैं बाबूजी (पति) से उतना नहीं डरती हूँ जितना इस छोकरी से...सुना है कि पिछले वर्ष बी० ए० पास किया है, अब तो मेरे प्रति घृणा और भी गहरी हो गई होगी..."

महिम ने आँखों में आँखें डालते हुए कहा, "कितना गलत सोचती हो मामी! इस जमाने की पढ़ी-लिखी लड़कियाँ ईर्ष्या और घृणा का सिरका नहीं तैयार करती हैं, उनका तुम्हारे युग की उस सड़ाँध से कोई वास्ता नहीं होता। उनके अन्दर छिछोरापन और थोथी भावुकता नहीं हुआ करती।...भूलों की संभावना के आतंक में वे मुर्दा होकर पड़ी नहीं रह जाती हैं, पिछली भूलों के पछतावे में सुलग-सुलगकर राख भी नहीं होती हैं। आगे बढ़ना जानती हैं तो मौके पर पैंतरे बदलकर पीछे हटने का गुर भी उन्हें मालूम है। तुम क्यों डरती हो उम्मी से? पुरानी कमज़ोरियाँ तुम्हारा क्या बिगाड़ लेंगी? हाँ, उनकी याद डायन बनकर अब भी तुम्हारी रगों का लहू चूसती रहेगी! देखना, उम्मी तुम्हें यों नहीं छोड़ देगी वह ज़रूर ही तुम्हारी खोज में लगी होगी..."

मामी की आँखों से आँसू बहने लगे।

महिम ने कुर्ते की छोर से उन्हें पोंछा लेकिन वे रुके नहीं, बहते ही रहे। मामी ने महिम का हाथ परे कर दिया; उठकर दरवाज़े की ओर चली गई।

महिम ने सोचा, रोकर जी हल्का करेगी। कुछ देर बैठा रहा, फिर थकान

मालूम हुई और बिस्तरे पर जाकर लेट गया।

मामी भी बाहर से लौट आई। महिम से पूछा, "प्यास तो नहीं लगी है ?"

"आधा गिलास दे दो"—महिम ने धीरे से कहा।

"क्या है बेटा ?"—उधर से माँ ने टोका, नींद टूट गई थी।

"प्यास लगी है माँ !"

"कै बजे हैं ?"

"एक।"

"आप भी पानी पिएँगी ?"—उम्मी की माँ ने महिम की माँ से पूछा।

"नहीं"—वृद्ध स्वर खाँसता रहा।

"मामी, माँ से बातें करोगी या सोओगी अभी ?"—महिम बोला।

मामी ने कहा, "सोऊँगी।"

पन्द्रह

रंजना ने कहा, "अच्छा किया, आ गई। अब आठ-दस रोज बाद ही वापस जाना। बनारस तो पहली बार देखा है न ? यों तो हर शहर की अपनी एक खूबी हुआ करती है लेकिन इस काशी नगरी की एक नहीं अनेक विशेषताएँ हैं निर्मला ! बाबा विश्वनाथ और हिन्दू विश्वविद्यालय से लेकर सिल्क की साड़ियों और चादरों तक···"

"हाँ, मैं घूम-घूमकर देखूँगी," कम्पाउण्डर की बीवी बोली, "आपको तो फुर्सत नहीं मिलेगी, भुवन को साथ कर लूँगी।"

भुवन को इस प्रस्ताव से खुशी तो हुई मगर अगले ही क्षण वह गम्भीर हो गई। मुद्रा में परिवर्तन देखकर रंजना ने पूछा, "क्यों, अब चेहरा क्यों उतर गया इन्दिरा ?"

"मैं सारा शहर कैसे दिखला सकूँगी भाभी ? खुद ही देखना बाकी है तो इसको क्या बतलाऊँगी ?"

"तुम्हारे भाई साहब होस्टल के किसी लड़के से कह देंगे, साथ रहेगा।"

निर्मला ने हँसकर कहा, "अब इन्दिरा ही कौन-सी लड़की रह गई ! यह तो लड़कों के कान काटती है, सवेरे आज तैरने लगी तो गंगा में कितनी दूर निकल गई !"

"बैडमिण्टन भी अच्छा खेलने लगी है"—रंजना कहने लगी, "पड़ोस में साइन्स कालेज के प्रोफेसर रहते हैं, कुलकर्णी। मिसेज कुलकर्णी अपने छोटे भाई के साथ एक तरफ होती हैं, प्रोफेसर और इन्दिरा दूसरी तरफ···कभी-कभी इन्दिरा और मिसेज कुलकर्णी का भाई ही आमने-सामने डट जाते हैं। वे तीनों

इसकी तारीफ करते हैं।"

"स्वास्थ्य अच्छा हो गया है।"

"हाँ, वज़न आठ पौण्ड बढ़ा है।"

"गर्मी की छुट्टियां कहाँ गुज़ारोगी भाभी?"

"हम तो कहीं नहीं जाएँगे। सदानन्द डेढ़ महीने के लिए कलकत्ता जाएँगे, नेशनल लाइब्रेरी में कुछ किताबें देखनी हैं। वह लौट आएँगे तब दो-तीन रोज़ के लिए मैं पटना जाऊँगी, मामा से मिलने।"

कम्पाउण्डर की बीवी बच्चों की तरह खुशी के मारे तालियाँ पीटने लगी, कहा, "फिर तो इन्दिरा भी पटना पहुँच सकती है साथ-साथ!"

"नहीं, कोई जरूरत नहीं है," रंजना बोली, "इन्दिरा पटना क्या करने जाएगी?"

कम्पाउण्डर की बीवी ने याद दिलाया, "बुआ का खत गया में तुम्हें भी तो दिखलाया था! मैं सोचती हूँ, इन्दिरा एक बार बुआ से मिल लेती..."

रंजना ने तमककर कहा, "क्या होगा उस औरत से मिलकर?"

कम्पाउण्डर की बीवी ने देखा, इन्दिरा नहीं है। बीच में ही उठकर चली गई थी। उधर बाहर वाले कमरे में राजीव और कुन्तल के साथ खेल रही थी। कम्पाउण्डर की बीवी आहिस्ते से बोली, "देखो भाभी, बुआ से मिलना इन्दिरा के लिए जरूरी नहीं है मगर इन्दिरा का मिलना बुआ के लिए जरूरी है। इन्दिरा जिस नरक से बाहर निकल आई है, बुआ अब तक उसी कुम्भीपाक में गोते खा रही है। वह इन्दिरा को सामने देखेगी तो अपने अन्दर दुगुना साहस महसूस करेगी भाभी, दलदल से बाहर निकलने का उसका संकल्प और भी तीव्र हो उठेगा अँधेरी रात में बीहड़ पाँतर से होकर कभी निकली हो भाभी? अँधेरे में भटकता मुसाफिर यदि दूर कहीं ज्योति का आभास भी पा जाता है तो उसके पैरों में बिजली की फुर्ती आ जाती है।"

रंजना ने कहा, "हमने तय कर लिया है, इन्दिरा बी० ए० करके ही पूरब की तरफ किसी शहर में पैर रखेगी।"

"तुम्हारे साथ जाएगी और लौट भी आएगी साथ।"

धागे का छोर होंठों में दबाकर रंजना कम्पाउण्डर की बीवी को देखती रही। वह मचलकर बोली, "हाँ कर दो न भाभी!"

रंजना बरामदे में तख्त पर बैठी थी। धुले कपड़ों का ढेर सामने था। राजीव के निकर में बटन टांकती हुई कहने लगी, "दो रोज के लिए पटना हो आएगी मेरे साथ, इसमें तो कोई हर्ज नहीं किन्तु मैं नहीं चाहूँगी कि इन्दिरा उन जगहों में जाए या उन व्यक्तियों से मिले जिनकी स्मृतियां पल-भर के लिए भी उसके दिल को दुखाएँ झुलसे हुए पौधे को ताजा पानी पिला-पिलाकर तुमने हरा कर लिया, दो दिन अब उस पर गरम पानी छिड़कोगी निर्मला?"

निर्मला यानी कम्पाउण्डर की बीवी चुप रही। हाथों में कुन्तल का फ्राक

लिये हुए थी, पीली अरगंडी पर लाल और काले छींटें अच्छे लग रहे थे। उलट-पलटकर दो-तीन बार देख लिया, उसे रखकर फिर दूसरा फ्राक उठाया। गुलाबी ग्राउण्ड और हरे-हरे पत्ते खूब खिल रहे थे।

"भाभी कौन-से पात हैं ?" निर्मला ने पूछा, "छितवन के ?"

"अखरोट के पत्ते हैं।" रंजना बोली।

कुर्त्ते के लिए दो सफेद बटन खोजने लगी, नहीं मिली तो डिब्बी ही उलट ली···छोटी-बड़ी बटनें, पुराने ब्लेड, सेफ्टीपिन की नई किस्में, सुइयाँ, पेन्सिल के टुकड़े···नुमायश लग गई।

निर्मला ने छोटी सेफ्टीपिन उठा ली, बोली, "ले लूँ ?"

"वाह ! पूछकर ?" रंजना हँसने लगी।

निर्मला सोचती रही : मैं भी तो पढ़-लिख सकती थी। मैं भी तो भाभी की तरह लड़कियों के किसी इण्टर कालेज में प्रोफेसर हो सकती थी और···

बोली, "माँ दो रोज़ से ज्यादा नहीं रुकेंगी, वहीं से रट लगाए हुए थीं कि ग्रहण नहाकर अगले दिन लौटेंगी। भइया भी जल्दी वापस जाना चाहते हैं।"

"कल और परसों तो अवश्य रुक जाओ !"

"परसों क्यों ?"

"हमारी उस दिन पूरी छुट्टी है, खूब बातें करेंगे।"

"हाँ भाभी, शादी में दो दिन के लिए तुम गईं भी तो भीड़-भाड़ में हम आधा घण्टा के लिए भी इत्मीनान से बैठ नहीं सके !"

"मैं तो थी फुर्सत में, तुम पर बोझा था।"

"अब यहाँ होंगी बातें।"

"लेकिन तुम तो भागी जा रही हो निर्मला !"

निर्मला ने हँसकर कहा, "मैं कहाँ, माँ भाग रही हैं। भारी जिद्दी हैं···।"

रंजना ने नज़र मारकर कमरे की ओर संकेत किया।

कमरे के अन्दर निर्मला की माँ सो रही थीं।

हथेली के इशारे से उसने निर्मला को और पास बुला लिया। धीमी आवाज़ में पूछा, "इन्दिरा की पीठ पर निशान कैसे हैं ?"

"बेंत की पिटाई के निशान हैं भाभी," निर्मला कहने लगी, "एक गुण्डे की करतूत थी यह। छै महीने इन्दिरा को भिखमंगों की टोली में रहना पड़ा, वहाँ से धनबाद के गुण्डे इसको उचक लाए थे। गुण्डों ने चार-पाँच महीने इन्दिरा को बेहद परेशान किया···फजीहत, पिटाई, बलात्कार, तनहाई, भूखों तड़पाना···क्या नहीं किया उन्होंने ? आखिर उन्हीं में से एक का दिल पिघला तो इन्दिरा उस नरक से छुटकारा पा सकी। हजारीबाग में उस गुण्डे की प्रेमिका रहती थी, इन्दिरा को उसने छिपाकर वहीं रख दिया···"

"फिर क्या हुआ ?" रंजना ने सुई-डोरा सहेजा, आगे की बात जानना चाहती थी।

निर्मला बोली, "गुण्डे की प्रेमिका ने इन्दिरा को बड़े जतन से दो-तीन महीने रखा। वह इसको बहुत प्यार करती थी। एक बड़े डाक्टर के परिवार में काम करने वाली आया से उसका अच्छा परिचय था, इन्दिरा को डाक्टर की बीवी तक पहुँचने में ज़रा भी दिक्कत नहीं हुई। वह गुण्डा और उसकी प्रेमिका, दोनों इस लड़की का भला चाहते थे…।"

"प्यार और सहानुभूति कब किसके हृदय में छलकने लगेंगे, कहा नहीं जा सकता!" रंजना ने कहा, "तुम्हीं क्या कम शैतान हो? और, तुम्हारे अन्दर इन्दिरा के लिए कैसी करुणा छलकी थी!"

अपनी प्रशंसा अपने ही कानों के अन्दर आई तो कम्पाउण्डर की बीवी का मुख-मण्डल चमकने लगा, कहने लगी, "भाभी, मैंने क्या किया? कुछ नहीं किया मैंने! वह तो भगवान की मर्जी से हुआ सब कुछ। मैं क्या जानती थी कि अगले क्षण क्या से क्या हो जाएगा? मैं तो हाथ धोने निकली थी, बाथरूम में इन्दिरा दिखाई पड़ी और उसने बतलाया: दीदी, आज मेरा गला कटेगा। मैं तो हक्का-बक्का रह गई सुनकर, पल-दो-पल कुछ सूझा ही नहीं भाभी! मगर फौरन दिमाग में यह बात आ गई कि इन्दिरा को गायब कर दो…और मैंने इसे मकान-मालिक के गुदाम में छिपा दिया!"

रंजना बोली, "इतना तो इन्दिरा ने भी बतलाया था। हाँ, तुम अब हजारीबाग की बात कहो…।"

"बतला ही तो रही थी," निर्मला ने कहा, "डाक्टर बंगाली था, चटर्जी या या भटर्जी…!"

"भटर्जी नहीं, भट्टाचार्य!"

"हाँ, भट्टाचार्य ही था। लेकिन वे बड़े ही अच्छे लोग थे। इन्दिरा जब तक उनके बीच रही, खूब आराम से रही। बदली हुई तो डाक्टर साहब आ गए। इन्दिरा भी परिवार के साथ आ गई।"

"गया के बाद?"

"शर्मा जी। डाक्टर का खानदान मुजफ्फरपुर का है। कई पीढ़ियों से वे वहाँ जमे हुए हैं। डाक्टर के पिता नामी वकील थे, उनसे शर्मा जी की अच्छी जान-पहचान थी। डाक्टर से भी जब तब मिलते ही रहते थे। दो वर्ष के लिए डाक्टर विलायत जाने लगे, बीवी ने अपनी माँ के पास बर्दवान जाने का निश्चय किया। इन्दिरा को शर्मा जी पटना ले आए कि बेटी-भतीजी बनाकर रखेंगे और शादी करवा देंगे।"

"डाक्टर इन्दिरा को नर्स की भी ट्रेनिंग दिलवा सकता था?"

"विलायत नहीं गया होता तो इसके लिए कोई न कोई रास्ता वह जरूर निकालता भाभी।"

अब मेज पर नाश्ता आने वाला था, चाय आने वाली थी।

निर्मला, उसकी माँ, इन्दिरा और बच्चे सैर के लिए निकलने वाले थे।

सदानन्द और रंजना को किसी गोष्ठी में जाना था, एक उपन्यासकार के सम्मान में पचीस-पचास साहित्य-रसिक जुटने वाले थे।

सोलह

पिछले दो महीने के अन्दर चम्पा ने कई काम किए : आश्रम के टाइपराइटर पर प्रतिदिन घण्टा-डेढ़ घण्टा अभ्यास किया और हिन्दी में टाइप करना सीख लिया। मुंशी मनबोधलाल को समझा-बुझाकर उसने छोटा-सा कमरा सस्ते भाड़े में ठीक किया। बाहर एक तख्ती वहीं सड़क की ओर लटका दी—'गृह शिल्प कुटीर'। ड्राइवर सुमंगल को बुलवाया, नेपालिन का उससे परिचय करवा दिया, दोनों के सामने शादी का प्रस्ताव रखा। लेन-देन का कोई सवाल ही नहीं था, पसन्द की बात थी। दोनों अकेलेपन से ऊबे थे और घर-गिरस्ती बसाकर साधारण सुख का जीवन बिताने की लालसा रखते थे। चम्पा का आदेश वरदान ही था दोनों के लिए। तय हो गया कि अगले महीने शादी हो जाएगी।

साढ़े पाँच हज़ार की रकम चम्पा के नाम से सेविंग बैंक में जमी थी। चार हज़ार रुपये निकालकर उसने शर्मा जी वाले खाते में डाल दिए। इसकी सूचना जब चम्पा ने शर्मा को दी तो वह रंज हो गया।

ब्लडप्रेसर का दौरा आता था। गुस्सा चढ़ने पर आँखें लाल हो जाती थीं, लगता था कि आँसू छलकने ही वाले हैं। होंठ फड़क रहे थे।

बोला, "पागल हो गई हो चम्पा ! इससे तो बेहतर था, तुम मुझे चार जूते लगातीं…"

चम्पा कुछ नहीं बोली, बेल का शर्बत तैयार कर रही थी।

उसकी चुप्पी ने शर्मा जी के क्रोध को और भड़का दिया, चिल्लाने लगे, "तुम मुझे कहीं का न रखोगी ! तुम मुझे बे-आबरू कर दोगी ! मेरी नाक में कौड़ी किसी ने नहीं बाँधी थी, यह श्रेय भी तुम्हीं को हासिल होगा चम्पा !"

शीशे के गिलास में शर्बत भरके अलग एक ओर रख लिया चम्पा ने। उसने सोचा, अभी दूँगी तो गिलास पटक देंगे। गुस्सा ठण्डा होगा, तब दूँगी।

लेकिन शर्मा जी का प्रकोप तोड़फोड़ के लिए बेचैन था। वह उठे, इधर से शर्बत-भरा गिलास लिया और कमरे से बाहर जाकर मोरी में उँडेल दिया। अन्दर आकर गिलास को चम्पा की ओर फेंका तो वह झनझनाकर चूर-चूर हो गया।

काँच का एक पतला टुकड़ा उचटकर चम्पा के माथे में लगा, दूसरा टुकड़ा दाहिनी केहुनी में…

सिर का लहू बहकर नाक पर आने लगा।

अब भी कुछ नहीं बोली।

टिचर का फाहा लेकर आईने के सामने खड़ी हुई।

शर्मा जी चुपचाप बरामदे में कुर्सी पर बैठे रहे।

नेपालिन कहीं गई थी, वापस लौटी। चम्पा के सामने, आईने के नीचे लहू की बड़ी-बड़ी बूंदें देखकर वह घबड़ाई।

"क्या हुआ बुआ ?"

"कुछ तो नहीं।"

"कहाँ चोट लगी है ?"

"कहीं नहीं…"

होंठ से उँगली छुआकर चम्पा ने इशारे में बतलाया कि बाहर शर्मा जी बैठे हैं, पीछे बतलाएगी।

दस मिनट बाद शर्मा जी सचमुच ही बाहर निकले।

खून तो टिचर के फाहे से बन्द हो ही गया, चम्पा की तबीयत लेकिन काबू में रही।

दूसरे दिन शाम को चम्पा रायसाहब से मिलने दानापुर गई। रायसाहब आर्यसमाजी संस्कारों के धर्मभीरु सज्जन थे। संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान देते रहते थे। परिवार के कई स्त्री-पुरुष शिक्षित थे। सम्पत्ति तो थी ही, अब आधुनिकता भी प्रवेश कर रही थी।

चम्पा पहले उनकी बेटियों और बहुओं से मिली। उनमें दो तो कन्या-गुरुकुल (देहरादून) की छात्राएँ रह चुकी थीं। उन्होंने चम्पा से खुलकर बातें कीं और सहायता का आश्वासन दिया।

रायसाहब ध्यान से चम्पा की बातें सुनते रहे। अन्त में कहा, "तो मुझसे क्या चाहती हो बेटी ? मैं तो अब बूढ़ा हुआ। मेरे नाम पर कौन कहाँ क्या करता है, मुझे बिल्कुल पता नहीं चलता। और, पता चल भी जाए तो क्या ? कौन मेरी सुनता है ! मैं तो जीवन-भर इसी सूत्र को मानकर चला हूँ कि आप भला तो जग भला…"

"आप आश्रम वालों को फटकार तो सकते हैं चाचा जी !" चम्पा बोली।

रायसाहब ने गम्भीर होकर कहा, "मेरी फटकार वे चुपचाप पी जाते हैं और समय-समय पर माफी माँग लेते हैं किन्तु करेंगे वही जो उनका स्वार्थ कहेगा। मैं तो वर्ष में दो ही एक बार उनके साथ बैठने जाता हूँ…"

"और यही चाहते हैं आश्रम वाले"—चम्पा ने कहा।

रायसाहब का स्वर धीमा हो गया, "गत वर्ष मैं अध्यक्षता स्वीकार नहीं कर रहा था तो शर्मा जी और महाशय मन्नूलाल जी यहाँ आकर रोए, गीली आँखें मुझसे देखी नहीं गईं बेटी !"

"हाँ, चाचा जी, इसी तरह रो-रोकर स्वार्थी और चालाक आदमी नेहरू से

भी अपने कई काम करवा लेते होंगे न ?"

"करवाते हैं। नेहरू ही नहीं, देश के पचासों बड़े नेता धूर्तों की विनय-पत्रिका के शिकार हैं। बिना कड़ाई के, बिना दृढ़ता के नियमों का पालन हो ही नहीं सकता चम्पा ! इस आश्रम की इतनी अधिक पोल तुम्हें मालूम हैं कि भारी पोथा हो जाएगा अगर लिखवाओ ! यह सब कहीं अखबारों में छपने लगे तो उनकी बिक्री बढ़ जाए।"

"चाचा जी, आप अपने को हटा लीजिए इस आश्रम से।"

रायसाहब कुछ सोचकर बोले, "अभी पाँच की कमेटी है, इसे सात की कमेटी बनाकर उसमें चार महिलाओं को लाना चाहिए। एक तो तुम ही रहोगो, रहोगी न ?"

चम्पा फैली हथेलियों को देखती रही। नाखून एक-दूसरे को खरोंच रहे थे। संजीदगी में डूबकर कहने लगी, "इस 'आश्रम' शब्द से मैं बहुत घबराती हूँ। रही होगी इसके पीछे कभी कोई अच्छी भावना, अब तो ये आश्रम अनैतिकता के अड्डे हैं—स्वार्थियों के अखाड़े ! हमारी जैसी मूक असहाय बकरियों की ही नहीं, आप जैसे आदर्शवादी धर्मभीरु बैलों की भी बलि इन आश्रमों के अन्दर चढ़ती आई है। अब वक्त आ गया है कि इन आश्रमों के ढाँचे हम बदल डालें···"

घण्टी बजाने पर आदमी आया तो रायसाहब ने उसे चाय के लिए कहा ! चम्पा के चेहरे की ओर गौर से देखकर बोले, "तुम्हें भूख भी तो लगी होगी बेटा ?"

"नहीं"—सिर हिलाकर चम्पा ने कहा, "अन्दर अभी-अभी तो उन्होंने नाश्ता करवाया है।···"

कुछ रुककर वह बोली, "मैं तो यों भी आपका साथ दूंगी लेकिन आपको भी कुछ कष्ट उठाना होगा। संस्था का नाम बदल जाएगा, अधिकारी बदल जाएँगे, ढांचा बदल जाएगा। अब वह आश्रयहीन महिलाओं का सहयोगी श्रमकेन्द्र हो सकता है।"

"बिल्कुल ठीक"—रायसाहब ने कहा।

"और मैं अपने लिए आपसे कुछ सहायता चाहती हूँ।"

"कहो !"

"किस्त पर एक टाइपराइटर दिलवा दीजिए, सिलाई-मशीन तो मेरी अपनी है ही···"

"क्यों, अब शर्मा के साथ नहीं रहोगी ?"

"नहीं। फिर भी तो मैं उनसे मिलती रहूँगी। कई बातों में मेरी और शर्मा जी की राय नहीं मिलती है। किन्तु इस जीवन में उन्हें भूल नहीं सकती मैं—जब मैं टूट चुकी थी और आत्महत्या के अलावा और कोई रास्ता सूझ नहीं रहा था, उस समय शर्मा जी ने ही मेरी बाँह पकड़ी थी।"

चाय आ चुकी थी।

कप में होंठ लगाकर रायसाहब ने चुस्की ली चम्पा से भी पलक के इशारे

से चाय पीने के लिए कहा। क्षण-भर बाद बोले, "चीनी और मँगवा लो, मैं डाइबिटीज़ का गुलाम हूं।"

"ठीक है, अब और नहीं चाहिए चीनी!"

"तो, टाइपराइटर हिन्दी वाली होगी?"

"जी, अंग्रेजी तो नहीं जानती हूँ न!"

"पढ़ाने का काम करोगी?"

"मैट्रिक भी तो होती..."

"खैर, कोई बात नहीं।"

"मैं कोशिश करूँगी कि अगले वर्षों में मैट्रिक की तैयारी करूँ!"

"सब कर सकती हो तुम, बहादुर लड़की हो!"

"आपकी आशीष बनी रहे चाचा जी..."

"कहाँ रहोगी, जगह ठीक कर ली है?"

चम्पा ने अपने रहने की व्यवस्था के बारे में संक्षेप में बतला दिया। मुंशी मनबोधलाल और दिवाकर शास्त्री के नाम बतलाए। शास्त्री, को रायसाहब जानते थे, कई बार साहित्यिक समारोहों के लिए चन्दा ले गए थे।

चाय खत्म करके चम्पा उठने ही वाली थी। रायसाहब का भी कप खाली हो चुका था!

वह बोले, "दस मिनट और बैठो।"

चम्पा ने कहा, "देर हो जाएगी।"

"हमारी गाड़ी है, छोड़ आएगी...इन आश्रमों पर तुम्हारा गुस्सा वाजिब है चम्पा! मैं सब जानता हूँ बेटी! जिस तरह कांग्रेस बुढ़िया हो गई है, उसी तरह देश की और भी बहुत सारी संस्थाएँ पुरानी पड़ गई हैं...सेवा-समिति, विधवाश्रम, अनाथाश्रम, महिलाश्रम, हितकारिणी सभा...इस तरह के सैकड़ों साइनबोर्ड फीके पड़ चुके हैं। इनमें से दो-एक संस्थाएँ कहीं जिन्दा हैं भी तो गुटबाज लोग गीधों की तरह उन्हें नोच-नोचकर खा रहे हैं।

फिर आवाज धीमी करके झुकते हुए कहा, "हमारा आर्य-समाज, देव-समाज, बंगालियों का ब्रह्म-समाज, बम्बई वालों का प्रार्थना-समाज...ये संगठन भी कमजोर हो गये हैं। अब तो राजनीति के मैदान में भी नई पार्टियाँ ज्यादा चमक रही हैं। अपनी सत्तर साल की उम्र है बेटी, इस उम्र तक आते-आते साइन्स का प्रोफेसर भी अगली पीढ़ी का विरोध करने लगता है। सत्तर-पछत्तर वर्ष का चीफ मिनिस्टर अठारह-बीस की उम्र के छोकरों पर गोलियाँ चल चुकने के बाद कहता है: हुल्लड़बाजों को सबक सिखाया, ठीक किया।

तश्तरी में अलग-अलग कटोरियों के अन्दर इलायची, सौंफ और सुपारी धनिया के दाने रखे थे। चम्पा ने सौंफ और सुपारी लेकर मुंह के हवाले किया। बोली, "चाचा जी, अपने बिहार में औरतों की स्थिति पिछड़ी हुई है, क्या कारण है इसका?"

रायसाहब ने कहा, "बिहार में ही क्यों, हिन्दी बोलने वाले बाकी जो चार प्रदेश हैं, वहाँ भी स्त्रियों का यही हाल है! —बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, केरल, मद्रास, मैसूर, पंजाब, गुजरात—इन प्रदेशों में स्त्रियों का सामाजिक दर्जा कहीं ऊँचा है। पिछले दो सौ वर्षों में समाज का सुधार करने वाले ऐसे महापुरुष हिन्दी भाषा वाले प्रदेशों में दो ही चार हुए जिनका सम्पर्क बाहर के देशों से रहा हो। कालेजों से पढ़-लिखकर लड़कियाँ निकलती हैं और पुराने समाज के जंगल में खो जाती हैं। हर विवाहित पुरुष के लिए पत्नी को साथ रखना अनिवार्य होना चाहिए, काम-काज के साथ ही फेमिली क्वार्टर की भी व्यवस्था होती। सहायक धन्धे के तौर पर परिवार की प्रत्येक महिला के लिए कोई न कोई काम मिलता तो कितना अच्छा था। पति की मृत्यु के बाद युवती का ब्याह फिर से करवा देना समाज के चौधरियों का काम है। शिक्षा, चिकित्सा आदि कई विभाग हैं, जिनमें स्त्रियाँ अपनी योग्यता के प्रमाण पेश कर चुकी हैं। शासन और निर्माण के कुछ ही क्षेत्र होंगे जिनमें स्त्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। दरअसल हम ही उन्हें रोके हुए हैं।"

चम्पा कहने लगी, "देहात में या शहर में मजदूर लोग अपनी औरतों को बहुत आजादी देते हैं। गिरस्ती की गाड़ी को मर्द-औरत उस वर्ग में बराबर-बराबर खींचते हैं। वह हल चलाता है तो यह ढेला फोड़ती है। वह दीवार जोड़ता है, तो यह ईंटें ढोती है। आश्रम के मेहतर का कहीं पैर कट गया, दो महीने काम पर नहीं आया। मैंने मेहतरनी से पूछा, कैसे चलाती हो? झाड़ू दिखलाकर ठसक-भरी आवाज में बोली—यही मर्द है मेरा, अपने बच्चों को मैं इसी की कमाई खिलाती हूँ बहिन जी! वो साल-भर भी बिस्तर पकड़े रहेगा तो भी हाय-हाय नहीं मचाऊँगी···"

रायसाहब ने उल्लसित होकर कहा, "बस, बस, यही आत्मविश्वास मैं स्त्रियों में देखना चाहता हूँ चम्पा! हम बड़ी जात वालों ने महिलाओं को पंगु बना रखा है, जीवन का सारा रस निचोड़कर सिट्टी बनाकर छोड़ दिया है··· अपवाद हो सकते हैं लेकिन वह तो दूसरी बात हुई न? कालेज से निकलते ही लड़कियाँ बहू बन जाएँ और लेटी-बैठी सारा-सारा दिन उपन्यास पढ़ती रहें रेडियो सुनती रहें, तो वह आत्मविश्वास कहाँ से आएगा? श्रम, प्रज्ञा विवेक और सुरुचि—सभी आवश्यक हैं चम्पा! जीवन में इन करना होगा। पुरुषों की ही बपौती नहीं है, स्त्रियों का भी साझा

चम्पा बोली, "पहले तो खैर स्त्रियों को इतनी भी रामायण-महाभारत और उपनिषदों की बात नहीं लेती हूँ। बढ़ेंगे, खेती-बाड़ी बढ़ेगी, जहालत और गरीबी हटेगी, जीवन सुखमय होगा···तब स्त्रियाँ भी इस दुर्दशा से छु चा?"

"अवश्य पाएँगी छुटकारा," रायसाहब ने जम्भाई

कहो कि आज भी स्त्रियों को साथ लिए विना हम आगे नहीं वढ़ेंगे। धूर्तों ने 'त्याग की देवी' और 'प्राणेश्वरी' आदि कहकर स्त्रियों की भावुकता को अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए हमेशा उकसाया है। अव यह सव नहीं चलेगा चम्पा।"

"दोप स्त्रियों का भी तो है!"

"स्त्रियों का नहीं, उनकी मूर्खता का···"

चम्पा हँसने लगी। रायसाहव ने आँखें नचाकर कहा, "हँसती हो? मैं विल्कुल ठीक कहता हूँ चम्पा, तुम चाहे जितना हँसो! मैं वहुत घूमा-फिरा हूँ, सभी प्रान्तों के स्त्री-पुरुप देखे हैं। उनके वीच रहने का अवसर मिला है वार-वार। वातें की हैं, सुख-दुख में उनके मूड मालूम किए हैं। और, इसीलिए अपने यहाँ की त्रुटियाँ अधिक अखरती हैं चम्पा!"

उसने माथा हिलाकर हामी भरी। क्षण-भर वाद संकोच के स्वर में वोली, "अभी मैं जाऊँगी।"

रायसाहव ने घण्टी वजाकर नौकर को वुलाया। उससे कहा, "ड्राइवर से कहो कि गाड़ी निकाले, चम्पा को वाँकीपुर छोड़ आना है।"

दोनों हाथ जोड़कर चम्पा ने कहा, "नमस्ते!"

"नमस्ते!"—रायसाहव ने कहा, "टाइपराइटर अगले सप्ताह तक तुम्हें मिल जाएगी!"

सत्तरह

निर्मला साढ़े तीन महीने वाद लौट आई तो मुंशी मनवोधलाल को वड़ा ही अच्छा लगा। पहले कहा करते थे, कम्पाउण्डर की वीवी के विना हमारा मकान सूना पड़ गया है। निर्मला के कहकहे, उसकी मीठी खिलखिलाहट, वातचीत की आवाज़ मुंशी जी के कानों को वड़े प्रिय थे। कई वार वह कम्पाउण्डर से कह चुके थे: आपकी घरवाली वड़ी गुनमन्त है, जुवान से इमरित टपकता है···

वावू मुंगेरीलाल को अपनी औरत का गुणगान पसन्द नहीं था, यह सोचना गलत होगा। लेकिन गोद जो सूनी थी। आठ-दस वर्ष की दुनियादारी के वाद भी गृहलक्ष्मी की कोख परिवार का मनोरथ पूरा न कर सके तो? वंश-वेल की गाँठ में टूसे न दिखलाई पड़ें, कलियों के गुच्छे न फूट निकलें तो? ···वस, एक यही वात थी जो निर्मला के वारे में कम्पाउण्डर को खटकती थी।

दिवाकर शास्त्री इस दृष्टि से भाग्यवान थे। चार-पाँच महीने वाद प्रति-भामा वापस आई तो चेहरे का रंग वदला हुआ था।

पड़ोसियानी ने मुस्कराकर पूछा, "कै महीने हुए हैं? जवाव में वाएँ हाथ की तीन उँगलियाँ उठीं।"

निर्मला वहीं थी। सोचा—भगवान की लीला अद्भुत है! कहीं ढेर का ढेर, कहीं अन्धेर का अन्धेर!

पड़ोस वाली अब इसके चेहरे की ओर देखने लगी।

निर्मला को लगा कि दुनिया की पैनी नजर भाले की नोंक बनकर उसकी कोख के अन्दर धँसी चली जा रही है···

प्रतिभामा की गोद में सत्रह महीने की हेम थी। लालच-भरी निगाहों से बच्ची ने माँ की छाती को देखा और एक नन्ही हथेली ब्लाउज के अन्दर होती हुई स्तन तक पहुँच गई।

"शैतान की नानी!"—प्रतिभामा ने बच्ची को गोद से ठेलकर नीचे कर दिया और खीझकर बोली, "कंस की बेटी, दिन-रात मुझे चबाने के फेर में रहती है।···अप्पी, ओ अप्पी, कहाँ मर गई?"

"आई अम्मा!"—अपर्णा की आवाज निचले तल्ले से आई।

"ले जा इसको, अकेले क्या खेलती है!"

"आ तो रही हूँ!"

छै साल की अपर्णा आकर हेम को जैसे-तैसे उठा ले गई।

अब प्रतिभामा ने एक बार कम्पाउण्डर की बीबी को देखा और फिर पड़ोस-वाली को। बोली, "इस बेचारी का क्या कसूर है बहिना, मर्द ही ध्यान नहीं देता है।"

होंठ सिकोड़कर पड़ोस वाली ने माथा हिलाया, कहने लगी, "अकेले मर्द ही क्या कर लेगा? औरत को भी तो हाथ-पैर दे रखे हैं राम जी ने! मगर, अकिल न हो तो हाथ-पैर चलाकर भी कुछ नहीं होगा बहन! पुनपुन नदी के किनारे यहाँ से छै-सात कोस पर सन्तों की जमात टिकी हुई है। सोमवार को वहाँ भारी भीड़ जुटती है। मन्त्र पढ़ के भभूत चटा देते हैं और काम बन जाता है। चलना हो तो चलें, मैं साथ ही जाऊँगी···"

निर्मला ने गरम होकर कहा, "ऐसी जगहों में कौन-से मन्त्र पढ़े जाते हैं और कैसी भभूत चटाई जाती है, मुझे मालूम है, विभाकर की माँ। सभी सन्तान के लिए यही सब करना होगा तो मैं टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर नहीं चलूंगी, सीधी सड़क पकड़ूंगी। आप मेरा मतलब समझ गई होंगी। इस तरह की बातें सुनना मुझे पसन्द नहीं है···"

"लो, तुम तो बुरा मान गईं!"···पड़ोस वाली नरम होकर बोली।

प्रतिभामा ने कहा, "बहिना, तुम्हारा दिल साफ है! जो बात गले तक आ जाती है, कह डालती हो! तुम्हें मालूम नहीं था न? निर्मला ने बड़ी बहन के लड़के को गोद ले रखा है, पाँच वर्ष का हो जाएगा तब साथ रहने लगेगा। कौन अपना और कौन पराया, मन मान ले तो तुम किसीकी भी माँ बन सकती हो! किस्मत खोटी हुई तो अपनी कोख का लड़का ही तुम्हारी झुकी कमर पर चार लात नहीं जमा देगा?—लेकिन, मुझे ले चलो उन सन्तों के पास! देखती नहीं

हो, किस तरह तंग आ गई हूँ वच्चों से ? मैं कोई ऐसी भभूत चाटना चाहती हूँ जिससे अव आगे वाल-वच्चे पैदा न हों, जो हैं वे स्वस्थ-प्रसन्न रहें और वड़े होकर हमारी खोज-खवर लेते रहें। वहिना, वतलाओ, कव मुझे ले चलोगी ?"

पड़ोस वाली गर्दन के पीछे वाल खुजलाने लगी और निर्मला मुसकराती हुई उठ गई।

उम्मी पिछले सप्ताह आई, समझा-बुझाकर माँ को ले गई। वही दो कमरे खाली हुए तो उनमें से एक बुआ को मिल गया था। तिलकधारीदास वाला सड़क की तरफ का वाहरी रूम भी खाली हुआ था। किताव की दूकान के लिए दास जी को 'अशोक पथ' पर इधर एक वड़ी अच्छी जगह मिली थी। बुआ ने 'शिल्प-कुटीर' के लिए वीस रुपए भाड़े पर वह खोली भी ले ली।

टिन के छज्जे से नया साइनवोर्ड टँग गया : शिल्प-कुटीर। पांच अक्षर दुरंगे और मोटे थे। नीचे पतली लिपि में लिखा था—'अचार, मुरब्बे, पापड़, वड़ियां। वेल-वूटे, झालर, रूमाल, मेजपोश, मोजे, स्वेटर।' एक और पंक्ति थी—'हिन्दी में टाइप करवाइए : स्त्रियों और वच्चों के कपड़े सिलवाइए।'

वुआ अव वह वीमार और मरियल औरत नहीं थी, जिसे निर्मला ने कई महीनों तक देखा था। पीछे भुवन के प्रति हमदर्दी पैदा होने के वाद, मन ही मन उसने इसी वुआ को वार-वार कोसा था।

निर्मला को अव वुआ के पास वैठना अच्छा लगता था। कम्पाउण्डर ड्यूटी के लिए निकल जाता तो दुपहर के वाद दो-तीन घण्टे वह दूकान के अन्दर आकर स्टूल पर जम जाती। मदद के लिए एक नेपाली नौजवान को रख लिया गया। सामने काउण्टर नहीं, मेज थी छोटी-सी। दोनों ओर दो शो-केश निहायत मामूली ढंग के। पीछे चार रैक, मझोले आकार के। ठेठ काठ की दो कुर्सियां। सामग्री अभी शुरू-शुरू में ही कम थी। नेपाली को दूकान का काम समझा दिया था। खुद टाइपराइटर खटखटाया करती थी। दिवाकर शास्त्री ने अपने निवन्धों का संकलन दे रखा था। एडवान्स के पचीस रुपये पाकर चम्पा का उत्साह वढ़ गया था।

कई दिनों से चम्पा की इच्छा हो रही थी कि भुवन के वारे में मालूम करे। आज उसने पूछ ही दिया, "भुवन की चिट्ठी नहीं आई है ?"

"नहीं वुआ !"—कम्पाउण्डर की वीवी ने सहज स्वर में कहा। मन-ही-मन वोली : अव कोई हर्ज नहीं, भुवन के वारे में थोड़ा कुछ वतला देना चाहिए।

"गया में मिली होगी चिट्ठी।"

"मुलाकात हुई थी वुआ !"

"कव ?"

"पिछले महीने वनारस गए थे हम..."

"भुवन वनारस है ?"

"सुनो भी तो वुआ..."

निर्मला ने संक्षेप में बनारस का समाचार दिया।

चम्पा टाइपराइटर छोड़कर उठी, निर्मला की पीठ के पीछे खड़ी हो गई। दोनों हाथ उसके कन्धों पर रखकर झुकी, कान के पास मुँह करके कहा, "सच बतलाओ निर्मला, तुम उससे मिली थीं ? मेरा पत्र पढ़ा था भुवन ने ? क्या कहती थी मेरे बारे में ?"

"कुछ नहीं बुआ, तुम्हारे बारे में उसने कुछ नहीं कहा," निर्मला बोली, "चिट्ठी तुम्हारी वाली भुवन ने दो बार पढ़ी और भाभी को थमा दिया।"

"भाभी ने पत्र पढ़ा होगा ?"

"पढ़ा और अन्दर जाकर दराज़ में रख आई।"

"भुवन मुझे दो पाँती का एक पोस्टकार्ड भी नहीं भेजेगी ? आते वक्त तुमने कहा होता तो ज़रूर मेरे लिए वह कुछ लिखके तुम्हें देती निर्मला !"

"मैंने कहा था बुआ, भुवन चुप लगा गई।"

चम्पा के दिल ने कहा—भाभी ने मना कर दिया होगा !

भाभी ने मना कर दिया—निर्मला अन्दर-ही-अन्दर बोली।

उन्होंने एक-दूसरे के चेहरे की ओर देखा।

चम्पा के हाथ निर्मला के कन्धे छोड़कर नीचे लटक गए थे। रुख सड़क की ओर हो गया था।

तीन बज रहे थे। बाहर अब भी कड़ी धूप थी। चार तख्तों वाली दो किवाड़ियों में से एक ही तख्ती खुली थी, प्रकाश और हवा के लिए उतना ही काफी था।

नेपाली नहीं था, एक ग्राहक आ गया—आधा सेर पापड़ चाहिए, मूंग का !

चम्पा ने पापड़ की गड्डी निकालकर उसे थमाई और पैसे लिए।

ग्राहक चला गया तो बोली, "निर्मला, मुझे भुवन का पता दोगी ?"

निर्मला उठकर मेज़ के पास आ गई। कहा, "पता क्यों नहीं दूँगी बुआ ?"

अचार के दो छोटे-छोटे मर्तबान थे, पीछे रैक पर। कपड़े से उन्हें पोंछती हुई चम्पा आहिस्ते से बोली, "ना, रहने दो निर्मला, पता लेकर क्या करूँगी ? हाँ, तुम कभी बनारस लिखो तो मुझसे कहना। एक बार मैं भुवन को और लिखूँगी, बस एक बार और···"

निर्मला फिर पीछे गई। सामने होकर चम्पा को देखने लगी। चेहरे पर ग्लानि की छाया तैर रही थी। होंठ भिचे हुए थे। पलकें गीली थीं, पपोटों में स्पन्दन था। घुटती साँसों की विषम गति में नथने फूलकर फड़क रहे थे।

चम्पा के कन्धे पर हाथ रखकर मुलायम आवाज़ में उसने कहा, "क्यों बुआ, एक ही बार क्यों लिखोगी तुम भुवन को ? उस गरीब के और कौन है, हमी लोग तो हैं···"

छलकती आँखों से चम्पा बोली, "मैं कौन हूँ उसकी ! उसे खाई की ओर

टिप्पणियाँ

रतिनाथ की चाची

(यहाँ उन शब्दों के पर्याय दिए गए हैं, जो 'कोश' में नहीं मिलेंगे। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र बहुत बड़ा है। पूर्वी हिन्दी के ठेठ शब्द पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र तक पहुँचते-पहुँचते 'अजनबी' हो जाते हैं। इसी तरह पश्चिमी हिन्दी के शब्द पूर्वी हिन्दी के अंचलों में अपरिचित लगते हैं···पहले संस्करणों में ढेर-सारे फुट-नोट थे, इस संस्करण में उन्हें हटाकर मूल पाठ को सहज-सुबोध कर दिया गया है। फिर भी यत्र-तत्र कुछ शब्द अनिवार्यतः रह गए हैं।—रखने पड़े हैं उन्हीं शब्दों के अर्थ इस परिशिष्ट अंश में डाले गए हैं—नागार्जुन)

सराई···सराइयां : तांबा, पीतल, कांसा आदि धातुओं के बने निहायत छोटे थाल-से दीखनेवाले लघु-लघु पूजा-पात्र।

अभिजात और महादरिद्र : ये लोग 'विकौआ' कहलाते थे। श्रीमन्त लोग इन्हें 'खरीद' लेते थे यानि अपने 'दामाद' (घर-जंवाई) बना लेते थे। एक-एक कुलीन व्यक्ति पचास-पचास साठ-साठ शादियाँ कर लेते थे : उनका सारा जीवन ससुरालों में ही गुजरता था। इन 'विकौआ' भद्रजनों की पत्नियाँ अपने-अपने श्रीमन्त पिता अथवा भाई की दी हुई सम्पदा के बल पर परम उच्छृंखल या कुंठित (और क्वाचित् कदाचित आदर्श) जीवन बिताती थीं···यह 'विकौआ' प्रथा अब लुप्त हो चुकी है। परन्तु कहीं-कहीं, मिथिला (उत्तर बिहार) के दरभंगा-पूर्णिया आदि अंचलों में ऐसे 'महाबुजुर्ग' ब्राह्मण आज भी मिल जाएँगे, जिनकी ४-६ शादियाँ हुई थीं और उनकी सभी पत्नियाँ जीवित हैं···

सल्हेश : दुसाध-मुशहढ़ आदि जातिवालों का देवता! पीपल-पाकड़-बरगद के नीचे कुटीरों (गह्वरों) में अश्वारोही सामन्त भेष-भूषा में इन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है।

एक तारा मया दृष्टा··· : मैंने एक नक्षत्र (तारा) देखा। दूसरा नहीं देख रहा (रही) हूँ। इससे दोष लगेगा, अ-कल्याण होगा। हे नारद, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। देखना, किसी से झगड़ा न लगे···

ताराबाबा : "माँ तारा! माँ तारा!" या "तारा-तारा" की आवाज़ लगाने वाला तांत्रिक साधु।

घिवही : आम की एक जाति। पकने पर इसका रस घी की याद दिलाता है—स्वाद में भी और गन्ध में भी।

आमिल : कच्चे आमों की सूखी फाँकें···इसका उपयोग खटाई के तौर पर होता है। इन्हीं का चूरन "अमचूर" होती है।

महामृत्युंजय : तान्त्रिक और शैव परम्परा का एक मन्त्र। कहते हैं, इस मन्त्र का जप करने से 'असाध्य-साधन' होता है—गुप्त धन की प्राप्ति, शत्रु का नाश, दुर्लभ प्रेमिका का वशीकरण आदि···

अर्घा-पंचपात्र-आचमनी : हवन और पूजन के समय काम आने वाले छोटे-छोटे धातु-पात्र।

तस्मई : पायस, खीर। दूध में पके हुए चावल।

एकभुक्ति : पूजा-पाठ, यज्ञ, जप आदि करने वाले को दिन में एक ही बार सात्विक आहार लेना होता था। वही 'एकभुक्ति' थी।

सरबेटी : साले की बेटी।

मन्त्र : विभिन्न आकार के कोष्ठक (खाने) बनाकर उनके अन्दर मन्त्रों के अक्षर, संख्याक्रम, पशुओं-पक्षिओं के प्रतीक-चिह्न आदि अंकित कर देते थे; कई रंगों में और कई लिपियों में—भोजपत्र पर, तांबा-सोना-चांदी-पीतल आदि धातु की पतली पतों पर; वही "यन्त्र" कहलाता था।

राउत : उत्तर बिहार में पहले अहीर "राउत" कहलाते थे। राजस्थान-मध्य प्रदेश में "रावत" राजपूत और क्षत्रिय होते हैं···

खवास : राजाओं-भूस्वामियों-महागुरुओं के शूद्रसेवक पहले 'खवास' कहलाते थे, भविष्य में उनकी संततियाँ भी "सिंह" होंगी···

पोनी : खुशबूदार गीली तम्बाकू (हुक्के में पी जाने वाली)

भार : बोझा / भार ढोने वाला 'भरिया' कहलाता था।

मालदह बम्बई : ये कलमी आमों की जातियाँ हैं।

खस्सी : वह बकरा जिसकी नसबन्दी कर दी गई हो···

सिमरिया घाट : बरौनी के निकट, गंगा का किनारा।

रक्ताम्बर धारी : लाल-सुर्ख परिधान वाला तान्त्रिक साधु।

पगहा : पशुओं की गर्दन-सींग-नकेल आदि से लगी हुई मजबूत डोरी।

कुशासन : कुश की आसनी। "कुश" एक घास किस्म की घास (तृण) होती है। कुश बड़ा ही पवित्र माना गया है—पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन, श्राद्ध आदि में 'कुश' के बिना काम नहीं चलता था···

बिसहत्थी : बीस हाथ लम्बी (दस गज की) साड़ी।

मैथिल : मिथिला में पैदा हुआ; मिथिला से सम्बन्धित।

सरयूपारी : सरजू नदी के तटवर्ती अंचलों में रहने वाले···

पंजीकार : खाता रखने वाला (मिथिला के ब्राह्मणों-कायस्थों आदि के पुरखों का लेखा-जोखा रखने वाला)।

रकबा : क्षेत्रफल। अधिकृत भू-भाग।

लहना-तगादा : ब्याज पर रुपये उधार देने का धन्धा।

मनखप : मन के हिसाब से खेती की उपज बढ़ाने की प्रथा। यानि, "दो बीघा जमीन उपजाओ और हमें आठ मन अनाज प्रतिवर्ष देते जाना···" इसी

तरह इतनी जमीन की उपज प्रतिवर्ष इतते मन अनाज वसूल करते जाना···

मुठिया : प्रति परिवार, प्रति व्यक्ति एक मुट्ठी चावल या गेहूँ सार्वजनिक काम के लिए अलग रखते जाना। इस तरह 'मुठिया' में सौ-सौ मन चावल किसानों से मिल जाते थे। पार्टियों दलों के देहाती कार्यकर्ता यह अनाज बेचकर प्रादेशिक आफिसों-जिला आफिसों और अपने स्थानीय आफिसों का भी खर्चा आसानी से चलाते थे।

खदुका : कर्जखोर। ऋणी।

कजरौटा : काजल वाली डिबिया (इसमें डण्डा लगा होता था)।

देवरोचित : देवर के लायक

विवाह-सभा : शादियों के रिश्ते ठीक करने के लिए मिथिला के ब्राह्मण एक स्थान पर (ग्राम : सौराठ, जि० मधुबनी) अब भी लगन के दिनों में इकट्ठे होते हैं···

फुलही : चमकते कांसे के बर्तन (सफेद फूलों-जैसी चमक वाले)।

देवाय-धर्माय : देवता के नाम पर और धर्म के नाम पर।

पूर्वाभास : पूर्वसूचना; पहले ही स्थिति का अन्दाज पा लेना···

गंधर्विणी : सुन्दरी

मूड़न-छेदन : मुण्डन और कर्णवेध संस्कार। शिशु के बालों को जब पहली बार किसी तीर्थ में, या देवी-देवता के स्थान में कटवाते हैं तो उसे "मुण्डन-संस्कार" कहा जाता है। उसी अवसर पर शिशु के कानों को भी छिदवाने का रिवाज था···

ब्रह्महत्या : ब्राह्मण की हत्या। ब्रह्मवध। पहले युगों में यह कोई साधारण अपराध नहीं था, इसकी गिनती महापापों में थी। इसके लिए कड़ा से कड़ा दण्ड मिलता था।

भरिया : भार (बोझा) ढोने वाला।

अनर्गल : अर्गला (बन्धन) हीन। अर्गला का सही अर्थ सांकल होता है, मगर यहाँ 'अनर्गल' से मतलब होगा 'बाधा रहित' और 'बे-रोक' (उदाहरण : "मैं उनका अनर्गल प्रलाप सुनता रहा" अथवा "आपकी यह उक्ति अनर्गल है" यानि "बे-लगाम की बकवास है···")।

पुण्याह : पवित्र दिन। मांगलिक क्षणों वाला दिन।

सहस्राक्ष : हज़ार आँखों वाला (इन्द्र)।

यहाँ न लागहि···"यहाँ न लागहि राउरि माया" (तुलसीदास) आपका जादू यहाँ नहीं चलने का···

बलचनमा

खम्भेली : छोटा, पतला खम्भा। **टंघार :** बहाव। **किसुनभोग :** कलमी आम की एक किस्म-कृष्णभोग। **किरिया-करम :** क्रिया-कर्म, श्राद्ध। **बहतरा :** आवारा। **बिरछो :** रक्षा। **खढ़ोर :** घर छवाने की बड़ी घासों का मैदान। **बेंट :** मूंठ। **लहठी :**

लाख की चूड़ियाँ। नड़ी : मोटा ब्रुश। समंध : सम्बन्ध, पुनर्विवाह। दरमहा : पगार, वेतन। राड़ं एड़ं पवित्र हूं : छोटी जात के लोग लात खाकर ही पवित्र होते हैं। खम्हेली : छोटा खम्भा। केरवी : शक्ल-सूरत में केले की तरह की आम की एक किस्म। वहिया : पुश्तैनी गुलाम। वहिया : दासों का घराना। सैइयांडाही : पति को जलाकर खाक करने वाली। सुगरखोका : सूअर आने वाला। कोंचा : नीवी, साड़ी की गाँठ (कमर के पास)। ककुली : बाँकी, टेढ़ी। उत्तरबरिया : चार घरों वाले चौकोर आँगन में उत्तर दिशा वाला घर। आसिन : कुंआर, आश्विन। चाली : साँप के पोए (बच्चे) की तरह का एक बरसाती और रेंगने वाला कीड़ा। देखने में जो लाल होता है। इसके लिए खूब गीली धरती चाहिए। बोर : आहार। गोसैया : भगवान। मालकिन : मालिकों का खानदान। काहे-कुहे : का-को वाली बोली, हिन्दी-उर्दू। कल्लर : भिखारी। नवरास्टर : दैनिक नवराष्ट्र। घटही : घाट को जाने वाली। भोगिन्दर : भोगेन्द्र, खाने-खिलाने का शौकीन। गोला : घौरा। घुर : विसवांसी। भंग आन्दोलन : सविनय अवज्ञा या सविनय आज्ञा भंग आन्दोलन। बरम वध : हत्या का पाप। नइहर : मायका पीहर। मीठा जमीन : ऊपरली सूखी जमीन जिसमें धान की फसल नहीं होती है। खुद्दी : चावल की कनी। चुन्नी दीसा : टट्टी फराकत। पघरिया : बड़ी हँसिया। सितलपाटी : खजूर के पत्ते की बनी चटाई। मालदह : लंगड़े की जाति का, केवल कुछ बड़ा कलमी आम (सफेद छिलके का)। कलगइयां : कहलगांव (भागलपुर) में बहुत बड़े पैमाने पर पहले पीतल के बर्तन बनते थे। वहाँ का बना हुआ लोटा तिरहुत में कलगइयां कहलाता था। (कहलगउवां—कलगइयां)। भारत मुलुक के छोटे-बड़े नौ सूबे हैं—उन दिनों (1930) उड़ीसा अलग नहीं हुआ था। विझओ : विझाओ का साधारण मतलब है विजय हो लेकिन भोज-भण्डार के समय खासतौर पर कहा जाता है। यानि भोजन तैयार है चलिए (विजय हो)। पुरैन : कमल। कराकुल : सारस जाति का बेडोल पक्षी। डीह : वासभूमि। सरिसवा : सरसों की शकल का। वहिया-महतो : गुलाम और मालिक। कर-जान : केले का बाग। खढोर : छप्पर छवाने वाली फूस का जंगल। अकरो : अक्रिय, करम-धरम को जो छोड़ दे। हेमाल : बिलकुल ठण्डी। पपनी : पलक। हरियर : हरियाला-हरा और कांच-सा (पारदर्शी)। दीसा : टट्टी-फरागत के निबटा। छोंच : शौच, आबस्त। उरांडोर : कटिसूत्र, कमर का धागा। गमछा : अंगोछा। हेमाल : ठण्डा, सर्द। मलिकान : मालिकों का पूरा खानदान। खरोड़े : दरभंगा महाराज का ब्राह्मण खानदान। बिलौकी : आशीर्वाद रकम। ओरहा : भुनी हुई झंगरी। फुच्ची : मिट्टी की लुटिया, दूध का पैमाना (पाव-भर लगभग) अँछिजल : अच्छिन्न जल अर्थात् पूजा के लिए भरा गया पवित्र पानी। माइनजन : मान्यजन, सरपंच, मुखिया। डीह डाबर : वासस्थान और उसके निकट की भूमि। महफा : पालकी की एक किस्म, इसे ढोने वाले उस इलाके में कहार या कहरिया कहलाते हैं। लहठी : लाख की मोटी चूड़ियां। पटई : बहूंगी। चौठो। ताड़ी का

एक पैमाना, चौठाई (लवनी का चतुर्थांश)। **कुटमैती** : रिश्तेदारी। **सरसुती** : सरस्वती। **राज** : दरभंगा महाराज की जमींदारी राज कहलाती थी।

सखि हे मजरल आमक वाग/कुहु कुहु चिकरए कोइलिया/झींगुर गावए फाग / कत हमर परदेस बसइ छथि/विसरि राग-अनुराग/विधि भेल वाम, सील भेल वैरी/फूटि गेल ई भाग/सखि हे मजरल आमख वाग··· : सखी, आम का वाग मंजरियों से लद गया है। कोयल चीख रही है— कुहु, कुहु। झींगुर फाग गाने में मस्त हैं। राग-अनुराग भूलकर मेरा वालम परदेस में है। मेरे लिए विधाता प्रतिकूल है और अपना ही शील संकोच दुश्मन वन गया है। मेरी किस्मत फूट गई है···आम के पेड़ मंजरियों से लद गये हैं।

अबुरवान : वेहद आवारा। **परछल** : दुलहा-दुलहिन के गृह-प्रवेश से पूर्व एक रस्म। **पुआल** : पुआल का एक मोटा विछावन। **फटक** : बाँस के झंझरों का फाटक। **सुगंध** : सीधे स्वभाव की। **मुंह वजावन** : पहली वार वोलने के लिए दी जाने वाली रकम या वस्तु (रस्मी तौर पर)। **भुइयाँ** : एक देवता जो मुसहरों और भुइयाँ लोगों के वीर पूर्वज थे। **अमावट** : आम का पापड़। **गोसैंइयाँ** : भगवान, परमेश्वर। **भुइकंफ** : भूकम्प, भूचाल। **असर्धा** : अश्र। **जड़काला** : जाड़े का मौसम। **निचेन** : वेफिक्र। **उपनैन** : यज्ञोपवीत संस्कार। **खस्सी पीटे** : लाठियों से पीट-पीटकर मार डाले गये। **रशनचौकी** : रोशनचौकी शहनाई। **लिआवन** : मुकलावा, लिया लाना या ले आना। **मण्डवापर** : मण्डप में। **करैत** : काला और विषधर साँप। **पतिया** : व्यवस्थापत्र। **कट्टा भिट्टा** : जिस जगह कभी घर-वर रहा हो, ऊँचा। **वंसवार** : वाँसों की वगिया। **कलकतिया** : आम की एक उम्दा किस्म। **छिपाठी** : छोर वाला हिस्सा। **एक निशान था हँसुआ का, दूसरा हथौड़े का** : सोसलिस्ट झण्डे के पहले निशान। **निपत्ता** : लापता। **घिरनी** : लट्टू। **टेपरेली** : टेम्परेरी। **भोगिन्दर** : ज्यादा मात्रा में और अच्छी चीजें खाने वाला, भोगेन्द्र। **महाराज** : दरभंगा के महाराज को। **पर्था** : प्रथा, सिस्टम। **अगहन** : मार्गशीर्ष, मगसर का महीना। **इनाम-तिनाम** : इनाम-अकराम। **चिलका** : नव-जात शिशु। **खंखास** : खाँसने की कृत्रिम आवाज। **वत्तर** : वदतर। **पंवारा** : पवाढ़ा, खानदानी वड़प्पन के लम्वे गीत। **दोहर** : दुहरी चादर जो वीचोवीच सिली रहती है। **मसोमात** : मुसम्मात, विधवा। **गिलेसन** : मधुमनी (दरभंगा जिला) का प्रियर्सन मार्केट। **समांड़** : जांगर एक मजदूर की श्रम शक्ति। **असक** : अशक्त अस्वस्थ। **दाँत (चार दाँत)** : दूध के दाँत टूटने के वाद अभी तक जिनके चार दाँत निकले हों (वैल की उम्र इसी तरह आँकी जाती है)। **सितल-पाटी** : खजूर के पत्तों की चटाई। **मुड़हा** : मूढ़, मूर्ख। **रैयाक** : रैयाम सूगर फैक्टरी। **करीन** : लम्वे पतले काठ की खुली खोल-ढेंकल और तीन डंडे के सहारे इसे पानी के किनारे लटकाते हैं, नीचे ऊपर करते रहने से इसमें पानी उठता है और वाहर नाले में गिरता जाता है। **पंपी** : कोंपल। **डाकपीन** : डाकप्यून, पोस्ट-मैन। **एकमंट** : एकान्टेंट। **अधकट्टी** : रसीद का आधा हिस्सा। **ओनामासीधं** :

आरम्भ, शुरुआत से (बच्चों का खड़िया धराते समय सबसे पहले लिखते हैं। ओनामासीधं यानी ॐ नमः सिद्धम। मलेटरी : मिलिटरी। जुधिस्ठिल : युधिष्ठर। संचमंच : हाथ-पैर समेटकर। खम्भोली : छोटा पतला खम्भा। सिसवोनी : शीशम की बगिया। दो बोझ नार : छप्पर छवाने के लिए धान की नाल-शीश या बाली छोप लेने के बाद बच रहे साबित सूखे धान के पौधे। मुठिया : एक-एक परिवार रोज एक-एक मुट्ठी अनाज अलग रखता जाता है, पीछे स्वयं-सेवक घर-घर जाकर उस अनाज को ले जाते हैं इस तरह आसानी से काफी अनाज इकट्ठा हो जाता है। अंजोरिया : शुक्लपक्ष, उजाला पाख। असिरवाद : आशीर्वाद, दुआ। चोरबत्ती : टार्च।

वरुण के बेटे

चभच्चा : छोटी तलैया, छोटा तालाब। पत्थर की लाट : पत्थर की शिला। थम्भों का पूला : केले के वृक्ष की धरों को मिलाकर तैयार की हुई छोटी नौका। दन्तुर खोडर : दांतों की खाली जगह के आकार का बना हुआ खन्दक। धींगा-मुश्ती : उछल-कूद। दँवरी : दौनी। कुण्ड और कुठले : अनाज रखने के लिए मिट्टी के छोटे-छोटे बखार। भदई फसल : सावन-भादों में पैदा होने वाला अनाज। नेटा-पोटा : जुकाम होने पर नाक से निकलने वाला पानी। सिरकी : चिलमन। भकोल : बेवकूफ। छौंकना : बघारना। लूर : ढंग। भितहा : मिट्टी की दीवाल। खट : तुरन्त। महातम : अधीन, माहात्म्य। बबुआन : श्रीमन्त, जमींदार। चंगेरी : बांस या मूंज से बना प्लेटनुमा बर्तन। मड़ैया : छोटी-सी झोंपड़ी। डोका : एक खास प्रकार का घोंघा या शीप जिसका मांस भी खाया जाता है। कोरइला : गोद का शिशु। सिड़की : जंजीर। चानन : चन्दन। सरगउली हाट : स्वर्ग। दुपलिया : दो पालों वाला। बोरसी : आग तापने वाला मिट्टी का बर्तन। झिल्ली-कचरी : जलेबीनुमा नमकीन सेव और पकौड़ी। ओरियानी : बरामदे से सटा हुआ आंगन का हिस्सा। पांतर : प्रान्तर, निर्जन। असालतन : स्थायी। भूंजा-फरही : लाई-चना। माहुर : विष। घटनइयां : छोटी नौका। मोहर : पिण्ड। लबरा : बातूनी। हेलना : तैरना। टप्पा-टोइया : अन्दाजन। गोड़ : पांव। टाड़ी : छोटी-सी मिट्टी की टुइयां। टमकी : मछली पकड़ने के लिए बांस की खपचियों से बना टोकरीनुमा औजार।